प्रकाशक—किताब-महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
मूल्य १२ रु०

मुद्रक—जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

डा० काशी प्रसाद जायसवाल

समर्पण

का० प्र० जायसवालकी स्नेह-पूर्ण स्मृतिमें

जिनके शब्द पुस्तक लिखते वक्त

बराबर कानोंमें गूंजते थे, और

जिन्हें सुनानेकी उत्कंठा-

में कितनी ही बार मैं

भूल जाता था, कि

सुनने वाला

चिर-निद्रा-

विलीन

है।

भूमिका

मानवका अस्तित्व पृथ्वीपर यद्यपि लाखों वर्षोंसे है, किन्तु उसके दिमागकी उड़ानका सबसे भव्य-युग ५०००-३००० ई० पू० है, जब कि उसने खेती, नहर, सौर-पंचांग आदि आदि कितने ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा समाजको कायापलट करनेवाले आविष्कार किए। इस तरहकी मानव-मस्तिष्ककी तीव्रता हम फिर १७६० ई० के बादसे पाते हैं, जब कि आधुनिक आविष्कारोंका सिलसिला शुरू होता है। किन्तु दर्शनका अस्तित्व तो पहिले युगमें था ही नहीं और दूसरे युगमें वह एक बूढ़ा बुजुर्ग है, जो अपने दिन बिता चुका है, बूढ़ा होनेसे उसकी इज्जत की जाती जरूर है, किन्तु उसकी बातकी ओर लोगोंका ध्यान तभी खिंचता है, जब कि वह प्रयोग-आश्रित चिन्तन—साइंस—का पल्ला पकड़ता है। यद्यपि इस बातको सर राधाकृष्णन् जैसे पुराने ढर्रेके "धर्म-प्रचारक' माननेके लिए तैयार नहीं हैं, उनका कहना है—

"प्राचीन भारतमें दर्शन किसी भी दूसरी साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न हो, सदा एक स्वतन्त्र स्थान रखता रहा है।"[1] भारतीय दर्शन साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न रहा हो, किन्तु धर्मका लग्गू-भग्गू तो वह सदासे चला आता है, और धर्मकी गुलामीसे बदतर गुलामी और क्या हो सकती है ?

३०००-२६०० ई० पू० मानव-जातिके बौद्धिक जीवनके उत्कर्ष नहीं अपकर्षका समय है, इन सदियोंमें मानवने बहुत कम नए आविष्कार किए। पहिलेकी दो सहस्राब्दियोंके कड़े मानसिक श्रमके बाद १०००-७०० ई० पू० में, जान पड़ता है, मानव-मस्तिष्क पूर्ण विश्राम लेना चाहता

[1] Indian Philosophy, vol I, p 22

था, और इसी स्वप्नावस्थाकी उपज दर्शन है, और इस तरहका प्रारभ निश्चय ही हमारे दिलमे उसकी इज्जत को बढाता नही घटाता है। लेकिन, दर्शनका जो प्रभात है, वही उसका मध्याह्न नही है। दर्शनका सुवर्णयुग ७०० ई० पू० से बादकी तीन और चार शताब्दियाँ है, इसी वक्त भारतमे उपनिषद्से लेकर बुद्ध तकके, और यूरोपमे थेल्से लेकर अरस्तू तकके दर्शनोंका निर्माण होता है। यह दोनो दर्शन-धाराएँ आपसमे मिलकर विश्वकी सारी दर्शन-धाराओका उद्गम बनती है—सिकन्दरके बाद किस तरह यह दोनो धाराएँ मिलती है, और कैसे दोनो धाराओका प्रतिनिधि नव-अफलातूनी दर्शन आगे प्रगति करता है, इसे पाठक आगे पढेगे।

दर्शनका यह सुवर्णयुग, यद्यपि प्रथम और अन्तिम आविष्कारयुगोकी समानता नही कर सकता, किन्तु साथ ही यह मानव-मस्तिष्ककी निद्राका समय नही था। कहना चाहिए, इस समयका शक्तिशाली दर्शन अलग-थलग नही बल्कि एक बहुमुखीन प्रगतिकी उपज है। मानव-समाजकी प्रगतिके बारेमे हम अन्यत्र[1] बतला आए है, कि सभी देशोमे इस प्रगतिके एक साथ होनेका कोई नियम नही है। ६०० ई० पू० वह वक्त है, जब कि मिश्र, मसोपोतामिया और सिन्धु-उपत्यकाके पुराने मानव अपनी आसमानी उडानके बाद थककर बैठ गए थे, लेकिन इसी वक्त नवागतुकोके मिश्रणसे उत्पन्न जातियाँ—हिन्दू और यूनानी—अपनी दिमागी उडान शुरू करती है। दर्शन-क्षेत्रमे यूनानी ६००-३०० ई० पू० तक आगे बढते रहते है, किन्तु हिन्दू ४०० ई० पू०के आसपास थककर बैठ जाते है। यूरोपमे ३००ई०पू० मे ही अँधेरा छा जाता है, और १६०० ई० मे १९ शताब्दियोंके बाद नया प्रकाश (पुनर्जागरण) आने लगता है, यद्यपि इसमे शक नही इस लबे कालकी तीन शताब्दियो—९००-१२०० ई०—मे दर्शनकी मशाल बिल्कुल बुझती नही, बल्कि इस्लामिक दार्शनिकोके हाथमे वह बडे जोरसे जलती रहती है, और पीछे उसीसे आधुनिक यूरोप अपने दर्शनके प्रदीपको

[1] "मानव-समाज"।

जलानेमे सफल होता है। उधर दर्शनकी भारतीय शाखा ४०० ई० पू०की बादकी चार शताब्दियोंमे राखकी ढेरमे चिंगारी बनी पडी रहती है। किन्तु ईसाकी पहिलीसे छठी शताब्दी तक—विशेषकर पिछली तीन शताब्दियोंमे—वह अपना कमाल दिखलाती है। यह वह समय है, जब कि पश्चिममे दर्शनकी अवस्था अब्तर रही है। नवीसे बारहवी सदी तक भारतीय दर्शन इस्लामिक दर्शनका समकालीन ही नही समकक्ष रहता है, किन्तु उसके वाद वह ऐसी चिर-समाधि लेता है, कि आजतक भी उसकी समाधि खुली नही है। इस्लामिक दर्शनके अवसानके वाद यूरोपीय दर्शनकी भी यही हालत हुई होती, यदि उसने सोलहवी सदीमे[1] धर्मसे अपनेको मुक्त न किया होता।—सोलहवी सदी यूरोपमे स्कोलास्तिक—धर्मपोषक—दर्शनका अन्त करती है, किन्तु भारतमे एकके वाद स्कोलास्तिक दाकतर पैदा होते रहे है, और दर्शनकी इस दासताको वह गर्वकी वात समझते है। यह उनकी समझमे नही आता, कि साइस और कलाका सहयोगी बननेका मतलब है, जीवित प्रकृति—प्रयोग—का जबर्दस्त आश्रय ग्रहण कर अपनी सृजनशक्तिको बढाना; जो दर्शन उससे आजादी चाहता है, वह बुद्धि, जीवन और खुद आजादीसे भी आजादी चाहता है।

विश्वव्यापी दर्शनकी धाराको देखनेसे मालूम होगा, कि वह राष्ट्रीयकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय ज्यादा है। दार्शनिक विचारोके ग्रहण करनेमे उसने कही ज्यादा उदारता दिखलाई, जितना कि धर्मने एक दूसरे देशके धर्मोको स्वीकार करनेमे। यह कहना गलत होगा, कि दर्शनके विचारोके पीछे आर्थिक प्रश्नोंका कोई लगाव नही था, तो भी धर्मोकी अपेक्षा वह बहुत कम एक राष्ट्रके स्वार्थको दूसरेपर लादना चाहता रहा; इसीलिए हम जितना गगा, आमू-दजला और नालंदा-बुखारा-बगदाद-कार्दोवाका स्वतंत्र स्नेह-पूर्ण समागम् दर्शनोमे पाते है, उतना साइसके क्षेत्रसे अलग कही नही पाते। हमे अफसोस है, समय और साधनके अभावसे हम चीन-जापानकी दार्शनिक

---

[1] देखिए परिशिष्ट "दार्शनिकोंका काल-क्रम"।

धाराको नही दे सके, किंतु वैसा होनेपर भी इस निष्कर्षमे तो कोई अन्तर नही पडता कि दर्शनक्षेत्रमे राष्ट्रीयताकी तान छेडनेवाला खुद धोखेमे है और दूसरोको धोखेमे डालना चाहता है।

मैने यहाँ दर्शनको विस्तृत भूगोलके मानचित्रपर एक पीढीके बाद दूसरी पीढीको सामने रखते हुए देखनेकी कोशिश की है, मै इसमे कितना सफल हुआ हूँ, इसे कहनेका अधिकारी मै नही हूँ। किन्तु मै इतना जरूर समझता हूँ, कि दर्शनके समझनेका यही ठीक तरीका है, और मुझे अफसोस है कि अभी तक किसी भाषामे दर्शनको इस तरह अध्ययन करनेका प्रयत्न नही किया गया है।—लेकिन इस तरीकेकी उपेक्षा ज्यादा समय तक नही की जा सकेगी, यह निश्चित है।

पुस्तक लिखनेमे जिन ग्रथोसे मुझे सहायता मिली है, उनकी तथा उनके लेखकोकी नामावली मैने पुस्तकके अन्तमे दे दी है। उनके ग्रथोका मै जितना ऋणी हूँ, उससे कृतज्ञता-प्रकाशन द्वारा मै अपनेको उऋण नही समझता—और वस्तुत ऐसे ऋणके उऋण होनेका तो एक ही रास्ता है, कि हिन्दीमें दर्शनपर ऐसी पुस्तके निकलने लगे, जिससे "दर्शन-दिग्दर्शन"को कोई याद भी न करे। प्रत्येक ग्रथकारको, मै समझता हूँ, अपने ग्रथके प्रति यही भाव रखना चाहिए।—अमरता? बहुत भारी भ्रमके सिवा और कुछ नही है।

पुस्तक लिखनेमे पुस्तको तथा आवश्यक सामग्री सुलभ करनेमे भदन्त आनद कौसल्यायन और पडित उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, साहित्य-रत्नने सहायता की है, शिष्टाचारके नाते ऐसे आत्मीयोको भी धन्यवाद देता हूँ।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२५-३-१९४२

राहुल सांकृत्यायन

दर्शन-दिग्दर्शन

विषय-सूची

१. यूनानी दर्शन

प्रथम अध्याय

२. इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

पंचम अध्याय

पृष्ठ

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

त्रयोदश अध्याय

पृष्ठ

उत्तरार्द्ध

(भारतीय दर्शन)

चतुर्दश अध्याय

पंचदश अध्याय

षोडश अध्याय

अनीश्वरवादी दर्शन

सप्तदश अध्याय

ईश्वरवादी दर्शन

अष्टादश अध्याय

पूर्वार्ध

१—यूनानी दर्शन

दर्शन-दिग्दर्शन

प्रथम अध्याय

१—यूनानी दर्शन

यूनान या यवन एक प्रदेशके कारण पडा सारे देशका नाम है, जिस तरह कि सिन्धुसे हिन्दुस्तान और पारससे पारस्य (ईरान)। वस्तुत इवन या यवन उन पुरियो (अथेन्स आदि)का नाम था, जो कि क्षुद्र-एसिया (आधुनिक एसियाई तुर्की) और युरोपके बीचके समुद्रमे पडती थी। इन पुरियोके नागरिक नाविक-जीवन और व्यापारमे बहुत कुशल थे, और इसके लिये वे दूर-दूर तककी सामुद्रिक और स्थलीय यात्राये करते रहते थे। ईसापूर्व छठी-सातवी शताब्दियोमे इन यवनी पुरियोकी यह सरगर्मी ही थी, जिससे बाहरी दुनियाको इनका पता लगा और उन्हीके नामपर सारा देश यवन या यूनान कहा जाने लगा।

यूनान उस वक्त व्यापारके लिये ही नही, शिल्प और कलाके लिये भी विख्यात था और उसके दक्ष कारीगरोके हाथोंकी बनी चीजोकी बहुत माँग थी। यवन व्यापारी दूसरे देशोंमे जाकर, सिर्फ सौदेका ही परिवर्तन नही करते थे, बल्कि विचारोका भी दान-आदान करते थे, जो कि ईसा-पूर्वकी तीसरी-दूसरी सदियोंके 'कार्ला' आदि गुफाओंमे अकित उनके बौद्ध मठोंके लिये दिये दानोंसे सिद्ध है। किन्तु यह पीछेकी बात है, जिस समयकी बात हम कह रहे है, उस समय मिश्र, बाबुलकी सभ्यताये बहुत पुरानी और सम्माननीय समझी जाती थी। यवन सौदागरोंने इन पुरानी

सभ्यताओसे प्राकृतिक-विज्ञान, ज्योतिष, रेखा-गणित, अक-गणित, वैद्यककी कितनी ही बाते सीखी और सीखकर एक अच्छे शिष्यकी भाँति उन्हे आगे भी विकसित किया। इसी विचार-विनिमयका दूसरा परिणाम था यूनानी-दर्शनकी सबसे पुरानी शाखा-युनिक सम्प्रदाय (थेल, अनक्सिमन्दर, अनक्सिमन, आदि)का प्रादुर्भाव।

§ १—तत्त्वजिज्ञासु युनिक दार्शनिक (६०० से ४०० ई० पू०)

युनिक दार्शनिकोकी जिज्ञासाका मुख्य लक्ष्य था उस मूलतत्त्वका पता लगाना, जिससे विश्वकी सारी चीजे बनी है। वे सिर्फ कल्पनाके ही आकाशमे उडनेवाले नही थे, बल्कि उनमे, **अनक्सिमन्दरको** हम उस वक़्तकी ज्ञात दुनियाका नकशा बनाते देखते है, यही नकशा बहुत समय तक व्यापारियोके लिये पथ-प्रदर्शकका काम देता रहा। इस प्रकार हम देखते है, कि ये दार्शनिक व्यवहार या वैज्ञानिक प्रयोगोसे अपनेको अलग-थलग रखना नही चाहते थे।

उपनिषद्के दार्शनिकोको भी हम इससे एक सदी पहले यह बहस करते पाते है कि 'विश्वका मूल' उपादान क्या है—जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है।' हमारे यहाँ[१] किसीने अग्निको मूलतत्त्व कहा, किसीने आकाशको, किसीने वायुको, और किसीने आत्मा या ब्रह्मको। युनिक दार्शनिक थेल, (६४०-५२५ ई० पू०)का कहना था, कि "पानी ही प्रथम तत्त्व[२] है। अनक्सिमन्दर (६१०-५४५ ई० पू०)का कहना था, कि भूतोके जिन स्थूल सान्त-रूपको हम देखते है, मूलतत्त्वको उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिए। उसने इसका नाम 'अनन्त' और 'अनिश्चित' रखा। इसी 'अनन्त' और 'अनिश्चित' तत्त्वसे आग, हवा, पानी, मिट्टी—मूलतत्त्व बने है। अनक्सिमन (५६०-५२५ ई० पू०) भी पानीको मूलतत्त्व मानता था।

---

[१] **देखो पृष्ठ ४५२ (अग्नि), ४८० (वायु)।** [२] **(आप एव अग्र आसन्)**

इन पुराने युनिक दार्शनिकोमे हम एक खास बात यह देखते है, कि वह यह प्रश्न नही उठाते, कि इन तत्त्वोको किसने बनाया ! उनका प्रश्न है 'ये कैसे बने ?' भारतमें इनके समकालीन चार्वाक और बुद्धको भी किसी बनानेवाले विधाताके प्रश्नको नही छेडते देखते है। इन युनिक दार्शनिकोंके लिए जीवन महाभूतसे अलग चीज न थी, जिसके लिए कि एक पृथक् चालक चेतनशक्तिकी जरूरत हो। गरजते-बादल, चलती-नदी, लहराता-समुद्र, हिलता-वृक्ष, काँपती-पृथ्वी, उनकी निर्जीवता नही, सजीवताको साबित करती है। इसीलिए भूतोसे परे किसी अन्तर्यामीको जाननेका सवाल उन्होने नही उठाया।

ये थे युनिक दार्शनिक, जिन्होने पाश्चात्य दर्शनके विकासमे पहिला प्रयास किया।

§ २–बुद्धिवाद

पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)—युनिक दार्शनिकोके बाद अगले विकासमे हम विचारकोको और सूक्ष्म तर्क-वितर्ककी ओर लगे देखते है। युनिक दार्शनिक महाभूतोके किनारे-किनारे आगे बढते हुए मूल-तत्त्वकी खोज कर रहे थे। अब हम पिथागोर जैसे दार्शनिकोको किनारेसे छलाँग मारकर आगे बढते देखते है। पिथागोर भी केवल दार्शनिक न था, वह अपने समयका श्रेष्ठ गणितज्ञ था। कहते है, वह भारत आया—या यहाँके विचारोसे प्रभावित हुआ था और यहीसे उसने पुनर्जन्मका सिद्धान्त (और शायद शारीरक ब्रह्मको भी) लिया था। जो भी हो, उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति वह भी ठोस विश्वको छोडकर कल्पना-जगत्मे उडना चाहता था, यह उसके दर्शनसे स्पष्ट है। इस प्रकारके दर्शनको भारतीय परम्परामे **विज्ञानवाद** कहते है। पिथागोर मूलतत्त्वको ढूँढते हुए, स्थूल व्यक्तिको छोड आकृतिकी ओर दौडता है। उसका कहना था, महाभूत मूलतत्त्व नही है, न उनके सूक्ष्म रूप ही। मूलतत्त्व—पदार्थ—है आकृति या आकार। वीणाके तारकी लम्बाई और उसके स्वरका खास सम्बन्ध है।

अंगुलीसे दबाकर जितनी लम्बाई या आकारका हम इस्तेमाल करते हैं, उसीके अनुसार स्वर निकलता है। वीणाके तारकी लम्बाईके दृष्टान्तका पिथागोरके दर्शनमें बहुत ज्यादा उपयोग किया गया है। शरीरके स्वास्थ्यके बारेमें भी उसका कहना था, "वह आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाईके खास परिमाण)पर निर्भर है।" इस तरह पिथागोर इस निष्कर्षपर पहुँचा, कि 'मूलतत्त्व आकृति है।' आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) चूँकि संख्या (गिनती)से प्रकट की जा सकती है, इसीलिए महावाक्य प्रसिद्ध हुआ, "सभी चीजें संख्यायें हैं" और इस प्रकार हमारे यहाँके वैयाकरणोंके 'शब्द-ब्रह्म'की भाँति, पिथागोरका 'संख्या-ब्रह्म' प्रसिद्ध हुआ। उस समयके यूनानी संख्या-संकेत भी कई विन्दुओंको खास आकृतिमें रखकर लिखे जाते थे—यही बात हमारे यहाँकी ब्राह्मी-लिपिकी संख्याओंपर भी लागू थी, जिसमें कि पाइयों की संख्या बढ़ाकर संख्या-संकेत होता था। इससे भी 'संख्या-ब्रह्म'के प्रचारमें पिथागोरके अनुयायियोंको आसानी पड़ी। विन्दु, रेखाओंको बनाते हैं; रेखायें, तलको; और तल, ठोस पदार्थको; गोया विन्दु या संख्या ही सबकी जड़ है।

युनिक दार्शनिकोंकी विचार-धारा अगली चिन्तन-धाराको गति देकर विलीन हो गई, किन्तु पिथागोरकी विचार-धाराने एक दर्शन-सम्प्रदाय चलाया, जो कई शताब्दियों तक चलता रहा और आगे चलकर अफलातूँ—अरस्तूके दर्शनका उज्जीवक हुआ।

१—अद्वैतवाद

ईरानके शहंशाह कोरोश् (५५०-५२९ ई० पू०)ने क्षुद्र-एसियाको जीतकर जब युनिक पुरियोंपर भी अधिकार कर लिया, तो उस वक्त कितने ही यूनानी इधर-उधर भाग गये, जिनमें पिथागोरके कुछ अनुयायी एलिया (दक्षिणी इतालो)में जा बसे। पिथागोरकी शिक्षा सिर्फ दार्शनिक ही नहीं थी, बल्कि बुद्ध और वर्द्धमानकी भाँति वह एक धार्मिक सम्प्रदायका संस्थापक था, जिसके अपने मठ और साधक होते थे। किन्तु

एलियाके विचारक शुद्ध दार्शनिक पहलूपर ज्यादा जोर देते थे। इनका दर्शन **स्थिरवाद** था, अर्थात् परिवर्तन केवल स्थूल-दृष्टिसे दीखता है, सूक्ष्म-दृष्टिसे देखनेपर हम स्थिर-तत्त्वो, या तत्त्वोंपर ही पहुँचते है।

(१) **क्सेनोफेन्** (५७०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोमें क्सेनोफेन्का देवताओके विरुद्ध यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"मर्त्य (मनुष्य) विश्वास करते है कि देवता उसी तरह अस्तित्वमे आये जैसे कि हम, और देवताओके पास भी इद्रियाँ, वाणी, काया है, किंतु यदि बैलों या घोडोके पास हाथ होते, तो बैल, देवताओको बैलकी शकलके बनाते; घोडे, घोडेकी तरह बनाते। इथोपिया (अबीसीनिया) वाले अपने देवताओको काले और चिपटी नाकवाले बनाते है और थ्रेसवाले अपने देवताओको रक्तकेश, नील-नेत्र वाले।" क्सेनोफेन् ईश्वरको साकार, मनुष्य जैसा माननेके बिल्कुल विरुद्ध था, तथा बहुदेववादको भी नही चाहता था, वह मानता था, कि "एक महान् ईश्वर है, जो काया और चिन्तन दोनोंमे मर्त्य जैसा नही है।" वह उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति कहता था—"सब एकमे हैं और एक ईश्वर है।" इस वाक्यके प्रथम भागमे एकेश्वरवाद आया है और दूसरेमें ब्रह्म-अद्वैत। वह अपने ब्रह्म-वादके बारेमे स्पष्ट कहता है—"ईश्वर जगत् है, वह शुद्ध (केवल) आत्मा नही है, बल्कि सारी प्राणयुक्ति प्रकृति (वही) है।" अर्थात् वह रामानुजसे भी ज्यादा स्पष्ट शब्दोमे ईश्वर और जगत्की अभिन्नताको मानता था, साथ ही शंकरकी भाँति प्रकृतिसे इन्कार नही करता था।

(२) **परमेनिद्** (५४०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोमे दूसरा प्रसिद्ध पुरुष परमेनिद् हुआ। 'न सत्से असत् हो सकता हैं और न असत्से सत्की उत्पत्ति कभी हो सकती', गोया इसी वाक्यकी प्रति-ध्वनि हमे वैशेषिक[1] और भगवद्गीता[2]मे मिलती है। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा, कि जगत् एक, अ-कृत, अ-विनाशी, सत्य वस्तु है।

---

[1] "नासदः सदुत्पत्तिः"। [2] "नासतो विद्यते भावः" (गीता ३।१६)

गति या दूसरे जो परिवर्तन हमे जगत्‌मे दिखलाई देते है, वह भ्रम है।

(३) जेनो (४९०-३० ई० पू०)—एलियाका एक राजनीतिज्ञ दार्शनिक था। सभी एलियातिक दार्शनिकोंकी भाँति वह स्थिर अद्वैत-वादी था। वहसमे वाद, प्रतिवाद, संवाद या द्वन्द्ववादका प्रयोग पहिले-पहिल जेनोहीने किया था (यद्यपि उसका वैसा करना स्थिरवादकी सिद्धिके लिये था, क्षणिक-वादके लिये नही), इसलिए जेनोको द्वन्द्ववादका पिता कहते है।

सारे एलियातिक दार्शनिक, इन्द्रिय-प्रत्यक्षको वास्तविक ज्ञानका साधक नही मानते थे, उनका कहना था कि सत्यका साक्षात्कार चिन्तन—विज्ञान-से होता है, इंद्रियाँ केवल भ्रम उत्पादन करती है। वास्तविकता एक अद्वैत है, जिसका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा नही, चिन्तन-द्वारा ही किया जा सकता है।

एलियातिकोंका दर्शन स्थिर-विज्ञान-अद्वैतवाद है।

२—द्वैतवाद

अद्वैतवादी एलियातिक चाहे स्वत इस परिणामपर पहुँचे हो, अथवा बाहरी (भारतीय) रहस्यवादी प्रभावके कारण; किन्तु अपनेसे पहिलेवाले 'थेल' आदि दार्शनिकोंकी स्वदेशी धारामे वह बहुत भिन्नता रखते थे, इसमें संदेह नहीं। इन अद्वैतवादियोंके विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा थी, जो स्थिरवादी होते हुए भी परिवर्तनकी व्याख्या अपने द्वैतवादने करती थी—अर्थात् मूलतत्त्व, अनेक, स्थिर, नित्य है, किन्तु उनमें संयोग-वियोग होता रहता है, जिसके कारण हमें परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

(१) हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)—हेराक्लितुका वही समय है, जो कि गौतम बुद्धका। हेराक्लितु भी बुद्धकी भाँति ही परिवर्तनवाद, क्षणिक-वादको मानता था। हेराक्लितुके ख्यालके अनुसार जगत्‌की सृष्टि और प्रलयके युग होते है। हर बार सृष्टि बनकर अन्तमें आग द्वारा उसका नाश होता है। भारतीय परम्परामें भी जल और अग्नि-प्रलयका

जिक्र आता है। यद्यपि उपनिषद् और उससे पहिलेके साहित्यमे उसका नाम नही है। बुद्धके उपदेशोमे इसका कुछ इशारा मिलता है और पीछे वसुबन्धु आदि तो 'अग्नि-सवर्त्तनी'[1] का बहुत जोरसे जिक्र करते है।

युनिक दार्शनिकोकी भाँति ही हेराक्लितु भी एक अतिम तत्त्व अग्निकी बात करता है; लेकिन उसका जोर परिवर्तन या परिणामवाद-पर बहुत ज्यादा है। दुनिया निरन्तर बदल रही है, हर एक 'चीज' दीप-शिखाकी भाँति हर वक्त नष्ट, और उत्पन्न हो रही है। चीजोमे किसी तरहकी वास्तविक स्थिरता नही। स्थिरता केवल भ्रम है, जो परिवर्तनकी शीघ्रता तथा सदृश-उत्पत्ति (उत्पन्न होनेवाली चीज अपने से पहिलेके समान होती है)के कारण होता है। परिवर्तन विश्वका जीवन है। इस प्रकार हेराक्लितु एलियातिकोसे बिलकुल उलटा मत रखता था। वह अद्वैती नही, द्वैती; स्थिरवादी नही, परिवर्तनवादी था।

हेराक्लितुका जन्म एफेसु[2] के एक रईस घरानेमे हुआ था, लेकिन वह समय ऐसा था, जब कि पुराने रईसोकी प्रभुताको हटाकर, यूनानी व्यापारी वहाँके शासक बन चुके थे। हेराक्लितुके मनमे "ते हि नो दिवसा गता"[3] की आग लगी हुई थी और वह इस स्थितिको सहन नही कर सकता था और समयके परिवर्तनकी जबर्दस्त हवाने उसे एक जबरदस्त परिवर्तन-वादी दार्शनिक बना दिया। शायद, यदि रईसोका राज्य होता, तो हेराक्लितु परिवर्तनके सत्यको देख भी न पाता। हेराक्लितुने एक क्रान्ति-कारी दर्शनकी सृष्टि की, किन्तु व्यवहारमे उसकी क्रान्ति, व्यापारियोके राज्यको उलटना भर चाहती थी। वह आजीवन रईसमिजाज रहा और जनतन्त्रताको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखता था, आखिर इसी जनतन्त्रताने तो उसके अपने वर्गको सिहासनसे खीचकर धूलिमे ला पटका था।

---

[1] अभिधर्म-कोश (वसुबंधु)। [2] Ephesus. [3] हाय! वे हमारे दिन चले गये।

हेराक्लितुके लेखोंके बहुत थोड़ेसे अंश मिले हैं। जगत्‌के निरन्तर परिवर्तनशील होनेके बारेमें वह उदाहरण देता है—"तुम उसी नदी में दो बार नहीं उतर सकते; क्योंकि दूसरे, और फिर दूसरे पानी वहाँ से सदा बह रहे हैं। जगत्‌की सृष्टि उसका नाश (=प्रलय) है, उसका नाश उसकी सृष्टि है। कोई चीज नहीं है, जिसके पास स्थायी गुण हो। संगीतका समन्वय निम्न और उच्च स्वरोंका समागम—विरोधियोंका समागम[1] है।"

जगत् चल रहा है, संघर्षसे; "युद्ध सबका पिता और सबका राजा है—उसके बिना जगत् खतम हो जायेगा, गति-शून्य हो मर जायेगा।"

अनित्यता या परिवर्तनके अटल नियमपर जोर देते हुए हेरा-क्लितु कहता है—"यह एक ऐसा नियम है, जिसे न देवताओंने बनाया, न मनुष्योंने; वह सदासे रहा है और रहेगा—एक सदा जीवित अग्नि (बनकर) निश्चित मानके अनुसार प्रदीप्त होना, और निश्चित मान के अनुसार बुझना।" निश्चित मान (मात्रा) या मानपर हेराक्लितुका वैसे ही बहुत जोर था, जैसा कि उसके सामयिक बुद्धका।

हेराक्लितु अनजाने ही दुनियाके सबसे क्रान्तिकारी दर्शन—द्वन्द्वात्मक (अणिक-) भौतिकवाद (मार्क्सवादीय दर्शन)का विधाता बना। बुद्ध-दर्शनका भी यही लक्ष्य था, किन्तु मजहबी भूल-भुलैयोंमें वह इतना उलझ गया कि आगे विकसित न हो सका। हेगेल्‌ने उसे अपने दर्शनका आधार बनाकर एक सांगोपांग गंभीर आधुनिक दर्शनका रूप दिया।

हेराक्लितुके लिए मन और भौतिक तत्त्वमें किसी एकको प्रधानता देने-की जरूरत न थी। हेगेल्‌ने मनको प्रधानता दी—भौतिक तत्त्व नहीं, मन या विज्ञान असली तत्त्व—परिवर्तित होते हुए भी—है, और इस प्रकार वह जगत्‌से मनकी ओर न जाकर मनसे जगत्‌की ओर बढ़नेका प्रयास करते हुए द्वन्द्वात्मकवादको विज्ञानवाद ही बना शीर्षासन करा

[1] Unity of opposites

रहा था। मार्क्सने उसे इस सासतसे बचाया, और दोनों पैरोंके बल, ठोस पृथ्वीपर ला रखा—भौतिकतत्त्व, 'आसमानी' विज्ञान (मन)के विकास नही है, बल्कि विज्ञान ही भौतिक-तत्त्वोंका चरम-विकास है, ऊपरसे नीचे आनेकी जरूरत नही; बल्कि नीचेसे ऊपर जानेमे बात ज्यादा दुरुस्त उतरती है।

(२) **अनक्सागोर्** (५००-४२८ ई० पू०) अनक्सागोर्ने द्वैतवादका और विकास किया। उसने कहा कि हेराक्लितुकी भाँति, आग जैसे किसी एक तत्त्वको मूलतत्त्व या प्रधान माननेकी जरूरत नही। ये बीज (मूल कारण) अनेक प्रकारके हो सकते है और उनके मिलनेसे ही सारी चीजे बनती है।

(३) **एम्पेदोकल्** (४८३-३० ई० पू०) अनक्सागोर्के समकालीन एम्पेदोकल्ने मूल-तत्त्वोकी संख्या अनिश्चित नही रखनी चाही, और युनिक दार्शनिकोंकी शिक्षासे फायदा उठाकर अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी—ये चार "बीज" निश्चित कर दिये। यही चारों तरहके बीज एक दूसरेके सयोग और वियोगसे विश्व और उसकी सभी चीजोंको बनाते और बिगाडते रहते है। सयोग, वियोग कैसे सभव है, इसके लिये एम्पेदोकल्ने एक और कल्पना की—"जैसे शरीरमे राग, द्वेष मिलने और हटनेके कारण होते है, उसी तरह इन बीजोंमे राग और द्वेष मौजूद है।" एम्पेदोकल्की ख्याली उडानने इस सिलसिलेमे और आगे बढकर कहा कि—"मूल बीज ही नही खुद शरीरके अंग भी पहिले अलग-अलग थे, और फिर एक दूसरेसे मिलकर एक शरीर बन गए।" उसने यह भी कहा कि—"भिन्न-भिन्न अगोंसे मिलकर जितने प्रकार के शरीर बनते है, उनमे सबसे योग्यतम ही बच रहते है, बाकी नष्ट हो जाते है—" ये विचार सेल और विकासके सिद्धान्तोकी पूर्व झलक है।

(४) **देमोक्रितु** (४६०-३७० ई० पू०)—देमोक्रितु यूनानी द्वैतवादी दार्शनिकोमे ही प्रधान स्थान नही रखता, बल्कि अपने **परमाणुवादके** कारण, पौरस्त्य पाश्चात्य दोनों दर्शनोंमे उसका बहुत ऊँचा स्थान है। भारतीय दर्शन मे परमाणुवादका प्रवेश यूनानियोके सपर्कसे ही हुआ,

इसमे सदेहकी गुजाइश नही, जब कि उपनिषद् और उससे पहिलेके ही साहित्यमे नही, बल्कि जैन और बौद्ध पिटकोंमे भी हम उसका पता नही पाते। वैशेषिकदर्शन यूनानी दर्शनका भारतीय सस्करण है। क्या जाने अथेन्सका पुर-चिह्न उल्लू ही, वैशेषिकके 'औलूक्य-दर्शन' नाम पड़नेका कारण हुआ हो। इसपर आगे हम और कहेगे। २०० ई० पू० के आस-पास जब वैशेषिकने परमाणुवादको अपनाकर भारतीय-दर्शन-क्षेत्र-मे अपनी धाक जमानी चाही, तो उसके बाद किसी भी दर्शनको उसके विना रहना मुश्किल हो गया। मध्यकालके सभी भारतीय बुद्धिवादी-दार्शनिक—न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैन—परमाणुको निजी व्याख्याके साथ अपना अग बनाते है। परमाणुवादको दर्शनमे ऊँचा स्थान यद्यपि देमोक्रितु[1]की लेखनीने दिलाया, किन्तु सबसे पहिले उसका ख्याल उसके गुरु लेउकिप्पू[2] (५००-४३० ई० पू०)को आया था। देमोक्रितुका जन्म ४६० ई० पू० मे (बुद्धके निर्वाणके २३ साल बाद) थ्रेसके समुद्रीतट-पर स्थित अब्देराके व्यापारी नगरमे हुआ था।

परमाणुवादी देमोक्रितु एलियातिकोसे द्वैतवादमे भेद रखता है, किन्तु वह चरम-परिवर्तनको नही मानता। वास्तविकता, नित्य, ध्रुव, अपरि-वर्तनशील है। साथ ही परिवर्तन भी जो दीख रहा है, वह वस्तुओके निरतर गतिके कारण होता है। हाँ वास्तविक तत्त्व एक अद्वैत नही, बल्कि अनेक—द्वैत है और ये मूलतत्त्व एक दूसरेसे अलग-अलग है, जिनके बीचकी जगह खाली—आकाश है। मूलतत्त्व अ-तो मो न् अ-छेद्य, अ-वेध्य है—अ-तोमोन्से ही अग्रेजी ऐटम् (=परमाणु) शब्द निकला है।

परमाणु—परमाणु अतिसूक्ष्म अविभाज्य तत्त्व है, किन्तु वह रेखा-गणितका विन्दु या शक्ति-केन्द्र नही है, बल्कि उसमे परिमाण या विस्तार है; गणित द्वारा अविभाज्य नही, बल्कि कायिक तौरसे अविभाज्य है, अर्थात् परमाणुके भीतर आकाश नही है। सभी परमाणु एक आकार

---

[1] Democritus. [2] Leucippus.

परिमाण—अर्थात् एक लवाई, चौडाई, मुटाई—के नही होते। परमाणुओंसे वने पिडोके आकारोमे भेद है। परमाणुओके आकार उनके स्थान और क्रमके कारण हैं। परमाणु-जगत्की आरम्भिक इकाइयाँ, ईंटे या अक्षर है। जैसे २, ३ का भेद आकारमे है, ३, ६ का भेद स्थितिके कारण है—अगर ३का मुँह दूसरी ओर फेर दे तो वही ६ हो जायगा, ३६, ६३ का अतर अकके क्रम-भेदके कारण है। परमाणु गतिशून्य तत्त्व नही है, वल्कि उनमे स्वाभाविक गति होती है। परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते है। इस तरह हरकत करते रहनेसे उनका दूसरोके साथ सयोग होता है और इस तरह जगत् और उसके सारे पिड बनते है। किसी-किसी वक्त ये पिड आपसमे टकराते है, फिर कितने ही परमाणु उनसे टूट निकलते है। इस तरह देमोक्रितुका परमाणु-सिद्धान्त पिछली शताब्दीके यान्त्रिक भौतिकवादसे वहुत समानता रखता है, और विश्वके अस्तित्वकी व्याख्या भौतिकतत्त्वो और गतिके द्वारा करता है। देमोक्रितु शब्द, वर्ण, रस, गन्धकी सत्ताको व्यवहारके लिये ही मानता है, नही तो "वस्तुत न मीठा है न कडुवा, न ठडा है न गरम। वस्तुत यहाँ है परमाणु और शून्य।" इस तरह परमाणुवादी दार्शनिक वाह्य जगत् और उसकी वस्तुओको एक भ्रम या इद्रजालसे बढकर नही मानते।

३—सोफीवाद

कोरोश् और दारयोशके समय युनिक नगर जब ईरानियोके हाथमे चला गया, तो कितने ही विचारके लोग इधर-उधर चले गये, यह हम बतला आये है। जिस तरह इस वक्त पिथागोरके अनुयायियोने भागकर एलियामे अपना केन्द्र बनाया, उसी तरह और विचारक भी भगे, मगर उन्होने एक जगह रहनेके बदले घुमन्तू या परिव्राजक होकर रहना पसन्द किया। इन्हे सोफी[१] या ज्ञानी कहते है। यद्यपि इस्लामी परिभाषामे प्रसिद्ध सूफी

---

[१]Sophist.

(अद्वैतवादी सम्प्रदाय) इसी शब्दसे निकला है, किन्तु प्राचीन यूनानके इन सोफियों और इस्लामी सूफियोका दार्शनिक सम्प्रदाय एक नही है, इसलिए हम उसे यहाँ सूफी न लिख सोफी लिख रहे है। सोफी एक अशान्त, तितर-बितर होते समाज तथा राज्य-क्रान्तिकी उपज थे, इसलिए पहिलेसे चली आती बातोपर उनका विश्वास कम था, उनमे ज्ञानकी बडी प्यास थी। वह खुद ज्ञानका सग्रह करते थे, साथ ही उसका वितरण करना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके प्रयत्नसे ज्ञानका बहुत विस्तार हुआ, चारो ओर ज्ञानकी चर्चा होने लगी। "पुराणमित्येव न साधु सर्वं" (पुराना है इसीलिए ठीक है, यह नही मानना चाहिए) यह एक तरह उनका नारा था। सत्यके अन्वेपणके लिए बुद्धिको हर तरहके बन्धनोंसे मुक्त करके इस्तेमाल करनेकी बात उन्होंने लोगोको समझाई। सोफियोंने भी अपनेसे कुछ समय पहिले गुजर गये बुद्धकी भाँति सत्यके दो भेद रूढि और वास्तविक किये। रूढि-सत्य ही बुद्धका सवृति (शकरका व्यवहार) सत्य है, और वास्तविक सत्य परमार्थ-सत्य है। सोफियोका एक महावाक्य था—"मनुष्य वस्तुओका नाप या माप (कसौटी) है।"

सोफियोंके जमानेमे ही अथेन्स यूनानी दर्शनके पठन-पाठनका केन्द्र बन गया और उसने सुक्रात, अफलातूँ और अरस्तू जैसे दार्शनिक पैदा किये।

§ ३—यूनानी दर्शनका मध्याह्न

ईसा-पूर्व चौथी सदी यूनानी दर्शनका सुवर्ण-युग है। थोडा पहिले सुक्रातने अपने मौखिक उपदेशो द्वारा अथेन्सके तरुणोमे तहलका मचाया था, किन्तु उसके अधूरे कामको उसके शिष्य अफलातूँ और प्रशिष्य अरस्तू-ने पूरा किया। इस दर्शनको दो भागोंमे बाँटा जा सकता है, पहिला सुक्रात गुरु-शिष्यका यथार्थवाद और दूसरा अरस्तूका प्रयोगवाद।

१—यथार्थवादी सुक्रात (४६९—३९९ ई० पू०)

सोफियोंके कितने ही विचार सुक्रात मानता था। सोफियोकी भाँति मौखिक शिक्षा और आचार द्वारा उदाहरण देना उसे भी पसन्द थे।

वस्तुत. उसके समसामयिक भी सुक्रातको एक सोफी समझते थे। सोफियो-की भाँति साधारण शिक्षा तथा मानव-सदाचारपर वह जोर देता था और उन्हीकी तरह पुरानी रूढियोंपर प्रहार करता था। लेकिन उसका प्रहार सिर्फ अभावात्मक नही था। वह कहता था, सच्चा ज्ञान सम्भव है बशर्तेकि उसके लिये ठीक तौरपर प्रयत्न किया जावे, जो बाते हमारी समझमे आती है या हमारे सामने आई है, उन्हे तत्सम्बन्धी घटनाओपर हम परखे, इस तरह अनेक परखोके बाद हम एक सच्चाईपर पहुँच सकते है। "ज्ञानके समान पवित्रतम कोई चीज नही है;"[1] वाक्यमे गीताने सुक्रातकी ही बातको दुहराया है। "ठीक करनेके लिये ठीक सोचना जरूर है" सुक्रातका कथन था।

बुद्धकी भाँति सुक्रातने कोई ग्रन्थ नही लिखा, किन्तु बुद्धके शिष्योने उनके जीवनके समयमे कठस्थ करना शुरू किया था, जिससे हम उनके उपदेशोको बहुत कुछ सीधे तौरपर जान सकते है; किन्तु सुक्रातके उप-देशोके बारेमे वह भी सुभीता नही। सुक्रातका क्या जीवन-दर्शन था, यह उसके आचरणसे ही मालूम हो सकता है, लेकिन उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढगसे करते हैं। कुछ लेखक सुक्रातकी प्रसन्न मुखता और मर्यादित जीवन-उपभोगको दिखलाकर बतलाते है कि वह भोगवादी[2] था। **अन्तिस्थेन** और दूसरे लेखक उसकी शारीरिक कष्टोंकी ओरसे बे-पर्वाही तथा आवश्यकता पड़नेपर जीवन-सुखको भी छोड़नेके लिये तैयार रहनेको दिखलाकर उसे सादा जीवनका पक्षपाती बतलाते है।

सुक्रातको हवाई बहस पसद न थी। "विश्वका स्वभाव क्या है, सृष्टि कैसे अस्तित्वमे आई या नक्षत्र जगत्के भिन्न-भिन्न प्राकट्य किन शक्तियोके कारण होते है," इत्यादि प्रश्नोपर बहस करनेको वह मूर्ख-क्रीडा कहता था।

---

[1] "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता ४।३८)

[2] Hedonist.

सुक्रात अथेन्सके एक बहुत ही गरीब घरमे पैदा हुआ था। गभीर विद्वान् और ख्याति-प्राप्त हो जानेपर भी उसने वैवाहिक सुखकी लालसा न की। ज्ञानका सग्रह और प्रसार यही उसके जीवनके मुख्य लक्ष्य थे। तरुणोके बिगाडने, देवनिन्दक और नास्तिक होनेका झूठा दोष उसपर लगाया गया था और इसके लिए उसे जहर देकर मारनेका दड मिला था। सुक्रातने जहरका प्याला खुशी-खुशी पिया और जान दे दी।

२–बुद्धिवादी अफलातूँ (४२७–३४७ ई० पू०)

अफलातूँ अथेन्सके एक रईस-घरमे पैदा हुआ था। अपने वर्गके दूसरे मेधावी लडकोंकी भाँति उसने भी सगीत, साहित्य, चित्र और दर्शनका आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। ४०७ ई० पू०मे जब वह २० सालका था, तभी सुक्रातके पास आया और अपने गुरुकी मृत्यु (३९९ ई० पू०) तक उसके ही साथ रहा।

कोई भी दर्शन शून्यमे नही पैदा होता, वह जिस परिस्थितिमें पैदा होता है, उसकी उसपर छाप होती है। अफलातूँ रईस-घरानेका था और उस वर्गकी प्रभुताका उस वक्तके यूनानमे ह्रास हो चुका था, उसकी जगह व्यापारी शक्तिशाली बन चुके थे; इसलिए उस समयके समाजकी व्यवस्थासे अफलातूँ सन्तुष्ट नही हो सकता था, और जब अपने निरपराध गुरु सुक्रातको जनसम्मत शासकोद्वारा मारे जाते देखा तो उसके मनपर इसका और भी बुरा असर पडा। इस बातका प्रभाव हम उसके लोकोत्तरवादी दर्शनमे देखते है, जिसमे एक वक्त अफलातूँ एक रहस्यवादी ऋषिकी तरह दिखाई पडता है और दूसरी जगह एक दुनियादार राजनीतिककी भाँति। वह तत्कालीन समाजको हटाकर, एक नया समाज कायम करना चाहता है—यद्यपि उसका यह नया समाज भी इस लोकका नही, एक बिल्कुल लोकोत्तर समाज है। वह अपने समयके अथेन्ससे कितना असन्तुष्ट था, वह इस कथनसे मालूम होता है—"हालमे अथेन्समे जनतन्त्रता चलाई गई। मैने समझा था, यह अन्यायके शासनके स्थानपर न्यायका शासन

होगा। इसलिए मैं इसकी गति-विधिको बडे ध्यानसे देखता रहा। किन्तु थोडे ही समयके बाद मैंने इन सज्जनोको ऐसी जनतन्त्रता बनाते देखा, जिसके सामने पहिलेका शासन सुवर्णयुग था। उन्होने मेरे बूढे मित्र—जिसे अत्यन्त सच्चा आदमी कहनेमे मुझे कोई सकोच नही—को एक ऐसे नागरिकको पकडवानेका हुक्म दिया, जिसे कि, अपने रास्तेसे वह दूर करना चाहते थे। उनकी मशा थी कि चाहे सुक्रात पसन्द करे या न करे, लेकिन वह नये शासनकी कार्रवाइयोमे सहयोग दे। उसने उनकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया और इनके पापोमे सम्मिलित होनेकी बनिस्बत वह मरनेके लिये तैयार हो गया। जब मैंने खुद यह और बहुत कुछ और देखा, तो मुझे सख्त घृणा हो गई और मैंने ऐसी शोचनीय सरकारसे नाता तोड लिया। पहिले मेरी बहुत इच्छा थी कि राजनीतिमे शामिल होऊँ, लेकिन जब मैंने इन सब बातोपर विचार किया तो देखा कि राजनीतिक परिस्थिति कितनी दुर्व्यवस्थित है"[1] इस तरह सोचकर अफलातूँने इस लोकके समाजके निर्माणमे तो भाग नही लिया, किंतु उसने एक उटोपियन—दिमागी या हवाई—प्रजातन्त्र जरूर तैयार करना चाहा और घोषित किया—"मानव-जाति बुराइयोसे तबतक बच नही सकती, जबतक कि वास्तविक दार्शनिकोके हाथमे राजनीतिक शक्ति नही चली जाती अथवा कोई योजना (चमत्कार) ऐसा नही होता जिसमे कि राजनीतिज्ञ ही दार्शनिक बन जायें'।"

अफलातूँ किस तरहका समाज चाहता था, इसे हम अन्यत्र[2] कह आये है, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अफलातूँका दर्शन उस समाजकी उपज है, जिसमे जीवनोपयोगी सामग्रीका उत्पादन अधिकतर दास या कम्मी करते थे। अफलातूँका वर्ग या तो उसी तरहकी राजनीतिमे सलग्न था, जिसकी कि अफलातूँ शिकायत कर चुका है, अथवा सगीत साहित्य और दर्शनका आनन्द ले रहा था।

---

[1] Plato. Seventh Letter.　　[2] मानव-समाज, पृष्ठ ११६-२२

अफलातूँका दर्शन—दर्शनमे अफलातूँकी प्रवृत्ति हम पहिलेके परस्पर-विरोधी दार्शनिक विचारोके समन्वयकी ओर देखते है। वह सुक्रातकी इस बातसे सहमत था कि ठीकतौरसे प्रयत्न करनेपर ज्ञान (या तत्त्व-ज्ञान) सम्भव है। साथ ही वह हेराक्लितुकी रायसे भी सहमत था कि साधारण तौरसे जिन पदार्थोंका साक्षात्कार हम करते है वे सभी सदा बदलती, सदा बहती धारा है और उनके बारेमें किसी महासत्यपर नही पहुँचा जा सकता। वह एलियातिकोकी भाँति एक परिवर्तनशील-जगत् (विज्ञान-जगत्)को मानता था, परमाणुवादियोके बहुत्व (द्वैत)-वादको समर्थन करते हुए कहता था कि मूलतत्त्व—विज्ञान—बहुत है। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा कि—"ज्ञानका यथार्थ विषय सदा—परिवर्तनशील, जगत्—प्रवाह और उसकी चीजे नही है, बल्कि उसका विषय है लोकातीत, अचल, एक-रस, इद्रिय-अगोचर, पदार्थ, **विज्ञान** (=मन)" जो कि पिथागोरकी आकृतिसे मिलता-जुलता था। इस तरह पिथागोर, हेराक्लितु और सुक्रात तीनोके दार्शनिक विचारोका समन्वय अफलातूँके दर्शनने करना चाहा।

अफलातूँके लिये इद्रिय-प्रत्यक्षका ज्ञानमे बहुत कम महत्त्व था। इद्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओकी वास्तविकताको नही प्रकट करता, वह हमे सिर्फ उनकी बाहरी झाँकी कराता है—राय सच्ची भी हो सकती है, झूठी भी, इसलिए सिर्फ राय कोई महत्त्व नही रखती, वास्तविक ज्ञान बुद्धि या चिन्तनसे होता है। इन्द्रियोकी दुनिया एक घटिया-दर्जेकी 'नकली' वास्तविकता है, वह वास्तविकताका मोटा सा अटकल भर है।

ज्ञानकी प्राप्ति दो प्रकारके चिन्तनपर निर्भर है—(१) **विज्ञान**[१] (=मन) मे बिखरे हुए **विशेषो**[२]का ख्यालमे लाना, (२) विज्ञानका **जाति**[३] या सामान्यके रूपमे वर्गीकरण करना। यह **सामान्य, विशेष** भारतीय न्याय वैशेषिक दर्शनमे बहुत आता है। वैशेषिक सूत्रोके छ

---

[१] Idea. [२] Particular [३] Archtype.

पदार्थोंमे सामान्य, विशेष, चौथे-पाँचवे पदार्थ है और उनका उद्गम इसी यूनानी दार्शनिक अफलातूँसे हुआ था। अफलातूँ यह भी मानता था कि जो चिन्तन ज्ञानका साधन है, उसे विज्ञानके रूपमे होना चाहिए, वाह्यजगत्के जो प्रतिबिंब या वेदना जिसको इन्द्रियाँ लाती है, उसपर चिन्तन करके हम सत्य तक नही पहुँच सकते।

अफलातूँ कुछ पदार्थोंको स्वत सिद्ध[1] कहता था, इनमे गणित-सबधी ज्ञान—संख्या, तथा तर्क-सबधी पदार्थ—भाव, अभाव, सादृश्य, भेद, एकता, अनेकता—शामिल है। इनमेसे कितने ही पदार्थोंका वर्णन वैशेषिकमे भी आता है।

ज्ञानकी परिभाषा करते हुए अफलातूँ कहता है—"विज्ञान और वास्तविकताका सामजस्य ज्ञान है, वास्तविकता निर्विषय नही हो सकती, उसका अवश्य कोई विषय होना चाहिए और वही विषय एक-रस विज्ञान है।

भाव पदार्थके बारेमे वह कहता है—सच्चा भाव स्थिर, अपरिवर्तन-शील, अनादि है, इसलिए वास्तविक ज्ञानके लिए हमे वस्तुओंके इसी स्थिर अपरिवर्तनशील सारको जानना चाहिए।

सामान्य, विशेष—जब हम इद्रियोसे प्राप्त प्रतिबिबो या वेदनाओ-से नही, वल्कि उनसे परे शुद्ध विज्ञानसे ज्ञानको प्राप्त करते है, तो वस्तुओ-मे हमे सार्वत्रिक (सामान्य) अपरिवर्तनशील, सारतत्त्वका ज्ञान होता है, और यही सच्चा-ज्ञान (=तत्त्वज्ञान) है। भारतमे सामान्यके जबर्दस्त दुश्मन बौद्ध रहे है, क्योकि इसमे उन्हे नित्यवादकी स्थापनाकी छिपी कोशिश मालूम होती थी। नैयायिक, व्यक्ति, आकृति, जाति तीनोको पदार्थ[2] मानते थे। प्रत्यक्षवादी कहते थे कि सत्ता व्यक्तियोकी ही है, दिमागसे बाहर विज्ञान या जातिकी तरहकी किसी चीजका अस्तित्व नही पाया जाता, अन्तस्थेनने कहा था—"मै एक अश्व (=घोडा) तो देखता

---

[1] A priory. [2] व्यक्तयाकृतिजातयस्तु पदार्थाः—न्यायसूत्र २।२।६७

हूँ, किंतु अश्वता (सामान्य) को नही देखता।" पिथागोर "आकृति"पर जोर देता था, यह हम बतला चुके है, अफलातूँ सामान्यका पक्षपाती था। वह परिवर्तनशील विश्वकी तहमे अपरिवर्तनशील एक-रस-तत्त्वको साबित करना चाहता था, जिसके लिये सामान्य एक अच्छा हथियार था। इस रहस्यसे बौद्ध नैयायिक अच्छी तरह वाकिफ थे, इसीलिये धर्मकीर्तिको हम सामान्यकी बुरी गति बनाते देखेगे। अफलातूँ कहता था—वस्तुओका आदिम, अनादि, अगोचर, मूल-स्वरूप[1] वस्तुओसे पहिले उनसे अलग तथा स्वतत्र मौजूद था। वस्तुओमें परिवर्तन होते है, किंतु इस मूल-रूपपर उसका कोई असर नही पडता। अश्व एक खास पिंड है, जिसको हम आँखोसे देखते, हाथोसे छूते या दूसरी इद्रियोसे प्रत्यक्ष करते है; किंतु वर्तमान, भूत और भविष्यके लाखो, अनगिनत अश्वोके भीतर अश्वपन (=अश्व-सामान्य) एक ऐसी चीज पाई जाती है, जो अश्व-व्यक्तियोके मरनेपर भी नष्ट नही होती, वह अश्व-व्यक्तिके पैदा होनेसे पहिले भी मौजूद रही। अफलातूँ इस अश्वता या अश्वसामान्यको अश्व-वस्तुका आदिम, अनादि, अगोचर मूल-स्वरूप, अश्ववस्तुसे पहिले, उससे अलग, स्वतत्र, वस्तु, परिवर्तनसे अप्रभावित, एक नित्य-तत्त्व सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है—व्यक्तिके रूपमे जिन वस्तुओको हम देखते है, वह इन्ही अनादि मूल-स्वरूपो—सामान्यो (अश्वता, गोता) के प्रतिबिंब या अपूर्ण नकल है। व्यक्तियाँ आती-जाती रहेगी, किंतु विज्ञान या मूलस्वरूप (=सामान्य) सदा एक-रस बने रहेगे, मनुष्य व्यक्तिगत तौरसे आते-जाते रहेगे, किन्तु मनुष्यसामान्य—मनुष्य-जाति—सदा मौजूद रहेगी।

विज्ञान[2]—एक-दूसरेसे सम्बद्ध हो विज्ञान एक पूर्ण काया बनाते है, जिसमे भिन्न-भिन्न विज्ञानोके अपने स्थान नियत है। अफलातूँका समाज दासो और स्वामियोका समाज था, जिसमे अपने स्वार्थोके कारण जबर्दस्त

---

[1] Archtype [2] Idea.

आन्तरिक विरोध था। ऐसे विरोधोंको मौखिक काव्यमयी व्याख्या द्वारा अफलातूँने दूर ही नही करना चाहा था, बल्कि उससे कुछ सदियो पहिले भारतके ऋषियोने भी उसी अभिप्रायसे **पुरुषसूक्त** बनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रको सिर, बाहु, जाँघ, पैरसे उपमा दे, सामाजिक शान्ति कायम करनी चाही थी। दर्शन-क्षेत्रमे इस तरहकी उपमासे अफलातूँ विज्ञानोके ऊँचे-नीचे दर्जे कायम करना चाहता है। सबसे श्रेष्ठ (=उच्चतम) विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान है, जो कि बाकी सभी विज्ञानोका स्रोत है। यह विज्ञान महान् है, इससे परे और कोई दूसरा महान् विज्ञान नही है।

दो संसार—ससारमे दो प्रकारके तत्त्व है, एक विज्ञान (=मन) दूसरा भौतिक तत्त्व। किन्तु इनमे विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, वही अनर्घतम पदार्थ है, हर एक चीजका रूप और सार अन्तमे जाकर इसी तत्त्व (=विज्ञान) पर निर्भर है। विश्वमे वही नियमन और नियत्रण करता है। दूसरे भौतिक तत्त्व, मूल नही, कार्य; चमत्कारक नही, सुस्त, चेतन नही, जड, स्वेच्छा-गति नही, अनिच्छित-गतिकी शक्तियाँ है, वे इच्छा विना ही विज्ञानके दास है; विज्ञानकी आज्ञापर नाचते है, और किसी तरह भी हो, विज्ञानकी छाप उनपर लगती है। यही **मूल-स्वरूप** (विज्ञान) सक्रिय कारण है, भौतिक तत्त्व सहयोगी कारण है।

ईश्वर—उच्चतम **विज्ञान** ईश्वर (विधाता=देमीउर्ग) है, यह कह आये है। अफलातूँ विधाताकी उपमा मूर्तिकारसे देता है। विधाता मानव-मूर्तिकारकी भाँति विज्ञान-जगत् (मानसिक दुनिया)मे मौजूद नमूने (मूल-स्वरूप, सामान्य)के अनुसार भौतिक-विश्वको बनाता है। विज्ञानके अनु-सार जहाँ तक ईश्वर उसके लिये सम्भव है, वह एक पूर्ण विश्व बनाता है, इतनेपर भी यदि विश्वमे कुछ अपूर्णता दिखाई पडती है, तो मूर्तिकारको दोष न देना चाहिए, क्योकि आखिर उसे भौतिक तत्त्वोपर काम करना है, और भौतिक तत्त्व विधाताकी कृतिमे बाधा डालते है। पीछे आनेवाले हमारे नैयायियोकी भाँति विधाता (=देमीउर्ग) जनक नही इजीनियर (वास्तुशास्त्री) है। वह स्वय उच्चतम विज्ञान है, किन्तु साथ ही भौतिक

तत्त्व भी पहिलेसे मौजूद है—भौतिक-जगत् और विज्ञान-जगत्—यह दो दुनियाएँ पहिलेसे मौजूद है। इन दोनोमे सबध जोडने—विज्ञानके रूपमे मौजूद **मूल-स्वरूपों** (=सामान्यो)के अनुसार भौतिक तत्त्वोको गढनेके लिये एक हस्तीकी जरूरत थी, विधाता वही हस्ती है। वही बाह्य और अन्तर-जगत्की सधि कराता है। अफलातूँका विधाता 'शिव' (=अच्छा) है, उसकी वह सूर्यसे उपमा देता है—सूर्य वस्तुओके बढने (बनने)का भी स्रोत है और उस प्रकाशका भी जिससे उनका ज्ञान होता है। इसी तरह 'शिव' सभी वस्तु—सत्यो, और तत्सबधी हमारे ज्ञानका भी स्रोत है।

दर्शनकी विशेषता—अफलातूँका दर्शन बुद्धिवादी है, क्योकि वह ज्ञानके लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षपर नही, बुद्धिपर जोर देता है, प्रत्यक्ष जगत्से अलग, बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् उसका वास्तविक जगत् है। विज्ञानवादी तो अफलातूँ है ही, क्योकि विज्ञान-जगत्, (=मूलस्वरूप)—ही उसके लिये एकमात्र सार है। बाह्यार्थवादी भी उसे कह सकते है, क्योकि बाहरी दुनियाको वह निराधार नही, एक वास्तविक जगत् (=विज्ञान-जगत्)का बाहरी प्रकाश कहता है। सारी दुनियाको मिलानेवाले महा-विज्ञान (=ईश्वर)की सत्ताको स्वीकार कर वह ब्रह्मवादी भी है, किन्तु वह भौतिकवादी बिलकुल नही है, क्योकि भौतिक तत्त्व और उससे बनी दुनियाको वह प्रधान नही गौण मानता है।

अफलातूँके सामाजिक, राजनीतिक विचारोके बारेमे 'मानव-समाज'मे कहा जा चुका है। वह समाजमे परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाजको लेकर नही, बल्कि **मूल-स्वरूप**के आधारपर।

३—वस्तुवादी अरस्तू[1] (३८४-३२२ ई० पू०)

अरस्तू बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से एक सदी पीछे स्तगिरामे पैदा हुआ था। उसका पिता निकोमाचु[2] सिकन्दरके बाप तथा मकदूनियाके

---

[1] कृतियाँ दे० पृष्ठ ११५, २२१-३, २७०-१ [2] Nicomachus.

राजा फिलिपका राजवैद्य था। उसके बाल्य-कालमे अफलातूँकी ख्याति खूब फैली हुई थी। १७ वर्षकी उम्रमे (३६७ ई० पू०) अरस्तू अफलातूँकी पाठशालामे दाखिल हुआ और तबतक अपने गुरुके साथ रहा, जब तक कि (बीस वर्ष बाद) अफलातूँ (३४७ ई० पू० मे) मर नही गया। फिलिपको अपने लडके सिकन्दर (३५३-३२३ ई० पू०)की शिक्षाके लिये एक योग्य शिक्षककी जरूरत थी। उसकी दृष्टि अरस्तूपर पडी। विश्व-विजयी सिकन्दरके निर्माणमे अरस्तूका खास हाथ था और इसका बीज ढूँढनेके लिये हमे उसके गुरु अफलातूँ तथा परमगुरु सुक्रात तक जाना पडेगा। सुक्रात अपने स्वतत्र विचारोंके लिये अथेन्सके जननिर्वाचित शासकोके कोपका भाजन बना। अफलातूँ अपने समयके समाजसे असन्तुष्ट था, इसलिए उसमे परिवर्तन करके एक साम्यवादी समाज कायम करना चाहता था, लेकिन इस समाजकी बुनियाद वह धरतीपर नही डालना चाहता था। वह उसे 'विज्ञान-जगत्' से लाना चाहता था, और उसका शासन लौकिक-पुरुषोके हाथमे नही, बल्कि लोकसे परे ख्याली दुनियामे उडनेवाले दार्शनिकोके हाथमे देना चाहता था। यदि अफलातूँको पता होता कि उसके साम्यवादी समाजकी स्थापनामे एक विश्व-विजेता सहायक हो सकता है, तो १८वी १९वी सदीके युरोपियन समाजवादियो—प्रूधों (१८०९-६५) आदिकी भाँति वह भी साम्यवादी राजाकी तलाश करता। अरस्तू बीस साल तक अपने गुरुके विचारोंको सुनता रहा, इस-लिए उनका असर उसपर होना जरूरी था। कोई ताज्जुब नही, यदि अफलातूँका साम्यवादी राज्य अरस्तू द्वारा होकर सिकन्दरके पास, विश्व-राज्य या चक्रवर्ती-राज्यके रूपमे पहुँचा। बुद्ध अपने साधुओंके सघमे पूरा आर्थिक साम्यवाद—जहाँ तक उपभोग सामग्रीका सम्बन्ध है—कायम करना चाहते थे, यदि वह सभव समझते तो शायद विस्तृत समाजमे भी उसका प्रयोग करते, किन्तु बुद्धकी वस्तु-वादिता उन्हे इस तरहके तजर्बे से रोकती थी। ऐसे विचारोको रखते भी बुद्ध, चक्रवर्तीवाद—सारे विश्वका एक धर्मराजा होना—के बडे प्रशसक थे। हो सकता

है अरस्तूने भी अपने शिष्य सिकन्दरमे बाल्य-कालहीसे अपने और अपने गुरुके स्वप्नोको सत्य करनेके लिये चक्रवर्तीवाद भरना शुरू किया हो। अरस्तूने अथेन्स आदिके प्रजातंत्र ही नही देखे थे, बल्कि वह तीन महाद्वीपोमे राज्य रखनेवाले ईरान के चक्रवर्तियोसे भी परिचित था। सवाल हो सकता है, यदि अरस्तूने सिकन्दरमे ये भाव पैदा किये, तो उसने विश्व-विजयके साथ दूसरे स्वप्नोका भी क्यो नही प्रयोग किया? उत्तर यही है कि सिकन्दर दार्शनिक स्वप्नचारी नही था, वह अपने सामने यूनानियोको अपने ठोस भालो, तलवारोसे सफलता प्राप्त करते देख रहा था, इसलिये वह अपने स्वप्नचारी परमगुरुकी सारी शिक्षाये माननेके लिये बाध्य न था।

अरस्तू सिर्फ दार्शनिक ही नही, राजनीतिक विचारक भी था, यह तो इसीसे पता लगता है, कि ३२३ ई० पू०मे सिकन्दरकी मृत्युके समय अथेन्समे मकदूनिया और मकदूनिया-विरोधी जो दो दल हो गये थे, अरस्तू उनमे मकदूनिया-विरोधी दलका समर्थक था। शायद अब उसे अपनी गलती मालूम हुई और तलवारके एकाधिपत्यसे अथेन्सका पहिलेवाला जनतान्त्रिक बनिया-राज्य ही उसे पसन्द आने लगा। इस विरोधसे अथेन्सके स्वामी उसके विरुद्ध हो गये और अरस्तूको जान बचाकर युबोइया भाग जाना पडा, जहाँ उसी साल (३२२ ई० पू०) उसकी मृत्यु हुई।

(१) दार्शनिक विचार—अरस्तूकी कृतियाँ विशाल है। अपने समय तक जितना ज्ञान-भडार समाजमे जमा हो चुका था, अरस्तूके ग्रन्थ उसके लिये विश्व-कोषका काम देते है। यही नही उसने खुद भी मनुष्यके ज्ञान-भडार-को बहुत बढाया। अरस्तू अफलातूंके दार्शनिक विचारोसे बिलकुल असहमत था, यह तो नही कहा जा सकता, क्योकि वह विज्ञान-जगत्से इन्कार नही करता था। सुक्रात और अफलातूंकी तरह, ज्ञानके लिये विज्ञानके महत्त्वको वह मानता था, किन्तु वह भौतिक-जगत्से अलग-थलग तथा एक मात्र प्रधान जगत् है; इसे वह माननेके लिये तैयार न था। बाहरी दुनिया (प्रत्यक्ष-जगत्)को समझनेके लिये, उसकी व्याख्याके लिये, अमर-जगत्

(विज्ञान-जगत्)की जरूरतको वह स्वीकार करता था। युनिक दार्शनिक सिर्फ भौतिक पहलूपर जोर देते थे, पिथागोर और अफलातूँ **मूलस्वरूप** या **विज्ञान** ('आकृति' या 'मूलस्वरूप')पर जोर देते थे, किन्तु अरस्तू दोनोको अभिन्न अग मानता था—'मूलस्वरूप' (विज्ञान) भौतिक तत्त्वो-मे मौजूद है, और भौतिक तत्त्व 'मूलस्वरूपों' (विज्ञानों)मे, सामान्य (=जाति) व्यक्तियोमे मौजूद है, इन दोनोको अलग समझा जा सकता है, किंतु अलग नही किया जा सकता। अफलातूँ दार्शनिकके अतिरिक्त गणितशास्त्री भी था और गणितकी काल्पनिक विन्दु, रेखा, सख्या आदिकी छाप उसके दर्शनपर भी मिलती है। अरस्तू प्राणिशास्त्री भी था इसलिए **विज्ञानों** और भौतिक-तत्त्वोको अलग करके नही देख सकता था। विज्ञान और भौतिक-तत्त्व, स्थिरता (एलियातिक) और परिवर्तनशीलता (हेरा-क्लितु)का वह समन्वय करना चाहता था। वह सभी चीजोमें **विज्ञान** (=मूलस्वरूप) और भौतिक तत्त्वोको देखता था। मूर्तिमे सगमर्मर भौतिक तत्त्व है और उसके ऊपर जो आकृति लादी गई है, वह **विज्ञान** है, जो कि मूर्तिकारके दिमागसे निकला है। वनस्पति, पशु या मनुष्यमे शरीर भौतिक तत्त्व है, और पाचन, वेदना आदि **विज्ञान-तत्त्व**। आकृतिके बिना कोई चीज नही है, पृथ्वी, जल, आग और हवा भी बिना आकृतिके नही है; ये भी मूल गुण—रुक्षता, नमी, उष्णता, सर्दी—के भिन्न-भिन्न योगोंसे बने है। साख्यके विद्यमान सस्करणमे इन्ही मूलगुणोको तन्मात्रा कहकर उन्हे भूतोका कारण कहा गया, और यह अरस्तूके इसी ख्यालसे लिया गया मालूम होता है। भौतिक तत्त्व वह है जिनमे वृद्धि या विकास हो सकता है, यद्यपि यह वृद्धि या विकास एक सीमा रखता है। पत्थरका खड किसी तरहकी मूर्ति बन सकता है, किन्तु वृक्ष नही बन सकता। एक पौधा या अमोला बढकर पीपल बन सकता है, किन्तु पशु नही बन सकता। इस विचार-धाराने अरस्तूको **जाति-स्थिरता**के सिद्धान्तपर पहुँचा दिया और वह समझने लगा कि जातियोमें परिवर्तन नही होता। इस धारणा-ने अरस्तूको प्राणिशास्त्रमे और आगे नही बढने दिया और वह उन्नी-

सदी सदीके महान् प्राणिशास्त्रीय आविष्कार **जाति-परिवर्तन** तक नहीं पहुँच सका। इतना होते हुए भी एक पाँतीमें न सही अलग-अलग पाँतियों-में हुए विकास और उनके सादृश्यकी ओर ध्यान दिये बिना वह नहीं रह सकता था। छोटी-छोटी प्राणि-जातियोंकी पाँतीसे क्रमश आगे बढ़ती प्राणि-जातियोंके उच्च-उच्चतर विकासको उसने देखा। विज्ञान (=**मूलस्वरूप**)-रहित भौतिक तत्त्वोंका विकास उतना गहरा नहीं है, जितना कि विज्ञान-युक्त तत्त्वोंका। इस विकासका उच्चतम रूप वह है जिससे आगे विकासकी गुंजाइश नहीं। अतएव जो भौतिक तत्त्वकी परिभाषामें आ नहीं सकता, वह ईश्वर है। वह अफलातूँका अपरिवर्तनशील **विज्ञान** सिर्फ यही ईश्वर है, जो कि अरस्तूके विचारसे विधाता (कर्ता) नहीं है, क्योंकि विज्ञान और भौतिक तत्त्व हमेशासे वहाँ मौजूद थे। तो भी, जैसे भी हो, सभी वस्तुओंका खिंचाव ईश्वरकी ओर है। दुनियाकी चाह वह है और उसकी उपस्थिति मात्रसे वस्तुएँ ऊँचे विकासकी ओर अग्रसर होती हैं।[1] वह विश्वका अचल चालक है, "यह उसका प्रेम ही है, जो जगत्‌को चला रहा है।"

अरस्तू चार प्रकारके कारण मानता है—(१) **उपादान कारण**—जैसे घड़ेके लिये मिट्टी, (२) **मूल-स्वरूप** या विज्ञान कारण—जिन नियमोंके अनुसार कार्य (=घड़ा) बनता है, (३) **निमित्त कारण**[3]—जिसके द्वारा उपादान कारण कार्यकी शकल लेता है, जैसे कुम्हार आदि; (४) **अंतिम कारण** या **प्रयोजन**—जिसके लिये कि कारण बना। पहिले और तीसरे कारणोंको भारतीय नैयायिकोंने ले लिया है। अरस्तूका यह भी कहना है कि हर कार्यको चारों तरहके कारणोंकी जरूरत नहीं, कितनोंके लिये उपादान और निमित्त कारण ही काफी होते हैं।

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

[2] यह कल्पना सांख्यके पुरुषसे मिलती जुलती है, यद्यपि अनीश्वरवादी सांख्य एककी जगह अनेक पुरुष मानता है। [3] Efficient cause.

(२) **ज्ञान**—अरस्तूका कहना था—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह जरूरी है कि हम अपनी बुद्धिसे ज्यादा अपनी इन्द्रियोपर विश्वास रक्खे, और अपनी बुद्धिपर उसी वक्त विश्वास करे जब कि उसका समर्थन घटनाये करती हो। सच्चा ज्ञान सिर्फ घटनाओका परिचय ही नही बल्कि यह भी जानना है कि किन वजहो, किन कारणो या स्थितियोसे वैसा होता है। जो विद्या या दर्शन आदिम या चरम कारणपर विचार करता है, उसे अरस्तू **प्रथम दर्शन** कहता है, आज-कल उसे ही अध्यात्मशास्त्र कहते है। अरस्तू तर्कशास्त्रके प्रथम आचार्योमे है। उसके अनुसार तर्कका काम वह तरीका बतलाना है, जिससे हम ज्ञान तक पहुँच सके। इस तरह तर्क, दर्शन तक पहुँचनेके लिये सोपान (=सीढी) है। चिन्तन या जिस प्रक्रियासे हम ज्ञान प्राप्त करते है, उसका विश्लेषण तर्कका मुख्य विषय है। तर्क वस्तुत शुद्ध चिन्तनकी विद्या है। हमारे चिन्तनका आरम्भ सदा इद्रिय-प्रत्यक्षसे होता है। हम पहिले विशेषको जानते है, फिर उससे सामान्यपर पहुँचते है—अर्थात् पहिले अधिक ज्ञातको जानते है, फिर उससे और अधिक ज्ञात और अधिक निश्चितको। हम पहिले अलग-अलग जगह रसोई-घरमे, श्मशानमे (इजनमे भी) धुएँके साथ आगको देखते है, फिर हमारी सामान्य धारणा बनती है—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है।

अरस्तूने अपने तर्क-शास्त्रके लिये दस और कही आठ प्रमेय[१] (ज्ञानके विषय) माने है—(१) वह क्या है, यानी **द्रव्य** (मनुष्य), (२) किनसे बना है यानी **गुण**; (३) वह कितना बडा है यानी **परिमाण** (३॥ हाथ), (४) क्या संबन्ध रखता है यानी सम्बन्ध (बृहत्तर, दुगना), (५) वह कहाँ है, **दिशा** या देश (सडक पर), (६) कब होता है यानी **काल**; (७) किस तरह है, यानी **आसन** (लेटा या बैठा), (८) किस तरह है यानी **स्थिति** (कपड़े पहिने या हथियार-बन्द);

---

[१] Category

(९) वह क्या करता है यानी **कर्म** (पढता है), (१०) क्या परिणाम है यानी **निष्क्रियता** (कुछ नही करता)। इनमे द्रव्य, गुण, कर्म, वैशेषिकके छ पदार्थोमे मौजूद है, काल, दिशा उसके नौ द्रव्योमे है, बाकीमेसे भी कितनोका जिक्र वैशेषिक और न्याय करते है। सिकन्दरके आक्रमणसे पहिलेके किसी भारतीय ग्रथमे इन बातोका विवेचन नही आया है, जिससे कहना पडता है कि यह हमारे दर्शनपर यवनआचार्योका ऋण है। इसपर हम आगे कहेगे।

अरस्तू **व्यक्ति** या विशेषको वास्तविक द्रव्य मानता है, हॉ यह व्यक्ति बदलता या जीर्ण होता रहता है—सभी चीजे जिनका हम साक्षात्कार कर सकते है, परिवर्तनशील होती है। भूत या विज्ञान दोनो न नये उत्पन्न होते है और न सदा के लिये लुप्त होते है, वे वस्तुओके अनादि सनातन मूलतत्त्व है। परिवर्तन या वृद्धि शून्यमे नही हो सकती, इनका कोई आश्रय या आधार होना चाहिए। वही परिवर्तन-रहित कूटस्थ आधार भूत और विज्ञान ('मूलस्वरूप') है। भूत और विज्ञानके मिलनेसे ही परिवर्तन और गति (=हरकत) होती है। अरस्तू गतिके चार भेद बतलाता है—(१) द्रव्य-सबन्धी गति—उत्पादन, विनाश, (२) परिमाण-सबन्धी गति—सयोग, विभागसे पिंडके परिमाणमे परिवर्तन, (३) गुण-सबन्धी गति—एक चीजका दूसरी चीजमे परिवर्तन—दूधका दही, पानीका बर्फ बनना, (४) देश-सबन्धी गति—एक जगहसे दूसरी जगह जाना।

अरस्तू दार्शनिक होनेके अतिरिक्त एक बहुत बडा प्राणि-शास्त्री भी था, यह बतला आये है। उसका पिता स्वय वैद्य था और वैद्योका प्राणि-शास्त्रसे परिचय होना जरूरी है। हिप्पोक्रात[1] और उसके अनुयायियोने प्राणिशास्त्र-सबन्धी गवेषणाओ को ई० पू० पाँचवी सदीमे आरभ किया था। अरस्तूने उन्हे बहुत आगे बढाया और एक तरह जीवन-विकास सिद्धान्तका उसे प्रवर्तक कहना चाहिए। अरस्तूके प्राणिशास्त्रीय

---

[1] Hippocrates

कार्यको उसके शिष्य थ्योफ्रास्तु[1] (३६०-२८५ ई० पू०) ने जारी रखा, किन्तु आगे फिर दो सहस्र शताब्दियोके लिये वह रुक गया। डार्विनने अरस्तूकी प्राणिशास्त्रीय गवेषणाओकी बहुत दाद दी है।

यूनानी दार्शनिकोका ऋणी होना हमारे यहाँके कितने ही विद्वानोको बहुत खटकता है। वह साबित करना चाहते है कि भारतने बिना दूसरी जातियोकी सहायताके ही अपने सारे ज्ञान-विज्ञानको विकसित कर लिया, और इसीलिए जिन सिद्धान्तोके विकासके प्रवाहकी हमारे तथा यूनानियोके सम्पर्कसे पहिले लिखे गये भारतीय साहित्यमे गन्ध तक नही मिलती, उसके लिये भी जबर्दस्त खीचा-तानी करते है। हमे याद रखना चाहिए कि जब सिकन्दर भारतमे (३२३ ई० पू०) आया था तब यूनान दर्शन, कला, साहित्य आदिमे उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हुआ था। उस समय, और बादमे भी लाखो यूनानी हमारे देशमे आकर सदाके लिये यही रह गये और आज वह हमारे रक्त-मासमे इस तरह घुल-मिल गये है कि उसका पता आँखसे नही इतिहासके ज्ञानसे ही मिलता है। जिस तरह चुपचाप यूनानियोका रुधिर-मास हमारा अभिन्न अग बन गया, उसी तरह उनके ज्ञानका बहुत सा हिस्सा भी हमारे ज्ञानमे समा गया। गधार-मूर्तिकलामे जिस तरह यवन-कलाकी स्पष्ट और गुप्त मूर्ति-कलामे अ-स्पष्ट छाप देखते है, उसी तरह हमे यह स्वीकार करनेसे इन्कार नही करना चाहिए कि हमारे मठोमे साधु-भिक्षु और हमारी पाठशालाओमे अध्यापक बनकर बैठे शिक्षित सभ्य यूनानी हमारे लिए अपने विद्वानोका भी कोई तोहफा लाये थे।

§ ४—यूनानी दर्शनका अन्त

शेरोनियाके युद्ध (३३८ ई० पू०)में यूनानने मकदूनियासे हार खाकर अपनी स्वतन्त्रता गँवाई। इसने यूनानकी आत्माको इतना चूर्ण कर दिया

---

[1] Theophrastus.

कि वह फिर न सँभल सका। अरस्तू यद्यपि ३२२ ई० पू० तक जीता रहा, किन्तु उसके बहुतसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन पहिले ही हो चुके थे। पराजित यूनान हेराक्लितु, देमोक्रितु, अफलातूँ, अरस्तूके जैसे स्वच्छन्द सजीव दर्शनको नही प्रदान कर सकता था—अरथीके साथ "राम-नाम-सत" ही निकलता है। यद्यपि अरस्तूकी मृत्युके वाद कई शताब्दियो तक यूनानी दर्शन प्रचलित रहा किन्तु वह "राम-नाम-सत" का दर्शन था। विपतामे पडे लोग अपने अवसादको धर्म या आचार-सम्बन्धी शिक्षासे हटाना चाहते है। चाहे बुद्धिवादी स्तोइकोको ले लीजिए या भौतिकवादी एपीकुरीयोको अथवा सन्देहवादियोको, सभी जीवनकी आचार और धर्म-सबन्धी समस्याओमे उलझे हुए है, और उनका अवसान चित्तकी शान्ति या बाहरी वधनोसे मुक्तिके उपाय सोचनेके साथ होता है।

१—एपीकुरीय भौतिकवाद

एपीकुरीयोके अनुसार दर्शनका लक्ष्य मनुष्यको सुखी जीवनकी ओर ले जाना है। इनका दर्शन देमोक्रितुके यान्त्रिक परमाणुवादपर आधारित था—विश्व असख्य भौतिक परमाणुओकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका परिणाम है। उसके पीछे कोई प्रयोजन या ज्ञानशक्ति काम नही कर रही है। हर वक्त चलते रहते एक दूसरेसे मिलते अलग होते इन्ही परमाणुओके योगसे मनुष्य भी बना, वह सदा परिवर्तित होता एक प्रवाह है। जीवनके अन्तमे ये परमाणु फिर बिखर जायँगे, इसलिए मनुष्यको सुख या आनन्द प्राप्त करनेका अवकाश इस जीवनसे परे नही मिलेगा, जिसके लिए कि उसे इस जीवनको भुला देना चाहिए। अतएव मनुष्य को आनन्द प्राप्त करनेकी कोशिश यहाँ करनी चाहिए और जो तरीके, नियम, सयम उसके जीवनको सुखमय बना सकते है, उन्हे स्वीकार करना चाहिए। एपीकुरीय दार्शनिक, इस प्रकार भोगवादी थे, किन्तु उनका भोगवाद सिर्फ व्यक्तिके लिये ही नही, समाजके लिये भी था, इसलिए उसे सकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थ नही कहा जा सकता। यदि दूसरोके

सुखवाद और इनके सुखवादमे फर्क था तो यही, कि जहाँ दूसरे परलोक—परजन्ममे वैयक्तिक सुखके चाहक थे, वहाँ एपीकुरीय इसी लोक, इसी जन्ममे मनुष्य—व्यक्ति और समाज दोनो—को सुखी देखना चाहते थे।

एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)—यूनानी भोगवादका सस्थापक एपीकुरु, समोस् द्वीपमे अथेन्स-प्रवासी माँ-बापके घरमे पैदा हुआ था। अध्ययनकालमे उसका परिचय देमोक्रितुके दर्शन—परमाणुवादसे हुआ, जिसके आधारपर उसने अपने दर्शनका निर्माण किया और उसके प्रचारके लिये ३०६ ई० पू०मे (बुद्धके निर्वाणसे पौने दो सौ वर्ष बाद) अथेन्समे अपना विद्यालय कायम कर मृत्यु (२७० ई० पू०) तक अध्ययन-अध्यापन करता रहा। अपने जीवनमे ही उसके बहुतसे मित्र और अनुयायी थे, और पीछे तो उनकी सख्या और बढी। उनमे अपने सुखसे सुख माननेवाले भी हो सकते है, जिनके कि उदाहरणको लेकर दूसरोने एपीकुरीयवादको भी चार्वाककी भाँति "ऋण कृत्वा घृत पिवेत्" माननेवाला कहकर वदनाम करना शुरू किया।

एपीकुरुका कहना था कि, "यदि अपनी इद्रियोंपर विश्वास न करें, तो हम किसी ज्ञानको नही प्राप्त कर सकते। इन्द्रियाँ कभी-कभी गलत खवरे देती है, किंतु उन गलतियोको पुन-पुन प्रयोग करके अथवा दूसरोके तजर्बेसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार एपीकुरु हमारे यहाँके चार्वाक-दर्शनकी भाँति प्रत्यक्ष-प्रमाणपर बहुत अधिक जोर देता था।

२—स्तोइकोंका शारीरिक(ब्रह्म)वाद

स्तोइकोका दर्शन, क्सेनोफेन (५७०-४८० ई० पू०)के जगत्-शारीरिक-ब्रह्मवादकी ही एक शाखा थी। हम कह आये है कि पिथागोर स्वय भारतीय दर्शनसे प्रभावित हुआ था, और खेनोफेन उसीका उत्तराधिकारी था, इस प्रकार स्तोइकोंकी शिक्षामे भारतीय दर्शनकी छाप हो, यह कोई अचरजकी वात नही। ३३२ ई० पू०मे सिकन्दरने मिश्रमें सिकन्दरिया नगर बसाया था, जो पीछे तीनों महाद्वीपोका जबर्दस्त व्यापारिक

केन्द्र ही नहीं बन गया, बल्कि वह तीनो द्वीपोकी उच्चतम सस्कृति, दर्शन, तथा दूसरे विचारोंके आदान-प्रदानका भी केन्द्र बन गया। सिकन्दरिया स्तोइकोका एक केन्द्र था, इसलिए पूर्वीय विचारोसे परिचित होनेके लिये यहाँ उन्हे बहुत सुभीता था।

अरस्तू द्वैतवादी था, विज्ञान और भूत दोनोको अनादि मानता था। ईश्वर उसके लिये निमित्त कारण था। स्तोइकोंने द्वैतवादमे परिवर्तन किया और रामानुजके दर्शनकी भाँति माना कि ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नहीं है, जगत् भगवान्का शरीर, एक सजीव शरीर है। भगवान् विश्वका आत्मा (लोगो[1]) है। जीवनके सभी बीज या कीट उसमे मौजूद है। उसीके भीतर सृष्टिकी सारी शक्ति निहित है।

जेनो (३३६-२६४ ई० पू०)—एलियातिक जेनो (४६०-३० ई० पू०)के १०६ वर्ष बाद साईप्रेसमे स्तोइक दर्शनका आचार्य दूसरा जेनो पैदा हुआ था। साईप्रेस युरोपमे ज्यादा एसियाके नजदीक है, उसी तरह जेनोका स्तोइक-दर्शन भी एसियाके ज्यादा नजदीक है। ३०४ ई० पू० मे जेनोने अपना विद्यालय 'स्तोआ पोईकिले'[2] (=नुकीली अटारी) पर खोला, जिसकी वजहसे उसके सम्प्रदायका नाम ही 'स्तोइक' (नुकीला) पड़ गया। जेनोके बाद स्तोइक दर्शनका आचार्य क्लियन्थ[3] (२६४-२३२ ई० पू०) हुआ। वह अशोकका समकालीन था।

स्तोइक तर्कके जबर्दस्त पक्षपाती थे। उनका कहना था—"दर्शन एक खेत है, जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक काँटाकी बाड है, भौतिक-शास्त्र खेतकी मिट्टी और आचार-शास्त्र फल है।" तर्ककी बाडका ख्याल हमारे न्यायने स्तोइकोंसे ही लेकर कहा है—"तर्क तत्त्व-निश्चयकी रक्षाके लिये काँटेकी बाड[4] है।"

[1] Logos. [2] Stoa Poikile. [3] Cleanthes.

[4] "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।" न्यायसूत्र ४।२।५०

स्तोइक एपीकुरीयोंसे इस बातमे एकमत थे कि हमारे सभी ज्ञानका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।—हमारा ज्ञान या तो प्रत्यक्षसे आता है या उससे प्राप्त साधारण विचार या ज्ञानसे। किसी बातको सच तभी मानना चाहिए, जब कि वस्तुएँ उसकी पुष्टि करती है। साइंस (=विद्या) सच्चे निर्णयोका एक ऐसा सुसगठित ज्ञान है, जो एक सिद्धान्तका दूसरे सिद्धान्तसे सिद्ध होना जरूरी कर देता है।

स्तोइक उसी वस्तुको सच्ची मानते है, जो क्रिया करती है या जिस-पर क्रिया होती है। जो क्रिया-शून्य है उसकी सत्ताको वह स्वीकार नही करते। इसीलिए शुद्ध विज्ञान (=ईश्वर)को वह अरस्तूकी भाँति निष्क्रिय नही मानते। ईश्वर और जगत् जब शरीर और शारीरके तौर-पर अभिन्न है तो शरीर (=जगत्)की क्रिया शारीर (=ईश्वर)की अपनी ही क्रिया है। भौतिक तत्त्वोके विना शक्ति नही और शक्तिके विना भौतिक तत्त्व नही मिल सकते, इसलिए भौतिक-तत्त्वको सर्वत्र शक्ति (=ईश्वर)से व्याप्त मानना चाहिए। यह ख्याल उपनिषद्के 'अतर्यामीवाद'से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेगे। स्तोइकोंका यह अग-अंगी अवयव-अवयवी वाला सिद्धान्त वेदातके सूत्रो, उसकी बोधायन-वृत्ति तथा रामानुज-भाष्यमे भी पाया जाता है। इसका यह मतलब नही कि शरीर-शरीरी भाव उपनिषद्मे है ही नही। यह भाव वहाँ था, किन्तु उसे स्तोइकोने और तर्क-सम्मत बनानेके लिये जो युक्तियाँ दी, उनसे बादरायण, वौधायन आदिने फायदा उठाया—ऐसा मालूम होता है।

क्षुद्रसे क्षुद्र वस्तुएँ भी भगवान्के अग है, वह एक और सब है। प्रकृति, ईश्वर, भाग्य, भवितव्यता एक ही है। जब प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, तो हमारे जीवनके लिये सबसे अच्छा आदर्श प्रकृति ही हो सकती है, इसीलिए स्तोइक प्राकृतिक जीवनके पक्षपाती थे। सभी प्राणी चूँकि ईश्वर-प्रकृति-अद्वैतकी ही सन्ताने या अग है, इसलिए स्तोइक विश्व-भ्रातृभावके मानने वाले थे—"सभी मनुष्य भाई-भाई है और ईश्वर सबका पिता है।"—एपिक्तेतुने कहा था।

स्तोइक दर्शनका प्रचार कई शताब्दियो तक रहा। रोमन सम्राट् **मर्कस् ओरेलियस्** (१२१-१८० ई०)—जो नागार्जुनका समकालीन था—स्तोइकोका एक बहुत बडा दार्शनिक समझा जाता है। ईसाई-धर्मके आरम्भिक प्रचारके समय उपरले वर्गमे स्तोइकवादका बहुत प्रचार था, किन्तु ऐसे गम्भीर तर्क-कटक-शाखा-रक्षित दर्शनको हटाकर ईसाइयतकी बच्चोकी कहानियाँ अपना अधिकार जमानेमे कैसे सफल हुईं, इसका कारण यही था कि कहानियाँ पृथ्वीके ठोस पुत्रो—निम्न श्रेणीके मजदूरो, गुलामों—मे फैलकर शक्ति बन, उनके हाथो और हृदयको सघर्ष करनेके लिए मजबूत कर रही थी; जब कि हवामे उडनेवाले राजाओ और अमीरोका ब्रह्म-दर्शन गरीबोके पसीनेकी कमाईको खाकर मोटे हुए उनके शरीरके लिए लवण-भास्करका काम दे रहा था। ख्याली जगत् और वास्तविक जगत्का जहाँ आपसमें मुकाबला होता है, वहाँ परिणाम ऐसा ही देखा जाता है।

३—सन्देहवाद

"हम वस्तुओके स्वभावको नही जान सकते। इन्द्रियाँ हमे सिर्फ इतना ही बतलाती है कि चीजे कैसी देख पडती है, वह वस्तुत क्या है इसे जानना सम्भव नही है।"

पिर्हो (३६५-२७० ई० पू०)—पिर्हो एलिस् (यूनान) मे अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) से उन्नीस साल बाद पैदा हुआ था। जेनो की भाँति पिर्होको भी देमोक्रितुके ग्रन्थोने दर्शनकी ओर खीचा। जब सिकन्दरने पूर्वकी दिग्विजय-यात्रा की, तो पिर्हो भी उसकी फौजके साथ था। ईरानमे उसने पारसी धर्माचार्योंसे शिक्षा प्राप्त की थी। भारतमे भी वह कितने ही साल रहा और यहाँके एक दार्शनिक सम्प्रदाय—जिसे यूनानी लेखक 'गिम्नो-सोफी'[1] नाम देते है—का उसने अध्ययन किया था। गिम्नो जिनसे मिलता-जुलता शब्द मालूम होता है। बौद्ध और

---

[1] Gymno-sophist.

जैन दोनो अपने धर्म-सस्थापकको जिन (=विजेता) कहते है। लेकिन जहाँ तक पिर्होके विचारोका सम्बन्ध है, वह बौद्ध सिद्धान्तोंका एकागीन विकास मालूम होता है, जिन्हे कि हम ईसाकी दूसरी सदीके नागार्जुनमे पाते है। नागार्जुनका शून्यवाद पुराने वैपुल्यवादियोसे विकसित हुआ है, और वैपुल्यवादियोके होनेका पता अशोकके समय तक लगता है। अशोक पिर्होकी मृत्यु (२७० ई० पू०)से एक साल बाद (२६९ ई० पू०) गद्दीपर बैठा था। इस तरह पिर्होके भारत आनेके समय वैपुल्यवादी मौजूद थे। भारतसे पिर्हो एलिस् लौट गया। उसका विचार था—वस्तुओंका अपना स्वभाव क्या है, इसे जानना असम्भव है। कोई भी सिद्धान्त पेश किया जावे, उतनी ही मजबूत युक्ति (=प्रमाण)के साथ ठीक उससे उल्टी बात कही जा सकती है, इसलिए अच्छा यही है कि अपना अन्तिम बौद्धिक निर्णय ही न दिया जावे; जीवनको इसी स्थितिमे रखना ठीक है। नागार्जुनके वर्णनमे हम इसकी समानताको देखेंगे, किन्तु इसमे नागार्जुनको पिर्होका ऋणी न मानकर यही मानना अच्छा होगा कि दोनोका ही उद्गम वही वैपुल्यवाद, हेतुवाद या उत्तरापथकवाद थे।

पिर्हो ज्ञानको असाध्य साबित करनेके लिए कहता है—किन्तु किसी चीजको ठीक साबित करनेके लिए या तो उसे स्वत प्रमाण मान लेना होगा, जो कि गलत तर्क है, या दूसरी चीजको प्रमाण मानकर चलना होगा; जिसके लिये कि फिर प्रमाणकी जरूरत होगी। नागार्जुनने "विग्रह-व्यावर्तनी"मे ठीक इन्ही युक्तियों द्वारा प्रमाणकी प्रामाणिकताका खडन किया है।

ईश्वर-खंडन—पिर्होके अनुयायी स्तोइकोके ब्रह्म (=ईश्वर)वादका खडन करते थे। स्तोइक कहते थे—"जगत्‌की सृष्टिमे खास प्रयोजन मालूम होता है और वह प्रयोजन तभी हो सकता है, जब कि कोई चेतनशक्ति उसे सामने रखकर ससारकी सृष्टि करे। इस तरह **प्रयोजनवाद** ईश्वरकी हस्तीको सिद्ध करता है।" संदेहवादियोका कहना था—"जगत्‌मे कोई ऐसा प्रयोजन नही दीख पडता, वहाँ न बुद्धिपूर्वकता दिखाई पडती है, और न वह शिव सुन्दर ही है। बुद्धिपूर्वकता होती तो गलती कर-कर-

के—दूसरों ढाँचोंको नष्ट कर-करके—नये रूपोंको अस्थायी रूपोंके आनेकी ज़रूरत नहीं होती; और दुनियाको शिव सुन्दर तो वही कह सकते हैं जो सदा स्वप्नकी दुनियामें विचरण करते हैं। यदि दुनियामें यह बातें भी नहीं होतीं, तो भी उससे ईश्वर नहीं, स्वाभाविकता ही सिद्ध होती। स्तोइक (और वेदान्ती भी) ईश्वरको विश्वात्मा मानते हैं। पिर्होके अनुयायी कहते थे कि "तब उसका मतलब है कि वह वेदना या अनुभव करता है। जो वेदना या अनुभव करता है, वह परिवर्तनशील है; जो परिवर्तनशील है, वह नित्य एकरूप नहीं हो सकता। यदि वह अपरिवर्तनशील एकरस है, तो वह एक कठिन निर्जीव पदार्थ है। और विश्वात्माको शरीरधारी माननेपर मनुष्यकी भाँति उसे परिवर्तनशील–नाशवान् तो मानना ही होगा। यदि वह शिव (अच्छा) है, तो वह मनुष्यकी भाँति आचारकी कसौटीके अन्दर आ जाता है, और यदि शिव नहीं, तो घोर है और मनुष्यसे निम्नश्रेणीका है। इस प्रकार ईश्वरका विचार परस्पर-विरोधी दलीलोंसे भरा हुआ है। हमारी बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए उसका ज्ञान असम्भव है।"

पिर्होके बाद उसके दार्शनिक सम्प्रदायके कितने ही आचार्य हुए, जिनमें मुख्य थे—अर्कोसिलो[1] (३१५-२४१ ई० पू०), कर्नीद[2] (२१३-१२९ ई० पू०), अस्कालोनका अन्तियोक[3] (६८ ई०), लारिस्साका फिलो[4] (८० ई०), क्लितोमाख्[5] (११० ई०)।

संदेहवादके अनुयायी कितने ही अच्छे-अच्छे दार्शनिक विद्वान् होते रहे, किन्तु सभी स्तोइकोंकी भाँति आकाशविहारी थे; उनका काम ज़्यादातर निषेधात्मक या ध्वंसात्मक था, और सामने कोई रचनात्मक प्रोग्राम नहीं था। इसलिए ईसाइयतने स्तोइकोंके साथ इन कोरे फिलासफरोंका भी खात्मा कर दिया।

---

[1] Arcosilaus. [2] Carneodes. [3] Antiochus of Ascalon. [4] Philo of Larissa. [5] Clitomachus.

४—नवीन-अफ़लातूनी दर्शन

पश्चिममे यूनानी दर्शनने अपने अन्तिम दिन नव-अफलातूनी दर्शनके रूपमे देखे। यह पाश्चात्य दर्शन और पौरस्त्य योग, रहस्यवाद, अध्यात्म-शास्त्रका एक अजीब मिश्रण था और यवन-रोमन सभ्यताके पतन और बुढापेको प्रकट करता था। यूनानी दर्शनोमे हम देख चुके है कि अफलातूँका लोकोत्तर विज्ञानवाद धर्म और अध्यात्मविद्याके सबसे अधिक नजदीक था।

ईसा-पूर्व पहिली सदीमे रोम-साम्राज्यमे दो बडे-बडे शहर थे, एक तो राजधानी **बिजन्तिउम्** या आधुनिक इस्ताबोल (कुस्तुन्तुनिया) और दूसरा मिश्रका सिकन्दरिया। दोनों पूर्व और पश्चिमके वाणिज्य ही नही, सस्कृति, धर्म, दर्शन, कला सबके विनिमयके स्थान थे। बिजन्तिउम् था युरोपकी भूमिपर, किन्तु उसपर पश्चिमकी अपेक्षा पूरबकी छाप ज्यादा थी। सिकन्दरियाके बारेमे कह चुके है कि वह व्यापारका केन्द्र,ही नही था बल्कि विद्याके लिये पश्चिमकी नालन्दा थी। ईसा-पूर्व पहिली सदीमे लकाके **'रत्न-माल्य चैत्य (रुवन्वेलि स्तूप, अनुराधपुर)**के उद्घाटन-उत्सवमे सिकन्दरियाके बौद्ध भिक्षु **धर्मरक्षित**के आनेका जिक्र[1] आता है, वह यही सिकन्दरिया हो सकती है, और इससे मालूम होता है कि ईसापूर्व तीसरी सदीमे अशोककी सहायतासे जो भिक्षु विदेशों और यवनलोक (यूनानी साम्राज्य)मे भेजे गये थे, उन्होने सिकन्दरियामे भी अपना मठ कायम किया था। धर्म व्यापारका अनुगमन करता है, यह कहावत उस वक्त भी चरितार्थ थी। जहाँ-तहाँ विदेशोमे भारतीय व्यापारी बस गये थे, जिनसे उनके धर्म-प्रचारकोको उस देशके विचार तथा समाजके बारेमे जाननेका ही अधिक सुभीता न होता था, बल्कि ये व्यापारी उनके मठोके बनाने और शरीर-निर्वाहके लिये मदद देते थे। यूनानके राष्ट्रीय अधःपतन और

---

[1] महावंश २९।३९ (भदंत आनंद कौसल्यायनका हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १३९)।

निराशाके समय पूर्वीय साधुओ, योगियोकी योग-तपस्या, संसारकी असा-रता परलोकवादकी ओर लोगोका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था, और हम देखते है कि हजारो शिक्षित, सस्कृत रोमक और यवन 'सत्य और निर्वाण'के साक्षात्कारके लिए सिकन्दरियासे रेगिस्तानका रास्ता लेते है। वहाँ वे दरिद्रता, उपवास, योग और भजनमे अपने दिन गुजारते है। दुनिया छोडकर भागनेवाले इस समुदायमे सैनिक, व्यापारी, दार्श-निक, महात्मा सभी शामिल थे। यद्यपि सिकन्दरियामे अफलातूँ ही नही, अरस्तूका यथार्थवादी दर्शन भी पढा-पढाया जाता था, किन्तु जो दुनियासे ऊब गये थे और जिन्हे सुधारका कोई रास्ता नही दिखाई पडता था, वे अफलातूँके विज्ञानवादको ही सबसे ज्यादा पसन्द करते।

पश्चिमी जगत्का, उस समय भारतकी ही नही, ईरानकी भी पुरानी सस्कृतिसे सम्बन्ध था, बल्कि पासका पडोसी होनेसे ईरानका सम्बन्ध ज्यादा नजदीकका था। ईरान, दर्शनकी उडानमे हमेशा भारतसे पीछे रहा। पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०) और सिकन्दर (३५६-२३ ई० पू०)के समयसे ही भारत अपनी सम्पत्तिके लिये ही नही, दार्शनिको और योगियोके लिये भी मशहूर था। इसीलिए यूनानी दर्शनको नवीन अफलातूनीय दर्शनके रूपमे परिणत करनेका श्रेय भारतीय दर्शनको ही है। निराशा-वाद, रहस्यवाद, दुखवाद, लोकोत्तरवाद वही उठते है, जहाँकी भूमि वहाँके समाजके नायकोको असन्तुष्ट कर देती है—या तो बराबरके युद्ध, राज्यक्रान्ति और उनके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष, महामारी जीवनको कडवा बना देते है, अथवा समाजके भीतरकी विषमता—गन्दगी, समृद्धि भोगोको 'चचला लक्ष्मी' बना असन्तोषकर बना देती है। सातवी-छठवी सदी ई० पू०मे भारतमे उपनिषत्का निराशावाद, रहस्यवाद, इन्ही परि-स्थितियोमे पैदा हुआ था और समाजको बदलनेकी जगह स्थिरता प्रदान कर भारतने इन विचार-धाराओको भी स्थिरता प्रदान की। पीछे आने वाले बौद्ध-जैन तथा दूसरे दर्शन उसी निराशावाद और रहस्यवादके नये सस्करण है, आखिर सामाजिक विकासके रुक जानेपर भी बौद्धिक विकास

तो भारतीयोका कुछ होता ही रहा, जिसकी वजहसे निराशावाद और रहस्यवादको भी नये रूप देनेकी जरूरत पडी। भारतने समाजको नया करनेमे तो सिर खपाना नही चाहा, क्योकि सदियाँ बीतती गई और गदगियाँ जमा होती रही—बढते कर्जको मुलतवी करनेवाले ऋणीकी भाँति उनका सफाया करना और मुश्किल हो गया। ऐसी विषम परिस्थितिमे बिल्लीके सामने कबूतरके आँख मूँदने या शुतुर्मुर्गके बालूमे मुँह छिपानेकी नीति आदमीको ज्यादा पसन्द आती है। भारतने निराशावाद-रहस्यवादको अपनाकर उसके उपनिषद्, जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त, शैव, पाँचरात्र, महायान, तंत्र-यान, भक्तिमार्ग, निर्गुणमार्ग, कबीरपन्थ, नानक-पन्थ, सखी-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, राधा-वल्लभीय, राधास्वामी आदि नये सस्करणोको करके उसी बिल्ली-कबूतर-नीतिका अनुसरण किया।

भारतकी तरहकी परिस्थितिमे जब दूसरे देश और समाज भी आ पडते है, उस समय यही आजमूदा नुस्खा वहाँ भी काम आता है। आज युरोप, अमेरिकामे जो बौद्ध, वेदान्त, थ्योसोफी, प्रेतविद्याकी चर्चा है, वह भी वही शुतुर्मुर्गी नीति है—समाजके परिवर्तनकी जगह लोकसे 'भागने'का प्रयत्न है।

ईसापूर्व पहिली सदीका यवन-रोमका नायक-शासक समाज, भोग समृद्धिमे नाक तक डूबा, सामाजिक विषमता और गदगीके कारण अनिश्चित भविष्य तथा अजीर्णका शिकार था। वह भी इस परिस्थितिसे जान छुडाना चाहता था, इसके लिये उसका स्वदेशीय नुस्खा अफलातूँका दर्शन काफी न था, उसके लिए और कडी बोतल जरूरी थी, जिसके लिए उन्होने भारतीय रहस्यवाद-निराशावादको अफलातूनी दर्शनमे मिला दिया। इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष सारी दुनिया माया, भ्रम, इन्द्र-जाल है, मानस (विज्ञान) जगत् ही सच्चा है। सत्य और मानसिक शान्ति तभी मिल सकती है, जब कि मनुष्य जीवनसे अलग हो। एक लम्बे सयम-यम-नियम-के साथ, इसी जन्मकी नही, अनेक जन्मकी संसिद्धिके साथ उस अकथ,

अज्ञेय, रहस्यमयी दुनियाको जाननेपर, हृदयकी गाँठें टूट जाती हैं, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं, लाखों जन्मके दोष (कर्म) क्षीण हो जाते हैं, उस पर-अपर (परले-उरले)को देख कर।"

नवीन-अफलातूनीय दार्शनिकोंमें सिकन्दरियाका फिलो यूदियो (ई० पू० २५ से ५० ई०) बहुत महत्त्व रखता है। उसने अफलातूँ और भारतीय दर्शनके साथ यहूदी शिक्षाका समन्वय करना चाहा; इसके लिए उसने यहूदी फरिश्तोंको भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अफलातूनी विज्ञानका आलंकारिक रूप बतलाया।

लेकिन यह आलंकारिक व्याख्या उतनी सफल नहीं हुई, जिसपर इस कामको प्लोतिन[1] (२०५-७१ ई० पू०) ने अपने हाथमें लिया। नाशोन्मुख भव्य प्रासादके कगूरे, मीनार, छत और दीवारें एक-एक ईंट करके गिरते हैं, वही हालत पतनोन्मुख संस्कृतिकी भी होती है। ईसाकी तीसरी सदीके आरम्भमें रोमन संस्कृति भी इस अवस्थामें पहुँच गई थी। प्लोतिन उसका ही प्रतीक था। प्लोतिन और उसके जैसे दूसरे विचारक भी वस्तु-स्थितिसे मुकाबिला करनेसे जी चुराना चाहते हैं। वह दुनियाकी सारी व्यवस्था—समाजकी गंदगियों—को जाननेकी काफी समझ रखते हैं, किन्तु अज्ञान, कायरपन या अपने समृद्धवर्गके स्वार्थके ख्यालसे उस व्यवस्थाके उलटनेमें योगदान नहीं करना चाहते उन्हें इससे अच्छी वह ख्याली-दुनिया मालूम होती है, जिसका निर्माण बड़े यत्नके साथ अफलातूँने किया था। नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी शिक्षा थी—"सभी चीजें एक अज्ञेय परमतत्त्व[2], अनादि विज्ञान[3]से पैदा हुई हैं। परमात्मासे उनका सम्बन्ध वस्तुके तौरपर नहीं, बल्कि कल्पनाके तौर-पर है, यही कल्पना करना उस परमतत्वके अस्तित्वका परिचायक है। परमतत्त्वके किसी गुणको समझनेके लिये हमारे पास कोई इन्द्रिय या साधन नहीं है। इस परमतत्वसे एक आत्मा पैदा होता है, जिसे ईश्वर

[1] Plotinus. [2] Absolute [3] Intelligence.

कहते है और जो विश्वका सृष्टिकर्ता है। शकरके वेदान्तमे भी ईश्वर (परमात्मा)को परमतत्त्व मानते है। यह ईश्वर या "दिव्य विज्ञान" ध्यान करके[1] अपने शरीरसे विश्व-आत्माको पैदा करता है, जो कि विश्वका भी आत्मा है, दुनियाके अनगिनत जीवात्माओका भी। दुनिया अब तैयार हो गई। किन्तु दिव्य-विज्ञानका काम इतनेसे समाप्त नही होता, वह लगातार आत्माओको प्रकटकर इस देखनेकी दुनियामे भेज रहा है और जिन्होंने अपने सासारिक कर्तव्यको पालन कर लिया है, उन्हें अपनी गोदमे वापस ले रहा है।

अफलातूंने प्रयोग या अनुभवसे ऊपर, बुद्धिको माना था; किन्तु नवीन-अफलातूनी समाधिके साक्षात्कार, आत्मानुभूति[2]को बुद्धिसे भी ऊपर मानते थे। प्लोतिनुने कहा—"उस सर्व महान् (परमतत्त्व)को बुद्धिके चिन्तनसे नही बल्कि अचिन्तनसे, बुद्धिसे परे जाकर जाना जा सकता है।"

इस रहस्यवादने ईसाई-धर्म और खासकर ईसाई सन्त अगस्तिन् (३५४-४३० ई०) पर बहुत प्रभाव डाला। आज भी पूर्वीय ईसाई चर्च (स्लावदेशोकी ईसाइयत)पर भारतीय नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी जबर-दस्त छाप है, योग, ज्ञान, वैराग्यका दौर दौरा है। पश्चिमी रोमन कैथ-लिक चर्चको सन्त तामस् अक्विना (१२२५–७४ ई०)ने जमीनपर लानेकी कुछ कोशिश की, मगर रहस्यवादसे धर्मका पिंड छूट ही कैसे सकता है?

४७ ई० पू०में रोमनोने सिकन्दरियापर अधिकार किया। उसके बाद उसका वैभव क्षीण होने लगा। आमतौरसे दर्शनकी ओर उनकी विशेष रुचि न थी तो भी कुछ रोमनोने यूनानी दर्शनके अध्ययन-अध्यापनमे सहायता की। सिसरो (१०६-४३ ई० पू०)का नाम इस बारेमे विशेषतः उल्लेखनीय है, इसके ग्रथोने पीछे भी यूनानी दर्शनको जीवित रखनेमें बहुत काम किया। लुक्रेशियो (९८-५५ ई० पू०)ने देमोक्रितुके परमाणु-वादको हम तक पहुँचानेमे बडी सहायता की। स्तोइक दार्शनिक सम्राट्

[1] "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्"—मनु० १।८ [2] Intuition.

मर्कस् औरेलियस् (१२१-८० ई०)का जिक्र पहले आ चुका है। यूनानी दर्शनके बारेमे अतिम लेखनी बोयथेऊ[1] (४८०-५२४)की थी, जो कि दिग्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०)के बीचके कालमें पैदा हुआ था और जिसने "दर्शनके-सन्तोष"[2] नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रथने बहुत दिनो तक विद्यार्थियोंके लिये प्रकरण या परिचय-ग्रथका काम दिया।

ईसाई-धर्मपर पीछे नवीन-अफलातूनीय दर्शनका असर पडा जरूर, किंतु शुरूमे ईसाई-धर्म प्रचारक दर्शनको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और ईसाके सीधे-सादे जीवन तथा गरीबोके प्रेमकी कथाये कहकर साधारण जनताको अपनी ओर खीच रहे थे। उनका जोर, ज्ञान और वैयक्तिक प्रयत्नपर नही बल्कि विश्वास और आत्मसमर्पणपर था। आदिम ईसाई नेता दर्शनको खतरनाक समझते थे। ३९० ई० मे लाटपादरी थेवफिलने धर्म-विरोधी पुस्तकोका भडार समझकर सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोको जलवा दिया। ४१५ ई० मे सिकन्दरियाके ज्योतिषी थ्योन[3]की लडकी तथा स्वय गणितकी पडिता हिपाशिया[4]का ईसाई धर्मान्धो-ने वडी निर्दयताके साथ बध किया। ऐसे कितने ही पाशविक बधो और अत्याचारोसे ईसाके धर्मान्धोको सतोष नही हुआ और अन्तमे ५२९ ई० मे—जिस शताब्दीमे भाव्य, चन्द्रकीर्ति, प्रशस्तपाद उद्योतकर जैसे दार्शनिक तथा वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषी हमारे यहाँ स्वतन्त्र चिन्तनमें लगे थे—ईसाई राजा जस्तीनियनने राजाज्ञा निकाल दर्शनके सभी विद्यालयोको वन्द कर दिया। तबसे युरोपमे सात सौ वर्षोकी काल-रात्रि शुरू होती है, जिसमे दर्शन विस्मृत सा हो जाता है।

५—अगस्तिन् (३५३-४६० ई०)

यूनानी दर्शनके साथ शुरूमे ईसाइयतका वर्ताव कैसा रहा? इसका जिक्र हम कर चुके है। लेकिन तलवारसे ज्ञानकी चोट जबरदस्त होती

[1] Boetheus [2] Consocations. [3] Theon [4] Hipatia.

है। जिस समय (३६०) लाट-पादरी थेवफिल सिकन्दरियाके पुस्तकालयोको जला रहा था, उस समय ओरोलियो अगस्तिन ४७ वर्पका था, और यद्यपि वह अब ईसाई साधु था, किंतु पहिलेके पढे दर्शनको वह भूल नही सकता था, इसीलिये उसने दर्शनको ईसाई-धर्मकी खिदमतमे लगाना चाहा।

अगस्तिन तगस्तेर (उत्तरी अफ्रीका) मे ईसाई माँ (मोनिका) और काफिर बापसे पैदा हुआ था। साधु होनेके बाद तीन साल (३८४-८६) तक वह मिलन (इताली) मे पादरी रहा। उसने यूनानी दार्शनिकोकी भाँति युक्तिद्वारा ईसाई-धर्मका मडन करना चाहा—ईश्वरने दुनियाको 'असत्'से नही पैदा किया। अपने विकासके वास्ते यह बात उसके लिए जरूरी नही है। ईश्वर लगातार सृष्टि करता रहता है। ऐसा न हो तो ससार छिन्न-भिन्न हो जाय। ससार बिलकुल ही ईश्वरके अवलम्बनपर है। ससार काल और देशमे बनाया गया—यह हम नही कह सकते, क्योकि जब ईश्वरने ससार बनाया उससे पहिले देश-काल नही थे। ससारको बनाते हुए उसने देश-कालको बनाया। तो भी ईश्वरकी सृष्टि सदा रहनेवाली सृष्टि नही है। संसारका आदि है, सृष्टि सान्त, परिवर्तनशील और नाशमान है। ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, उसने भौतिक तत्त्वोको भी पैदा किया।

२—इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

२—इस्लामिक दर्शन

पैगंबर मुहम्मद और इस्लामकी सफलता

§ १—इस्लाम

ईसाकी छठी सदी वह समय है, जब कि भारतमे एक बहुत शक्तिशाली राज्य—गुप्त साम्राज्य—खतम होकर छोटे-छोटे राज्योमे बँटने लगा था, तो भी अन्तिम विखरावके लिए अभी एक सदीकी देर थी। गुप्तोके बाद उत्तरी भारतके एक विशाल केन्द्रीकृत राज्यको पहिले मौखरियोने और फिर अन्तमे काफी सफलताके साथ हर्षवर्द्धनने हस्तावलम्ब दिया था। जिस वक्त इस्लामके सस्थापक पैगबर मुहम्मद अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, उस वक्त भारतमे हर्षवर्द्धनका राज्य था, और दर्शन-नभमे धर्मकीर्त्ति जैसा एक महान् नक्षत्र चमक रहा था।

छठी सदीका अरब हाल तकके अरबकी भाँति ही छोटे-छोटे स्वतन्त्र कबीलोंमे बँटा हुआ था। आजकी भाँति ही उस वक्त भी भेड-ऊँटका पालना और एक दूसरेको लूटना अरबोकी जीविकाके "वैध" साधन थे। हाँ, इतना अन्तर कमसे कम पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के वादसे जरूर है, कि इब्न-सऊदके शासनमे कुछ हद तक कबीलोंकी निरंकुशताको अरवके बहुतसे भागोमे कम किया गया। पैगबर मुहम्मदके समय अरबके कुछ भाग तथा लाल-सागरके उस पार अबीसीनियाका ईसाई राज्य था। उसके ऊपर मिश्र रोमनोके हाथमे था। उत्तरमे सिरिया

(दमिश्क) आदि रोमन कैसर (राजधानी विजन्तियुम् कस्तुन्तुनिया, वर्तमान इस्ताम्बूल)के शासनमे था। पूर्वमे मेसोपोतामिया (इराक) और आगे ईरानपर सासानी (पारसी) शाहशाह शासन कर रहे थे। अरब बद्दू (खानाबदोश) कबीलोंका रेगिस्तानी इलाका था। उसके पश्चिमी भागमें मक्का (बक्का) और यस्रिब् (मदीना)के शहर वाणिज्य-मार्गपर होनेसे खास महत्त्व रखते थे। यस्रिबका महत्त्व तो उसकी तिजारत और यहूदी सौदागरोके कारण था, किन्तु मक्का सारी अरब जातिका महान् तीर्थ था, जहाँपर सालमे एक बार लड़ाकू अरब भी हथियार हाथसे हटा रोजा रख श्रद्धापूर्वक तीर्थ करने आते थे, और इसी वक्त एक महीनेके लिए वहाँ व्यापारिक मेला भी लग जाता था।

१—पैगंबर मुहम्मद

(१) **जीवनी**—अरबोका सर्वश्रेष्ठ तीर्थ होनेके कारण मक्काके काबा-मन्दिरके पुजारियो (पडो)को उससे काफी आमदनी ही नही थी, बल्कि वह कुल और सस्कृतिमे अरबोमे ऊँचा स्थान रखते थे। पैगंबर मुहम्मदका जन्म ५७० ई०में मक्काके एक पुजारी वश—कुरैश—में हुआ। उनके माता-पिता बचपनहीमे मर गये, और बच्चेकी परवरिशका भार दादा और चाचापर पडा।

मक्काके पुजारी पूजा-पडापनके अतिरिक्त व्यापार भी किया करते थे। एक बार उनके चाचा अबूतालिब जब व्यापारके लिये शामकी ओर जा रहे थे, तो बालक मुहम्मदने ऊँटकी नकेल पकडकर ले चलनेका इतना जबर्दस्त आग्रह किया, कि उन्हे साथ ले जाना पडा। इस तरह होश सँभालनेसे पहिले ही इस्लामके भावी पैगंबरने आस-पासके देशो, उनकी उर्वर और मरु-भूमियो, वहाँके भिन्न-भिन्न धार्मिक रीति-रवाजोको देखा था। जवान होनेपर व्यापार-निपुणताकी बात सुनकर उनकी भावी पत्नी तथा मक्काकी एक धनाढ्य विधवा खदीजाने उन्हे अपने कारवाँका मुखिया बनाकर व्यापार करनेके लिए भेजा। पैगंबर मुहम्मद आजन्म

अनपढ़ (उम्मी) रहे, यह बात विवादास्पद है—खासकर एक बड़े व्यापारी कारवाँके सरदारके लिए तो भारी नुकसानकी चीज हो सकती है। यदि ऐसा हो तो भी अनपढ़का अर्थ अबुद्धि नही होता। तरुण मुहम्मद एक तीव्र प्रतिभाके धनी थे, इसमे सन्देह नही, और ऐसी प्रतिभाके साथ पुस्तकोसे भी ज्यादा वह देश-देशान्तरके यातायात तथा तरह-तरहके लोगोंकी सगतिसे फायदा उठा सकते थे, और उन्होने फायदा उठाया भी।

पैगबर मुहम्मदके अपने वशका धर्म अरबकी तत्कालीन मूर्तिपूजा थी, और कावाके मन्दिरमे लाल, वक्क जैसे ३६० देवता और साथ ही किसी टूटे तारेका भग्न भाग एक कृष्ण-पाषाण (हज्र असवद्) पूजे जाते थे। पत्थरके देवता प्रकृतिकी सर्वश्रेष्ठ उपज मानवकी बुद्धिका खुल्लमखुल्ला उपहास कर रहे थे, किन्तु पुरोहित-वर्ग अपने स्वार्थके लिए हर तरहकी बुद्धि सुलभ चालाकियोसे उसे जारी रखना चाहता था। मुहम्मद साहेब उन आदमियोमे थे, जो समाजमे रूढिवश मानी जाती हर एक बातको बिना ननु-नचके मानना नही पसन्द करते। साथ ही अपनी वाणिज्य-यात्राओमे वह ऐसे धर्मवालोसे मिल चुके थे, जिनके धर्म अरबोंकी मूर्ति-पूजाकी अपेक्षा ज्यादा प्रशस्त मालूम होते थे। खासकर ईसाई साधुओ और उनके मठोकी शान्ति तथा बौद्धिक वातावरण, और यहूदियोकी मूर्ति-रहित एक-ईश्वर-भक्ति उन्हे ज्यादा पसद आई थी। यह तो इसीसे साबित है कि कुरानमे यहूदी पैगबरो और ईसाको भी भगवान्की ओरसे भेजे गये (रसूल) और उनकी तौरात (पुरानी बाइबल) और इजीलको ईश्वरीय पुस्तक माना गया है। उनकी महिमाको बीसियो जगह दुहराया गया, और बार-बार यह बात साबित करनेका प्रयत्न किया गया है, कि उनमे एक पैगबरके आनेकी भविष्यवाणी है, जो कि और दूसरा नही बल्कि यही मुहम्मद अरबी है। तत्कालीन अरब घोर मूर्तिपूजक और बहुदेव-विश्वासी जरूर थे, किन्तु साथ ही यहूदी, ईसाई तथा आस-पासके दूसरे धर्मानुयायियोंके सम्पर्कमे आनेसे यह बात भी स्वीकार करते थे, कि इन सब देवताओंके ऊपर एक ईश्वर (यह नही अल्लाह) है।

कहा जा सकता कि इस अल्लाहको वह यहूदियोके यहोवाकी भाँति बिलकुल यहूदी पुरुषोकी भाँति लबी सफेद दाढी, नूरानी पेशानी और लबे चोगे वाला स्वर्गस्थ व्यक्ति मानते थे, अथवा ईसाइयो—खासकर नस्तोरी ईसाइयो (जिनकी सख्या कि उस समय शाम आदि देशोमे अधिक थी)—के निराकार-साकार-मिश्रित भगवान् पिताकी तरह। हाँ, वह इस अल्लाहकी तरफसे भेजे खास व्यक्तियों (रसूलो) और किताबोंको नही मानते थे—अथवा वह स्थायी रसूलो और किताबोकी जगह कुछ समयके लिए सिर पर देवता ले आने वाले ओझो—सयानोको रसूल और उनके भाषणोको आस्मानी किताबका स्थान देते थे। दोनो तरहके 'रसूलो" और "किताबो"के फायदे भी है और नुकसान भी, किन्तु यह तो साफ है कि कबीलो-कबीलोको मिलाकर एक बडी अरब कौम तथा कौमो-कौमोको मिलाकर एक बडी धार्मिक सल्तनत कायम करनेके लिए ओझा—सयाने जैसे रसूल और उनके इलाही वचन बिलकुल अपर्याप्त थे। मुहम्मद साहेबने व्यापारी जीवनमे देखा होगा कि अरबके कबीलोके इलाकेमे पद-पदपर लूट-मार तथा चुँगी-करकी आफतके मारे व्यापारी परेशान थे, यदि एक कबीलेके इलाकेसे अल्ला-अल्ला करके किसी तरह जान-माल बचाकर निकल भी गये, तो आगे ही दूसरा कबीला चुँगी या भेट उगाहने तथा मौका पाते ही छापा मारनेके लिए तैयार दिखाई पडता था। इसके विरुद्ध जहाँ वह रोमके कैसर या ईरानके शाहके राज्यमे प्रवेश करते, वहाँ एक बार केन्द्रीय सर्कारके फर्माबरदार चुँगी-कर्मचारियोको महसूल चुकाते ही रात-दिन भयके मारे दबे जाते उनके दिलपरसे एक भारी बोझ यकायक हट जाता दिखाई पडता था। इस तरहके चिरव्यापी तजर्बेके बिनापर हजरत मुहम्मद यदि सभी कबीलोको मिलाकर एक राज्य और छापा—लूटमार एवं जगलके कानून—जिसकी लाठी उसकी भैंस—की जगह इस्लाम (=शान्ति)का विधान चाहते हो, तो आश्चर्य ही क्या है। एक शासन और शान्ति (=इस्लाम)स्थापनको अपना लक्ष्य बनाते हुए भी मुहम्मद साहेब जैसा मानव प्रकृतिका गभीर परख रखनेवाला व्यक्ति

सिर्फ आँख मूँदकर स्वप्न देखनेवाला नही हो सकता था। वह भलीभाँति समझते थे कि जिस शान्ति, व्यापार और धर्म-प्रचारमे सशस्त्र बाधाको रोकना वह चाहते है, वह निश्चेष्ट ईश्वर, प्रार्थना तथा हथियार रख निहत्थे बन जानेसे स्थापित नही हो सकती। उसके लिए एक उद्देश्यको लेकर आदमियोंकी सुसगठित सशस्त्र गिरोहकी जरूरत है, जो कि अपने दृढ संकल्प और सुव्यवस्थित शस्त्रबलसे इस्लाम (=शान्ति)-स्थापनामे बाधा देनेवालोको नष्ट या पराजित करनेमें सफल हो।

हाँ, तो मुहम्मद साहेबके विस्तृत तजर्बेने उन्हे बतला दिया था, कि कबीलोंको एक विस्तृत राज्य बनाने, उस विस्तृत राज्यको अपनी सीमा तथा शक्ति बढानेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है। पुरोहितोंके मारे मक्काके समाजमे उनके धर्मका विरोध करते हुए एक नये धर्मका पैगबर बनना आसान काम न था। मुहम्मद साहेब काफी आत्मसयमी व्यक्ति थे, ईसाई साधुओंकी भाँति हेराकी गुफाओमे भी उन्होने कितनी ही बार एकान्तवास किया था।

(२) **नई आर्थिक व्याख्या**—चाहे वह तिब्बतकी हो, अरब, या हमारे सीमा प्रान्तकी, सभी कबीला-प्रथा रखने वाली जातियोंमे पशुपालन, कृषि या वाणिज्यके अतिरिक्त लूटकी आमदनी (=माले-गनीमत) भी वैध जीविका मानी जाती रही है। माले-गनीमतको बिलकुल हराम कर देनेका मतलब था, अरबोंके पुराने भावपर ही नही, उनके आर्थिक आयके जरियेपर हमला करना—चाहे इस तरहकी आयसे सारे अरब-परिवारो-को फायदा न पहुँचता हो, किन्तु जूयेके पाशेकी भाँति कभी अपनी किस्मतके पलटा खानेकी आशाको तो वह छोड नही सकते थे। हजरत मुहम्मद-ने "माले-गनीमत" नाम रखते हुए भी उसे ईरान और रोमके देशविजय-की "भेटो" जैसे, किन्तु उससे विस्तृत अर्थमे बदलना चाहा, तो भी मालूम होता है, अरब-प्रायद्वीपमे यह प्रयत्न कभी सफल नही हुआ। वहाँके लोगोंने माले-गनीमतका वही पुराना अर्थ समझा और ऊपरसे उसे अल्लाह-के आदेशके ऐन मुताबिक समझ लिया, जिसका ही परिणाम यह था, कि

मौका न था। इस्लामने विजित जातिके अधिकाश धनी और प्रभु-वर्गको जहाँ पामाल किया, वहाँ अपनी शरणमे आनेवाले—खासकर पीडित—वर्गको विजय-लाभमे साझीदार बनानेका रास्ता बिलकुल खुला रक्खा। स्मरण रखना चाहिए, इस्लामका जिससे मुकाविला था, वह सामन्तो-पुरोहितोका शासन था, जो कि सामन्तशाही शोषण और दासताके आर्थिक ढाँचेपर आश्रित था। यह सही है कि इस्लामने इस मौलिक आर्थिक ढाँचेको वदलना अपना उद्देश्य कभी नही घोषित किया, किन्तु उसके मुकाबिलेमे अरबमे अभ्यस्त कबीलो वाले भ्रातृत्व और समानताको जरूर इस्तेमाल किया, जिससे कि उसने सीमित शासक वर्गके नीचेकी साधारण जनताके कितने ही भागको आकर्षित और मुक्त करनेमे सफलता पाई। यद्यपि इस्लामने कबीलेके पिछडे हुए सामाजिक ढाँचेसे यह बात ली थी, किन्तु परिणामत उसने इस अर्थमे एक प्रगतिशील शक्तिका काम किया, और सडाँद फैलाने वाले बहुतसे सामन्त-परिवारो और उनके स्वार्थोको नष्टकर, हर जगह नई शक्तियोको सतहपर आनेका मौका दिया। यह ठीक है कि यह शक्तियाँ भी आगे उसी 'रफ्तार-बेढगी'को अख्तियार करनेवाली थी। दासों-दासियोको मालिककी सम्पत्ति तथा युद्धमे लूटका माल बनानेके लिए अकेले इस्लामको दोष नही दिया जा सकता, क्योकि उस वक्तका सारा सभ्य संसार—चीन, भारत, ईरान, रोम—इसे अनुचित नही समझता था।(x)

यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोका पैगवर अरबी कबीलोकी दृष्टिसे गभीरतापूर्वक अध्ययन किया था—यदि वह वस्तुत. अनपढ थे, तो उन्होने ध्यानसे उन्हे सुना था। और फिर चालीस वर्षकी अवस्थामे खूब आगा-पीछा सोचकर उन्होने अपनेको अल्लाहका भेजा (रसूल) घोषित किया। उनकी जीवनीकी बहुत सी बातो तथा कुरानकी शिक्षाके बारेमे मै अपने "कुरान-सार"मे लिख चुका हूँ, इसलिए उन्हे यहाँ नही लिखना चाहता, न वह इस पुस्तकका विषय है। पैगबर मुहम्मदने सही मानेमे "घरसे दानारम्भ"की अग्रेजी कहावतको चरितार्थ किया, और पहिले-

पहिल उनकी स्त्री खदीजाने उनके धर्मको स्वीकार किया। विरोधी विरोध भी करते थे, किन्तु उनके अनुयायी—जिनमे उनकी ही भाँति मक्काके व्यापारी-योद्धा ही ज्यादा थे—वढते ही गये। मक्काके पुजारी—कुरेश—इसपर उनकी जानके गाहक वन गये, और अन्तमे उन्हे मक्का छोड यस्रिवको सन् ६१४ ई० 'हिज्रत' (=प्रवास) कर जाना पडा, इसी यादगारमे मुसलमानोने हिज्री सन् आरम्भ किया और मदीनत्-उल्-नवी (नवीका नगर) होनेके कारण पीछे यस्रिवका नाम ही मदीना पड गया। मक्का तक पैगवर-इस्लाम एक धार्मिक सुधारक या प्रचारक थे, किन्तु मदीनामे उनको अपने अनुयायियोका आर्थिक, सामाजिक विचारक, व्यवस्थापक एव सैनिक नेता भी वनना पडा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्युके समय (६२२ ई०) पश्चिमी अरवके कितने ही प्रमुख कवीलोने इस्लाम ही नही कवूल किया, वल्कि उन्होने अपनी निरकुशताको कमकर एक सगठनमे वँधना स्वीकार किया, और सारे अरव भाषा-भाषी लोगोमे भी उसके लिए आकाक्षा पैदा कर दी।

२–पैगंबरके उत्तराधिकारी

हजरत मुहम्मद स्वय राजतन्त्रके विरुद्ध न थे, इसीलिए पहिले उन्होने अपने पडोसी राजाओ—ईरानके जर्तुश्ती शाह, और रोमके ईसाई कैसर—को इस्लाम कवूल करनेकी दावत दी थी, और यह उनके राज्यपर किसी तरहके हस्तक्षेपका ख्याल करके नही किया गया था, तो भी उन्होने अरव और उसके द्वारा इस्लामी जगत्के सामने जिस राजनीतिक ढाँचेकी कल्पना रखी, उसमे निरकुश राजतत्र क्या, सही मानेमे राजतत्रकी भी गुजाइश न होकर, छोटे-छोटे कवीलोकी जगह अनेक-देशव्यापी एक विशाल कवीलेका ख्याल काम कर रहा था—इस्लाम अरव और अरव-भिन्न मुल्कोमे फैले, सभी अरवी तथा अन्-अरवी मुसलमान अपनेको एक कवीला समझे। पैगवरके जीवन भर वह खुद ईश्वरकी ओरसे भेजा हुआ उनका सर्दार है, किन्तु पैगवरकी मृत्युके वाद

सर्दारको इस वडे इस्लामी कवीलेका विश्वास-भाजन होना चाहिए। विश्वास-भाजन होनेकी कसौटी क्या है, इसके बारेमे पैगबरने कोई साफ व्यवस्था नही बनाई; अथवा कबीलोके नमूनेपर जिस व्यवस्थाको बनाया जा सकता था, वही वनी-उमैयो (६६१-७५० ई०)के सिन्धसे स्पेन तक फैले राज्यमे व्यवहृत नही की जा सकती थी। ज्यादासे-ज्यादा यही कहा जा सकता है, कि उनके दिमागमे अपने उत्तराधिकारी शासक (=खलीफा)के लिये यही ख्याल हो सकता था, कि वह कबीलेके सर्दारकी भाँति कबीलेके सामने अपनेको जवाबदेह माने और कैसरो तथा शाहशाहोकी भाँति अपनेको निरकुश न समझे। लेकिन यह व्यवस्था जो एक छोटे कबीलेमे सफलतापूर्वक भले ही चल सकती हो, अनेक प्रकारकी भाषाओ-सस्कृतियों-देशोसे मिलकर बने इस्लामी राज्यमे चल न सकती थी, और पैगबरके नि स्वार्थ आदर्शवादी सहकारियो—अबूबकर (६२२-४२ ई०), उमर (६४२-४४ ई०), उस्मान (६४४-५६ ई०) तथा अली (६५६-६१ ई०)की खिलाफत (उत्तराधिकारी शासन)के बीतते-बीतते बिलकुल बेकार सावित हो गई। पैगंबरके आँख मूँदनेके ३९ वर्ष वाद अमीर-म्वाविया (६६१-८० ई०)के हाथ मे शासनकी बागडोर गई, और तबसे उसके सारे उत्तराधिकारी चाहे वह उसके अपने खान्दान—बनी-उमैय्या[1] (६६१-७४७ ई०)—के हो या वनी-अब्बास (७४९-१०३७ ई०[2]) के, शाहो और कैसरोकी भाँति ही स्वेच्छाचारी शासक थे।

३—अनुयायियोंमें पहिली फूट

हर एक कबीलेके अलग-अलग इलाहो (=खुदाओ)को हटाना

---

[1] म्वाविया (६६१-८० ई०), मजीद प्रथम (६८०-७१७), उमर द्वितीय (७१७-२० ई०), मजीद द्वि० (७२०-२४ ई०), हिशाम (७२४-४३ ई०), वलीद (७४३ ई०), मजीद तृतीय (७४३-४४), इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०) [2] अब्दुल्-अब्बास (७४९-५४ ई०) और उसकी सन्तान।

इस्लामके लिए इसलिए भी जरूरी था—एक कबीलेके इलाह को दूसरे क्यो कबूल करने लगे। फिर एक अल्लाह और नई आर्थिक व्याख्याको लेकर जबतक एकीकरण सिर्फ अरबोके बीच था, तबतक एक भाषा, एक सस्कृति—एक जातीयता—के कारण कोई भारी दिक्कत पेश नही हुई, किन्तु जब अन्-अरब जातियाँ इस्लामके धार्मिक और लौकिक राज्यमे शामिल होने लगी, तो सिर्फ एक अल्लाह तथा उसके रसूलसे काम चलने वाला न था। दो सभ्यताओके प्रतिनिधि दो जातियोका जब समागम चाहे खुशीसे या जबर्दस्तीसे होता है—तो दोनोका आदान-प्रदान तो स्वाभाविक है, किन्तु जब एक दूसरेको लुप्तकर उसकी जगह लेना चाहती है, तो मामला बेढब हो जाता है, क्योकि राज्य-शासनकी अपेक्षा सस्कृतिकी जड ज्यादा गहरी होती है। इसी सास्कृतिक झगडेने आगे चलकर अरबोके इस्लामी शासनको अन्-अरबी शासनमे परिणत कर दिया, यह हम अभी बतलाने वाले है। किन्तु, उससे पहिले हम अरब-अरब समागमकी पहिली प्रतिक्रियाका अरबोके भीतर क्या असर पडा, उसे बतलाना चाहते है।

तीसरे खलीफा उस्मान (६४४-५६ ई०)ने सिरियाकी विजयके बाद उमैय्या-वशके सर्दार म्वावियाको दमिश्कका गवर्नर बनाकर भेजा। दमिश्क रोमन-क्षत्रपकी राजधानी था, और वहाँका राज-प्रबध रोमन-कानून रोमन-राज-व्यवस्थाके अनुसार होता था। म्वावियाके सामने प्रश्न था, नये मुल्कका शासन किस ढगसे किया जाये ? क्या वहाँ अरबी कबीलोकी राज्य-व्यवस्था लागू की जाये, या रोमन सामन्तशाही व्यवस्थाको रहने दिया जाये। इस प्रश्नको तलवार नही हल कर सकती थी, क्योकि शासन-परिवर्तनसे कानूनी तथा सामाजिक ढाँचेका बदलना कही ज्यादा मुश्किल है। फिर सामन्तशाही व्यवस्था कबीलाशाहीके आगेका विकास है, सामन्त-शाहीसे कबीलाशाहीमे ले आना मानव-समाजकी प्रगतिको पीछेकी ओर मोड़ना था। म्वावियाकी व्यावहारिक बुद्धि भलीभाँति समझ सकती थी कि ऐसा करनेके लिए सिरियाके लोगोको पहिले बद्दू तथा अर्ध-बद्दू कबीलेमे परिवर्तित करना होगा। उसकी पैनी राजनीतिक दृष्टि बतलाती

थी कि उससे कही अच्छा यह है, कि रोमन सामन्ती ढॉचेको रहने दिया जावे और लोगोको अपने शासन मानने तथा अधिकसे-अधिक आदमियोको इस्लाममे दाखिलकर उसे मजबूत करनेका प्रयत्न किया जाये। म्वावियाने रोम-राज्यप्रणालीको स्वीकार किया।

इस्लामको जो लोग अरबियतका अभिन्न अग समझते थे, उन्हे यह बुरा लगा। जिन्होने पैगवरके सादे जीवनको देखा था, जिन्होने कबीलोकी विलासशून्य, भ्रातृत्वपूर्ण समानताके जीवनको देखा था, उन्हे म्वावियाकी हरकत बुरी लगी। शायद गाढेकी चादर ओढे खजूरके नीचे सोनेवाला अथवा दासको ऊँटपर चढाये यरुशिलममे दाखिल होनेवाला उमर अब भी खलीफा होता, तो म्वाविया वैसा न कर सकता, किन्तु समय वदल रहा था। पैगवरके दामाद और परम विश्वासी अनुयायी अलीको जब मालूम हुआ, तो उन्होने इसकी सख्त निन्दाकी, इसे इस्लामपर भारी प्रहार समझ उसके खिलाफ आवाज उठाई। उनका मत था कि हमारी सल्तनत चाहे रोमपर हो या ईरानपर, वह अरबी कबीलोकी सादगी-समानताको लिये होनी चाहिए। अलीकी आवाज अरण्य-रोदन थी। सफल शासक म्वावियासे खलीफा उस्मानको नाराज होनेकी जरूरत न थी। म्वाविया और अलीमे स्थायी वैमनस्य हो गया, किन्तु यह वैमनस्य सिर्फ दो व्यक्तियोंका वैमनस्य नही था, वल्कि इसके पीछे पहिले तो विकासमे आगे बढी तथा पिछडी दो सामाजिक व्यवस्थाओं—सामन्तशाही एव कबीलाशाही—की होडका प्रश्न था, दूसरे दो सभ्यताओकी टक्करके वक्त समझौते या "दोमेसे केवल एक"का सवाल था।

अली (६५६-६१) पैगबरके सगे चचेरे भाई तथा एक मात्र दामाद थे। अपने गुणोंसे भी वह उनके स्नेहपात्र थे, इसलिए कुछ लोगोका ख्याल था कि पैगबरके बाद खिलाफत उन्हीको मिलनी चाहिए थी, किन्तु दूसरी शक्तियॉ और जबरदस्त थी, जिनके कारण अबूबकर, उमर और उस्मानके मरनेके बाद अलीको खिलाफत मिली। दमिश्कके जबर्दस्त गवर्नर म्वावियाकी उनकी अनबन थी, किन्तु कबीलोकी बनावट मदीनामे

वैठे खलीफाको इजाजत नही दे सकती थी, कि अली म्वावियाको गवर्नरी से हटाकर बनी-उमैय्या खान्दानको अपना दुश्मन बना गृहयुद्ध शुरू कर दे। अलीका शासन म्वावियाकी अर्धप्रकट वगावत तथा वाहरी सभ्यताओसे इस्लामके प्रभावित होनेका समय था। यद्यपि अली म्वावियाका कुछ नही बिगाड सके, किन्तु, म्वावियाको अली और उनकी सन्तानसे सबसे अधिक डर था। अलीके मरनेके वाद म्वावियाने खिलाफतको अपने हाथमे करनेमे सफलता जरूर पाई, किन्तु पैगबरकी एकलौती पुत्री फातमा तथा अलीके दोनो पुत्रो—हसन और हुसेन—के जीवित रहते वह कब सुखकी नीद सो सकता था। आखिर सीधे-सादे अरब तो खलीफाके शाही ठाट-वाट और अपनी अवस्थाको मुकाबिला करके म्वावियाके विरुद्ध आसानीसे भडकाये जा सकते थे। उसने हसनको तो उनकी बीबीके द्वारा जहर दिलाकर अपने रास्तेसे हटाया और हुसेनके खतरेको हटानेके लिए म्वावियाके बेटे यजीद ने षड्यन्त्र किया। यजीदने अधीनता स्वीकारकर झगडेको मिटा डालनेके लिए हुसेनको बडे आग्रहपूर्वक कूफा (यही बस्राके सूबेदार यज़ीदकी उस वक्त राजधानी थी) बुलाया। रास्तेमे कर्बलाके रेगिस्तानमे किस निर्दयताके साथ सपरिवार हुसेनको मारा गया, वह दिल हिला देनेवाली घटना इतिहासके हर एक विद्यार्थीको मालूम है।

हुसैनकी शहादत दर्दनाक है। हर एक सहृदय व्यक्तिकी सहानुभूति हुसैन तथा उनके ६९ साथियोके प्रति होनी जरूरी है। यजीदके सरकारी दबदबेके होते भी जब कर्बलाके शहीदोंके सत्तर सिर कूफामे यजीदके सामने रखे गये और नृशस यजीदने हुसेनके सिरको डडेसे हटाया तो एक बूढेके मुँहसे यकायक आवाज निकल आई—"अरे! धीरे-धीरे! यह पैगवरका नाती है। अल्लाहकी कसम मैने खुद इन्ही ओठोको हजरतके मुँहसे चुम्बित होते देखा था।" मानवताके न्यायालयमे हम यज़ीदको भारी अपराधी ठहरा सकते है, किन्तु प्रकृति ऐसी मानवता की कायल नही है, उसका हर अगला कदम पिछलेके ध्वसपर बढता है। आखिर अली, हुसेन या उसके अनुयायी विकासको सामन्त-शाहीसे आगेकी ओर नही

वल्कि पीछे खीचकर कबीलेशाहीकी ओर ले जाना चाहते थे, जिसमे यदि सफलता होती तो इस्लाम उस कला, साहित्य, दर्शनका निर्माण न कर सकता, जिसे हमने भारत ईरान, मेसोपोतामिया, तुर्की और स्पेनमे देखा, और यूनानी दर्शन द्वारा फिरसे वह युरोपमे उस पुनर्जागरणको न करा पाता; जिसने आगे चलकर वैज्ञानिक युगको अस्तित्वमे ला दुनिया की कायापलट करनेका जवर्दस्त आयोजन कराया।

४-इस्लामी सिद्धान्त

कुरानी इस्लामके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त है—ईश्वर एक है, वह बहुत कुछ साकार सा है, और उसका मुख्य निवास इस दुनियासे बहुत दूर छै आसमानोको पारकर सातवे आसमानपर है। वह दुनियाको सिर्फ "कुन्" (हो) कहकर अभावसे बनाता है। प्राणियोमे आगसे वने फ़रिश्ते (देवता) और मिट्टीसे वने मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। फरिश्तोंमेसे कुछ गुमराह होकर अल्लाहके सदाके लिए दुश्मन वन गए है, और वे मनुष्योको गुमराह करनेकी कोशिश करते है, इन्हे ही शैतान कहते है। इनका सरदार इब्लीस है, जिसका फरिश्ता होते वक्तका नाम अजाजील था। मनुष्य दुनियामे केवल एक वार जन्म लेता है। और ईश्वर-वचन (कुरान)के द्वारा विहित (पुण्य) निषिद्ध (पाप) कर्म करके उसके फलस्वरूप अनतकालके लिए स्वर्ग या नर्क पाता है। स्वर्गमे सुन्दर प्रासाद, अगूरोके बाग, शहद-शरावकी नहरे, एकसे अधिक सुन्दरियाँ (हूरें) तथा बहुतसे तरुण चाकर (गिल्मान) होते है। दया, सत्य-भाषण, चोरी न करना, आदि सर्वधर्म साधारण भले कामोके अतिरिक्त नमाज, रोजा, (उपवास), दान (जकात) और हज (जीवनमे एक बार काबा-दर्शन) ये चार मुख्य है। निषिद्ध कर्मोंमे अनेक देवताओ और उनकी मूर्तियोका पूजन, शराब-पीना, हराम मास (सुअर तथा कलमा बिना पढे मारे गये जानवरका मास) खाना आदि है।[1]

---

[1] विस्तारके लिये देखो मेरा "कुरानसार"।

तृतीय अध्याय

यूनानी दर्शनका प्रवास और उसके अरबी अनुवाद

§१–अरस्तूके ग्रन्थोंका पुनः प्रचार

इस्लामिक दर्शन यूनानी दर्शन—खासकर अरस्तूके दर्शन तथा उसमें नव-अफलातूनी (पिथागोर-अफलातून-भारतीय दर्शन) दर्शनके पुटका ही विवरण और नई व्याख्या है, यह हमे आगे मालूम होगा। यद्यपि अफलातूँ (प्लातो) तथा दूसरे यूनानी दार्शनिकोके ग्रन्थोंके भी भाषान्तर अरबीमे हुए, किन्तु इस्लामिक दार्शनिक सदा अरस्तूका अनुसरण करते रहे, इसलिए एक बार फिर हमे अरस्तूकी कृतियोकी जीवनयात्रापर नजर डालनी पडेगी, क्योकि उसी यात्राका एक महत्त्वपूर्ण भाग इस्लामिक दर्शनका निर्माण है।

१–अरस्तूके ग्रन्थोंकी गति

अरस्तूके मरने (३२२ ई० पू०)के बाद उसकी पुस्तके (स्वरचित तथा सगृहीत) उसके शिष्य तथा सम्बन्धी थ्योफ्रास्तु (देवभ्रात)के हाथमे आईं। थ्योफ्रास्तु स्वय दार्शनिक और दर्शन-अध्यापनमे अरस्तूका उत्तराधिकारी था, इसलिए वह इन पुस्तकोकी कदर जानता था। लेकिन २८७ ई० पू०मे जब उसकी मृत्यु हुई, तो यह सारी पुस्तके उसके शिष्य नेलुस्को मिली, और फिर १३३ ई० पू०के करीब तक उसीके खान्दानमे रही। इसके बीचहीमे यह खान्दान क्षुद्र-एसियामे प्रवास कर

गया, और साथ ही इस ग्रन्थराशिको भी लेता गया। लेकिन इस समय इन किताबोंको बहुत ही छिपा रखनेकी—धरतीमे गाडकर रखनेकी कोशिश की गई, कारण यह था कि ईसा-पूर्व तीसरी-दूसरी सदीके यूनानी राजे बडे ही विद्याप्रेमी थे (इसकी बानगी हमे भारतके यवन-राजा मिनान्दरमे मिलेगी) और पुस्तक-सग्रहका उन्हे बहुत शौक था। १३३ ई० पू०मे रोमनोने यूनान-शासित देशो (क्षुद्र-एसिया आदि) पर अधिकार किया। इसी समय नेलुस्के परिवारवाले अरस्तूके ग्रन्थोमे पुडिया तो नही बाँधने लगे थे, क्योकि वह कागजपर नही लिखे हुए थे, और वैसा करनेसे उतना नफा भी न था, बल्कि उन्होने उन्हे तहखानेसे निकालकर बाजारमे बेचना शुरू किया। सयोगवश यह सारी ग्रन्थ-राशि अथेन्स (यूनान) के एक विद्या-प्रेमी अमीर अल्पीकनने खरीद लिया, और काफी समय तक वह उसके पास रही। ८६ ई० पू० मे रोमन सेनापति सलरसेलाने जब एथेन्स विजय किया, तो उसे उस ऐतिहासिक नगरके साथ उसकी महान् देन अरस्तूकी यह ग्रन्थ-राशि भी हाथ लगी, जिसे कि वह रोममें उठा ले गया, और उसे अंधकारपूर्ण तहखानेमे रखनेकी जगह एक सार्वजनिक पुस्तकालयमे रख दिया। इस प्रकार दो शताब्दियोके बाद अरस्तूकी कृतियोको समझदार दिमागोंपर अपना असर डालनेका मौका मिला। अन्द्रानिकुने अरस्तूके बिखरे लेखोको नियमानुसार क्रम-बद्ध किया।

अरस्तूकी कृतियोकी जो तीन पुरानी सूचियाँ आजकल उपलभ्य है, उनमे देवजानि लारितुकी सूचीमे १४६, अनानिमुकी सूचीमे भी पुस्तकोंकी सख्या करीब-करीब उतनी हीं है। किन्तु अन्द्रानिकुने जो सूची स्वय अरस्तूके सग्रहको देखकर बनाई, उसमे उपरोक्त दोनो सूचियोसे कम पुस्तके हैं। पहिले दो सूचीकारोने अरस्तू-सवाद और लेख, कथा-पुस्तके, प्राणि-वनस्पति-सम्बन्धी साधारण लेखो, ऐतिहासिक, किस्सो, धर्म-सम्बन्धी मामूली पुस्तकोको भी अरस्तूकी कृतियोमे शामिल कर दिया है, जिन्हें कि अन्द्रानिकु अरस्तूके ग्रन्थ नही समझता। वस्तुत हमारे यहाँ जैसे व्यास, बुद्ध, शकरके

नामसे दूसरोके बहुतसे ग्रथ बनकर उनके मत्थे मढ दिये गये, वही बात अरस्तूके साथ भी हुई।

अरस्तूकी कृतियोको[1] विषय-क्रमसे लगाकर जितने भागोमे बाँटा गया है उनमे मुख्य यह है—(१) तर्क-शास्त्र, (२) भौतिक-शास्त्र, (३) अति-भौतिक(अध्यात्म)-शास्त्र, (४) आचार, (५) राजनीति। तर्कशास्त्रमे ही अलकार, आचार तथा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल है।

२—अरस्तूका पुनः पठन-पाठन

अरस्तूके ग्रन्थोके पठन-पाठनमे आसानी पैदा करनेके लिए सिकन्दर अफ्रादिसियस्ने विवरण लिखे। विवरण लिखते वक्त उसने अरस्तूकी असली किताबोपर लिखनेका खूब ख्याल रखा और इसमे अन्द्रानिकुकी सूचीसे उसे मदद मिली।

सिकन्दरके साम्राज्यके जब टुकडे-टुकडे हुए तो मिश्र-सेनापति तालमी (अशोकके लेखोमे तुरमाय)के हाथ आया, तबसे ४७ ई० पू० तक तालमी-वशने उसपर शासन किया और धीरे-धीरे मिश्रकी राजधानी सिकन्दरिया (अलिकसुन्दरिया, अलसदा) व्यापार-केन्द्रके अतिरिक्त विद्याकेन्द्र होनेमे दूसरा अथेन्स बन गई। ईसाई-धर्मका प्रचार जब रोममे बढने लगा था, उस वक्त यूनानी-दर्शनके पठन-पाठनका जबरदस्त केन्द्र सिकन्दरिया थी। इस वक्त नव-अफलातूनी दर्शनका प्रचार बढा यह हम पहिले बतला चुके है। फिलो यूदियो (ई० पू० २५-५० ई०) सिकन्दरियाका एक भारी दर्शन-अध्यापक था। ईसाकी तीसरी सदीमे प्लोतिनु (२०५-७१ ई०) सिकन्दरियामे दर्शन पढाता था। ये सभी दार्शनिक रहस्यवादी नव-अफलातूनी दर्शनके अनुयायी थे, किन्तु इनके पठन-पाठनमे अरस्तूके ग्रन्थ भी शामिल थे। पोर्फुरु[2] (फोर्फोरियोस्) भी यद्यपि दर्शनमे नव-अफलातूनी था, किन्तु उसने अरस्तूके ग्रन्थोको समझनेकी पूरी कोशिश की। इसका

[1] देखो फारावी, पृष्ठ ११४-५ [2] Porphyry

जन्म २३३ ई०मे शाम (सिरिया)के तायर नगरमे हुआ था, किन्तु इसने शिक्षा सिकन्दरियामे प्लोतिनुके पास पाई, और यही पीछे अध्यापन करने लगा। इसने अरस्तूकी पुस्तकोपर विवरण और भाष्य लिखे। तर्कशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए इसने एक प्रकरण ग्रन्थ ईसागोजी लिखा, जिसे अरबोने अरस्तूकी कृति समझा। यह ग्रंथ आज भी अरबी मदरसोमे उसी तरह पढाया जाता है, जैसे सस्कृत विद्यालयोमे तर्क-सग्रह, और मुक्तावलि।

ईसाई-धर्म दूसरे सामीय एकेश्वरवादी धर्मोकी भॉति दर्शनका विरोधी था, भक्तिवाद और दर्शन (बुद्धिवाद)मे सभी जगह ऐसा विरोध देखा जाता है। जब ईसाइयोके हाथमे राज-शासन आया, तो उसने इस खतरेको दूर करना चाहा। किस तरह पादरी थेवफिलने ३०० ई०मे सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोको जला दिया और किस तरह ४१५ ई०मे ईसाइयोने सिकन्दरियामे गणितके आचार्य हिपाशियाका बडी निर्दयताके साथ बध किया, इसका जिक्र हो चुका है। अन्तमे ईसाई राजा जस्तीनियनने ५२९ ई०मे राजाज्ञा निकाल दर्शनका पठन-पाठन बिलकुल बन्द कर दिया।

§ २—यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास और दर्शनानुवाद

१—यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास

दर्शनद्रोही जस्तीनियनके शासनके वक्तहीसे रोमन साम्राज्यके पडोसमे उसका प्रतिद्वद्वी ईरानी साम्राज्य था, जिसने अभी किसी ईसाई या दूसरे अ-सहिष्णु सामी धर्मको स्वीकार न किया था; उस समय ईरानका शाह-शाह कवद (४८७-९८ ई०) था।

मज्दक—कवदके समय ईरानका विख्यात दार्शनिक मज्दक मौजूद था। दर्शनमे उसके विचार भौतिकवादी थे। वह साम्यवाद और सघवाद-का प्रचारक था। उसकी शिक्षा थी—सम्पत्ति वैयक्तिक नही साघिक होनी चाहिए, सारे मनुष्य समान और एक परिवार-सम्मिलित होने चाहिए। संयम, श्रद्धा, जीव-दया रखना मनुष्य होनेकी जवाबदेही है। मज्दककी शिक्षाका ईरानियोमे बडी तेजीसे प्रसार हुआ, और खुद कवद भी जब

उसका अनुयायी बन गया, तो अमीर और पुरोहित-वर्गको खतरा साफ दिखलाई देने लगा। मज्दकके सिद्धान्तोंको युक्तियोंसे नहीं काटा जा सकता था, इसलिए उन्हें तलवारसे काटनेका प्रयत्न करना जरूरी मालूम हुआ। कवद्को कैदकर उसके भाई जामास्प (४९८-५०१ ई०)को गद्दी पर बैठाया गया। पुरोहितों तथा सामन्तोंने बहुतेरा उकसाया किन्तु जामास्प भाईके खूनमें हाथ रँगनेके लिए तैयार न हुआ, जिसमें साधारण जनतामें मज्दककी शिक्षाका प्रभाव भी एक कारण था। कवद किसी तरह जेलसे भाग गया। उस वक्त युरोप और एसियामें (भारतमें भी) मध्य-एसियाके असभ्य बद्दू-हूणोंका आतंक छाया हुआ था। कवदने उनकी सहायतासे फिर गद्दी पाई। कवद्ने पहिले तो मज्दकी विचारोंके साथ वैयक्तिक सहानुभूति रखी, लेकिन जब साम्यवाद प्रयोगक्षेत्रमें उतरने लगा, तो हर समयके शिक्षित "आदर्शवादियों"की भाँति वह उसका विरोधी बन गया, और उसकी आज्ञासे हजारों साम्यवादी मज्दकी तलवारके घाट उतारे गये।

५२९ ई०में जस्तीनियनने दर्शनके पठन-पाठनका निषेध किया था। इससे पहिले ५३१ ई०में कवद्के छोटे लड़के खुसरो (५३१-७० ई०)ने बड़े-छोटे भाइयोंको हलाकर गद्दी सँभाली। मज्दकी साम्यवादी अब भी अपने प्रभावको बढा रहे थे, इसलिए पुरोहितों और अमीरोंके लाड़ले खुसरोने एक लाख मज्दकी आदर्शवादियोंका खूनकर अपनी न्यायप्रियता-का परिचय दिया; इसी सफलताके उपलक्षमें उसने नौशेरवाँ (नये-शाह) की उपाधि धारण की; अमीरों-पुरोहितोंकी दुनियाने उसे "न्यायी" (आदिल)की पदवी दी।

२—यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके ईरानी तथा सुरियानी अनुवाद

नौशेरवाँके इन काले कारनामोंके अतिरिक्त कुछ अच्छे काम भी हैं, जिनमें एक है, अनाथ यूनानी दार्शनिकों को शरण देना। ५२९ ई० में सात नव-अफलातूनी दार्शनिक अथेन्ससे जान बचाकर भागनेपर

मजबूर हुए, इनमे सिम्पेलु और देमासिपु भी थे। इन्होने नौशेरवॉके राज्यमे शरण ली। शरण देनेमे नौशेरवाँकी उदार-हृदयताका उतना हाथ न था, जितना कि अपने प्रतिद्वद्वी रोमन कैसरके विरोधियोको शरण देनेकी भावना। अपने पूर्वजोकी भाँति नौशेरवाँका भी रोमन कैसरसे अक्सर युद्ध ठना रहता था। एक युद्धको अनिर्णयात्मक तौरपर खतम कर ५४९ ई०में उसने रोमको पराजितकर अपनी शर्तोपर सुलह करवानेमे सफलता पाई। सुलहकी शर्तोमे एक यह भी थी कि रोमन कैसर अपने राज्यमे धार्मिक (दार्शनिक) विचारोकी स्वतन्त्रता रहने देगा। इस सधिके अनुसार कुछ विद्वान् स्वदेश लौटनेमे सफल हुए, किन्तु सिम्पेलु और देमासियुको लौटनेकी इजाजत न मिल सकी।

(१) ईरानी (पहलवी) भाषामें अनुवाद—नौशेरवॉने जन्देशापोरमे एक विद्यापीठ कायम किया था, जिसमे दर्शन और वैद्यककी शिक्षा खास तौरसे दी जाती थी। इस विद्यापीठमे इस समय पठन-पाठनके अतिरिक्त कितने ही यूनानी दर्शन तथा दूसरे ग्रथो (जिनमे पौलुस् पर्सा द्वारा अनुवादित अरस्तूके तर्कशास्त्रका अनुवाद भी है)का पहलवीमे अनुवाद हुआ। अनुवादकोमे कितने ही नस्तोरीय सम्प्रदायके ईसाई भी थे, जो कि खुद कैसर-स्वीकृत ईसाई सम्प्रदायके कोपभाजन थे।

ज़्रवानवाद (ईरानी नास्तिकवाद)—यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिए, कि ईरानमे स्वतत्र विचारोकी धारा पहिलेसे भी चली आती थी। नौशेरवॉसे पहिले यज्दागिर्द द्वितीय (४३९-५७ ई०)के समय एक नास्तिकवाद प्रचलित था, जिसे ज़्रवानवाद कहते हैं। ज़्रवान पहलवी भाषा मे काल (अरबी—दह्र) को कहते हैं। ये लोग कालको ही मूल कारण मानते थे, इसीलिए इन्हे ज़्रवानवादी-कालवादी (अरबी—दह्रिया) कहते थे। नास्तिक होते भी यह भाग्यवाद के विश्वासी थे।

(२) सुरियानी (सिरियाकी) भाषामें अनुवाद—ईसवी सन्की पहिली सदियोमे दुनियाके व्यापारक्षेत्रमे सिरियन (शामी) लोगोका एक खास स्थान था। जिस तरह वे ईरानी, रोम, भारत और चीनके व्यापारमे

प्रधानता रखते थे, उसी तरह पश्चिमी एसिया, अफ्रीका और युरोप—पश्चिममे फ्रास तक—का व्यापार सिरियन लोगोके हाथमे था। बल्कि मद्रासके सिरियन ईसाई इस बातके सबूत है, कि सिरियन सौदागर दक्षिणी भारत तक दौड लगाते थे। व्यापारके साथ धर्म, सस्कृतिका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है, और सिरियनोने यही बात यूनानी दर्शनके साथ की। सिरियन विद्वानोने यूनानी सभ्यताके साथ उनके दर्शनको भी सिकन्दरिया (मिश्र), अन्तियोक (क्षुद्र-एसियाका यूनानी नगर)से लेकर ईरान (जन्देशापोर), और मेसोपोतामिया, निसिबी (ईरान, एदेस्सा) तक फैलाया। पश्चिमी और पूर्वी (ईरानी) दोनो ईसाई सम्प्रदायोकी धर्म-भाषा सुरियानी (सिरियाकी भाषा) थी, किन्तु उसके साथ उनके मठोमे यूनानी भाषा भी पढाई जाती थी। एदेस्सा (मसोपोतामिया) भी ईसाइयोका एक विद्याकेन्द्र था, जिसकी वजहसे एदेस्साकी भाषा (सुरियानीकी एक बोली) साहित्यकी भाषाके दर्जे तक पहुँच गई। उसके अध्यापकोंके नस्तोरीय विचार देखकर ४८९ ई०मे एदेस्साके मठ-विद्यालयको वद कर दिया गया, जिसके बाद उसे निसिवी (सिरिया)मे खोला गया।

(क) निसिवी (सिरिया)—निसिवी नगर ईरानियोके अधिकृत प्रदेशमे था, और सासानी शाहका वरदहस्त उसके ऊपर था। नस्तोरीय ईसाई सम्प्रदायके धर्मकी शिक्षाके साथ-साथ यहाँ दर्शन और वैद्यकका भी पठन-पाठन होता था। दर्शनकी ओर विद्यार्थियो और अध्यापकोका झुकाव तथा आदर अधिक देख धर्मनेताओको फिक्र पडी, और ५९० ई०मे उन्होने नियम वनाया, कि जिस कमरेमे धर्म-पाठ हो, वहाँ लौकिक विद्याका पाठ नही होना चाहिए।

मसोपोतामियाके इस भागमे जिसमे निसिवी, एदेस्सा तथा हरानके शहर थे, उस समय सुरियानी भाषा-भाषी था। पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के वाद मसोपोतामियाके सुरियानी ईसाइयोको किस तरह निर्दयतापूर्वक कत्ल-आम किया गया था, इसे अभी वहुतसे पाठक भूले

न होगे। आज मसोपोतामिया (ईराक) सिरिया (क्षुद्र-एसियाका एक भाग) मिश्र, मराकोमे जो अरबी भाषा देखी जाती है, वह इस्लाम और अरबोके प्रसारके कारण हुआ। इस तरह ईसाकी प्राथमिक शताब्दियोमे एदेस्सा और उसका पडोसी नगर ईरान भी सुरियानी भाषा-भाषी था।

मसोपोतामियाके इन विद्यापीठोंमे चौथीसे आठवी सदी तक बहुतसे यूनानी-दर्शन तथा शास्त्रीय-ग्रथोका तर्जुमा होता रहा, जिनमे सर्जियस (४६६-५३६ ई०)के अनुवाद विषय और परिमाण दोनोके ख्यालसे बहुत पूर्ण थे। जब मसोपोतामियापर इस्लामका अधिकार हो गया, तब भी सुरियानी अनुवादका काम जारी रहा, एदेस्साके याकूब (६४०-७०८ ई०) से अपने अनुवाद इसी समय किये थे। इन अनुवादोमे सब जगह मूलके अनुकरण करनेकी कोशिश की गई है, किन्तु यूनानी देवी-देवताओ तथा महापुरुषोके स्थानपर ईसाई महापुरुपोको रखा गया है। इस बातमे अरब अनुवाद और भी आगे तक गये। सुरियानी अनुवादोमें अरस्तूके तर्कशास्त्रका ही अनुवाद ज्यादा देखा जाता है, और उस वक्तके सुरियानी विद्वान् अरस्तूको सिर्फ तर्कशास्त्री समझते थे।

इन्ही सिरियन (सुरियानी) लोगोने पीछे आठवी-दसवी सदीमे बगदादके खलीफोके शासनमे यूनानी ग्रन्थोको सुरियानी अनुवादोकी मददसे या स्वतन्त्र रूपसे अरबी भाषामे तर्जुमा किया। सुरियानियोका सबसे वडा महत्त्व यह है, कि यूनानी अपने दर्शनको जहाँ लाकर छोड देते है, वहाँसे वह उसे आगे—विचारमे नही कालमे—ले जाते है, और अरबोको आगेकी जिम्मेवारी देकर अपने कार्यको समाप्त करते है।

(ख) **हरानके साबी**—जब यूनान तथा दूसरे पश्चिमी देशोमे ईसाई-धर्मके जबर्दस्त प्रचारसे यूनानी तथा दूसरे देवी-देवता भूले जा चुके थे, तब भी मेसोपोतामियाके हरान नगरमे सभ्य मूर्तिपूजक मौजूद थे। जो यूनानके दार्शनिक विचारोके साथ-साथ देवी-देवतोमे श्रद्धा रखते थे, किन्तु सातवी सदीके मध्यमे इस्लामिक विजयके साथ उनके देवताओ और

देवालयोकी खैरियत नही रह सकती थी, इसलिए उनकी पूजा-अर्चा चली गई, हाँ किन्तु उनके दार्शनिक विचारोको नष्ट करना उतना आसान न था। पीछे इन्ही साबियोने इस्लाममे अपने दार्शनिक विचारोको डालकर भारी गडबडी पैदा की, जिसके लिए कि कट्टर मुसलमान उन्हे बराबर कोसते रहे। इन्ही साबी लोगोका यूनानी दर्शनके अरवी तर्जुमा करनेमे भी ख़ास हाथ था।

३–यूनानी दर्शन-ग्रंथोंके अरबी अनुवाद (७०४–१००० ई०)

प्रथम चार अरब खलीफोके बाद अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०) के खलीफा बनने, कबीलाशाही (अरबी) एव सामन्तशाही व्यवस्थाके द्वद, और हुसेनकी शहादतके साथ कबीलाशाहीके दफन होनेकी बातका हम जिक्र कर चुके है। म्वावियाके वश (बनी-उमैय्या)की खिलाफतके दिनो (६६१-७५० ई०)मे इस्लाम धर्मको भरसक हर तरहके बाहरी प्रभावसे सुरक्षित रखनेकी कोशिश की गई, किन्तु जहाँ तक राज्य-व्यवस्था तथा दूसरे सास्कृतिक जीवन-क्षेत्रका सम्बन्ध था, अरबोने उन सभी सभ्य जातियोसे कितनी ही बाते सीखनेकी कोशिश की, जिनके सम्पर्कमे वह खुद आये। विशेषकर दरबारी ठाट-बाट, शान-शौकतमे तो उन्होने बहुत कुछ ईरानी शाहोकी नकल की। उजड्ड अरबोकी कडी आलोचना तथा क्रियात्मक कोपसे बचनेके लिए अमीर म्वावियाने पहिले ही चालाकीसे राजधानीको मदीनासे दमिश्कमे बदल लिया था, और इस प्रकार मदीनाका महत्त्व सिर्फ एक तीर्थका रह गया।

बनी-उमैय्याके शासनकालमे ही इस्लामी सल्तनत मध्य-एसियासे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तक फैल गई, यह बतला आये है, और एक प्रकार जहाँ तक अरब तलवारका सम्बन्ध था, यह उसकी सफलताकी चरम सीमा थी। उसके बाद इस्लाम युरोप, एसिया, भारतीय सागरके बहुतसे भागोपर फैला जरूर, किन्तु उसके फैलानेवाले अरब नही अन्-अरब मुसलमान थे।

पहिली टक्करमे अरबी मुसलमानोने कबीलाशाहीके सवालको तो छोड दिया, किन्तु समझौता इतनेहीपर होने वाला नही था। जो अन्-अरब ईरानी या शामी जातियाँ इस्लामको कबूल कर चुकी थी, वह असभ्य बद्दू नही, बल्कि अरबोंसे बहुत ऊँचे दर्जेकी सभ्यताकी धनी थी, इसलिए वह अरबकी तलवार तथा धर्म (इस्लाम)के सामने सर झुका सकती थी, किन्तु अपनी मानसिक तथा बौद्धिक सस्कृतिको तिलाजलि देना उनके बसकी बात न थी, क्योकि उसका मतलब था सारी जातिमेंसे बौद्धिक योग्यताको हटाकर अज्ञता—तारुण्यसे लौटकर शैशव—मे जाना। यही वजह हुई, जो बनी-उमैय्याके बाद हम इस्लामी शासकोको समझौतेमे और आगे बढते देखते है।

म्वाविया, यजीद, उमर (२) कुशल शासक थे, किन्तु जैसे-जैसे राजवश पुराना होता गया, खलीफा अधिक शक्तिसे हीन होते गये, यहाँ तक कि म्वावियाके आठवे उत्तराधिकारी इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०)को तख्तसे हाथ धोना पडा। जिस कूफाका शासक रहते वक्त यजीदने हुसैनके खूनसे "अपने हाथो"को रँगा था, वहीके एक अरब-सर्दार अब्दुल् अब्बास (७४९-५४ ई०)ने अपने खिलाफतकी घोषणा की। खलीफाको कबीलेका विश्वासपात्र होना चाहिए, यह बात तो बनी-उमैय्याने ही खतम कर दी थी, और दुनियाके दूसरे राजाओकी भाँति तलवारको अन्तिम निर्णायक मान लिया था, इसलिए अब्बासकी इस हरकतकी शिकायत वह क्या कर सकते थे ? अब्बासने बनी-उमैय्याके शाहजादोमेंसे जिन्हे पाया उन्हे कतल किया, यद्यपि यह कत्ल उतना दर्द-नाक न था, जैसा कि कर्बलाके शहीदोका, किन्तु इतिहासके पुराने पाठको कुछ अशोमे "दुहराया" जरूर। इन्ही शाहजादोमेंसे एक—अबदुर्रहमान दाखिल पश्चिमकी ओर भाग गया, और स्पेन तथा मराकोमे अपने वशके शासनको कुछ समय तक और बचा रखनेमे समर्थ हुआ।

अब्बासने सारे एसियाई इस्लामी राज्यपर अधिकार जमाया। आरम्भिक समयमे अब्बासी राजवश (अब्बासियो)ने भी अपनी राजधानी

दमिश्क रखी, किन्तु अब्बासके बेटे खलीफा मसूर (७५४-७५ ई०)ने ७६२ मे बगदाद नगरको बसाया, और पीछे राजधानी भी वही बदल दी गई। अब खिलाफत एक तरहसे अरबी वातावरणसे हटकर अन्-अरब—ईरानी तथा सुरियानी—वातावरण मे आगई, इसलिए अब्बासी खलीफोपर बाहरी प्रभाव ज्यादा पडने लगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आरभसे ही मुसलमानोने अरबी खूनको शुद्ध रखनेका ख्याल नही किया, खासकर मॉकी तरफसे। पैगम्बरके नाती हुसैनकी पत्नी अन्तिम ईरानी शाह यज्दगिर्द तृतीय (६३४-४२ ई०)की पुत्री हुस्नबानू थी। बनी-उमैय्या इस बारेमे और उदार थे। वही बात अब्बासियोके बारेमे थी। इस तरह साफ है कि जिन खलीफोको अब भी अरब समझा जाता था, उनमे भी अन्-अरब खून ही ज्यादा था। यह और वातावरण मिलकर उनपर कितना प्रभाव डाल सकते थे, यह जानना आसान है।

(१) **अनुवाद-कार्य**—उपरोक्त कारणोसे बगदाद[1]के खलीफोका पहिले खलीफोसे विचारके सम्बन्धमे ज्यादा उदार होना पडा। उनकी सल्तनतमे बुखारा, समरकन्द, बलख, नै-शापोर, रे, बगदाद, कूफा, दमिश्क आदिमे बडे-बडे विद्यापीठ कायम हुए, जिनमे आरम्भमे यद्यपि कुरान और इस्लामकी ही शिक्षा दी जाती थी, किन्तु समयके साथ उन्हे दूसरी विद्याओ-की ओर भी ध्यान देना पडा। मसूर (७५४-७५), हारून (७८६-८०९ ई०) और मामून (८११-३३ ई०) अरबी शालिवाहन और विक्रम थे, जिनके दरबारमे देश-विदेशके विद्वानोका बडा सम्मान होता था। वे स्वय विद्वान् थे और इनके शाहजादोकी शिक्षा कुरान, उसकी व्याख्याओ और परपराओ तक ही सीमित न थी, बल्कि उनकी शिक्षामे यूनानी दर्शन, भारतीय ज्योतिष और गणित भी शामिल थे। गोया इस प्रकार अब्बासी खलीफावशमे अरबके सीधे-सादे वद्दुओकी यदि कोई चीज बाकी

---

[1] यह नाम भी पारसी है, जिसका संस्कृत रूप होगा भग(वद्)दत्त=भगवान्‌की दी हुई।

रह गई थी, तो वह अरबी भाषा थी, जो कि उस वक्त सारे इस्लामी सल्तनतकी राजकीय तथा सास्कृतिक भाषा थी।

यजीद प्रथम (६८०-७१७ ई०)के पुत्र खालिद (मृ०, ७०४ ई०) को कीमिया (रसायन)का वहुत शौक था। कहते है, उसीने पहिले-पहिल एक ईसाई साधु द्वारा कीमियाकी एक पुस्तकका यूनानीसे अरबी भाषामे अनुवाद कराया। मसूर (७५४-७५ ई०)के शासनमे वैद्यक, तर्कशास्त्र, भौतिक विज्ञानके ग्रन्थ पहलवी या सुरियानी भाषासे अरबीमे अनुवादित हुए। इस समयके अनुवादकोमे इब्न-अल्-मुकफ्फाका नाम खास तौरसे मशहूर है। मुकफ्फा स्वय ईरानी जातिका ही नही बल्कि ईरानी' धर्मका भी अनुयायी था। इसने कितने ही यूनानी दर्शन-ग्रन्थोके भी अनुवाद किये थे, किन्तु बहुतसे दूसरे प्राचीन अरवी अनुवादोकी भाँति वह काल-कवलित हो गये, और हम तक नही पहुँच सके, किन्तु उन्होने प्रथम दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित करनेमे बडा काम किया था, इसमे तो शक ही नही।

हारून और मामूनके अनुवादकोमे कुछ सस्कृत पडित भी थे, जिन्होने वैद्यक और ज्योतिषके कितने ही ग्रन्थोके अरबी अनुवाद करनेमे सहायता दी। इस समयके कुछ दर्शन-अनुवादक और उनके अनुवादित ग्रन्थ निम्न प्रकार है—

अनुवादक	काल	अनुवादित ग्रथ	मूलकार
योहन (योहन्ना) विन्-बितरिक्	नवी सदी	तेमाउस	अफलातूँ
,,	,,	प्राणिशास्त्र	अरस्तू
,,	,,	मनोविज्ञान	,,
,,	,,	तर्कशास्त्रके अश	,,
अब्दुल्ला नइमल्-हिम्सी	८३५ ई०	"सोफिस्तिक"	अफलातूँ

अब्दुल्ला नइमुल्-हिम्सी	८३५ ई०	भौतिक शास्त्र-टीका'	फिलोपोनु'
क़स्ता इब्न-लूका अल्-बलबक्की	,,	,,	,,
,,	,,	,,	सिकंदर अफ्रा-दिसियस्

मामून (८११-३३ई०) के बाद भी अनुवादका काम जारी रहा, और उस वक्तके प्रसिद्ध अनुवादकोमे है—होनेन इब्न-इस्हाक (९१० ई०) होबैश इब्न-उल्-हसन, अबूबिश्र मत्ता इब्न-यूनुस् अल्-कन्नाई (९४० ई०) अबू-ज़क्रिया इब्न-आदी ..मन्तिकी (९७४ ई०), अबू-अली ईसा जूरा (१००८ ई०), अबुल्-खैर अल्-हसन खम्मार (जन्म ९४२ ई०)।

(२) समकालीन बौद्ध तिब्बती अनुवाद—अनुवाद द्वारा अपनी भाषाको समृद्ध तथा अपनी जातिको सुशिक्षित बनाना हर एक उन्नतिशील सभ्य या असभ्य जातिमे देखा जाता है। चीनने ईसाकी पहिली सदीसे सातवी सदी तक हजारो भारतीय ग्रन्थोका चीनीमें अनुवाद बडे भारी आयोजन और परिश्रमके साथ इसीलिए कराया था। तिब्वती लोगोकी भी अरबके बद्दुओकी भॉति खानाबदोश अक्षर-सस्कृति-रहित असभ्य जाति थे। उन्हीकी भाँति तथा उसी समयमे स्रोङ्-चन्-गन्पो (६३०-९८ ई०) जैसे नेताके नेतृत्वमे उन्होने सारे हिमालय, मध्य-एसिया तथा चीनके पश्चिमी तीन सूबोंको जीत एक विशाल साम्राज्य कायम किया। और एक बार तो तिव्वती घोडोने गगा-गडकके सगमका भी पानी पिया था। अरबोकी भाँति ही तिब्बतियोको भी एक विस्तृत राज्य कायम कर लेने पर कबीलेशाही तरीकेको छोड सामन्तशाही राजनीति, और सस्कृति-की शिक्षा लेनी पडी, जिसमे राजनीति तो चीनसे ली। पैगबर मुहम्मदकी तरह स्वय धर्मचिन्तक न होनेसे स्रोङ-चन्ने चीन, भारत, मध्य-एसियामे

' अरस्तूकी पुस्तक।

प्रचलित बौद्ध धर्मको अपनाया, जिसने उसे सभ्यता, कला, धर्म, साहित्य आदिकी शिक्षा तेजीसे तथा बहुत सहानुभूतिपूर्वक तो दी जरूर, किन्तु साथ ही अपने दुःखवाद तथा आदर्शवादी अहिंसावादकी इतनी गहरी घूँट पिलाई कि स्रोड-चन्के वंश (६३०-६०२ ई०)के साथ ही तिब्बती जातिका जीवन-स्रोत सूख गया। तिब्बती, अरबी दोनो जातियोने एक ही साथ दिग्विजय प्रारभ किया था, एक ही साथ दोनोने विजित जातियोसे सभ्यताकी शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि अतिशीत-प्रधान भूमिके वासी होनेसे तिब्वती बहुत दूर तक तो नही वढे, किन्तु साम्राज्य-विस्तारके साथ वह पश्चिममे वल्तिस्तान (कश्मीर), लदाख, लाहुल, स्पिती तक, दक्खिनमे हिमालयके बहुतसे भागो, भूटान और बर्मा तक वह जरूर फैले। सबसे बडी समानता दोनोमे हम यह पाते है, कि मसूर-हारून-मामूनका समय (७५४-६३३ ई०) करीव-करीब वही है जो कि ठि-दे-चुग्-तन्, और ठि-स्रोड्-दे-चन्, ठि-दे-चन्का (७४०-८७७ ई०)का है; और इसी समय अरबकी भाँति तिब्वतने भी हजारो सस्कृत ग्रन्थोंका अपनी भाषामे अनुवाद कराया, इसका अधिकाश भाग अब भी सुरक्षित है। यह दोनो जातियाँ आपसमे अपरिचित न थी, पूर्वी मध्य-एसिया (वर्तमान सिन्-क्याङ) तथा गिल्गितके पास दोनो राज्योकी सीमा मिलती थी, और दोनो राज्यशक्तियोमे मित्रतापूर्ण सन्धि भी हुई थी, यद्यपि इस सधिके कारण सीमान्त जातियो—विशेषकर ताजिको—का भारी अनर्थ हुआ था।

(३) **अरबी अनुवाद**—यदि हम अनुवादकोके धर्मपर विचार करते है, तो तिब्वती और अरबी अनुवादोमे बहुत अन्तर पाते है। तिब्बती भाषाके अनुवादक चाहे भारतीय हो अथवा तिब्बती, सभी बौद्ध थे। यह जरूरी भी था, क्योकि वैद्यक, छन्द काव्यके कुछ ग्रन्थोके अतिरिक्त जिन ग्रन्थोका अनुवाद उन्हे करना था वह बौद्ध धर्म या दर्शनपर थे। तिब्बती अनुवाद जितने शुद्ध है, उसका उदाहरण और भाषामे मिलना मुश्किल है। अरबी अनुवादकोमे कुछके नाम यह है, इनमे प्राय सभी यहूदी, ईसाई या साबी धर्मके माननेवाले थे।

जार्ज बिन-जिब्रील	ईसा बिन्-यूनस्	इब्राहीम हरानी
कस्ता बिन्-लूका	साबित बिन् कर	याकूब बिन्-इस्हाक किन्दी[1]
मा-सर्जियस	जोरिया हम्सी	हनैन इब्न-इस्हाक[1]
ईसा बिन्-मार्जियस्	फीसोन सर्जिस्	[1] अयूब रहावी
हुज्जाज बिन्-मत्र	बसील मतरान	यूसुफ तबीब
कब्जा रहावी	हैरान	अबू-यूसुफ योहन्ना
अब्द यशूअ बिन्-बह्लेज	तदरस	बितरीक
शेर यशूअ बिन्-कअब्द्	सनान् बिन-साबित्	यह्या बिन्-बितरीक
सादरी अस्कफ		

अ-मुस्लिम अनुवादक अपने धर्मको बदलना नही चाहते थे, और उनके सरक्षक इस्लामी शासकोकी इस बारेमे क्या नीति थी इसका अच्छा उदाहरण इब्न-जिब्रीलका है। खलीफा मसूर (७५४-७५ ई०)ने एक बार जिब्रीलसे पूछा कि, तुम मुसलमान क्यो नही हो जाते, उसने उत्तर दिया—अपने बाप-दादोके धर्ममें ही मै मरूँगा। चाहे वह जन्नत (स्वर्ग)मे हो, या दोजख (नर्क)मे, मै भी वही उन्हीके साथ रहना चाहता हूँ।" इसपर खलीफा हँस पडा, और अनुवादकको भारी इनाम दिया।

---

[1] ये अरबी मुसलमान थे।

चतुर्थ अध्याय

दर्शनका प्रभाव और इस्लाममें मतभेद

§ १—इस्लाममें मतभेद

कुरानकी भाषा सीधी-सादी थी। किसी बातके कहनेका उसका तरीका वही था, जिसे कि हर एक बद्दू अनपढ समझ सकता था। इसमे शक नही उसमे कितनी ही जगह तुक, अनुप्रास जैसे काव्यके शब्दालकारो-का ही नही बल्कि उपमा आदिका भी प्रयोग हुआ है, किन्तु ये प्रयोग भी उतनी ही मात्रामे है, जिसे कि साधारण अरबी भाषाभाषी अनपढ व्यक्ति समझ सकते है। इस तरह जब तक पैगबर-कालीन अरबोके बौद्धिक तल तक बात रही, तथा इस्लामी राजनीतिमे उसीका प्रभाव रहा, तब तक काम ठीकसे चलता रहा, किन्तु जैसे ही इस्लामिक दुनिया अरबके प्रायद्वीपसे बाहर फैलने लगी और उससे वे विचार टकराने लगे, जिनका जिक्र पिछले अध्यायोमे हो आया है, वैसे ही इस्लाममे मतभेद होना जरूरी था।

१—फ़िक़ा या धर्ममीमांसकोंका ज़ोर

पैगबरके जीते-जी कुरान और पैगबरकी बात हर एक प्रश्नके हल करनेके लिए काफी थी। पैगबरके देहान्त (६२२ ई०)के बाद कुरान और पैगबरका आचार (सुन्नत या सदाचार) प्रमाण माना जाने लगा। यद्यपि सभी हदीसो (पैग़बर-वाक्यो, स्मृतियो)के सग्रह करनेकी कोशिश शुरू हुई थी, तो भी पैगबरकी मृत्युके बाद एक सदी बीतते-बीतते अक्ल (बुद्धि)ने

दखल देना शुरू किया, और अक्ल (=बुद्धि, युक्ति) और नक्ल (=शब्द, धर्मग्रंथ)का सवाल उठने लगा। हमारे यहाँके मीमासकोकी भाँति इस्लामिक मीमासको—फिकावाले फकीहो—का भी इसीपर जोर था, कि कुरान स्वत प्रमाण है, उसके बाद पैगंबर-वाक्य तथा सदाचार प्रमाण होते है। मीमासकोके नित्य[1], नैमित्तिक[2] काम्य[3] कर्मोकी भाँति फिकाने कर्मोका भेद निम्न प्रकार किया है—

(१) नित्य या अवश्यकरणीय कर्म, जिसके न करनेपर पाप होता है, जैसे नमाज।

(२) नैमित्तिक (वाजिब) कर्म जिसे धर्मने विहित किया है, और जिसके करनेपर पुण्य होता है, किन्तु न करनेसे पाप नही होता।

(३) अनुमोदित कर्म, जिसपर धर्म बहुत जोर नही देता।

(४) असम्मत कर्म, जिसके करनेकी धर्म सम्मति नही देता, किन्तु करनेपर कर्ताको दडनीय नही ठहराता।

(५) निषिद्ध कर्म, जिस कर्मकी धर्म मनाही करता है, और करनेपर हर हालतमें कर्ताको दडनीय ठहराता है।

फिकाके आचार्योमे चार बहुत मशहूर है—

१ इमाम अबू-हनीफा (७६७ ई०) कूफा (मेसोपोतामिया)के रहनेवाले थे। इनके अनुयायियोको हनफी कहा जाता है। इनका भारतमे बहुत जोर है।

२ इमाम मालिक (७१५-९५ ई०) मदीना निवासी थे। इनके अनुयायी मालिकी कहे जाते है। स्पेन और मराकोके मुसलमान पहिले सारे मालिकी थे। इमाम मालिकने पैगंबर-वचन (हदीस)को धर्मनिर्णयमे

---

[1] जिसके न करनेसे पाप होता है, अतः अवश्यकरणीय है।

[2] नैमित्तिक (अर्ध-आवश्यक) कर्म पापादिके दूर करनेके लिये किया जाता है। [3] काम्यकर्म किसी कामनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, और न करनेसे कोई हर्ज नहीं।

बहुत जोरके साथ इस्तेमाल किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानोंने हदीसोको जमा करना शुरू किया, और हदीसवालो (अहले-हदीस)का एक प्रभावशाली गिरोह बन गया।

३. इमाम शाफई (७६७-८२० ई०)ने शाफई नामक तीसरे फिका-सम्प्रदायकी नीव डाली। यह सुन्नत (सदाचार)पर ज्यादा जोर देते थे।

४. इमाम अहमद इब्न-हबलने हवलिया नामक तीसरे फिका-सप्रदायकी नीव डाली। यह ईश्वरको साकार मानते है।

हनफी और शाफई दोनो मतोमे कयास—दृष्टान्त द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना—पर ज्यादा जोर रहा है, और यह साफ है, कि इमाम हनीफाको इस विचारपर पहुँचनेमे (कूफा)के बौद्धिक वायुमडलने बहुत मदद दी। शाफईने इस बातमे हनफियोसे बहुत कुछ लिया।

कुरान, सुन्नत (पैगबरी सदाचार), कयासके अतिरिक्त चौथा प्रमाण बहुमत (इज्माअ)को भी माना जाने लगा। इनमे पूर्व-पूर्वको बलवत्तर प्रमाण समझा गया है।

२—मतभेदों (=फित्नों)का प्रारम्भ

(१) हलूल—मुस्लिम ऐतिहासिक इस्लाममे पहिले मतभेदको इब्न-सबा (सबा-पुत्र)के नामसे सबद्ध करते है, जो कि सातवी सदीमें हुआ था। इब्न-सबा यहूदीसे मुसलमान हुआ था, और विरोधियोके मुकाबिलेमे हजरत अली (पैगबरके दामाद)मे भारी श्रद्धा रखता था। इसीने हलूल (अर्थात् जीव अल्लाहमे समा जाता है)का सिद्धान्त निकाला था।

(पुराने शीआ)—इब्न-सबाके बाद शीआ और दूसरे सम्प्रदाय पैदा हुए। किन्तु उस वक्त तक इनके मतभेद दार्शनिक रूप न लेकर ज्यादातर कुरान और पैगबर-सन्तानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धापर निर्भर थे। शीआ लोगोका कहना था कि पैगबरके उत्तराधिकारी होनेका अधिकार उनकी पुत्री फातमा तथा अलीकी सन्तानको है। हाँ, आगे चलकर दार्श-

निक मतभेदोंसे इन्होंने फायदा उठाया और मोतजला तथा सूफियोंकी बहुतसी बातें लीं, और अन्तमें अरबों ईरानियोंके ढंगसे फायदा उठानेने इतनी सफलता प्राप्त की, कि ईरानमें पंद्रहवीं सदीमें जब सफावी वंश (१४९९-१७३६ ई०)का शासन कायम हुआ, तो उसने शीआ-मतको राज-धर्म घोषित कर दिया।

(२) जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र—अबू-यूनस् ईरानी (अजमी) पैगंबरके साथियों (सहाबा)मेंसे था। इसने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव काम करनेमें स्वतन्त्र है, यदि करनेमें स्वतन्त्र न हो, तो उसे दंड नहीं मिलना चाहिए। बनी-उमैय्याके शासनकालमें इस सिद्धान्तने राज-नीतिक आन्दोलनका रूप ले लिया था। माबद बिन्-खालिद जुहनीने कर्म-स्वातन्त्र्यके प्रचार द्वारा लोगोंको शासकोंके खिलाफ भड़काना शुरू किया; उसके विरुद्ध दूसरी ओर शासक बनी-उमैय्या कर्म-पारतंत्र्यके सिद्धान्तको इस्लाम-सम्मत कहकर प्रचार करते थे।

(३) ईश्वर निर्गुण (विशेषण-रहित)—वहल बिन्-सफ़वानका कहना था कि अल्लाह सभी गुणों या विशेषणोंसे रहित है, यदि उसमें गुण माने जायें तो उसके साथ दूसरी वस्तुओंके अस्तित्वको मानना पड़ेगा। जैसे, उसे ज्ञाता (ज्ञान-गुणवाला) मानें तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह चीजें भी सदा रहेंगी, जिनका कि ज्ञान ईश्वरको है। फिर ऐसी हालतमें इस्लामका ईश्वर-अद्वैत (तौहीद)-वाद खतम हो जायगा। अत-एव अल्लाह कर्ता, ज्ञाता, श्रोता, सृष्टिकर्ता, वक्ता ...कुछ नहीं है। यह विचार शंकराचार्यके निर्विशेष चिन्मात्र (विशेषणसे रहित चेतना-मात्र ही एकतत्त्व है) से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे, किन्तु इस वक्त तक शंकर (७८८-८२० ई०) अभी पैदा नहीं हुए थे; तो भी नव-अफलातूनवाद एवं बौद्धोंका विज्ञानवाद उस वक्त मौजूद था।

(४) अन्तस्तमवाद[1] (बातिनी)—ईरानियों (=अजमियों)ने

---

[1] बातिनी।

एक और सिद्धान्त पैदा किया, जिसके अनुसार कुरानमे जो कुछ भी कहा गया है, उसके अर्थ दो प्रकारके होते है--एक बाहरी (जाहिरी), दूसरा बातिनी (आन्तरिक या अन्तस्तम)। इस सिद्धान्तके अनुसार कुरानके हर वाक्यका अर्थ उसके शब्दसे भिन्न किया जा सकता है, और इस प्रकार सारी इस्लामिक परपराको उलटा जा सकता है। इस सिद्धान्तके मानने वाले जिन्दीक कहे जाते है, जिनके ही तालीमिया (शिक्षार्थी), मुल्हिद, बातिनी, इस्माइली आदि भिन्न-भिन्न नाम है। आगाखानी मुसलमान इसी मतके अनुयायी है।

§ २–इस्लामके दार्शनिक संप्रदाय

आदिम इस्लाम सीधे-सादे रेगिस्तानी लोगोका भोलाभाला विश्वास था, किन्तु आगेकी ऐतिहासिक प्रगतिने उसमे गडबडी शुरू की, इसका जिक्र कुछ हो चुका है। मेसोपोतामियाके बसरा जैसे नगर इस तरहके मतभेदोके लिए उर्वर स्थान थे, यह बात भी पीछेके पन्नोको पढनेवाले आसानीसे समझ सकते है।

१–मोतज़ला सम्प्रदाय

बसरा मोतजलोकी जन्म और कर्म-भूमि थी। मोतजला इस्लामका पहिला सप्रदाय था, जिसने दर्शनके प्रभावको अपने विचारो द्वारा व्यक्त किया। उनके विचार इस प्रकार थे—

(१) जीव कर्ममे स्वतंत्र—जीवको परतन्त्र माननेपर उसे बुरे कर्मोका दड देना अन्याय है, इसीलिए अबू-यूनुस्की तरह मोतजली कहते थे, कि जीव कर्म करनेमे स्वतत्र है।

(२) ईश्वर सिर्फ भलाइयोका स्रोत—इस्लामके सीधे-सादे विश्वासमे ईश्वर सर्वशक्तिमान् और अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कोई सर्वोपरि शक्ति नही है। मोतजलोकी तर्कप्रणाली थी—दुनियामे हम भलाइयाँ ही नही बुराइयाँ भी देखते है, किन्तु इन बुराइयोका स्रोत भगवान् नही हो सकते, क्योकि वह केवल भलाइयोके ही स्रोत (शिव)

है। भलाइयोका स्रोत होनेके ही कारण ईश्वर नर्क आदिके दड नही दे सकता।

(३) **ईश्वर निर्गुण**—जहम् बिन्-सफवानकी तरह मोतजली ईश्वर-को निर्गुण मानते थे,—दया आदि गुणोंका स्वामी होनेपर ईश्वरके अति-रिक्त उन वस्तुओंके सनातन अस्तित्वको स्वीकार करना पडेगा, जिनपर कि ईश्वर अपने दया आदि गुण प्रदर्शित करता है, जिसका अर्थ होगा ईश्वर-के अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही सनातन पदार्थ है।

(४) **ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित**—इस्लाममे आम विश्वास था कि ईश्वरकी शक्ति असीम है। मोतज़ली पूछते थे—क्या ईश्वर अन्याय कर सकता है ? यदि नही तो इसका अर्थ है ईश्वरकी शक्तिमत्ता इतनी विस्तृत नही है कि वह बुराइयोको भी करने लगे। पुराने मोत-जली कहते थे, कि ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ होते भी शिव होनेके कारण वैसा नही कर सकता। पीछेवाले मोतज़ली ईश्वरमे ऐसी शक्तिका ही साफ-साफ अभाव मानते थे।

(५) **ईश्वरीय चमत्कार (=मोजज़ा) गलत**—और धर्मोकी भाँति इस्लाममे—और खुद कुरानमें भी—ईश्वर और पैगम्बरोकी इच्छानुसार अप्राकृतिक घटनाओका घटना माना जाता है। मोतज़ली चिन्तकोका कहना था, कि हर एक पदार्थके अपने स्वाभाविक गुण होते है, जो कभी बदल नही सकते, जैसे आगका स्वाभाविक गुण गर्मी है, जो कि आगके रहते कभी नही बदल सकती। पैगबरोकी जीवनियोमे जिन्हे हम मोजजा समझते है, उनका या तो कोई दूसरा अर्थ है अथवा वह प्रकृतिके ऐसे नियमोके अनुसार घटित हुए है, जिनका हमे ज्ञान नही है और हम उन्हे अप्राकृतिक घटना कह डालते है।

(६) **जगत् अनादि नहीं सादि**—दूसरे मुसलमानोकी भाँति मोतज़ला-पथवाले भी जगत्को ईश्वरकी कृति मानते थे, उन्हीकी तरह ये भी जगत्को अभावसे भावमे आया मानते थे। इस प्रकार इस बातमे वह अरस्तूके जगत् अनादिवादके विरोधी थे।

(७) **कुरान भी अनादि नहीं सादि**—सनातनी मुसलमान मोतजलियोके जगत्-सादिवादसे खुश नही हो सकते थे, क्योकि जिस तरह ईश्वरकृत होनेसे वह जगत्को सादि मानते थे, उसी तरह ईश्वरकृत होनेके कारण वह कुरानको भी सादि मानते थे। अल्लाहकी भाँति कुरानको अनादि माननेको मोत-जली द्वैतवाद तथा मूर्ति-पूजा जैसा दुष्कर्म बतलाते थे। हम कह चुके है कि कर्म स्वातत्र्य जैसे सिद्धान्तको लेकर जहनीने उमैय्या खलीफोके खिलाफ आन्दोलन खड़ा कर दिया था, बनी-उमैय्याको खतमकर जब अब्बासीय खलीफा बने तो उनकी सहानुभूति कर्म-स्वातत्र्य-वादियो तथा उनके उत्तराधिकारियो—मोतजलियो—के विचारोके प्रति होनी जरूरी थी। बगदादके मोतजली खलीफा कुरानके अनादि होनेके सिद्धान्तको कुफ्र (नास्तिकता) मानते थे, और इसके लिए लोगोको राजदंड दिया जाता था। कुरानको सादि बतला मोतजली अल्लाहके प्रति अपनी भारी श्रद्धा दिखाते हो यह बात न थी, इससे उनका अभिप्राय यह था कि कुरान भी अनित्य ग्रन्थो मे है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेमे काफी स्वतन्त्रताकी गुजाइश है, और इस प्रकार पुस्तककी अपेक्षा बुद्धिका महत्त्व बढाया जा सकता है। उनका मत था—ईश्वरने जब जगत् और मानव-को पैदा किया, तो साथ ही मनुष्यमे भलाई-बुराई, सच्चाई-झुठाईके परखने तथा भगवान्को जाननेके लिए बुद्धि भी प्रदान की। इस प्रकार वह ग्रथोक्त धर्मकी अपेक्षा निसर्ग(बुद्धि)-सिद्ध धर्मपर ज्यादा जोर देना चाहते थे। यह ऐसी बात थी, जिसके लिए सनातनी मुसलमान मोतजलियो-को क्षमा नही कर सकते थे, और वस्तुत काफिर, मोतजली तथा दहरिया (जडवादी, नास्तिक) उनकी भाषामे अब भी पर्यायवाची शब्द है।

(८) **इस्लामिक वाद-शास्त्रके प्रवर्त्तक**—मोतजला यद्यपि ग्रथ वादके पक्षपाती न थे, किन्तु साथ ही वह ग्रथको प्रमाणकोटिसे उठाना भी नही चाहते थे। बुद्धिवादी दुनियामे, वह अच्छी तरह समझते थे कि, अरबोकी भोली श्रद्धासे काम नही चल सकता; इसलिए उन्होने ग्रन्थ (कुरान) और बुद्धिमे समन्वय करना चाहा, लेकिन इसका आवश्यक

परिणाम यह हुआ, कि उन्हें कितने ही पुराने विश्वासोंसे इन्कार करना पड़ा, और कुरानकी व्याख्यामें काफी स्वतन्त्रता वर्तनेकी ज़रूरत महसूस हुई। अपने इस समन्वयके कामके लिए उन्हें इस्लामी **वादशास्त्र** (इल्म-कलाम)की नींव रखनी पड़ी; जो बगदादके आरंभिक खलीफोंकी बौद्धिक नव-जागृतिके समय पसंद भले ही किया गया हो, किन्तु पीछे वह अश्अरी, ग़ज़ाली, जैसे "पुराणवादी" आधुनिकोंकी दृष्टिमें बुरी चीज मालूम हुई।

मोतज़लियोंकी इस्लामके प्रति नेकनीयतीके वारेमें तो सन्देह न करनेका यह काफी प्रमाण है, कि वह यूनानी दर्शन तथा अरस्तूके तर्कशास्त्रके सख़्त दुश्मन थे, किन्तु इस दुश्मनीमें वह बुद्धिके हथियारको ही इस्तेमाल कर सकते थे, जिसके कारण उन्हें कितनी ही बार इस्लामके "सीधे रास्ते" (सरातल-मुस्तक़ीम)से भटक जाना पड़ता था।

(९) **मोतज़ली आचार्य**—हारून-मामून-शासनकाल (७८६-८३३ ई०) दूसरी भाषाओंसे अरबीमें अनुवाद करनेका सुनहला काल था। इन अनुवादके कारण जो बौद्धिक नव-जागृति हुई, और उसके कारण इस्लामके वारेमें जो लोगोंको सन्देह होने लगा, उसीसे लड़नेके लिए मोतज़ला सम्प्रदाय पैदा हुआ था। मोतज़लाके झंडेके नीचे खड़े होकर जिन विद्वानोंने इस लड़ाईको लड़ा था, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(क) **अल्लाफ़ अबुल्-हुज़ैल अल्-अल्लाफ़**—यह मोतज़लियोंका सबसे बड़ा विद्वान है। इसका देहान्त नवीं सदी के मध्यमें हुआ था, और इस प्रकार शंकराचार्यका सामकालीन था। शंकरकी ही भाँति अल्लाफ़ भी एक जबर्दस्त वादचतुर विद्वान तथा पूर्णरूपेण अपने मतलबके लिए दर्शनको इस्तेमाल करनेकी कोशिश करता था। ईश्वर-अद्वैतको निर्गुण सिद्ध करनेमें उसकी भी कितनी ही युक्तियाँ अपने सम-सामयिक शंकरके निर्विशेषचिन्मात्र—ब्रह्माद्वैत—साधक तर्ककी भाँति थीं। अल्लाह (ईश्वर या ब्रह्म)में कोई गुण (=विशेषण) नहीं हो सकता; क्योंकि गुण दो ही तरहसे रह सकता है, या तो वह गुणीसे अलग हो, या गुणी-

स्वरूप हो। अलग माननेसे अद्वैत नही, और एक ही माननेसे निर्गुण ईश्वर तथा गुण-स्वरूप ईश्वरमे शब्दका ही अन्तर होगा। मनुष्यके कर्मको अल्लाफ दो तरहका मानता है—एक प्राकृतिक (नैसर्गिक) या शरीरके अगोका कर्म, दूसरा आचार(पुण्य-पाप)-सबधी अथवा हृदयका कर्म। आचार-सबधी (पुण्य-पाप कहा जानेवाला) कर्म वही है, जिसे हम बिना किसी बाधाके कर सके। आचार-सबधी कर्म (पुण्य, पाप) मनुष्यकी अपनी अर्जित निधि है उसके प्रयत्नका फल है। ज्ञान मनुष्यको भगवान्की ओरसे तो भगवद्वाणी (कुरान आदि)से और कुछ प्रकृतिके प्रकाशसे प्राप्त होता है। किसी भी भगवद्वाणीके आनेसे पहिले भी प्रकृतिद्वारा मनुष्यको कर्तव्यमार्गकी शिक्षा मिलती रही है, जिससे वह ईश्वरको जान सकता है, भलाई-बुराईमे विवेक कर सकता है, और सदाचार, सच्चाई और निश्छलता-का जीवन बिता सकता है।

(ख) नज्जाम—नज्जाम, सभवत. अल्लाफका शागिर्द था। इसकी मृत्यु ८४५ ई०मे हुई थी। कितने ही लोग नज्जामको पागल समझते थे, और कितने ही नास्तिक। नज्जामके अनुसार ईश्वर बुराई करनेमे बिलकुल असमर्थ है। वह वही काम कर सकता है, जिसे कि वह अपने ज्ञानमे अपने सेवकके लिए बेहतर समझता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी बस उतनी ही सीमा है, जितना कि वह वस्तुत करता है। इच्छा भगवान्का गुण नही हो सकती, क्योकि इच्छा उसीको हो सकती है, जिसे किसी चीजकी जरूरत—कमी—हो। सृष्टिको भगवान् एक ही बार करता है, हर एक सृष्ट वस्तुमे वह शक्ति उसी वक्त निहित कर दी जाती है, जिससे कि वह आगे अपने निर्माणक्रमको जारी रख सके। नज्जाम परमाणुवादको नही मानता। पिड परमाणुओसे नही घटनाओसे वने है—उसके इस विचारमे आधुनिकताकी झलक दिखलाई पडती है। रूप, रस, गन्ध जैसे गुणोको भी नज्जाम पिंड (पदार्थ) ही मानता है, क्योकि गुण, गुणी अलग वस्तुएँ नही है। मनुष्यके आत्मा या बुद्धिको भी वह एक प्रकारका पिड मानता है। आत्मा मनुष्यका अतिश्रेष्ठ भाग

है, वह सारे शरीरमे व्यापक है। शरीर उसका साधन (करण) है। कल्पना और भावना आत्माकी गतिको कहते है। दीन और धर्ममे किसको प्रमाण माना जाय इसमें नज्जामका उत्तर शीआ जैसा है—फिका-की बारीकियोसे इसका निर्णय नही कर सकते, यथार्थवक्ता (=आप्त) इमाम ही इसके लिए प्रमाण हो सकता है। मुसलमानोंके बहुमतको वह प्रमाण नही मानता। उसका कहना है—सारी जमात गलत धारणा रख सकती है, जैसा कि उनका यह कहना कि दूसरे पैगवरोकी अपेक्षा मुहम्मद-अरबीमे यह विशेषता थी कि वह सारी दुनियाके लिए पैगवर बनाकर भेजे गये थे, जो कि गलत है, खुदा हर पैगवरको सारी दुनियाके लिए भेजता है।

(ग) **जहीज़ (८६९ ई०)**—नज्जामका शिष्य जहीज एक सिद्ध-हस्त लेखक तथा गभीरचेता दार्शनिक था। वह धर्म और प्रकृति-नियमके समन्वयको सत्यके लिए सबसे ज़रूरी समझता था। हर चीजमे प्रकृतिका नियम काम कर रहा है, और ऐसे हर काममे कर्ता ईश्वरकी झलक है। मानवबुद्धि कर्त्ताका ज्ञान कर सकती है।

(घ) **मुअम्मर**—मुअम्मरका समय ९०० ई०के आसपास है। अपने पहिलेके मोतज़्लियोंसे भी ज्यादा "निर्गुणवाद"पर उसका जोर है। ईश्वर सभी तरहके द्वैतसे सर्वथा मुक्त है, इसलिए किसी गुण-विशेषण-की उसमे सभावना नही हो सकती। ईश्वर न अपनेको जानता है और न अपनेसे भिन्न किसी वस्तु या गुणको जानता है, क्योकि जानना स्वीकार करने पर ज्ञाता ज्ञेय आदि अनगिनत द्वैत आ पहुँचेगे, मुअम्मरके मतसे गति-स्थिति, समानता-असमानता आदि केवल काल्पनिक धारणाये है, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नही है। मनुष्यकी इच्छा कोई बधन नही रखती। इच्छा ही एक मात्र मनुष्यकी क्रिया है, बाकी क्रियाएँ तो शरीरसे सबध रखती है।

(ङ) **अबू-हाशिम बस्री (९३३ ई०)**—अबू-हाशिमका मत था, कि सत्ता और अ-सत्ताके बीचकी कितनी ही स्थितियाँ है, जिनमे ईश्वरके

गुण, घटनाएँ, जाति (=सामान्य)के ज्ञान शामिल है। सभी ज्ञानोमे सन्देहका होना जरूरी है।

२-करामी संप्रदाय

मोतजलियोकी कुरानकी व्याख्यामे निरकुशताको बहुतसे श्रद्धालु मुसलमान खतरेकी चीज समझते थे। नवी सदी ईसवीमे मोतजलियोके विरुद्ध जिन लोगोने आवाज उठाई थी, उनमे करामी सम्प्रदाय भी था। इसके प्रवर्तक मुहम्मद बिन्-कराम सीस्तान (ईरान)के रहनेवाले थे। मोतजलाने ईश्वरको साकार (स-शरीर) क्या सगुण माननेसे भी इन्कार कर दिया था, इब्न-करामने उसे बिलकुल एक मनुष्य—राजा—की तरहका घोषित किया। इब्न-तैमियाकी भाँति उसका तर्क था—जो वस्तु साकार नही, वह मौजूद ही नही हो सकती।

३-अश्अरी संप्रदाय

जिस वक्त मोतजलियों और करामियोंके एक दूसरेके पूर्णतया विरोधी निर्गुणवाद और साकारवाद चल रहे थे, उसी वक्त एक मोतजली परिवारमे अबुल्-हसन अश्अरी (८७३-९३५ ई०) पैदा हुआ। उसने देखा कि मोतजला जिस तरहके प्रहारोसे इस्लामको बचाना चाहते है, उनकी उपेक्षा नही की जा सकती, इसलिए कुछ हद तक हमें मोतजलोके बुद्धिमूलक विचारोके साथ जाना चाहिए; किन्तु कोरा बुद्धिवाद इस्लाम-के लिए खतरेकी चीज है, इसका भी ध्यान रखना होगा। इसी तरह परपराकी अवहेलनासे इस्लाम पर जो अविश्वास आदिका खतरा हो सकता है, उसकी ओर भी देखना जरूरी है, किन्तु साथ ही बुद्धिवादके तकाज़ेको बिलकुल उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना भी खतरनाक होगा, क्योकि इसका अर्थ होगा इस्लामके प्रति शिक्षित प्रतिभाओंका तिरस्कार। इसीलिए अश्अरीने कहा कि ईश्वर राजा या मनुष्य-जैसा साकार व्यक्ति नही है। अश्अरी और उसके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१) **कार्य-कारण-नियम (=हेतुवाद)से इन्कार**—मोतजलाका मत था, कि वस्तुके नैसर्गिक गुण नही बदलते, इसलिए मोजजा या अप्राकृतिक चमत्कार गलत है। दार्शनिकोका कहना था कि कार्य-कारणका नियम अटूट है, बिना कारणके कार्य नही हो सकता, इसलिए ईश्वरको कर्त्ता माननेपर भी उसे कारण (=उपादान-कारण)की जरूरत होगी, और जगत्के उपादान कारण—प्रकृति—को मान लेनेपर ईश्वर अद्वैत तथा जगत्का सादि होना—ये दोनो इस्लामी सिद्धान्त गलत हो जायेगे। इन दोनो दिक्कतोसे बचनेके लिए अश्अरीने कार्य-कारणके नियमको ही माननेसे इन्कार कर दिया कोई चीज किसी कारणसे नही पैदा होती, खुदाने कार्यको भी उसी तरह बिलकुल नया पैदा किया, जैसे कि उसने उससे पहिलेवाली चीजको पैदा किया था, जिसे कि हम गलतीसे कारण कहते है। हर वस्तु परमाणुमय है, और हर परमाणु क्षणभरका मेहमान है। पहिले तथा दूसरे क्षणके परमाणुओका आपसमे कोई सबंध नही, दोनोको उनके पैदा होनेके समय भगवान् बिना किसी कारणके (=अभावसे) पैदा करते है। अश्अरीके मतानुसार न सूरजकी गर्मी जलको भाप बनाती है, न भापसे बादल बनता है, न हवा बादलको उडाती है, न पानी बादलसे बरसता है। बल्कि अल्लाह एक-एक बूंदको अभावसे भावके रूपमे टपकाता है, अल्लाह बिना उपादान-कारण (=भाप)के सीधे बादल बनाता है । अश्अरी सर्वशक्तिमान् ईश्वरके हर क्षण कार्यकारण-सबधहीन बिलकुल नये निर्माणका उदाहरण एक लेखकके रूपमे उपस्थित करता है। ईश्वर आदमीको बनाता है, फिर इच्छाको बनाता है, फिर लेखन-शक्तिको, फिर हाथमे गति पैदा करता है, अन्तमे कलममे गति पैदा करता है। यहाँ हर क्रियाको ईश्वर अलग-अलग सीधे तौरसे बिना किसी कार्य-कारणके सम्बन्धसे करता है। कार्य-कारणके नियमके बिना ज्ञान भी सभव नही हो सकता, इसके उत्तरमे अश्अरी कहता है—अल्लाह हर चीजको जानता है, वह सिर्फ दुनियाकी चीजो तथा जैसी वह दिखाई पडती है, उन्हीको नही पैदा करता, बल्कि उनके

सम्बन्धके ज्ञानको भी आदमीकी आत्मामे पैदा करता है।

(२) भगवद्वाणी क़ुरान (=शब्द) एकमात्र प्रमाण—हिन्दू मीमांसकोकी भाँति अशअरी सम्प्रदायवाले भी मानते है, कि सच्चा (=निर्भ्रान्त) ज्ञान सिर्फ शब्द प्रमाण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, हाँ, अन्तर इतना जरूर है कि अशअरी मीमासकोकी भाँति किसी अपौरुषेय शब्द-प्रमाण (=वेद)को न मानकर अल्लाहके कलाम (=भगवद्वाणी) कुरानको सर्वोपरि प्रमाण मानता है। कुरानका सहारा लिये बिना अलौकिक स्वर्ग, नर्क, फरिश्ता आदि वस्तुओको नही जाना जा सकता। इन्द्रियाँ आमतौरसे भ्रान्ति नही पैदा करती, किन्तु बुद्धि हमे गलत रास्तेपर ले जा सकती है।

(३) ईश्वर सर्वनियम-मुक्त—ईश्वर सर्वशक्तिमान् कर्त्ता है। वह किसी उपादान कारणके बिना हर चीजको हर क्षण बिलकुल नई पैदा करता है, इस प्रकार वह जगत्मे देखे जानेवाले सारे नियमोसे मुक्त है, सारे नैतिक नियमोकी जिम्मेवारियोसे वह मुक्त है। शरह-मुवाफिकमे इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अल्लाहके लिए यह ठीक है, कि वह मनुष्यको इतना कष्ट दे, जो कि उसकी शक्तिसे बाहर है। अल्लाहके लिए यह ठीक है कि वह अपनी प्रजा (=सृष्टि)को सुफल या दड दे, चाहे उसने कोई अपराध किया हो या न किया हो। (अल्लाह-) ताला अपने सेवकोके साथ जो चाहे करे, अल्लाहको अपने बदोके भावोके ख्याल करनेकी कोई जरूरत नही। अल्लाहको भगवद्वाणी (=कुरान) द्वारा ही पहिचाना जा सकता है, बुद्धिके द्वारा नही।"

इस सिद्धान्तके समर्थनमे अशअरी कुरानके वाक्योको प्रमाणके तौरपर पेश करता है। जैसा कि—

"हुव'ल्-काहिरो फौक-इबादिही" (वह अपने बदोपर सर्वतत्र-स्वतत्र है)।

"कुल् कुल्लुन् मिन् इन्दे'ल्लाहे" (कह 'सब अल्लाहकी ओरसे है')।

"व मा तशावून इल्ला अनँय्यशाअ'ल्लाह" (तुम किसी बातको न चाहोगे जब तक कि अल्लाह नही चाहे)।

इस तरह ईश्वरकी सीमा रहित सर्वशक्तिमत्ता अश्अरियोंके प्रधान सिद्धान्तोमे एक है।

(४) **देश, काल और गतिमे विच्छिन्न-विन्दुवाद**—हेतुवादके इन्कारके प्रकरणमे वतला चुके है, कि अश्अरी न जगत्मे कार्यकारण-नियम-को मानता, और नही जगत्की वस्तुओको देश, काल या गतिमे किसी तरहके अ-विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर मानता है। अक—एक, दो, तीन . . मे हम किसी तरहका अविच्छिन्न क्रम नही मानते। एककी सख्या समाप्त होती दोकी संख्या अस्तित्वमे आती है—पूछा जाये एकसे दोमे संख्याज्ञान सर्पकी भाँति सरकता हुआ पहुँचता है, या मेढककी तरह कूदता, उत्तर मिलेगा—कूदता। गति देश या दिशामे वस्तुमे होती है। हम वाणको एक देशसे दूसरे देश पहुँचते देखते है। सवाल है यदि वाण हर वक्त किसी स्थानमे स्थित है, तो वह स्थिति—गति-शून्यता—रखता है, फिर उसे गति कहना गलत होगा। अब यदि आप दृष्ट गतिको सिद्ध करना चाहते है, तो एक ही रास्ता है, वह यही है, कि यहाँ भी साँपकी भाँति सरक-नेकी जगह संख्याकी भाँति गतिको भिन्न-भिन्न कुदान माने। अकारण परमाणु एक क्षणके लिए पैदा होकर नष्ट हो जाता है, दूसरा नया अकारण परमाणु अपने देश, अपने कालके लिए पैदा होता है और नष्ट होता है। पहिले परमाणु और दूसरे परमाणुके वीच शून्यता—गति-शून्यता, देश-शून्यता है। यही नही हर पहिले क्षण ("अब") और दूसरे क्षण ("अव")के वीच किसी प्रकारका सवध न होनेसे यहाँ कालिक-शून्यता है—काल जो है वह "अव" है, जो "अव" नही वह काल नही—और यहाँ दो "अव"के वीच हम कुछ नही पाते, जो ही कालिक-शून्यता है। अश्अरी "मेढक-कुदान" (प्लुति)के सिद्धान्तसे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता, हेतुवाद-निषेध, तथा वस्तु-गति-देश-कालकी परमाणु-रूपता सभीको इस प्रकार सिद्ध करता है। यहाँ यह ध्यान रखनेकी वात है, कि अश्अरियोने इस "मेढक-कुदान", "विच्छिन्न-प्रवाह", "विन्दु-घटना", "विच्छिन्न परमाणु-सन्तति"को वस्तु-स्थितसे उत्पन्न होनेवाली किसी गुत्थीको सुलझानेके लिए

नही स्वीकार किया, जैसे कि हम आजके "सापेक्षतावाद" "क्वन्तम्-सिद्धान्त" अथवा बौद्धोके क्षणिक अनात्मवाद और मार्क्सीय भौतिकवादमे पाते है। अश्अरी इससे मोजजा (=दिव्य चमत्कार), ईश्वरकी निरकुशता आदिको सिद्ध करना चाहता है। ऐसे सिद्धान्तोसे स्वेच्छाचारी मुसलमान शासकोको अल्लाहकी निरंकुशताके पर्देमे अपनी निरकुशताको छिपानेका बहुत अच्छा मौका मिलता है, इसमे सन्देह नही।

(५) **पैग़ंबरका लक्षण**—पैगबर (=खुदाका भेजा) कौन है, इसके बारेमे मुवाकिफ[1]ने कहा है—"(पैगबर वह है) जिससे अल्लाहने कहा—मैने तुझे भेजा, या लोगोको मेरी ओरसे (सदेश) पहुँचा, या इस तरहके (दूसरे) शब्द। इस (पैगबर होने)मे न कोई शर्त है और न योग्यता (का ख्याल) है, बल्कि अल्लाह अपने सेवकोमेसे जिसको चाहता है, उसे अपनी कृपाका खास (पात्र) बनाता है।

(६) **दिव्य चमत्कार (=मोजज़ा)**—ऐसा तो कोई भी दावा कर सकता है कि मुझे खुदाने यह कह कर भेजा है, इसीके लिए अश्अरी लोग ईश्वरी प्रमाणकी भाँति दिव्य चमत्कार या मोजजाको पैगबरीके सबूतके लिए जरूरी समझते है। मोजजाको सिद्ध करनेकी धुनमे इन्होने किस तरह हेतुवादसे इन्कार किया, और खुदाके हर क्षण नये परमाणुओके पैदा करनेकी कल्पना की, इसे हम बतला चुके है।

---

[1] "मन् क़ाला लहू अर्सल्तोका औ बल्लग़्हुम् अन्नी, व नव्हहा मिन'-ल्-अल्फ़ाजे। व ला यश्तरेतो फ़ीहे शर्तुन्, व ला एस्तेअ्दादुन् बलि'ल्लाहो यख़्तस्सो बेरह्मतेही मनॅय्यशाओ मिन् एबादेही।"

पंचम अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (१)

(शारीरक ब्रह्मवादी)

§ १–अज़ीज़ुद्दीन राज़ी (६२३ या ६३२ ई०)

शारीरक ब्रह्मवाद या पिथागोरी प्राकृतिक दर्शनके इस्लामिक समर्थकोमे इमाम राजी और "पवित्र-सघ" मुख्य है। पवित्र-सघ कई कारणोंसे वदनाम हो गया, जिससे मुसलमानोपर उसका प्रभाव उतना नही पड सका, किन्तु राजी इस बातमे ज्यादा सौभाग्यशाली था, जिसका कारण उसकी नरम दर्शनशैली थी, जिसके बारेमे हम आगे कहनेवाले है।

(१) जीवनी—अजीजुद्दीन राजीका जन्म पश्चिमी ईरानके रे शहरमे हुआ था। दूसरी धार्मिक शिक्षाओके अतिरिक्त गणित, वैद्यक और पिथागोरीय दर्शनका अध्ययन उसने विशेष तौरसे किया था। वैद्यकमे तो इतना ही कहना काफी है कि वह अपने समयका सिद्धहस्त हकीम था। वादविद्याके प्रति उसकी अश्रद्धा थी, और तर्कशास्त्रमे शायद उसने अरस्तूकी एक पुस्तकसे अधिक पढा न था। सरकारी हकीमके तौरपर वह पहिले रे और पीछे बगदादके अस्पतालका प्रधान रहा। पीछे उसका मन उचट गया, और देशाटनकी धुन सवार हुई। इस यात्राकालमे वह कई सामन्तोका कृपा-पात्र रहा, जिनमे ईरानी सामानी वशी (६००-६६६ ई०) शासक मसूर इब्न-इस्हाक भी था, जिसको कि उसने अपना एक वैद्यक ग्रन्थ समर्पित किया है।

(साधारण विचार)—राजीके दिलमें वैद्यक विद्याके प्रति भारी श्रद्धा थी। वैद्यकशास्त्र हजारो वर्षोंके अनुभवसे तैयार हुआ, और राजीका कहना था, कि एक छोटेसे जीवनमे किसी व्यक्तिके तजर्बेसे मेरे लिए हजारो वर्षोंके तजर्बे द्वारा सचित ज्ञान ज्यादा मूल्यवान है।

(२) दार्शनिक विचार

(क) जीव और शरीर—शरीर और जीवमे राजी जीवको प्रधानता देता है। जीवन (=आत्मा)-सबधी अस्वास्थ्य शरीरपर भी बुरा प्रभाव डालता है, इसीलिए राजी वैद्यके लिए आत्मा (=जीव)का चिकित्सक होना भी जरूरी समझता था। तो भी, वह चिकित्सा बहुतसे आत्मिक रोगोंमे असफल रहती है, जिसके कारण राजीका झुकाव निराशावादकी ओर ज्यादा था।—दुनियामे भलाईसे बुराईका पल्ला भारी है।

कीमिया (=रसायन) शास्त्रपर राजीकी बहुत आस्था थी। भौतिक जगत्के मूलतत्त्वोके एक होनेसे उसको विश्वास था, कि उनके भिन्न प्रकारके मिश्रणसे धातुमे परिवर्तन हो सकता है। रसायनके विभिन्न योगोंसे विचित्र गुणोको उत्पन्न होते देख वह यह भी अनुमान करने लगा था कि शरीरमे स्वत गति करनेकी शक्ति है, यह विचार महत्त्वपूर्ण जरूर था, किन्तु उसे प्रयोग द्वारा उसने और विकसित नही कर पाया।

(ख) पाँच नित्य तत्त्व—राजी पाँच तत्त्वोको नित्य मानता था—(१) कर्त्ता (=पुरुष या ईश्वर), (२) विश्व-जीव, (३) मूल भौतिक तत्त्व, (४) परमार्थ दिशा, और (५) परमार्थ काल। यह पाँचो तत्त्व राजीके मतसे नित्य सदा एक साथ रहनेवाले है। यह पाँचो तत्त्व विश्वके निर्माणके लिए आवश्यक सामग्री है, इनके बिना विश्व बन नही सकता।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमे बतलाता है कि बाहरी पदार्थ—भौतिक-तत्त्व—मौजूद है, उनके बिना इन्द्रिय किस चीजका प्रत्यक्ष करती ? भिन्न-भिन्न वस्तुओ (=विषयो)की स्थिति उनके स्थान या दिशाको बतलाती है।

वस्तुओंमें होते परिवर्तनका जो साक्षात्कार होता है—पहिले ऐसा था, अब ऐसा है—वह हमे कालके अस्तित्वको बतलाता है। प्राणियोंके अस्तित्व तथा उनकी अप्राणियोसे भिन्नतासे पता लगता है कि जीव भी एक पदार्थ है। जीवोमे कितनो हीमे बुद्धि—कला आदिको पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेकी क्षमता—है, जिससे पता लगता है, कि इस बुद्धिका स्रोत कोई चतुर कर्त्ता है।

(ग) विश्वका विकास—यद्यपि राजी अपने पाँचो तत्त्वोको नित्य, सदा एक साथ रहनेवाला कहता है, तो भी जब वह उनमेंसे एकको कर्त्ता मानता है, तो इसका मतलब है कि इस नित्यताको वह कुछ शर्तोंके साथ मानता है। सृष्टिकी कथा वह कुछ इस तरहसे वर्णित करता है—पहिले एक सादी शुद्ध आध्यात्मिक ज्योति बनाई गई, यही जीव (=रूह) का उपादान कारण था जीव प्रकाश स्वभाववाले सीधे सादे आध्यात्मिक तत्त्व हैं। ज्योतिस्तत्त्व या ऊर्ध्वलोक—जिससे कि जीव नीचे आता है—को बुद्धि (=नफ्स) या ईश्वरीय ज्योतिका प्रकाश कहा जाता है। दिनका अनुगमन जैसे रात करती है, उसी तरह प्रकाशका अनुगमन अधकार (=तम) करता है, इसी तमसे पशुओंके जीव पैदा होते हैं, जिनका कि काम है बुद्धि-युक्त जीव (=मानव)के उपयोगमे आना।

जिस वक्त सीधी सादी आध्यात्मिक ज्योति अस्तित्वमे आई, उसके साथ ही साथ एक मिश्रित वस्तु भी मौजूद रही, यही विराट् शरीर है। इसी विराट् शरीरकी छायासे चार "स्वभाव"—गर्मी, सर्दी, रुक्षता और नमी उत्पन्न होती है। इन्ही चार "स्वभावो"से अन्तमे सभी आकाश और पृथ्वीके पिड—शरीर—बने हैं। इस तरह उनकी सृष्टि होनेपर भी पॉच तत्त्वोको नित्त्य क्यो कहा ? इसका उत्तर राज़ी देता है—क्योंकि यह सृष्टि सदासे होती चली आई है, कोई समय ऐसा न था, जब कि ईश्वर निष्क्रिय था। इस तरह राजी जगत्‌की नित्यताको स्वीकार कर इस्लामके सादि वादके सिद्धान्तके खिलाफ गया था, तो भी राज़ीके नामके साथ इमाम-नाम लगाना बतलाता है, कि उसके लिए लोगोके दिलोमे नरम स्थान था।

(घ) मध्यमार्गी दर्शन—राजीके समयसे पहिलेसे ऐसे नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक चले आते थे, जो जगत्का कोई कर्त्ता नही मानते थे। उनके विचारसे जगत् स्वत निर्मित होनेकी अपनेमे क्षमता रखता है। दूसरी ओर ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद)वादी मुल्ला थे, जो किसी अनादि जीव, भौतिक तत्त्व,—दिशा, काल, जैसे तत्त्वके अस्तित्वको अल्लाहकी शानमे बट्टा लगनेकी बात समझते थे। राजी न भौतिकवादियोके मतको ठीक समझता था, न मुल्लोके मतको। इसीलिए उसने बीचका रास्ता स्वीकार किया—विचारको बुद्धिसगत बनानेके लिए ईश्वरके अतिरिक्त जीव, प्रकृति, दिशा कालकी भी जरूरत है, और बुद्धियुक्त मानव जैसे जीवको प्रकट करनेके लिए कर्त्ताकी।

§ २-पवित्र-संघ (=अखवानुस्सफ़ा)

मोतजला, करामी, अश्अरी तीनो दर्शन-द्रोही थे। किन्तु इसी समय वस्रामे एक और सम्प्रदाय निकला जो कि दर्शन—विशेषकर पिथागोर-के दर्शन—के भक्त थे, और इस्लामको दर्शनके रगमे रगना चाहते थे। इस सम्प्रदायका नाम था "अखवानुस्सफा" (पवित्र-सघ, पवित्र मित्र-मडली या पवित्र बिरादरी)। अखवानुस्सफा केवल धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय ही नही था, बल्कि इसका अपना राजनीतिक प्रोग्राम था। ये लोग दर्शनको आत्मिक आनदकी ही चीज नही समझते थे, बल्कि उसके द्वारा एक नये समाजका निर्माण करना चाहते थे। इसके लिए कुरानमे खीचातानी करके अपने मतलबका अर्थ निकालते थे। वह दुनियामे एक उटोपियन[1] धर्मराज्य कायम करना चाहते थे।

१ पूर्वगामी इब्न-मैमून (८५० ई०)—मोतजली सम्प्रदायके प्रवर्त्तक अल्लाफका देहान्त नवी सदीके मध्यमे हुआ था, इसी समयके आस-पास अब्दुल्ला इब्न-मैमून पैदा हुआ था। इस्लामने ईरानियो (=अजमियो)को

---

[1] Utopean

मुसलमान बनाकर बडी गलती की। इस्लाममे जितने (=फित्ने) पैदा हुए, मतभेद उनमेसे अधिकाशके बानी (=प्रवर्त्तक) यही अजमी लोग थे। इब्न-मैमून भी इन्ही "फित्ना पर्वाजो"मेसे था। दमिश्कके म्वाविया-वश (=बनी-उमैय्या)ने पहिला समझौता करके बाहरी सभ्य आधीन जातियो-के निरन्तर विरोधको कम किया था। बगदादके अब्बासी वशने इस दिशामे और गति की, तथा अपने और अपने शासनको बहुत कुछ ईरानी रगमे रग दिया—उन्होने ईरानी विद्वानोकी इज्जत ही नही की, बल्कि बरामका जैसे ईरानी राजनीतिज्ञोको महामत्री बनाकर शासनमे सहभागी तक बनाया। किन्तु, मालूम होता है, इससे वे सन्तुष्ट नही थे। करमती राजनीतिक दल, जिसकाकि इब्न-मैमून नेता था, अब्बासी शासनको हटाकर एक नया शासन स्थापित करना चाहता था, कैसा शासन, यह हम आगे कहेगे। उसके प्रति-द्वदी इब्न-मैमूनको भारी षड्यन्त्री सिद्धान्तहीन व्यक्ति समझते थे, किन्तु दूसरे लोग थे जो कि उसे महात्मा और ऊँचे दर्जेका दार्शनिक समझते थे। उसकी मडलीने सफेद रगको अपना साम्प्रदायिक रग चुना था, क्योंकि वह अपने धर्मको परिशुद्ध उज्वल समझते थे, और इसी उज्वलताको प्राप्त करना आत्माका चरम लक्ष्य मानते थे।

(शिक्षा)—करमती लोगोकी शिक्षा थी—कर्त्तव्यके सामने शरीर और धनकी कोई पर्वाह मत करो। अपने सघके भाइयोकी भलाईको सदा ध्यानमे रखो। सघके लिए आत्म-समर्पण, अपने नेताओके प्रति पूर्णश्रद्धा, तथा आज्ञापालनमे पूर्ण तत्परता—हर करमतीके लिए जरूरी फर्ज है। सघकी भलाई और नेताके आज्ञापालनमे मृत्युकी पर्वाह नही करनी चाहिए।

२—पवित्र-संघ

(१) पवित्र-संघकी स्थापना—बस्रा और कूफा करमतियोंके गढ थे। दसवी सदीके उत्तरार्द्धमे बस्रामे एक छोटासा सघ (पवित्र-सघ) स्थापित हुआ। इस सघने अपने भीतर चार श्रेणियाँ रखी थी।

पहिली श्रेणीमे १५-३० वर्षके तरुण सम्मिलित थे। अपने आत्मिक विकास-के लिए अपने गुरुओ (शिक्षको)का पूर्णतया आज्ञापालन इनके लिए ज़रूरी था। दूसरी श्रेणीमे ३०-४० वर्षके सदस्य शामिल थे, इन्हे आध्यात्मिक शिक्षासे बाहरकी विद्याओको भी सीखना पडता था। तीसरी श्रेणीमे ४०-५० वर्षके भाई थे, यह दुनियाके दिव्य कानूनके जाननेकी योग्यता पैदा करते थे, इनका दर्जा पैगबरोका था। चौथी और सर्वोच्च श्रेणीमे वह लोग थे, जिनकी उम्र ५० से अधिक थी। वे सत्यका साक्षात्कार करते थे, और उनकी गणना फरिश्तो—देवताओके—दर्जेमे थी, उनका स्थान प्रकृति, सिद्धान्त, धर्म सबके ऊपर था। अपने इस श्रेणी-विभाजनमे पवित्र-संघ इब्न-मैमूनके करमती दल तथा अफलातूंके "प्रजा-तन्त्र"से प्रभावित हुआ था, इसमे सन्देह नही, किन्तु इसमे सन्देह है, कि वह अपने इस श्रेणी-विभाजनको काफी अशमे भी कार्यरूपमे परिणत कर सका हो।

(२) **पवित्र-संघकी ग्रन्थावली और नेता**—पवित्र सघने अपने समयके ज्ञानको पुस्तकरूपमे लेखबद्ध किया था, इसे "रसायल् अख-वानुस्सफा" (पवित्र-संघ-ग्रन्थावली) कहते है। इस ग्रन्थावलीमे ५१ (शायद शुरूमे ५० थे) ग्रन्थ है। ग्रन्थोकी वर्णन-शैलीसे पता लगता है, कि इनके लेखक अलग-अलग थे और उनमे सम्पादन द्वारा भी एकता लानेकी कोशिश नही की गई। ग्रन्थावलीमे राजनीतिक पुटके साथ प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर ज्ञानवादकी विवेचना की गई है। सघके नेताओ और ग्रन्थावलीके लेखकोके बारेमे—पीछेकी पुस्तकोमे जो कुछ मिलता है, उससे उनके नाम यह है—

(१) मुकद्दसी या अबू-सुलैमान मुहम्मद इब्न-मुशीर अल्-बस्ती,
(२) जजानी या अबुल्-हसन् अली इब्न-हारून अल्-जजानी;
(३) नह्राजूरी या मुहम्मद इब्न-अहमद अल्-नह्राजूरी,
(४) औफी या अल्-औफी; और
(५) रिफाअ या जैद इब्न-रिफाअ।

पवित्र-सघ जिस वक्त (दसवी सदीके उत्तरार्धमे) कार्यक्षेत्रमे उतरा उस वक्त तक बगदादके खलीफे अपनी प्रधानता खो बैठे थे, और जगह-जगह स्वतन्त्र शासक पैदा हो चुके थे। पोपकी भाँति बहुत कुछ धर्मगुरु समझकर मुस्लिम सुल्तान अग भी खलीफाकी इज्जत करते तथा उनके पास भेंट भेजकर बडी-बडी पदवियाँ पानेकी इच्छा रखते थे। खुद बगदादके पडोस तथा ईरानके पश्चिमी भागमें बुवायही वश[1]का शासन था, यह वग खुल्लमखुल्ला शीआ-सम्प्रदायका अनुयायी था। पवित्र-सघ-ग्रथावलीने मोतजला+शीआ+यूनानी दर्शनकी नीवपर अपने मन्तव्य तैयार किये थे, जिसके लिए यह समय कितना अनुकूल था, यह समझना आसान है।

(३) पवित्र-संघके सिद्धान्त—पवित्र-सघ अपने समयकी धार्मिक असहिष्णुतासे भलीभाँति परिचित था, और चाहता था कि लोग इब्राहिम, मूसा, जर्तुश्त, मुहम्मद, अली, सभीको भगवान्का दूत—पैगवर—माने, यही नही धर्मको बुद्धिसे समझौता करानेके लिए वह पिथागोर, सुक्रात, अफलातूँको भी ऋषियो और पैगवरोकी श्रेणीमे रखता था। वह सुक्रात, ईसा तथा ईसाई शहीदोको भी हसन-हुसेनकी भाँति ही पवित्र शहीद मानता था।

(क) दर्शन प्रधान—पवित्र सघका कहना था कि मजहबके विश्वास, आचार-नियम साधारण बुद्धिवाले आदमियोंके लिए ठीक है, किन्तु अधिक उन्नत मस्तिष्कवाले पुरुषोके लिए गभीर दार्शनिक अन्तर्दृष्टि ही उपयुक्त हो सकती है।

(ख) जगत्की उत्पत्ति या नित्यता-सम्बन्धी प्रश्न गलत—बुद्धकी भाँति पवित्र-सघवाले विचारक जगत्की उत्पत्तिके सवालको

---

[1] (१) अली बिन्-बुवायही, मृ० ९३२ ई०। (२) अहमद (मुईजुद्दौला) ९३२-९६७ ई०। (३) अहमद (आजादुद्दौला) ९६७-... (४) मज्दुद्दौला

बेकार समझते थे। हम क्या है, यह हमारे लिए आवश्यक और लाभ-दायक है। "मानव-बुद्धि जब इससे आगे बढना चाहती है, तो वह अपनी सीमाको पार करती है। अपनेको उन्नत करते हुए क्रमश सर्व महान् (तत्त्व, ब्रह्म)के शुद्ध ज्ञान तक पहुँचना आत्माका ध्येय है, जिसे कि वह ससार-त्याग और सदाचरणसे ही प्राप्त कर सकता है।"

(ग) आठ (नौ) पदार्थ—पवित्र-सघने यूनानी तथा भारतीय दार्शनिकोकी भाँति तत्त्वोका वर्गीकरण किया है। सबसे पहिला तत्त्व ईश्वर, परमात्मा या अद्वैत तत्त्व है, जिससे क्रमश निम्न आठ तत्त्वोका विकास हुआ है।

१ नफ्स[1]-फअाल=कर्त्ता-विज्ञान
२ नफ्स-इन्फआल=अधिकरण-विज्ञान या सर्व-विज्ञान
३ हेवला=मूल प्रकृति या मूल भौतिक तत्त्व
४ नफ्स-आलम=जग-जीवन (मानव जीवोका समूह)
५. जिस्म-मुत्लक=परम शरीर, महत्तत्त्व
६ आलम-अफ्लाक=फरिश्ते या देवलोक
७ अनासर-अर्बअ=(पृथ्वी, जल, वायु, आग) ये चार भूत
८ मवालीद-सलासा=भूतोसे उत्पन्न (धातु, वनस्पति, प्राणी) ये तीन प्रकारके पदार्थ

कर्त्ता-विज्ञान, अधिकरण-विज्ञान, मूल प्रकृति और जग-जीवन—यह अमिश्र पदार्थ है। परम शरीरको लेकर आगेके चार पदार्थ मिश्रित है। यह मिश्रण द्रव्य और गुण (=घटना)के रूपमे होता है।

प्रथम द्रव्य है—मूल प्रकृति और आकृति। प्रथम गुण (=घटनाये) है—दिशा (देश), काल, गति, जिसमे प्रकाश और मात्राको भी शामिल कर लिया जा सकता है।

---

[1] **नफ़्स—यह यूनानी शब्द नोव्सका अरबी रूपान्तर है, जिसका अर्थ विज्ञान या बुद्धि है।**

मूल प्रकृति एक है, और साख्यकी भाँति, वह सदा एकसी रहती है; जो भिन्नता तथा वहुलता पाई जाती है, उसका कारण आकृति है—पिथागोरका भी यही मत है। प्रकृति और आकृति दोनो विलकुल भिन्न चीजे है—कल्पनामे ही नही वस्तुस्थितिमे भी।

मूल प्रकृतिसे भी परे कर्त्ता-विज्ञान या नफ्स-फग्राल पवित्र सघके मतमे सभी चेतन-अचेतन तत्त्वका मूल उपादान-कारण है।

(घ) मानव-जीव—मानव-जीव (=मन) नफ्स-इन्फग्राल (अधिकरण-विज्ञान)से पैदा हुआ है। सभी मानव-जीवोकी समष्टिको एक पृथक् द्रव्य माना गया है, जिसको "परम मानव" या "मानवताका आत्मा" कह सकते है। प्रत्येक मानव-जीव भूतोसे विकसित होता है, किन्तु क्रमश विकास करते-करते वह आत्मा वन जाता है। बच्चेका जीव (=मन) सफेद कागजकी भाँति कोरा होता है। पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ वाहरी जगत्से जिस विषयको ग्रहण करती है, वह मस्तिष्कके अगले भागमे पहिले उपस्थित किया जाता है, फिर विचले भागमे उसका निश्चय (विश्लेषण) किया जाता है, और अन्तमे मस्तिष्कके पिछले भागमे सस्कारके तौरपर उसे सचित किया जाता है। वाहरी इद्रियोकी सख्या मनुष्य और पशुमे समान है। मनुष्यकी विशेषनाये है—विचार (=निश्चय शक्ति), वाणी और क्रिया।

(ङ) ईश्वर (=ब्रह्म)—कर्त्ता-विज्ञान (नफ्स-फग्राल) ईश्वर है। इसीसे सारे तत्त्व निकले है, यह वतला आये है। इन आठो तत्त्वोसे ऊपर ईश्वर या परम अद्वैत (तत्त्व) है। यह परम अद्वैत (ब्रह्म) सबमे है और सव कुछ है।

(च) क़ुरानका स्थान—कुरानको पवित्र-सघ किस दृष्टिसे देखता था, यह उनके इस वाक्यसे मालूम होता है—"हमारे पैगवर मुहम्मद एक ऐसी असभ्य रेगिस्तानी जातिके पास भेजे गये थे, जिनको न इस लोकके सौन्दर्यका ज्ञान था और न परलोकके आध्यात्मिक स्वरूपका पता। ऐसे लोगोके लिए दिये गये कुरानकी मोटी भाषाका अर्थ अधिक सभ्य

लोगोको आध्यात्मिक अर्थमे लेना चाहिए।" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि पवित्र-सघ जर्तुश्ती, ईसाई आदि धर्मोको ज्यादा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता था। ईश्वरके क्रोध, नर्काग्निकी यातना, आदि बाते मूढ विश्वास है। उनके मतसे मूढ पापी जीव इसी जीवनमे नर्कमे गिरे हुए है। कयामत (=प्रलय)को वह नये अर्थोमे और दो तरहकी मानते है।—शरीरसे जीवका अलग होना छोटी कयामत है, दूसरी महाकयामत है, जिसमे कि सब आत्माये ब्रह्म (अद्वैत तत्त्व)मे लीन हो जाती है।

(छ) पवित्र-संघकी धर्म-चर्या—त्याग, तपस्या, आत्म-सयम-के ऊपर पवित्र-सघका सबसे ज्यादा जोर था। बिना किसी दबावके स्वेच्छापूर्वक तथा बुद्धिसे ठीक समझकर जो कर्म किया जाता है, वही प्रशसनीय कर्म है। दिव्य विश्व-नियमका अनुसरण करना सबसे बडा धर्माचरण है। इन सबसे ऊपर प्रेमका स्थान है—प्रेम जीवका परमात्मा-मे मिलनेके लिए बेकरारी है। इसी प्रेमका एक भाग वह प्रेम है, जो कि इस जीवनमे प्राणिमात्रके प्रति क्षमा, सहानुभूति और स्नेह द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रेम इस लोकमे मानसिक सान्त्वना, हृदयकी स्वतन्त्रता देता तथा प्राणिमात्रके साथ शान्ति स्थापित करता है, और पर-लोकमे उस नित्य ज्योतिका समागम कराता है।

यद्यपि पवित्र-सघ आत्मिक जीवनपर ही ज्यादा जोर देता है, और शरीरकी ओर उतना ख्याल नही करता, तो भी वह कायाकी बिलकुल अवहेलना करनेकी सलाह नही देता।—"शरीरकी ठीकसे देखभाल करनी चाहिए, जिसमे जीवको अपनेको पूर्णतया विकसित करनेके लिए काफी समय मिले।"

आदर्श मनुष्यको होना चाहिए—"पूर्वी ईरानियो जैसा सुजात, अरबों जैसा श्रद्धालु, इराकियो (=मेसोपोतामियनो) जैसा शिक्षाप्राप्त, यहूदियो जैसा गभीर, ईसाके शिष्यो जैसा सदाचारी, सुरियानी साधु जैसा पवित्र भाववाला, यूनानियो जैसा अलग-अलग विज्ञानो (साइसों) मे निपुण, हिन्दुओ जैसा रहस्योकी व्याख्या करनेवाला, और सूफी . जैसा सन्त।"

पवित्र-सघके बहुतसे सिद्धान्त बातिनी, इस्माइली, दरूश आदि इस्लामी सम्प्रदायोमे भी मिलते है; जिससे मालूम होता है, वह एक दूसरेसे तथा सम्मिलित विचारधारासे प्रभावित हुए थे।

§ ३–सूफी संप्रदाय

अरबसे निकला इस्लाम भक्ति-प्रधान धर्म था, ईसाई और यहूदीधर्म भी भक्ति-प्रधान थे। यूनानी दर्शन तर्क-प्रधान था, केवल भक्ति-प्रधान धर्म बुद्धिको सन्तुष्ट नही कर सकता, केवल तर्क-प्रधान दर्शन श्रद्धालु भक्तको सन्तुष्ट नही कर सकता। समाजको स्थिरता प्रदान करनेके लिए श्रद्धालुओकी जरूरत है, श्रद्धालुओकी श्रद्धाको डिगाकर बिना नकेलके ऊँटकी भाँति स्वच्छन्द भागने वाली बुद्धिको फँसाना जरूरी है—इन्ही ख्यालोको लेकर यूनानियोने पीछे भारतीय रहस्यवादसे मिश्रित नव-अफलातूनी दर्शनकी बुनियाद रखी थी। जब इस्लामके ऊपर भी वही सकट आया, तो उन्होने भी उसी तैयार हथियारको इस्तेमाल किया। ईसाई साधक तथा हिन्दू-बौद्ध योगी उस वक्त भी मौजूद थे, इस्लामिक विचारक यह भी देख रहे थे कि ये योगी-साधक कितनी सफलताके साथ भक्तो और दार्शनिको दोनोके श्रद्धाभाजन है; इसीलिए इस्लामने भी सूफीवाद (=तसव्वुफ्)के नामसे गृहस्थ या त्यागी फकीरोकी एक जमात तैयार की।

१ **सूफी शब्द**—सोफी (=सोफिस्त) शब्द यूनानी भाषाका है। यूनानी दर्शनके प्रकरणमे इन परिव्राजक दार्शनिकोके बारेमे हम कह चुके है। आठवी सदीमे जब यूनानी दर्शनका तर्जुमा अरबी भाषामे होने लगा, तो उसी समय सोफ या सोफी शब्द भी दर्शनके अर्थमे अरबीमे आया, पीछे वर्णमालाके दोषसे सोफी सूफी हो गया।

सबसे पहिले सूफीकी उपाधि अबू-हाशिम सूफीको मिली, जिनका कि देहान्त ७७० ई० के आसपास (१५० हिज्री)मे हुआ था। पैगबरके जीवनकालमे विशेष धर्मात्मा पुरुषोको 'सहाबा' (साथी) कहा जाता था।

पैगवरके समसामयिक इन पुरुषोको पीछे भी इसी नामसे याद किया जाता था। पीछे पैदा होनेवाले महात्माओको पहिले तावईन (=अनुचर) और फिर तवअ-तावईन (=अनु-अनुचर) कहा जाने लगा। इसके बाद जाहिद (=शुद्धाचारी) और आबिद (=भक्त) और उससे भी पीछे सूफीका शब्द आया। मुसलमान लेखकोने सूफी शब्दको निम्न अर्थोमे प्रयुक्त किया है—

"सूफी वह लोग है, जिन्होने सव कुछ छोड ईश्वरको अपनाया है"—(जुन्नून मिश्री)

"जिनका जीवन-मरण सिर्फ ईश्वरपर है"—(जनीद वगदादी)

"सम्पूर्ण शुभाचरणोसे पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणोसे मुक्त"—(अबूबक्र हरीरी)

"जिस व्यक्तिको न दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसीको पसन्द करे"—(मसूर हुल्लाज)

"जो अपने आपको बिलकुल ईश्वरके हाथमे सौप दे"—(रोयम्)

"पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हो"—(शहाबुद्दीन सुहरावर्दी)

गजाली (१०५९-११११ई०)ने सूफी शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है, कि सूफी पन्थ (=तसव्वुफ) ज्ञान और आचरण (=कर्म)के मिश्रणका नाम है। शरीअत (=कुरानोक्त)के भक्तिमार्ग और सूफी-मार्गमे यही अन्तर है, कि शरीअतमे ज्ञानके बाद आचरण (=कर्म) आता है, सूफी मार्गके अनुसार आचरणके बाद ज्ञान।

२. सूफ़ी पन्थके नेता—इस्लामिक सूफीवाद नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन तथा भारतीय योगका समिश्रण है, यह हम बतला चुके है; इस तरहका पथ शाम, ईरान, मिश्र सभी देशोमे मौजूद था, ऐसी हालतमे इस्लामके भीतर उसका चुपकेसे चला जाना मुश्किल नही है। कितने ही लोग पैगवरके दामाद अलीको सूफी ज्ञानका प्रथम प्रवर्त्तक बतलाते है, किन्तु म्वावियाके झगडेके समय हम देख चुके है कि अली इस्लाममे

अरवियतके कितने जवर्दस्त पक्षपाती थे, ऐसी हालतमे एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी व्यक्तिका विचार-स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमे इतना प्रगतिशील होना सभव नही मालूम होता। मालूम देता है, ईरानियोने जिस तरह विजयी अरवोको दवाकर अपनी जातीय स्वतत्र भावनाओकी पूर्तिके वास्ते अरवोके भीतरी झगडेसे फायदा उठानेके लिए अली-सन्तान तथा शीआ-सम्प्रदायके साथ सहानुभूति दिखलानी शुरू की, उसी तरह इस्लामकी अरवी शरीअतसे आजाद होनेके लिए सूफी मार्गको आगे वढाते हुए उसे हजरत अलीके साथ जोड दिया।

सूफी मत पहिले मुल्लाओके भयसे गुपचुप अव्यवस्थित रीतिसे चला आता था, किन्तु इमाम गजाली (१०५९-११११ ई०) जैसे प्रभावशाली विद्वान मुल्लाने जव खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायतमे कलम ही नही उठाई, वल्कि उसकी शिक्षाओको सुव्यवस्थित तौरसे लेखवद्ध कर दिया, तो वह धरातल पर आ गया।

३. सूफी सिद्धान्त—पवित्र-सघ सूफियोका प्रशसक था, इसका जिक्र आ चुका है। सूफी दर्शनमे जीव ब्रह्मका ही अग है, और जीवका ब्रह्ममे लीन होना यही उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नही जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नही है। शकरके ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफियोके अद्वैतवादमे कोई अन्तर नही। यह कोई आश्चर्यकी वात नही है जो कि भारतमे मुसलमान सूफियोने इतनी सफलता प्राप्त की, और सफलता भी पूर्णतया शान्तिमय तरीकेसे। जीवको हक (=सत्, ब्रह्म)से मिलनेका एक ही रास्ता है, वह है प्रेम (=इश्क)का। यद्यपि यह प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम था, किन्तु कितनी ही वार इसने लौकिक क्षेत्रमे भी पदार्पण किया है। काव्य-क्षेत्रमे—ईरानमे ही नही भारतमे भी—तो इस प्रेमने वडे-वडे कवि पैदा किये। शम्स, तव्रेज, उमर-खय्याम, मौलाना रूमी, जायसी, कवीर जैसे कवि इसीकी देन है।

४. सूफी योग—भारतीय योगकी भॉति—और कुछ तो उसीसे ली हुई—सूफी योगकी वहुतसी सीढियाँ है, जैसे—

(१) **विराग**—इष्ट-मित्र, कुटुम-कबीले, धन-दौलतसे अलग होना, सूफी योगकी पहिली सीढी है।

(२) **एकान्त-चिन्तन**—जहाँ मनको खीचनेवाली चीजे न हो, ऐसे एकान्त स्थानमे निवास करते ईश्वरका ध्यान करना।

(३) **जप**—ध्यान करते वक्त जीभसे भगवान्का नाम "अल्लाहू" "अल्लाहू" इस तरहसे जपना, कि जीभ न हिले, साथही ध्यानमे मालूम हो कि नाम जीभसे निकल रहा है।

(४) **मनोजप**—ध्यानमे दिलसे जप होता मालूम हो।

(५) **ईश्वरमें तन्मयता**—मनोजप बढते हुए इतनी चित्त-एकाग्रता तक पहुँच जाये, कि वहाँ वर्ण और उच्चारणका कोई ख्याल न रहे, और भगवान् (=अल्लाह)का ध्यान दिलमे इस तरह समा जाये, कि वह किसी वक्त अपनेसे अलग न जान पडे।

(६) **योगि-प्रत्यक्ष (=मुकाशफा)**—जिस वक्त ऐसी तन्मयता हो जाती है, तब मुकाशफा (=योगिप्रत्यक्ष) होता है। मुकाशफा होनेपर वह सभी आध्यात्मिक सच्चाइयाँ साफ-साफ दिखलाई देने लगती है, जिनको कि आदमी अभी केवल श्रद्धावश या गतानुगतिक तरीकेसे मानता आता रहा है।—पैगबरी, आकाशवाणी (=भगवद्वाणी), फरिश्ते, शैतान, स्वर्ग, नर्क, कब्रकी यातना, सिरातका पुल, पाप-पुण्यकी तौल और न्यायका दिन आदि सारी बाते जो श्रद्धावश मानी जाती थी, अब वह आँखोके सामने फिरतीसी दिखलाई पडती है।

इमाम गजाली[1]ने मुकाशफाकी अवस्थाको एक दृष्टान्तसे बतलाया है—

"एक बार रूम और चीनके चित्रकारोमे होड लगी। दोनोका दावा था, 'हम बडे', 'हम बडे'। तत्कालीन बादशाहने दोनो गिरोहके लिए आमने-सामने दो-दो दीवारे, हर एकको अपनी शिल्प-चातुरी दिखलानेके लिए,

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"।

निश्चित कर बीचमें पर्दा डलवा दिया, जिसमें कि वह एक दूसरेकी नक़ल न कर सके। कुछ दिनों बाद रूमी चित्रकारोंने बादशाहसे निवेदन किया कि हमारा काम खतम हो गया। चीनियोंने कहा कि हमारा काम भी खतम हो गया। पर्दा उठाया गया, दोनों (दीवारोंके चित्रों)में बाल बराबर भी फर्क न था। मालूम हुआ कि रूमियोंने चित्र न बनाकर सिर्फ दीवारको पालिश कर दर्पण बना दिया था, और जैसे ही पर्दा उठा, सामनेकी दीवारके तमाम चित्र उसमें उतर आये।"

मुकाशफ़ा (=योगिदर्शन)की पूर्व सूचना पहिले जल्दीसे निकल जाने वाली बिजलीकी चमकसे होती है, यह चमक धीरे-धीरे ठहरती हुई स्थिर हो जाती है।[1]

---

[1] अह्याउल्-उलूम्; और तुलना करो—

"नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तकराणि योगे।"
—श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।११

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

क. रहस्यवाद-वस्तुवाद

चीनके एक राजाने बुद्धको स्वप्नमे देखा था, फिर उसने बुद्धके धर्म और बौद्ध पुस्तकोकी खोज तथा अनुवादका काम शुरू कराया। खलीफा मामून ८११-६३ ई० के बारेमे भी कहा जाता है, कि उसने स्वप्नमे एक दिन अरस्तूको देखा, स्वप्न हीमे अरस्तूने अपने दर्शनके सम्बन्धमे कुछ बाते बतलाई, जिससे मामून इतना प्रभावित हुआ कि दूसरे ही दिन उसने क्षुद्र-एसियामे कई आदमी इसलिए भेजे कि अरस्तूकी पुस्तकोको ढूँढकर बगदाद लाया जाये और वहाँ उनका अरबीमे अनुवाद किया जाये। मामूनके दर्बारमे अरस्तूकी तारीफ अकसर होती रही होगी, और उससे प्रभावित हो मामून जैसा विद्वान तथा विद्याप्रेमी पुरुष अरस्तूको स्वप्नमे देखे तो कोई आश्चर्यकी बात नही। यूनानी दर्शन ग्रन्थोका अरबी भाषामे किस तरह अनुवाद हुआ इसके बारेमे हम पहिले बतला चुके है। उस अनुवाद और दर्शन-चर्चासे कैसे इस्लाममे दार्शनिक पैदा हुए, और उन्होने क्या विचार प्रकट किये, अब इसके बारेमे कहना है। बगदाद दर्शन-अनुवाद तथा दर्शन-चर्चा दोनोका केन्द्र था, इसलिए पहिले इस्लामी दार्शनिकोका पूर्वमे ही पैदा होना स्वाभाविक था। इन दार्शनिकोमे सबसे पहिला किन्दी था, इसलिए उसीसे हम अपने वर्णनको आरम्भ करते है।

§ १. अबू-याकूब किन्दी (८७० ई०)

१. जीवनी—अबू-याकूब इब्न-इस्हाक अल्-किन्दी—(किन्दी वशज इस्हाक पुत्र अबुल्-याकूब), किन्दा नामक अरबी कबीलेसे सबध रखता था। किन्दा कबीला दक्षिणी अरबमे था, किन्तु जिस परिवारमे दार्श-निक किन्दी पैदा हुआ था, वह कई पुश्तोसे इराक (मेसोपोतामिया)-मे आ बसा था। अबू-याकूब किन्दीके जन्मके समय उसका बाप इस्हाक किन्दी कूफाका गवर्नर था। किन्दीका जन्म-सन् निश्चित तौरसे मालूम नही है, सभवत वह नवी सदीका आरम्भ था। हाँ, उसकी ज्योतिषकी एक पुस्तकसे पता लगता है कि ८७० ई०मे वह मौजूद था। उस समय फलित ज्योतिषके कुछ ऐसे योग घट रहे थे, जिससे फायदा उठाकर कर-मती दल अब्बासी-वशके शासनको खतम करना चाहता था। किन्दीकी शिक्षा पहिले बस्रा और फिर उस समयके विद्या तथा सस्कृतिके केन्द्र बग-दादमे हुई थी। प्रथम श्रेणीके इस्लामिक दार्शनिकोमे किन्दी ही है, जिसे "अरब" वशज कह सकते है, किन्तु बापकी तरफसे ही निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है। बगदाद उस समय नामके लिए यद्यपि अरबी खलीफा-की राजधानी था, नही तो वस्तुत वह ईरानी सभ्यता तथा यूनानी विचारोका केन्द्र था। बगदादमे रहते वक्त किन्दीने समझा कि पुरानी अरबी सादगी तथा इस्लामिक धर्मविश्वास इन दोनो प्राचीन जातियोकी सभ्यता तथा विद्याके सामने कोई गिनती नही रखती। यूनानी मस्तिष्कसे वह इतना प्रभावित हुआ था कि उसने यहाँ तक कह डाला—दक्षिणी अरबके कबीलो (जिनमे किन्दी भी सम्मिलित था)का पूर्वज कहतान यूनान (यूना-नियो के प्रथम पुरुष)का भाई था। बगदादमे अरब, सुरियानी, यहूदी, ईरानी, यूनानी खूनका इतना सम्मिश्रण हुआ था, कि वहाँ जातियोके नामपर असहिष्णुता देखी नही जाती थी।

किन्दी अब्बासी दर्बारमे कितने समय तक रहा, इसका पता नही। यूनानी ग्रन्थोके अनुवादकोमे उसका नाम आता है। उसने स्वय ही अनु-

वाद नही किये, बल्कि दूसरोके अनुवादोका सशोधन और सम्पादन भी किया था। वह ज्योतिषी और वैद्य भी था, इसलिए यह भी सभव है, कि वह दर्बार में इस सबधसे भी रहा हो। कुछ भी हो, यह तो साफ मालूम है, कि पीछे वह अब्बासी दर्बारका कृपापात्र नही रहा। खलीफा मुतवक्किल (८४७-६१ ई०)ने अपने पूर्वके खलीफोकी धार्मिक उदारताको छोड "सनातनी" मुसलमानोका पक्ष समर्थन किया, जिससे विचार-स्वातत्र्यपर प्रहार होना शुरू हुआ। किन्दी भी उसका शिकार हुए बिना नही रह सका और बहुत समय तक उसका पुस्तकालय जब्त रहा।

किन्दीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, अपने समयकी सस्कृति तथा विद्याओका वह गभीर विद्यार्थी था।—भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, गणित वैद्यक; दर्शन—सब पर उसका अधिकार था। उसके ग्रथ ज्यादातर गणित, फलित ज्योतिष, भूगोल, वैद्यक और दर्शनपर है। यह आश्चर्यकी बात है, कि एक ओर तो किन्दी कीमियाको गलत कहकर उसके विश्वासियोको निर्बुद्धि कहता, दूसरी ओर ग्रहोके हाथ मनुष्यके भागको दे देना उसके लिए साइस था।

२. धार्मिक विचार—किन्दीके समय फिर धर्मान्धताका जोर बढ चला था, और अपने विचारोको खुल्लमखुल्ला प्रकट करना खतरेसे खाली न था, इसलिए जिन धार्मिक विचारोका किन्दीने समर्थन किया है, उनमे वस्तुत उसके अपने कितने है, इसके बारेमे सावधानीसे राय कायम करनेकी जरूरत है। वैसे जान पडता है, वह मोतजलाके कितने ही धार्मिक विचारोसे सहमत था। नेकी और ईश्वर-अद्वैतपर उसका खास जोर था। उस समय इस्लामिक विचारकोमे यह बात भारतीय सिद्धान्तके तौरपर प्रख्यात थी, कि बुद्धि (प्रत्यक्ष, अनुमान) ज्ञानके लिए काफी प्रमाण है, आप्त या शब्दप्रमाणकी उतनी आवश्यकता नही। किन्दीने मजहबियोका पक्ष लेकर कहा कि पैगबरी (=आप्त वाक्य) भी प्रमाण है, और फिर बुद्धिवाद तथा शब्दवादके समन्वयकी कोशिश की। भिन्न-भिन्न धर्मोमेसे एक बात जो कि सबमे उसने पाई, वह था नित्य, अद्वैत "मूल कारण"का

विचार। इस मूल कारणको सिद्ध करनेमे हमारा बुद्धिजनित ज्ञान पूरी तरह समर्थ नही है। जिसमे मनुष्य "मूल कारण" अद्वैत ईश्वरको ठीक समझ सके, इसीलिए पैगंबर भेजे जाते है।

३. **दार्शनिक विचार**—किन्दीके समय नव-पिथागोरीय प्राकृतिक दर्शन (प्रकृति ब्रह्मका शरीर है, इस तरह प्रकृतिकार्य ब्रह्मका ही कार्य है) के विचार मौजूद थे। अपने ग्रथोमे उसने अरस्तूके बारेमे बहुत लिखा है। इस प्रकार किन्दीके दार्शनिक विचारोंके निर्माणमे उपरोक्त विचारधाराओ-का खास हाथ रहा है।

(१) **बुद्धिवाद**—किन्दी बुद्धिवादका समर्थन करता जरूर है, किन्तु आप्तवाद (=पैगबरवाद)के लिए गुजाइश रखते हुए।

(२) **तत्त्व-विचार—(क) ईश्वर**—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, किन्दी जगत्को ईश्वरकी कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवादका समर्थक है। कार्य-कारणका नियम सारे विश्वमें व्याप्त है, यह कहते हुए साथही वह लगे हाथो कह चलता है—इसीलिए हम तारोकी भविष्य स्थिति तथा उससे होनेवाले (फलित-ज्योतिष प्रोक्त-) भले बुरे फलोकी भविष्यद्वाणी कर सकते है। ईश्वर मूलकारण है सही, किन्तु जगत्के आगेके कार्योंके साथ वह सीधा सबध न रखकर मध्यवर्त्ती कारणो द्वारा काम करता है। ऊपरका कारण अपने नीचेवाले कार्यको करता है, यह कार्य कारण बन आगेके कार्यको करता है, किन्तु कार्य अपनेसे ऊपरवाले कारणपर कोई प्रभाव नही रखता, उदाहरणार्थ— मिट्टी अपने कार्य पिड (लोदा)को करती (बनाती) है, पिड घडेको करता है, किन्तु घडा कुछ नही कर सकता पिड मिट्टीका कुछ नही कर सकता।

(ख) जगत्—ईश्वरकी कृति जगत्के दो भेद है, प्रकृति जगत्, और शरीर जगत्। शरीर या कायासे ऊपरका सारा जगत् प्रकृति जगत् है।

(ग) जगत्-जीवन—ईश्वर (मूलकारण) और जगत्के बीच जगत्-चेतन या जग-जीवन है। इसी जग-जीवन (=नफ्स-आलम)से पहिले फरिश्ते या देव, फिर मानवजीव उत्पन्न होते है।

(घ) **मानव-जीव और उसका ध्येय**—जग-जीवनसे निकला मानव-जीव अपनी आदत और कामके लिए शरीर (=काया)से बँधा हुआ है, किंतु अपने निजी स्वरूपमे वह शरीरसे बिलकुल स्वतत्र है, और इसीलिए जहाँ तक जीवके स्वरूपका सबध है, उसपर ग्रहोका प्रभाव नही पडता। जीव प्रकृत, अ-नश्वर पदार्थ है। वह विज्ञान (=आत्म)-लोकसे इद्रिय-लोकमे उतरा है, तो भी उसमे अपनी पूर्वस्थितिके सस्कार मौजूद रहते है। इस लोकमे उसे चैन नही मिलता, क्योकि उसकी बहुतसी आकाक्षाए अपूर्ण रहती है, जिसके लिए उसे मानसिक अशान्ति सहनी पडती है। इस चलाचलीकी दुनियामे कोई चीज स्थिर नही है, इसलिए नही मालूम किस वक्त हमे उनका वियोग सहना पडे, जिन्हे कि हम प्रिय समझते है। विज्ञानलोक (ईश्वर) ही ऐसा है, जिसमे स्थिरता है। इसलिए यदि हम अपनी आकाक्षाओकी पूर्ति और प्रियोसे अ-विछोह चाहते है, तो हमे विज्ञानकी सनातन कृपा, ईश्वरके भय, प्रकृति-विज्ञान और सुकर्मकी ओर मन और शरीरको लाना होगा।

(३) **नफ़्स (=विज्ञान)**—नफ़्स यूनानी शब्द है जिसका अर्थ विज्ञान या आत्मा, (=नित्य-विज्ञान) है। वह यूनानी दर्शनमे एक विचारणीय विषय है। नफ़्स (=अक्ल, विज्ञान)के सिद्धान्तपर किन्दीने जो पहिले-पहिल बहस छेडी, तो सारे इस्लामी दार्शनिक साहित्यमे उसकी चर्चाका रास्ता खुल गया। किन्दीने नफ़्स के चार भेद किये है—

(क) **प्रथम विज्ञान (=ईश्वर)**—जगत्मे जो कुछ सनातन सत्य, आध्यात्मिक (=अ-भौतिक) है, उसका कारण और सार, परम-आत्मा ईश्वर है।

(ख) **जीवकी अन्तर्हित (क्षमता)**—दूसरी नफ़्स (=बुद्धि) है, मानव-जीवकी समझनेकी योग्यता या जीवकी वह क्षमता जहाँ तक कि जीव विकसित हो सकता है।

(ग) **जीवकी कार्य-क्षमता (=आदत)**—मानव-जीवके वह गुण या आदत जिसे कि इच्छा होनेपर वह किसी वक्त इस्तेमाल कर सकता है,

जैसे कि एक लेखककी लिखनेकी क्षमता, चित्रकारकी चित्रण-क्षमता।

(घ) **जीवकी क्रिया**—जिस बातसे जीवके भीतर छिपी अपनी वास्तविकता वाहरी जगतमे प्रकट होती है,—निराकार क्षमता, जिसके द्वारा साकार रूप धारण करती इसमे कायिक, वाचिक, मानसिक तीनो तरहकी क्रियाएँ शामिल है।

(४) ज्ञानका उद्गम—(क) ईश्वर—किन्दी चौथी नफ्स(विज्ञान)-को जीवका अपना काम मानता है, किन्तु दूसरी नफ्स(=जीवकी अन्तर्हित क्षमता)को ही प्रथम नफ्स(=ईश्वर)की देन नही मानता, वल्कि उस अन्तर्हित क्षमताको जीवकी कार्य-क्षमता (तीसरी नफ्स)के रूपमे परिणत करना भी वह प्रथम नफ्सका ही काम मानता है, इस तरह तीसरी नफ्स—कार्य-क्षमता—भी जीवकी अपनी नही वल्कि ऊपरसे भेजी हुई चीज है।—इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका उद्गम (=स्रोत) जीव नही वल्कि प्रथम विज्ञान (ईश्वर) है। इस्लामिक दर्शनमे "ईश्वर समस्त ज्ञान-का स्रोत है" इस विचारकी "प्रतिध्वनि" सर्वत्र दिखाई पडती है। पुराना इस्लाम कर्ममें भी जीवको सर्वथा परतत्र मानता था, ज्ञानके वारेमे तो कहना ही क्या। किन्दीने जीवकी कर्म-परतत्रतासे उठनेवाली दार्शनिक कठिनाइयोको समझ, उसे तो—ईश्वर सीधे अपने कार्योंके काममे दखल नही देता,—के सिद्धान्तसे दूर कर दिया, किन्तु साथ ही ज्ञान—जो कि दार्शनिकोके लिए कर्मसे भी ज्यादा महत्त्व रखता है—का स्रोत ईश्वरको वनाकर इस्लामके ईश्वर-पारतन्त्र्य सिद्धान्तकी पूरी तौरसे पुष्टि की।

किन्दीका नफ्स (विज्ञान)का सिद्धान्त अरस्तूके टीकाकार सिकन्दर अफ्रादीसियस्से लिया गया मालूम होता है, किन्तु सिकन्दरने अपनी पुस्तक "जीवके सवधमे" साफ कहा है, कि अरस्तूके मतमे नफ्स (=विज्ञान) तीन प्रकारका होता है। किन्दी अपने चार "प्रकार"को अफलातून और अरस्तूके मतपर आधारित मानता है। वस्तुत यह नव-पिथागोरीय नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शनोपर अवलवित किन्दीका अपना मत है।

(ख) **इन्द्रिय और मन**—नफ्सके सिद्धान्त द्वारा ज्ञानके स्रोतको

यद्यपि किन्दी जीवसे बाहर मानता है, तो भी जब वह रहस्यवादसे नीचे उतरता है, तो वस्तु-स्थितिकी भी कद्र करना चाहता है, और कहता है—हमारा ज्ञान या तो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होता है, या चिन्तन (=मनकी क्रिया ,कल्पना) शक्ति द्वारा। वह स्वीकार करता है, कि इन्द्रियाँ केवल व्यक्ति या भौतिक स्वरूप (=स्वलक्षण)को ही ग्रहण करती है, सामान्य या अ-भौतिक आकृति उनका विषय नही है। यही है दिग्नाग-धर्मकीर्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान—"प्रत्यक्ष कल्पनापोढ" (इन्द्रियसे प्राप्त कल्पना-रहित)। दिग्नाग-धर्मकीर्तिने सामान्य आदिको कल्पनामूलक कहकर उन्हे वस्तु-सत् माननेसे इन्कार कर दिया, यद्यपि उन्हे व्यवहारसत् माननेमे उज्र नही है, किन्तु ज्ञानको जीवके पास आई पराई थाती रखनेवाला किन्दी कल्पना (=चिन्तन)-शक्तिसे प्राप्त ज्ञानको वस्तु-सत् मानता है।

(ग) **विज्ञानवाद**—जो कुछ भी हो, अन्तमे दोनो ही ओरके भूले एक जगह मिल जाते है, और वह जगह वस्तु-जगत्से दूर है।—वह है विज्ञानवादकी भूल-भुलैयाँ। किन्दीने और मजबूरियोके कारण या अनजाने **योगाचारके** विज्ञानवादको खुल्लमखुल्ला स्वीकार करना न चाहा हो, किन्तु है वह वस्तुत विज्ञानवादी। उसका विज्ञानवाद क्षणिक है या नित्य—इस बहसमे वह नही गया है, किन्तु प्रथम विज्ञान (=आलय विज्ञान)-के चार भेद जो उसने किये है, और एकका दूसरेमें परिवर्तन बतलाया है, उससे साफ है कि वह विज्ञानको नित्य कूटस्थ नही मानता। बौद्ध विज्ञानवादियो (योगाचार दर्शन)की भाँति किन्दीके नफ्सवादको भी आलय-विज्ञान (=विज्ञान-स्रोत, विज्ञान-समुद्र) और प्रवृत्ति-विज्ञान (=क्रिया परायण) विज्ञानसे समझना होगा। हाँ, तो दोनो ही ओरके भूले, "सब कुछ विज्ञान है विज्ञानके अतिरिक्त कोई सत्ता नही" इस विज्ञानवादमे मिलते है, और किन्दी धर्मकीर्त्तिसे हाथ मिलाता हुआ कहता है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञेय (विषय) एक ही है, और इसी तरह मन (=कल्पना) द्वारा ज्ञात पदार्थ ("धर्म") भी प्रथम -विज्ञान (आलय-विज्ञान) है। दोनोमे इतना अन्तर जरूर है, कि जहाँ अपने सहधर्मियो (=मुसलमानो)के

डरके मारे दबी जाती किन्दीकी आत्माको एक सहृदय व्यक्तिके साथ एकान्त सम्मिलनमे उक्त भाव प्रकट करनेमे उल्लास हो रहा था, वहाँ सहधर्मियो (=बौद्धो)के डरके मारे दबकर अपने निज मत वस्तुवादके स्थानपर विज्ञानवादकी प्रधानताको दबी जबानसे स्वीकार करनेवाले धर्मकीर्त्तिके मनमे भारी ग्लानि हो रही थी।—और आश्चर्य नही, यदि किन्दीके "आलय विज्ञान" और प्रथम नफ्स"की एकताकी बात करनेपर धर्मकीर्तिने कह दिया हो—"मैने तो यार! जान-बूझकर असगके 'आलय विज्ञान'का बायकाट किया है, क्योकि वह खिडकीके रास्ते स्थिरवाद (=अक्षणिकवाद) और ईश्वरवादको भीतर लानेवाला है।"

किन्दीका दर्शन नव-अफलातूनी पुटके साथ अरस्तूका दर्शन है।

§ २–फाराबी (८७०?-९५० ई०)

१–जीवनी

किन्दीके वाद इस्लाममे दर्शनके विकासकी दूसरी सीढी है अबू-नस्र इब्न-मुहम्मद इब्न-तर्खन इब्न-उजलग, अल्-फाराबी (फाराबका रहनेवाला उज्लगके पुत्र तर्खनके पुत्र मुहम्मदका पुत्र अबू-नस्र)। अबू-नस्रका जन्म वक्षु (आमू) नदी तटवर्त्ती फराब जिलेके वसिज नामक स्थानमे हुआ था। वसिजमे एक छोटासा किला था, जिसका सेनापति अबू-नस्रका बाप मुहम्मद था। पूरे नामके देखनेसे पता लगता है, कि अबू-नस्रके बापका ही नाम मुसलमानी है, नही तो उसके दादा तर्खन और परदादा उज्लगके नाम गैर-मुसलमानी—शुद्ध तुर्की—है, जिसका अर्थ है वह मुसलमान नही थे, और अबू-नस्र सिर्फ दो पुश्तका मुसलमान तुर्क था। फाराबीके पिताको ईरानी सेनापति कहा गया है, जिसका अर्थ यही हो सकता है, कि वह सफ्फारी (८७१-९०३ ई०) या किसी दूसरे ईरानी शासकवशका नौकर था। फाराबीके वशवृक्षसे यह भी पता लगता है, कि यद्यपि मध्य-एसियामें इस्लामी शासन स्थापित हुए डेढसौ सालसे ऊपर बीत चुके थे,

किन्तु अभी वहाँके सारे लोग—कमसे कम तुर्क—मुसलमान नही हुए थे। फाराबीकी दार्शनिक प्रतिभा और बुद्धिस्वातन्त्र्यपर विचार करते हुए हमे ढाई सौ साल पहिले उधरसे गुजरे ह्वेन-चाङ्के वर्णनका भी ख्याल रखना होगा, जिसमे इस प्रदेशमें सैकडो बडे-बडे बौद्ध शिक्षणालयो (सघारामो) और हजारो शिक्षित भिक्षुओका जिक्र आता है। दो पीढीके नव-मुस्लिमके होनेका मतलब है, फाराबीकी जन्मभूमिमे अभी बौद्ध (दार्शनिक) परपरा कुछ न कुछ बची हुई थी। वक्षु-तटवर्त्ती ये तुर्क विद्या और सस्कृतिमे समुन्नत थे, इसमे तो सन्देह ही नही।

फाराबीकी प्रारभिक शिक्षा अपने पिताके घरपर ही हुई होगी, उसके बाद वह बुखारा या समरकन्द जैसे अपने देशके उस समय भी ख्यातनामा विद्याकेन्द्रोमे पढने गया या नही, इसका पता नही लगता। यह भी नही मालूम, कि किस उम्रमे वह इस्लामकी नालन्दा—बगदाद—की ओर विद्याध्ययनके लिए रवाना हुआ। किन्दी तो जरूर उस समय तक मर चुका होगा, किन्तु राजी जिन्दा था। जन्म-भूमिमे बुद्धि-स्वातन्त्र्यकी कुछ हलकी हवा तो उसे लगी ही होगी, बगदादमे आकर उसने योहन्ना इब्न-हैलान-की शिष्यता स्वीकार की। योहन्ना जैसे गैरमुस्लिम (ईसाई) विद्वान्को अध्यापक चुनना भी फाराबीके मानसिक झुकावको बतलाता है। बगदादमे कैसा विचार-स्वातन्त्र्यका वातावरण—कमसे कम मुसलमानोकी सनातनी जमातके बाहर—था, इसका परिचय पहिले मिल चुका है। फाराबीने दर्शनके अतिरिक्त साहित्य, गणित, ज्योतिष, वैद्यककी शिक्षा पाई थी। उसने सगीतपर भी कलम चलाई है। फाराबीको सत्तर भाषाओका पडित कहा जाता है। तुर्की तो उसकी मातृभाषा ही थी, फारसी उसकी जन्म-भूमिकी हवामे फैली हुई थी, अरबी इस्लामकी जबान ही थी, इस प्रकार इन तीन भाषाओपर फाराबीका अधिकार था, इसमे तो सन्देह ही नही हो सकता, सुरियानी, इब्रानी, यूनानी भाषाओको भी वह जानता होगा।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद भी फाराबी बहुत समय तक बगदादमे रहा। नवी सदीका अन्त होते-होते बगदादके खलीफोकी राजनीतिक शक्तिका

भारी पतन हो चुका था। प्रान्तो, तथा देशोमे होनेवाली राज्य-क्रान्तियोका असर कभी-कभी बगदादपर भी पडता था। शायद ऐसी ही किसी अशान्तिके समय फाराबीने बगदाद छोड हलब (अलेप्पो)मे वास स्वीकार किया। हलबका सामन्त सैफुद्दौला बडा ही विद्यानुरागी—विशेषकर दर्शन-प्रेमी व्यक्ति था। फाराबीको ऐसे ही आश्रयदाताकी आवश्यकता थी।

फाराबी हालमे ही बौद्धसे मुसलमान हुए देश और परिवारमे पैदा ही नही हुआ था, बल्कि बौद्ध भिक्षुओकी ही भॉति वह शान्ति और एकान्त जीवनको बहुत पसद करता था। इस्लाममे सूफियोका ही गिरोह था, जो कि उसकी तबियतमे अनुकूलता रखता था, इसीलिए फाराबी सूफियोकी पोशाकमे रहा करता था। उसका जीवन भी दूसरे इस्लामिक दार्शनिकोकी अपेक्षा यूनानी सोफिस्तो या बौद्ध भिक्षुओके जीवनसे ज्यादा मिलता था।

वह उस समय हलबमे दमिश्क गया हुआ था, जब कि दिसबर ९५० ई०मे वहीपर उसका देहान्त हुआ। हलबके सामन्तने सूफीकी पोशाकमे उसकी कब्रपर फातिहा पढा था। मृत्युके समय फाराबीकी उम्र अस्सी वर्षकी बतलाई जाती है। उसकी मृत्युसे १० साल पहिलेही उसके सहकारी (अनुवादक) अबू-बिश्र मत्ताका देहान्त हो चुका था। उसके शिष्य अबू-जकरिया यह्या इब्न-आदीने ९७१ ई०मे इक्कासी सालकी उम्रमे शरीर छोडा।

२-फाराबीकी कृतियाँ

फाराबीकी तरुणाईकी लिखी हुई वह छोटी-छोटी पुस्तके है जिनमे उसने वादविद्या और शारीरक ब्रह्मवाद (नव-पिथागोरीय) प्राकृतिक दर्शनका जिक्र किया है। किन्तु अपने परिपक्व ज्ञानका परिचय उसने अरस्तूके ग्रन्थोके अध्ययन और व्याख्याओमे दिया है, जिसके ही लिए उसे "द्वितीय अरस्तू" या "हकीम सानी" (दूसरा आचार्य) कहा गया। अरस्तूके गभीर दर्शन, और वस्तुवादी ज्ञान (साइस)का यूरोपके पुनर्जागरण और

उसके द्वारा आधुनिक साइस-युगके प्रवर्त्तनमे कितना हाथ है, इसे यहाँ कहनेकी जरूरत नही, और इसमे तो शक नही अरस्तूको पुनरुज्जीवित करनेमे फाराबीकी सेवाए अमूल्य है। फाराबीने अरस्तूके ग्रन्थोकी जो सख्या और क्रम निश्चित किया था, वह आज भी वैसा ही है। इसमे शक नही इनमेसे कुछ—"अरस्तूका धर्मशास्त्र"—अरस्तूके नामपर दूसरोकी बनाई पुस्तके भी फाराबीने शामिल करली थी। फाराबीने अरस्तूके तर्कशास्त्रके आठ[1], साइसके आठ[2], अतिभौतिक(अध्यात्म)शास्त्र[3], आचारशास्त्र[4], राजनीति[5] आदि ग्रन्थोपर टीका और विवरण लिखे है।

फाराबीने वैद्यकका भी अध्ययन किया था, किन्तु उसका सारा ध्यान तर्कशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और साइस (भौतिकशास्त्र) पर केन्द्रित था।

३—दार्शनिक विचार

ऊपरकी पक्तियोके पढनेसे मालूम है, कि फाराबीको दर्शनकी तहमें पहुँचनेका जितना अवसर मिला था, उतना उससे पहिले, तथा उसकी

---

[1] Logic—मंतिक:
1. The Categories
2. The Hermeneutics
3. The first Analytics
4. The Second Analytics
5. The Topics
6 The Sophistics
7. The Khetoric
8. Th. Poetics

[2] Physics—तबीआत:
1. Auscultatis Physica
2. De Coelo et mundo
3. De Generatioe et Corruptione
4. The Meteiology
5. The Psychology
6. Dc Sensu et Sensato
7. The Book of Plant
8. The Book of Animals

[3] Metaphysics.

[4] Ethics.

[5] Politics

सहायताको छोड़देनेपर पीछे भी, किसी इस्लामिक दार्शनिकको नहीं मिला था। वस्तुतः, मर्व, बगदाद, हलब, दमिश्क, सभी दर्शनकी भूमियाँ थीं, और फाराबीने उनमें पूरा फायदा उठाया था।

(१) **अफलातूँ-अरस्तू-समन्वय**—अफलातूँका दर्शन अ-वस्तुवादी विज्ञानवादी है, और अरस्तू अपने सारे देवी-देवताओं तथा विज्ञान (नफ्स) के होते भी सबसे ज्यादा वस्तुवादी है। फाराबी इस फर्कको समझ रहा था, और यदि निष्पक्ष साइंस भक्त होता, तो वह लीपापोतीकी कोशिश न करता, किन्तु फाराबीने अपने दिलको नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन-को दे रखा था, जब कि उसका सबल मस्तिष्क अरस्तूको छोड़नेके लिए तैयार न था, ऐसी हालतमें दोनोंके समन्वय करनेके सिवा दूसरा कोई चारा न था। यही नहीं इस समन्वय द्वारा वह इस्लामके लिए भी गुंजाइश रख सका, जिससे वह काफिरोंकी गति भोगनेमें भी बच सका। फाराबीके अनुसार अफलातून और अरस्तूका मतभेद बाहरी वर्णनशैलीका है, दोनोंका भाव एक है, दोनों उच्चतम दर्शन-ज्ञानके इमाम (ऋषि) हैं। इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं कि फाराबीके हृदयमें जो सम्मान इन दो यूनानी दार्शनिकोंका था, वह किसी दूसरेके लिए नहीं हो सकता था।

(२) **तर्क**—फाराबीके अनुसार तर्क सिर्फ प्रयोग (=दृष्टान्त)-सिद्ध विश्लेषण या ऊहा मात्र नहीं है। ज्ञानकी प्रामाणिकता तथा व्याकरण-की कितनी ही बातें भी तर्कके अन्तर्गत आती हैं। ज्ञात और सिद्ध वस्तु-से अज्ञात वस्तुका जानना—प्रमाण सिद्धान्त—तर्क है।

(३) **सामान्य (=जाति)**—यूनानी दर्शन और उससे ही लेकर पीछे भारतीय न्याय-वैशेषिक शास्त्रमें सामान्यको एक स्वतन्त्र, वस्तुसत् पदार्थ सिद्ध करनेकी बहुत चेष्टा की गई है। फाराबीने इसागोजी[1] पर लिखते वक्त एक जगह सामान्यके बारेमें अपनी सम्मति दी है—सिर्फ वस्तु

---

[1] पोर्फिरी (फोर्फोरियस)की पुस्तक, जो गलतीसे अरस्तूकी कृति मानी गयी।

और इन्द्रिय प्रत्यक्षमे ही नही, बल्कि विचारमे भी हमे विशेष प्राप्त होता है। इसी तरह **सामान्य** भी वस्तु-व्यक्तियोमे केवल घटनावश ही नही रहता, बल्कि मनमे भी वह एक द्रव्यके तौरपर अवस्थित है। यह ठीक है कि मन वस्तुओमेसे लेकर सामान्य (गायपन)को कल्पित करता है, तो भी सामान्य उन वस्तु-व्यक्तियो (गाय-पिडो) के अस्तित्वमे आनेसे पहिले भी सत्ता रखता है, इसमे शक नही।

(४) **सत्ता**—सत्ता क्या है, इसका उत्तर फाराबी देता है—वस्तु-की सत्ता वस्तु अपने (स्वय) ही है।

(५) **ईश्वर अद्वैत-तत्त्व**—ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए फारावी सत्ताको इस्तेमाल करता है। सत्ता दो ही तरहकी हो सकती है—वह या तो आवश्यक है, अथवा सभव (विद्यमान) है। जिस किसी वस्तु-की सत्ता सभव (विद्यमान) है, वह सभव तभी हो सकती है, यदि उसका कोई कारण हो। इस तरह हर एक सभव सत्ता कारणपूर्वक होती है। किन्तु कारणकी शृखलाको अनन्त तक नही बढा सकते, क्योकि आखिर शृखलाको वनानेवाली कडियाँ अनन्त नही सान्त है। और इस प्रकार हमारे लिए **आवश्यक** हो जाता है एक ऐसी **सत्ता**का मानना, जो स्वय कारण-रहित रहते सबका कारण है, जो कि अत्यन्त पूर्ण, अपरिवर्तनशील, आत्मतृप्त परमशिव, चेतन, परम-मन (विज्ञान) है। वह प्रकृतिके सभी शिव-सुन्दर रूपोको—जो कि उसके अपने ही रूप है—प्यार करता है। इस (ईश्वरकी) सत्ताके अस्तित्वको प्रमाण द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि वह स्वय प्रमाण तथा सत्य—वास्तविकताको अपने भीतर रखते हुए स्वय भी वस्तुओका मूल कारण है। जैसे ऐसी सत्ताका होना आवश्यक है, वैसे ही उसका एक—अद्वैत—ही होना भी आवश्यक है। दो होनेपर उसमे समानताए, और असमानताए दोनो होगी, जिसके कारण एक दूसरे-की टक्करसे प्रत्येककी सरलता नष्ट हो जायेगी। परिपूर्ण सत्ताका एक होना आवश्यक है।

प्रथम सत्ता केवल एक तथा वस्तुसत् है, इसीको ईश्वर कहा जाता

है। सबके मूलकारण उस एक सत्तामे सभी वस्तुएँ एक हो जाती है, वहाँ किसी तरहका भेद नही रहता; इसीलिए ऐसी सत्ताका कोई लक्षण नही किया जा सकता। तो भी मनुष्य उसके लिए सुन्दर भाव प्रकट करने वाले अच्छेसे अच्छे नामोका प्रयोग करते है, सुन्दरसे सुन्दर गुण या विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते है, किन्तु उन्हे काव्यकी उपमाके समान ही जानना चाहिए। परम तत्त्वके पूर्ण प्रकाशको हमारी निर्बल आँखे (=बुद्धि) देख नही सकती।—भूतोकी अपूर्णता हमारी समझको अपूर्ण रखती है।

(६) **अद्वैत तत्त्वसे विश्वका विकास**—परम सत्ता, अद्वैत तत्त्व या ईश्वरसे विश्वके विकासको फाराबीने छै छै सीढियो और श्रेणियोमे विभक्त किया है, जिनमे पहिले निराकार षट्क है—

१ सर्व शक्तिमान कर्त्ता पुरुष ईश्वर जिसके बारेमे अभी कहा जा चुका है, और जिसमे ही (पिथागोरीय) आकृतियाँ अनन्तकालसे वास करती है।

२ कर्त्ता पुरुषसे नौ फरिश्ते या देवात्माये (आलम-अफलाक) प्रकट होती है, इनमेंसे पहिली तो कर्त्तापुरुषके समान ही है, और वह (हिरण्य-गर्भकी भाँति) दूर तक ब्रह्माण्डका सचालन करती है। इस पहिली देवात्मासे क्रमश एकके बाद दूसरे आठो फरिश्ते, देवात्माये या "अभिमानी" देवता प्रकट होते है।

यह दो श्रेणियाँ सदा एकरस बनी रहती हैं।

३. तीसरी श्रेणीमे क्रिया-परायण विज्ञान (नफ्स) है, जिसे पवित्र-आत्मा भी कहते है। यही क्रिया-परायण विज्ञान (=बुद्धि) स्वर्ग (=आकाश) और पृथ्वीको मिलाती है।

४ चौथी श्रेणी जीवकी है।

बुद्धि और जीव यह दो श्रेणियाँ एकरस अद्वैत स्वरूपमे न रहकर मनुष्योकी सख्याके अनुसार बहुसख्यक होती है।

५. आकृति—पिथागोरकी आकृति जो भौतिक तत्त्वसे मिलकर भिन्न-भिन्न तरहकी वस्तुओके बनानेमे सहायक होती है।

६. भौतिक तत्त्व—पृथवी, जल, आग, हवा निराकार रूपमे।

इनमे पहिले तीन—ईश्वर, देवात्मा, बुद्धि—सदा नफ्स (=विज्ञान)-स्वरूप निराकार रहती है। पिछले तीन—जीव, आकृति, भौतिक तत्त्व—यद्यपि मूलत निराकार—(अ-काय) है, तो भी शरीरको लेकर वह आपसमे सबध स्थापित करते है।

दूसरे साकार षट्क है—

१ देव-काय—शरीरधारी फरिश्ते।

२ मनुष्य-काय—शरीरधारी मानव।

३ पशु (तिर्यक)-काय—पशु, पक्षी आदि शरीरधारी।

४ वनस्पति-काय—वृक्ष, वनस्पति आदि साकार पदार्थ।

५. धातु-काय—सोना, चाँदी आदि साकार पदार्थ।

६. महाभूत-काय—पृथवी, जल, आग, हवा साकार रूपमे।

(७) **ज्ञानका उद्गम**—किन्दीकी भाँति फाराबी भी ज्ञानको मानव-प्रयत्न-साध्य वस्तु न मानकर ऊपरसे—ईश्वर द्वारा—प्रदान की गई वस्तु मानता है। जीवकी परिभाषा करते हुए फाराबी कहता है—वह जो शरीर (=काया)के अस्तित्वको पूर्णता प्रदान करता है, किन्तु जीवको जो चीज पूर्णता प्रदान करती है वह **विज्ञान** (अक्ल या नफ्स) है, वही विज्ञान वास्तविक मानव है। यह विज्ञान (नफ्स) शिशुके जीवमे मौजूद है, किन्तु उस वक्त वह सुप्त है, अर्थात् उसकी क्षमता अन्तर्हित होती है। इन्द्रियाँ और कल्पना शक्ति जब काम करने लगती है, तो बच्चेको साकार वस्तुओका ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार सुप्त विज्ञान जागृत होने लगता है। किन्तु यह विज्ञान सुप्तावस्थासे जागृत अवस्थामे आना मनुष्यके अपने प्रयत्नका फल नही है, बल्कि यह अन्तिम नवी देवात्मा—चन्द्र—से प्रकट होता है। देवात्माये खुद स्वयभू नही है, बल्कि वह अपनी सत्ताके लिए मूल-विज्ञान (ईश्वर) पर अवलबित है।

(८) **जीवका ईश्वरसे समागम**—मूल-विज्ञान (=ईश्वर)मे समाना यही मानवका लक्ष्य है। फाराबी इसे सभव कहता है—आखिर

मनुष्यका नफ्स (=विज्ञान, अक्ल) अपने नजदीकके अन्तिम देवात्मा (चद्र)से समानता रखता है, जिसमे समाना असंभव नही है, और देवात्मा-मे समाना मूल विज्ञान (=ईश्वर)मे समानेकी ओर ले जाने वाला ही कदम है।

यह समाना किस तरहसे हो सकता है, इसके लिए फाराबीका मत है—इस जीवनमे सबसे बढकर जो बात की जा सकती है, वह है बुद्धि-सम्मत ज्ञान। किन्तु जब आदमी मर जाता है, तो ऐसे ज्ञानी जीवको उसी तरहकी पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त होती है, जो कि नफ्स (=विज्ञान)मे ही सभव है। उस अवस्था—देवात्मामे समा जाने—के बाद वह पुरुष अपने व्यक्तित्व-को खो बैठता है, या वह मौजूद रहता है?—इसका उत्तर फारावी साफ तौर से देना नही चाहता।—मनुष्य मृत्युके बाद लुप्त हो जाता है, एक पीढी-के बाद दूसरी पीढी आती है। सदृशसे सदृश, प्रत्येक अपने जैसेसे मिलता है—ज्ञानी 'जीवो'के लिए देशकी सीमा नही है, इसलिए उनकी सख्या-वृद्धिके लिए कोई सीमाकी जरूरत नही, जैसे विचारके भीतर विचार शक्तिके भीतर शक्तिके मिलनेमे किसी सीमा या परिमितिकी जरूरत नही। प्रत्येक जीव अपने और अपने-जैसे दूसरोपर ध्यान करता है। जितना ही अधिक वह ध्यान करता है, उतना ही अधिक वह आनद अनुभव करता है।

(९) **फलित ज्योतिष और कीमियामे अविश्वास**—फारावीका काम स्वतत्र दार्शनिक चिन्तना उतना नही था, जितना कि अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकोके विचारोका विशदीकरण (समझाना), इसीलिए इस क्षेत्रमे उससे बहुत आशा नही रखनी चाहिए। फारावी यद्यपि धर्म और रहस्य(सूफी)वादसे भयभीत था, तो भी उसपर तर्क और स्वतत्र चितन-ने असर किया था, जिसका ही यह फल था, कि वह फलित ज्योतिष और कीमिया (उस वक्तकी कीमिया जिसके द्वारा आसानीसे सस्ती धातुओ—ताँबे आदिको बहुमूल्य धातु—सोने—मे बदलकर धनी बननेकी प्रवृत्ति लोगोमे पाई जाती थी)को मिथ्या विश्वास समझता था।

४–आचार-शास्त्र

फाराबी ज्ञानका उद्गम जीवसे वाहर मूल विज्ञान (=ईश्वर)मे मानता है, इसे वतला चुके है, ऐसी अवस्थामे ऐसी भी संभावना थी, कि फाराबी आचार—भलाई-बुराई, पुण्य-पाप—के विवेकको भी ऊपरसे ही आया बतलाता, किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रहनी चाहिए कि फाराबी **मूल विज्ञान**से विश्वकी उत्पत्तिको इस्लामके "कुन्"की भाँति अभावसे भावकी उत्पत्तिकी तरह नही मानता, वल्कि उसके मतसे विकास कार्य-कारण सबधके साथ हुआ है, यद्यपि विज्ञानसे भौतिक तत्त्वकी ओरका विकास आरोह नही अवरोह क्रमसे है, तो भी यह अपेक्षाकृत ज्यादा वस्तुवादी है, इसमे सन्देह नही। कुछ भी हो, उसके "ज्ञानके उद्गम' के सिद्धान्तकी अपेक्षा आचारके उद्गमका सिद्धान्त ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। ईश्वरवादी लोग ज्ञान-को किसी वक्त मानव बुद्धिकी उपज माननेके लिए तैयार भी हो सकते है, किन्तु आचार—पुण्य-पाप—के विचारका स्रोत वह हमेशा ईश्वरको ही मानते है। फाराबी इस बारेमे विलकुल उलटा मत रखता है, वह ज्ञान-का स्रोत अ-मानुषिक मानता है, किन्तु आचार-विवेकको वह मानव-बुद्धि-का चमत्कार है—भले-बुरेकी तमीजकी ताकत बुद्धिमे है। ज्ञानको फाराबी कर्म (=आचार)से ऊपर मानता है, इसलिए भी वह उसका उद्गम मनुष्यसे ऊँचा रखना चाहता है।

शुद्ध ज्ञानको फाराबी स्वातत्र्यकी भूमि वतलाता है, लेकिन यह शुद्ध ज्ञान ईश्वरपर निर्भर होनेसे उसीके अनुसार निश्चित है, जिसका अर्थ हुआ मानव स्वतत्रता भी ईश्वराधीन है—यह फाराबीका सीधा-सादा भाग्यवाद है—"उसके हुकुमके बिना पत्ता तक हिलता नही"।

५–राजनीतिक विचार

फाराबीने अफलातूँके "प्रजातत्र"को पढा था, और उसका उसपर कुछ असर जरूर हुआ था, किन्तु वह अफलातूँके जगत्—अथेन्स और उसके

प्रजातत्र—को अपने सामने चित्रित नही कर सकता था। उसकी दृष्टिमे राजतत्रके सिवा दूसरे प्रकारका शासन सभव ही नही—एक ईश्वरवादी धर्मके माननेवालोके लिए एक शासन (राजतत्र)-वादसे ऊपर उठना बहुत मुश्किल है। इसीलिए फाराबी अफलातूँके बहुतसे दार्शनिकोके प्रजा-तत्रकी जगह एक आदर्श दार्शनिक राजाके शासनको समाजका सर्वोच्च ध्येय बताता है। मनुष्य जीवन-साधनोके लिए एक दूसरेपर अवलबित है, और मनुष्योमे कोई नैसर्गिक तौरसे बलशाली अधिक साधन-सम्पन्न होता है, कोई स्वभावत निर्बल और अल्प-साधन, इसलिए, ऐसे बहुतसे लोगोको एक बलशालीके आधीन रहना ही पडेगा। राज्यके भले-बुरे होनेकी कसौटी फाराबी राजाके भले-बुरे होनेको बतलाता है। यदि राजा भलाइयोके बारेमे अनभिज्ञ, उलटा ज्ञान रखनेवाला है, या दुराचारी है, तो राज्य बुरा होगा। भला राज्य वही हो सकता है, जिसका राजा (अफलातूँ जैसा) दार्शनिक है।' आदर्श (दार्शनिक) राजा दूसरे अपने जैसे गुणवाले व्यक्तियोको शासनके काममे अपना सहायक बनाता है।

फाराबी एक ओर शासक राजाके निरकुश—यदि अकुश है तो दर्शन का—शासनवाले अधिकारको कायम रखना चाहता है, किन्तु साथ ही एक आदर्शवादी दार्शनिक होनेके कारण वह उसके कर्त्तव्य भी बतलाता है। सब कर्त्तव्यो—जिम्मेवारियो—का निचोड इसी विचारमे आ जाता है, कि राज्यका बुरा होना राजापर निर्भर है। मूर्ख राज्यमे प्रजा निर्बुद्धि हो, पशुकी अवस्थामे पहुँच जाती है। इसकी सारी जिम्मेवारी राजापर पडती है, जिसके लिए परलोकमे उसे यातना भोगनेके लिए तैयार रहना पडेगा। यह है कुछ विस्तृत अर्थ मे—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक-अधिकारी॥"—तुलसीदास

फाराबीके राजनीतिक विचार व्यवहार-बुद्धिसे बिलकुल शून्य है, लेकिन इसके कारण भी थे। एक सफल वैद्य होनेसे वह व्यवहारके गुण-को बिलकुल जानता न हो यह बात नही हो सकती, यही कहा जा सकता

है, कि वह व्यवहारके जीवनसे दार्शनिक (व्यवहारशून्य मानसिक उडान-के) जीवनको ज्यादा पसन्द करता था। जब हम उसके जीवनकी ओर देखते है तो यह बात और साफ हो जाती है। उसका जीवन एक विचार-मग्न सूफी या बौद्ध भिक्षुका जीवन था। उसके पास संपत्ति नही थी, किन्तु मन उसका किसी राजासे कम न था। पुस्तकोमे उसे अफलातूँ, अरस्तूका सत्सग, और तज्जन्य अपार आनद प्राप्त होता था। अपने बाग-के फूल और चिडियोके कलरव बाकी कमीको पूरा कर देते थे। यद्यपि सनातनी मुसलमान फाराबीको सदा काफिर कहते थे, किन्तु वह उनके ज्ञानके तलको बहुत नीचा समझता, उनकी रायकी कोई कदर नही करता था। उसके लिए यह काफी सन्तोषकी बात थी, कि पारखी व्यक्ति—चाहे वह कितने ही थोडे हो—उसकी कदर करते थे। वह उनके लिए महान् तत्त्वज्ञानी था। फाराबीका शुद्ध और सादा जीवन दूसरी तरहके मजहबी पक्षपातसे शून्य व्यक्तियोपर भी प्रभाव डाले बिना नही रह सकता था।

यह सब इसी बातको बतलाते है, कि दर्शनमे दूर हटे होनेपर भी फाराबीसे तत्कालीन समाज या शासनको कोई डर न था।

६—फ़ाराबीके उत्तराधिकारी

फाराबी जैसे एकान्तप्रिय प्रकृतिवाले विद्वान्के पास शिष्योकी भारी भीड जमा नही हो सकती थी, इसीलिए उसके शिष्योकी सख्या बहुत कम थी। अरस्तूके कितने ही ग्रन्थोका अनुवादक अबू-जकरिया यह्या इब्न-आदी—याकूबी पथका ईसाई—उसका शिष्य था। अनुवादक होनेके सिवा आदीमे स्वय कोई खास बात न थी; किन्तु उसका ईरानी शिष्य अबू-सुलैमान मुहम्मद (इब्न-ताहिर इब्न-बहराम अल्) सजिस्तानी एक ख्यात-नामा पडित था। दसवी सदीके उत्तरार्धमे सजिस्तानीकी शिष्य-मडली-मे बगदादके बडे-बडे विद्वान शामिल थे। सजिस्तानी-गुरु-शिष्य-मडली-के दार्शनिक पाठ और सवादके कितने ही भाग अब भी सुरक्षित है, जिससे

पता लगता है कि उनकी दिलचस्पी दर्शनके गभीर विपयोमे कितनी थी। तो भी फारावीकी तर्कशास्त्रकी परपरा आगे चलकर हमारे यहाँके नव्य-नैयायिकोकी भाँति तत्त्व-चिन्तनकी जगह शाब्दिक बहसकी ओर ज्यादा बहक गई। सजिस्तानी-शिष्यमडली वस्तुत तर्कको दार्शनिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेके लिए साधन न समझ, उसे दिमागी कसरत और बहसके लिए बहस करनेका तरीका समझती थी। उनमे जो तत्त्ववोधकी ओर रुचि रखते थे, उनके लिए सूफियोका रहस्यवाद था ही, जिसकी भूल-भुलैयाँके ताने-वाने तार्किकोके तर्कसे भी ज्यादा सूक्ष्म थे। यह सूफी रहस्य-वादकी ओरका झुकाव ही था, जिसके कारण कि (जैसा कि उसके शिष्य तौहीदी १००९ ई० ने लिखा है) अवू-सुलैमान सजिस्तानीके अध्ययन-अध्यापनमे एम्पेदोकल, सुक्रात, अफलातूँ—सभी रहस्यवादी समझे जानेवाले दार्शनिको—की जितनी चर्चा होती थी, उतनी अरस्तूकी नही। सजिस्तानी-शिष्य-मडलीमे देश-जाति-धर्मकी सकीर्णताका बिलकुल अभाव था, उनका विश्वास था कि यह विभिन्नताए वाहरी है, इन सबके भीतर रहनेवाला सत्य एक है।

§ ३–वू-अली मस्कविया (······-१०३० ई०)

फारावीके समयसे चलकर अव हम फिर्दोसी (९४०-१०२० ई०) (अवू रेहाँ अल्-)वैरूनी (९७३-१०४८) और महमूद गजनवी (मृ० १०३३ ई०)के समयमे आते है। अव विचारकी बागडोर ही नही शासनकी बागडोर भी नामनिहादी अरबोके हाथसे अरव-भिन्न मुसल-मान जातियोके हाथमे चली गई है, और वह कबीलेशाही इस्लामकी समानता और भाईचारेके भावसे प्रभावित नीचेसे उठी लोकशक्तिको नये शासको—जिनमे कितने ही गुलामीका मजा खुद चख चुके थे, या उनके वाप-दादोकी गुलामी उनको भूली न थी—के नेतृत्वमे सगठित कर इस्लाम-की अपूर्ण विजयको अलग-अलग पूरा करना चाहती है। यह समय है, जव कि इस्लामी तलवारका सीधा हिन्दू तलवारसे मुकाविला होता है और

हिन्दूरक्षक पर्वतमाला हिन्दूकुशका नाम धारण करती है।—महमूद गजनवी काबुलके हिन्दूराज्यके विजयसे ही सन्तोष नही करता, बल्कि इस्लामके "झंडे"को बुलन्द करनेके लिए भारतपर हम्लेपर हम्ले करता है। ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर यही शकल हमारे सामने आती है, जैसा कि हमारे विद्यालयोके इतिहासलेखक हमारे सामने उसे पेश करते है, किन्तु सतहसे भीतर जानेपर यह हिन्दू और इस्लामके झडोंके झगडेका सवाल नही रह जाता—यद्यपि यह ठीक है, कि उस समय उसे भी ऐसा ही समझा गया था।

प्रारभिक इस्लामपर अरब कबीलाशाहीकी जबरदस्त छाप थी, इसका जिक्र पहले हो चुका है, साथ ही हम यह भी बतला चुके है, कि दमिश्ककी खिलाफतने उस कबीलाशाहीको पहिली शिकस्त दी, और बग-दादकी खिलाफतने उसे दफना दिया।—यह बात जहाँ तक ऊपरके शासक-वर्गका सबध है, बिलकुल ठीक है। किन्तु कबीलाशाही कुरान अब भी मुसलमानोका मुख्य धर्मग्रन्थ था। उसकी पढाईका हर मस्जिद, हर मद्रसेमे उसी तरह रवाज़ था। अरबी कबीलोके भीतर सरदार और साधारण व्यक्तियोकी जो समानता है, उसका न कुरानमे उतना स्पष्ट चित्रण था, और न उसका उदाहरण लोगोके सामने था—बल्कि खलीफो और धनी मुसलमानोका जो उदाहरण सामने था, वह बिलकुल उलटा रूप पेश करता था। हाँ, भाई-चारेकी बात कुरानमे साफ और बार बार दुहराई गई थी, मस्जिदमे जुमाकी नमाजके वक्त सुल्तानोको भी इसे दिखलाना पडता था। जिन शक्तियोसे मुसलमानोका विरोध था, उनमे इस भाई-चारेका ख्याल इतना खतम हो चुका था, उनका सामाजिक सगठन सदियोसे इस तरह विशृंखलित हो चुका था, कि "हिन्दू झडे" या किसी दूसरे नामपर उसे लानेकी बात उस परिस्थितिमे कभी भी सभव न थी। इस्लामी झडा यद्यपि अब विश्वव्यापी (अन्तर्राष्ट्रीय) इस्लामी कबीलका झडा नही था, तो भी वह ऐसे विचारोको लेकर हमला कर रहा था, जिससे शत्रुदेशके राजनीतिक ही नही सामाजिक ढाँचेको भी चोट पहुँच

रही थी, और शोषणपर आश्रित सदियोकी बोसीदा जात-पाँतकी इमारतकी नीव हिल रही थी।

मस्कवियाका जन्म ऐसे समय मे हुआ था।

१–जीवनी

मस्कवियाके जीवनके बारेमे हमें बहुत मालूम नही है। वह सुल्तान अदूदद्दौला (ब्वायही?)का कोषाध्यक्ष था, और १०३० ई० मे, जब उसकी मृत्यु हुई, तो बहुत बूढा हो चुका था।

मस्कविया वैद्य था, दर्शनके अतिरिक्त इतिहास, भाषाशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। किन्तु जिस कृतिने उसे अमर किया है, वह है उसकी पुस्तक "तहजीबुल-इख्लाक" (आचार-सभ्यता)। उसने इसके लिखनेमे अफलातूँ, अरस्तू, जालीनूस (गलेन)के ग्रन्थोको, इस्लामिक धर्मशास्त्रके साथ मिलाकर बडी सफलतासे इस्तेमाल किया। वह अपने विचारोमे अरस्तूका सबसे ज्यादा ऋणी है। मस्कवियाका यही तहजीबुल-इख्लाक है, जिसके आधारपर गजालीने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "अह्या-उल्-उलूम"को लिखा। मस्कवियाने आचार-सबधी रोगो (=दुराचार) को लोभ, कजूसी, लज्जा आदि आठ किस्मका बतलाया है। इन रोगोको दूर करनेके उसने दो रास्ते बतलाए है—(१) एक तो रोगसे उलटी औषधि इस्तेमाल की जाये, कजूसीके हटानेके लिए शाहखर्चीका हथियार इस्तेमाल किया जाये। (२) दूसरे, चूँकि सभी आचारिक रोगोके कारण क्रोध और मोह होते है, इसलिए इन्हे दूर करनेके उपाय इस्तेमाल किये जाये।

२–दार्शनिक विचार

(मानव जीव)—मस्कविया मानव जीव और पशु जीवमे भेद करता है, खासकर ईश्वरकी ओर मनुष्यकी बौद्धिक उडानको ऐसी खास बात समझता है, जिससे कि पशु-जीवको मानव-जीवकी श्रेणीमे नही रखा जा सकता।

मानव जीव एक ऐसा अमिश्रित निराकार द्रव्य है, जो कि अपनी सत्ता, ज्ञान और क्रियाका अनुभव करता है। वह अभौतिक, आत्मिक स्वभाव रखता है, यह तो इसीसे सिद्ध है कि जहाँ भौतिक शरीर एक दूसरेसे अत्यन्त विरोधी आकारो—काले, सफेद के ज्ञानो—मेंसे सिर्फ एकको ग्रहण कर सकता है, वहाँ जीव (आत्मा) एक ही समय कई "आकारो"का ग्रहण करता है। यही नही वह इन्द्रिय-ग्राह्य तथा इन्द्रिय-अग्राह्य दोनो प्रकारके "आकारो"को अभौतिक स्वरूपमे ग्रहण करता है—इन्द्रियसे हम कलमकी लबाई देखते है, किन्तु उसका "आकार"सा स्मृतिमे सुरक्षित होता है, वह वही भौतिक लंबाई नही है। इसीसे सिद्ध है कि जीव भौतिक सीमासे बद्ध नही है। अतएव जीवके ज्ञान और प्रयत्न शरीरकी सीमासे बाहर तककी पहुँच रखते है, और बल्कि वह इन्द्रिय-गोचर जगत्की सीमासे भी पार पहुँचते है। सच और झूठका ज्ञान जीवमे सहज होता है, इन्द्रियाँ इस ज्ञानको नही प्रदान करती। इन्द्रियाँ अपने प्रत्यक्षके द्वारा जिन विषयोको उपस्थित करती है, उनकी विवेचना और निर्धारणा करते वक्त वह अपनी उसी सहज शक्तिसे काम लेती है। "मैं जानता हूँ" इसको जानना—"आत्म-चेतना"—इस बातका सबसे बडा प्रमाण है, कि जीव एक अभौतिक तत्त्व है।

३—आचार-शास्त्र

(१) **पाप-पुण्य**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मस्कविया ज्यादा प्रसिद्ध है एक आचारशास्त्रीके तौरपर। आचार-शास्त्रमे पहिला प्रश्न आता है—शुभ (=भलाई, नेकी) क्या है ? मस्कवियाका उत्तर है—जिसके द्वारा एक इच्छावान् व्यक्ति (=प्राणी) अपने उद्देश्य या स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त करता है। नेक (=शुभ) होनेके लिए एक खास तरहकी योग्यता या रुझान होनी जरूरी है। लेकिन हम जानते है, हर मनुष्यमे योग्यता एकसी नही है। स्वभावत नेक मनुष्य बहुत कम होते है। जो स्वभावत नेक है, वह बुरे नही हो सकते, क्योंकि स्वभाव उसीको कहते है

जो बदलता नहीं। कितने ही स्वभावतः बुरे कभी अच्छे न होने वाले मनुष्य भी हैं। बाकी मनुष्य पहिलेपहिल न नेक होते हैं न बद, वह सामाजिक वातावरण (संसर्ग) या शिक्षा-दीक्षाके कारण नेक या बद बन जाते हैं।

शुभ (=नेकी) दो तरहका होता है—साधारण शुभ और विशेष शुभ। इनके अतिरिक्त एक परम शुभ है जो कि सर्व महान् सत् (=ईश्वर) और सर्व महान् ज्ञानको कहते हैं। सभी शुभ मिलकर इसी परम शुभ तक पहुँचना चाहते हैं। हर व्यक्तिको किसी विशेष शुभके करनेमें उनके भीतर आनन्द या प्रसन्नता प्रकट होती है। यह आनन्द और कुछ नहीं अपने ही मुख्य स्वभावका पूर्ण और सजीव रूपमें प्राकट्य है अपने ही अन्तस्तम अस्तित्वका पूर्ण अनुभव है।

(२) समाजका महत्त्व—मनुष्य उसी वक्त शुभ(नेक) और सुखी है, जब कि वह मनुष्यकी तरह आचरण करता है—शुभाचार मानव महनीयता है। मानव-समाजके सभी व्यक्ति एक समान नहीं हैं इसीलिए शुभ, और आनन्द (=सुख)का तल सबके लिए एकसा नहीं है। यदि मनुष्य अकेला छोड दिया जाय, तो स्वभावतः जो मनुष्य न नेक है न बद, उसे नेक बननेका अवसर नहीं मिलेगा, इसीलिए बहुतसे मनुष्योंका इकट्ठा (=समाजमें) रहना जरूरी है और इसके लिए पहिला कर्तव्य तथा सभी शुभाचरणोंकी नीव है मानव-जातिके लिए साधारण प्रेम, जिसके बिना कोई समाज कायम नहीं रह सकता। दूसरे मनुष्योंके साथ और उनके बीच ही मनुष्य अपनी कमियोंको दूर कर पूर्णता प्राप्त कर सकता है, इसीलिए आचार वही हो सकता है, जो कि सामाजिक आचार है। इस तरह मित्रता आत्म-प्रेम (=अपने भीतर केन्द्रित प्रेम)का सीमा-विस्तार नहीं बल्कि आत्म-प्रेमका सकोच है, वह अपनेपनकी सीमाके बाहर अपने पड़ोसीका प्रेम है। इस तरहका प्रेम या मित्रता संसार-त्यागी एकान्तवासी साधुमें संभव नहीं है यह संभव है, केवल समाज या सामूहिक जीवन हीमें। जो एकान्तवासी योगी समझता है, कि वह शुभ (=सदाचारी) जीवन बिता रहा है, वह अपनेको धोखा देता है। वह धार्मिक हो सकता

है किन्तु आचारवान् हर्गिज नही, क्योकि आचारवान् होनेके लिए समाज चाहिए।

(३) धर्म (=मजहब)—धर्म या मजहब, मस्कवियाके विचारसे लोगोको आचारकी शिक्षा देनेका तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज (=भगवान्‌की उपासना), और हज (=मक्काकी तीर्थयात्रा) पडोसी या लोक-प्रेमको बडे पैमानेपर पैदा करनेका सुन्दर अवसर है।

साम्प्रदायिक सकीर्णताका अभाव और मानव-जीवनमे समाजका बहुत ऊँचा स्थान बतलाता है, कि मस्कवियाकी दृष्टि कितनी व्यापक और गभीर थी।

§ ४–बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)

फाराबी अपने शान्त अतएव निष्क्रिय स्वभावके कारण चाहे दर्शन-क्षेत्रमे उतना काम न कर सका हो, जितना कि वह अपने गभीर अध्ययन और प्रतिभाके कारण कर सकता था, किन्तु वह एक महान् विद्वान् था, इसमे सन्देह नही। बू-अली सेनके बारेमे तो हम कह सकते है, कि उसके रूपमे पूर्वी इस्लामिक दर्शन उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचा। बू-अली सीना मस्कविया (मृत्यु १०३० ई०), फिर्दोसी (९४०-१०२० ई०), अल्‌बैरूनी (९७३-१०४८)का समकालीन था, मस्कवियासे भेट और अल्बैरूनीसे उसका पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

१–जीवनी

अबू-अली अल्-हुसैन (इब्न-अब्दुल्ला' इब्न-)सीनाका जन्म ९८० ई० में बुखाराके पास अफ्शनमे हुआ था। सीनाके परिवारके लोग पीढियोसे सरकारी कर्मचारी रहते चले आए थे। उसने प्रारभिक शिक्षा घरपर पाई। यद्यपि मध्य-एसियाके इस भागमे इस्लामको प्रभुत्व जमाए प्राय तीन सदियाँ हो गई थी, किन्तु मालूम होता है, यहाँकी सभ्य जातिके लिए जितना अरबी तलवारके सामने सिर झुकाना आसान था,

उतना अपने जातीय व्यक्तित्त्व (राष्ट्रीय सभ्यता)का भुलाना आसान न था। फारावीको हम देख चुके है, कैसे वह इस्लामकी निर्धारित सीमाको विचार-क्षेत्रमे पसन्द न करता था, फारावी भी सीनाका ही स्वदेश-भाई था। यही क्यो, फाराबी और सीनाकी मातृभूमि—वर्त्तमान उजबकस्तान सोवियत् प्रजातन्त्र—ने कितनी आसानीसे चद वर्षोके भीतर धर्म और मुल्लोसे पिंड छुडा लिया, और आज उज्बक मध्य-एसियाकी जातियो-मे सबसे आगे बढे हुए माने जाते है, इससे यह भी पता लगता है, कि तेरह सदियोमे इस्लामने वहाँके लोगोकी जातीय भावनाको नष्ट करनेमे सफलता नही पाई। ऐसे सामाजिक वातावरणने सीनाके विचारोके विकासमे कितना प्रभाव डाला होगा, यह आसानीसे समझा जा सकता है। सीनाने स्वय लिखा है, कि वचपनमे मेरे बाप और चचा नफ्सके सिद्धान्तपर वातनियोके मतसे वहस किया करते थे, जिसे मै वडे ध्यानसे सुना करता।

प्रारम्भिक शिक्षाको समाप्तकर बू-अली मध्य-एसियाकी इस्लामिक नालन्दा बुखारा[1] मे पढनेके लिए गया। वहाँ उसने दर्शन और वैद्यकका विशेप तौरसे अध्ययन किया। "होनहार बिरवानके होत चीकने पात"—की कहावतके अनुसार अभी बू-अली जव १७ वर्पका तरुण था, उसी वक्त उसने स्थानीय राजा नूह इब्न-मसूरको अपनी चिकित्सासे रोग-मुक्त किया। इस सफलतासे उसे सबसे ज्यादा फायदा जो हुआ वह यह था कि नूह-के पुस्तकालयका दर्वाजा उसके लिए खुल गया। तबसे सीना वैज्ञानिक अध्ययन या चिकित्सा-प्रयोगमे अपना गुरु आप बना, इसमे वह कितना सफल

---

[1] बुखारा वस्तुतः विहार शब्दका विकृत रूप है। नालन्दाके आर्य महाविहारकी भाँति वहाँ भी "नवविहार" नामक एक जबर्दस्त बौद्ध शिक्षणालय था; जिस तरह नालंदा जैसे विहारोने एक प्रान्तको विहार नाम दिया, उसी तरह इस "नव विहार"ने नगरको विहार या बुखार नाम दिया।

हुआ, यह अगले पृष्ठ बतलायेगे। एक बात तो निश्चित है, कि अब तक चलते आए ढर्रेकी पढाईसे इतनी कम आयुमे मुक्त हो जानेसे वह दर्शनमे टीकाकार और गतानुगतिक न बन, स्वतत्ररूपसे यूनानी दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनसे अपनी निजी शैलीको विकसित कर सका।

किसी महत्त्वाकाक्षी विद्वान्के लिए अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उस वक्त जरूरी था कि वह किसी शासकका आश्रय ले। सीनाको भी वैसा ही करना पडा। सीना, हो सकता है, अपनी प्रतिभा और विद्वत्ताके कारण किसी बडे दरबारमे रसूख़ हासिल कर सकता, किन्तु उसमे आत्म-सम्मान और स्वतत्रताका भाव इतना अधिक था, कि वह बहुत बडे दरबारमे टिक न सकता था। छोटे दरबारोमे वह बहुत कुछ समानताके साथ निर्वाह कर सकता था, इसलिए उसने अपनी दौडको वही तक सीमित रक्खा। वहाँ भी, एक दरबारमे यदि कोई तबियतके विरुद्ध बात हुई तो दूसरा घर देखा। उसके काम भी भिन्न-भिन्न दरबारोमे भिन्न-भिन्न थे, कही वह शासनका कोई अधिकारी बना, कही अध्यापक, और कही लेखक। अन्तमे चक्कर काटते-काटते हमदान (पश्चिमी ईरान)के शासक शम-सुद्दौलाका वजीर बना। शम्सुद्दौलाके मरनेके बाद उसके पुत्रने कुछ महीनोके लिए सीनाको जेलमे डाल दिया—सीनाने खान्दान भर तो क्या उत्तराधिकारी तककी कोर्निश करनी नही सीखी थी। जेलसे छूटनेपर वह इस्पहाँके शासक अलाउद्दौलाके दरबारमे पहुँचा। अलाउद्दौलाने जब हमदानको जीत लिया, तो अबीसीना फिर वहाँ लौट गया। यही १०३७ ई० में ५७ वर्षकी उम्रमे उसका देहान्त हुआ, हमदानमे आज भी उसकी समाधि मौजूद है।—हमदामन (इखबतन) ईरानके प्रथम राजवश (मद्रवश)के प्रथम राजा देवक (दयउक्कु, मृत्यु ६५५ ई० पू०)की राजधानी थी।

२—कृतियाँ

सीनाने यूनानी दार्शनिकोकी कृतियोपर कोई टीका या विवरण नही लिखा। उसका मत था—टीकाये और विवरण ढेरकी ढेर मौजूद है,

ज़रूरत है उनपर विचार कर स्वतन्त्र निश्चयपर पहुँचनेकी। वह जिस निश्चयपर पहुँचा, उसे अपने ग्रन्थोमे उल्लिखित किया। उसके दर्शनके ग्रन्थोमे तीन मुख्य है—

(१) शफा, (चिकित्सा) (अबू-अबीद जोज़जानीको पढाते वक्त तैयार हुई)। (२) इशारात (=सकेत)। (३) नजात (=मुक्ति)।

इनमे "शफा"के बारेमे उसने खुद कहा है, कि मैने यहाँ अरस्तूके विचारोको दर्ज किया है। तो भी इसका यह मतलब नही, कि उसमे उसने अपनी बातें नही मिलाई है। यहाँ "पैगबरी" "इमामपन"की जो बहस छेडी है, निश्चय ही उसका अरस्तूके दर्शनसे कोई सम्बन्ध नही है। इसी तरह "इशारात"मे भी पैगबरी, पाप (=बुराई)की उत्पत्ति, प्रार्थना-का प्रभाव, उपासना-कर्तव्य, मोजज़ा (=चमत्कार) आदिपर जो लिखा है, उसका यूनानी दर्शनसे नही इस्लामसे सबध है। रोश्द (११२६-९८ ई०) सीनाका कडा समालोचक था, उसने जगह-जगह उदाहरण देकर बतलाया है कि सीना कितनी ही जगह अरस्तूके विरुद्ध गया, कितनी ही जगह उसने अरस्तूके भावोको गलत पेश किया, और कितनी ही जगह अरस्तूके नामसे नई बाते दर्ज कर दी। इन सबका अर्थ सिर्फ यही निकलता है कि सीनाकी तबियतमे निरकुशता थी।

सीना अपने जीवनके हर क्षणको बेकार नही जाने देता था। १७ से ५७ वर्षकी उम्र तकके ४० वर्षोकी एक-एक घडियोका उसने पूरा उपयोग किया। दिनमें वह सर्कारी अफसरका कर्त्तव्य पूरा करता या विद्यार्थियोको पढाता, शामको मित्र-गोष्ठी या प्रेमाभिनयमें बिताता, किन्तु रातको वह हाथमे कलम, तथा नीद न आने देनेके लिए सामने मदिरा का प्याला रखे बिता देता था। समय और साधनके अनुसार उसके ग्रन्थोका विषय होता था। जब पर्याप्त समय तथा पासमे पुस्तकालय रहता, तो वैद्यक (=हिकमत) या दर्शनपर कोई बडा ग्रन्थ लिखनेमे लग जाता। जब यात्रामे रहता, तो छोटी छोटी पुस्तके लिखता। जेलमे उसने कवितायें, तथा ध्यान (=रियाज़त)पर लेखनी चलाई। उसकी कविताओ और

सूफी-निबंधोमे बहुत ही प्रसाद गुण पाया जाता है। पद्य-रचनापर उसका इतना अधिकार था, कि इच्छा होनेपर उसने साइंस, वैद्यक और तर्ककी पुस्तकोको भी पद्यमे लिखा। पारसी और अरबी दोनो भाषाओपर उसका पूर्ण अधिकार था।

३—दार्शनिक विचार

सीना दार्शनिक और वैद्य (=हकीम) दोनो था। रोश्दने दर्शन-क्षेत्र-में उसकी कीर्तिछटाको मद कर दिया, तो भी वैद्यकके आचार्यके तौर बहुत पीछें तक युरोप उसका सम्मान करता रहा।

(१) मिथ्याविश्वास-विरोध—सीना अपनेसे पहिलेके इस्लामिक दार्शनिकोसे कही ज्यादा फलित-ज्योतिष और कीमिया—उस वक्तके दो जबरदस्त मिथ्या विश्वासो—का सख्त विरोधी था। वह इन्हे निरी मूढता समझता था, यद्यपि इसका अर्थ यह नही कि आँख मूँदनेके साथ ही लोग उसके नामसे इन विषयोपर ग्रन्थ लिखनेसे बाज आये हो।

हाँ, उसका बुद्धिवाद साइसवेत्ताओका बुद्धिवाद—प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त ही सत्य—नही बल्कि दार्शनिकोका बुद्धिवाद था, जिसमे कि इन्द्रियोको गलत रास्तेपर ले जानेसे बचानेके लिए बुद्धिको तर्कके अस्त्रको चतुराईसे उपयोगपर जोर दिया गया है। तर्क बुद्धिके लिए अनिवार्यतया आवश्यक है, तर्ककी आवश्यकता सिर्फ उन्हीको नही है, जिनको दिव्यप्रेरणा मिली हो, जैसे अनपढ बद्दूको अरबी व्याकरणकी आवश्यकता नही।

(२) जीव-प्रकृति-ईश्वरवाद—फाराबीकी भाँति सीना प्रकृति (मूल भौतिक तत्त्व)को ईश्वरसे उत्पन्न हुआ नही मानता था, उसके विचारमे ईश्वर एक ऊँची हस्ती है, जिसे प्रकृतिके रूपमे परिणत हुआ मानना उसे खीचकर नीचे लाना है, उसी तरह वह जीवको भी ईश्वरसे नीचे किन्तु प्रकृतिसे ऊपर तत्त्व मानता है। उसके मतसे ईश्वर जो सृष्टि करता है उसका अर्थ यही है, कि कर्त्ता (=भगवान) अनादि (अकृत) प्रकृतिको साकार रूप देता है। अरस्तू और सीनाके मतमे यहाँ थोडा अन्तर है।

अरस्तू प्रकृतिके अतिरिक्त **आकृतिको** भी अनादि (=अकृत) मानता है। और सृष्टि करनेका मतलब वह यही लेता है कि कर्त्ताने प्रकृति और आकृति-को मिलाकर साकार जगत् और उसकी वस्तुएँ बनाईं। सीना प्रकृतिको ही अनादि मानता है, और आकृतिको अकृत नही कृत (=बनाई हुई) मानता है। निश्चय ही यह सिद्धान्त सनातनी मुसलमानोके लिए कुफ्रसे कम न था और यही समझकर ११५० ई० मे बगदादमे खलीफा मुस्तन्जिद-ने सीनाके ग्रन्थोको आगमे जलाया था।

(३) **ईश्वर**—अकृत (अनादि) प्रकृति निराकार है, उस अवस्थामे जगत् तथा उसकी साकार वस्तुओका अस्तित्व नही हो सकता। इस नास्तित्वकी अवस्थासे जगत्को साकार अस्तित्वमे परिणत करनेके लिए एक सत्ताकी जरूरत है, और वही ईश्वर है। ईश्वरकी सिद्धिके लिए सीनाकी यह युक्ति अरस्तूसे भिन्न है, अरस्तूका कहना है कि प्रकृति और आकृति दोनो ही अनादि (अकृत) वस्तुएँ है, उनके ही मिलनेसे साकार जगत् पैदा होता है, इस मिलनके लिए गतिकी जरूरत है, जो गति कि चिरकालसे जगत्मे देखी जाती है, इस गतिका कोई चालक (=गतिकारक) होना चाहिए, जिसको ही ईश्वर कहते है।

ईश्वर एक (अद्वितीय) है। उसमे बहुतसे विशेषण माने जा सकते है, किन्तु ऐसा मानते वक्त यह ख्याल रखना चाहिए, कि उनकी वजहसे ईश्वर-अद्वैतमें बाधा न पडे।

(४) **जीव और शरीर**—यूनानी दार्शनिको तथा उनके अनुयायी इस्लामी दार्शनिकोकी भाँति सीनाने भी ईश्वरसे प्रथम विज्ञान (=नफ्स), उससे द्वितीय विज्ञान आदिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है, जिसको वहुत कुछ रूखी पुनरावृत्ति समझकर हम यहाँ छोड देते है। सीनाने जीवका स्थान प्रकृतिसे ऊपर रक्खा है, जो कि भारतीय दर्शन (सेश्वर साख्य) से समानता रखता है। उस समय, जब कि काबुलमे अभी ही अभी महमूदने हिन्दू-शासन हटाकर अपना शासन स्थापित किया था, किसी घूमते-फिरते योग (सेश्वर-साख्य)के अनुयायीसे सीनाकी मुलाकात

असभव न थी, अथवा अरबी अनुवादके रूपमे उसके पास कोई भारतीय दर्शनकी ऐसी पुस्तक भी मौजूद हो सकती है, जिससे कि उसने इन विचारोको लिया हो। एक बात तो स्पष्ट है, कि सीनाके दर्शनमे सबसे ज्यादा ज़ोर जीव (आत्मा)पर दिया गया है, किसी भी दार्शनिक विवेचनाके वक्त उसकी दृष्टि सदा मानव-जीवपर रहती है। इसी जीवका ख्याल रखनेके कारण ही उसने अपने सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थका नाम "शफा" (=चिकित्सा) रखा है, जिसका भाव है जीवकी चिकित्सा।

सीना शरीर और जीवको दो बिलकुल भिन्न पदार्थ मानता है। सभी पिड भौतिक तत्त्वोसे मिलकर बने है, मानव-शरीर भी उसी तरह भौतिक तत्त्वोसे बना है, हाँ, वहाँ मात्राके सम्मिश्रणमें बहुत बारीकीसे काम लिया गया है। ऐसे मिश्रण द्वारा मानव जातिकी सृष्टि या विनाश यकायक किया जा सकता है। किन्तु जीव इस तरह भौतिक तत्त्वोंके मिश्रणसे नही बना है। जीव शरीरका अभिन्न अश नही है, बल्कि उसका शरीरके साथ पीछेसे सयोग हुआ है। हरएक शरीरको अपना-अपना जीव ऊपरसे मिलता है। प्रारम्भसे ही प्रत्येक जीव एक अलग वस्तु है, शरीरमे रहते हुए सारे जीवन भर जीव अपने वैयक्तिक विकासको जारी रखता है।

मनन करना जीवकी सबसे बडी शक्ति है। पॉच बाहरी और पॉच भीतरी इन्द्रियाँ (=अन्त करण[1]) जगत्का ज्ञान विज्ञानमय जीवके पास पहुँचाती है, जिसका अन्तिम ज्ञानात्मक निर्णय या बोध जीव करता है।

---

[1] वेदान्तियोंके चार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी भाँति सीनाने भी अन्तःकरणको पाँच भागोंमें बाँटे है, जो कि मस्तिष्कके आगे, बिचले और पिछले हिस्सेमें है, और वह है—(१) हिस्स-मुश्तरक (सम्मिलित अन्तःकरण); (२) हिफ़्ज़ मज्मुई (ज्ञानमय) प्रतिबिंबोंकी सामूहिक स्मृति; (३) इद्राक् लाशऊरा (अंशोंका होशके बिना परिचय); (४) इद्राक् शऊरा (होशके साथ संपूर्णकर परिचय); (५) हिफ़्ज़ मआनी (उच्च परिचयोंकी स्मृति)।

बोध-शक्ति या बुद्धि जीवकी शक्तियोकी चरमसीमा है। पहिले बुद्धिके भीतर चिन्तनकी छिपी क्षमता रहती है, किन्तु बाहरी भीतरी इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत ज्ञानसामग्री उसकी छिपी क्षमताको प्रकट—कार्यक्षमताके रूपमे परिणत कर देती है, लेकिन ऊपर आकृतिदाता (द्वितीय नफ्स)की प्रेरणा भी शामिल रहती है, वही बुद्धिको विचार प्रदान करता है। मानव जीवकी स्मृति शुद्ध निराकार कभी नही होती, क्योकि स्मृतिके होनेके लिए पहिले साकार आधार जरूरी है।

विज्ञानमय (मानव) जीव अपनेसे नीचे (भौतिक वस्तुओ)का स्वामी है, किन्तु ऊपरकी वस्तुओका ज्ञान उसे जगदात्मा (=द्वितीय नफ्स) द्वारा मिलता है। इस तरह ऊपर नीचेके ज्ञानोको पाकर मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनता है, तो भी साररूपेण वह (मानव जीव) एक अमिश्रित, अनश्वर, अमृत वस्तु है। जबतक मानव-जीव शरीर और जगत्मे रहता है, तबतक वह उनके द्वारा अधिक शिक्षित, अधिक विकसित होनेका अवसर पाता है, किन्तु जब शरीर मर जाता है, तो जीव जगदात्माका समीपी-सा ही बना रहता है। यही जगदात्माकी समीपता—समान नही—नेक ज्ञानी जीवोकी धनधान्यता है। दूसरे जीवोको यह अवस्था नही प्राप्त होती, उनका जीवन अनन्त दुखका जीवन है। जैसे शारीरिक विकार रोगको पैदा करता है, उसी तरह जीवकी विकृत अवस्थाके लिए दड होना जरूरी है। स्वर्ग फल भी मानव-जीवको उसी परिमाणमे मिलता है, जिस परिमाणमे कि उसने अपने आत्मिक स्वास्थ्य—बोध—को इस शरीरमे प्राप्त किया है। हाँ, उच्चतम पदपर पहुँचनेवाले थोडे ही होते है, क्योकि सत्यके शिखरपर बहुतोके लिए स्थान नही है।

(५) हईकी कथा[1]—हमारे यहाँ जैसे "सकल्प सूर्योदय" जैसे नाटक या कथाए वेदान्त या दूसरे आध्यात्मिक विषयोंको समझानेके लिए लिखी गई है, सीनाने भी "हई इब्न-यकजान" या "प्रबुद्ध-पुत्र जीवक"की कथाको

---

[1] एक हईकी कथा तुफैल (देखो पृष्ठ २०४)ने भी लिखी है।

लिखकर उसी शैलीका अनुसरण किया है। जीवक अपनी बाहरी और भीतरी इन्द्रियोकी सहायतासे पृथिवी और स्वर्गकी बातोको जाननेकी कोशिश करता भटक रहा है। उसे उत्साहमे तरुणोको मात करनेवाला एक वृद्ध मिलता है। यह वृद्ध और कोई नही; एक ज्ञानी गुरु—दार्शनिक—है, जो कि पथ-प्रदर्शककी भाँति भटकेको रास्ता बतलाना चाहता है। वृद्धका नाम है हई, और वह जागृत (=प्रबुद्ध)का पुत्र है। भटकते मुसाफिरके सामने दो मार्ग है—(१) एक पश्चिमका रास्ता है जो कि सासारिक वस्तुओ और पापकी ओर ले जाता है, (२) दूसरा उगते सूर्यकी ओर ले जाता है, यह है सदा शुद्ध आकृतियो, और आत्माका मार्ग। हई मुसाफिरको उगते सूर्यकी ओर ले जानेवाले मार्गपर चलनेको कहता है। दोनो साथ-साथ आगे बढते हुए उस दिव्य ज्ञान-वापीपर पहुँचते है, जो चिरतारुण्यका चश्मा है, जहाँ सौदर्यकी यवनिका सौदर्य, ज्योतिका घूँघट ज्योति है, जहाँ कि वह **अनन्त रहस्य** वास करता है।

(६) **उपदेशमें अधिकारिभेद**—जीव और प्रकृतिको भी ईश्वरकी भाँति ही सनातन मानना, कुरानकी बातोंकी मनमानी व्याख्या करना जैसी बहुतसी बाते सीनाकी ऐसी थी, कि वह कुफ्रके फतवेके साथ जिन्दा दफना दिया जा सकता था, इस खतरेको सीना समझता था। इसीलिए उसने इस बातपर बहुत जोर दिया है, कि सभी तरहका ज्ञान या उपदेश सबको नही देना चाहिए। ज्ञान प्रदान करते वक्त गुरुका काम है, कि वह अपने शिष्यकी योग्यताको देखे, और जो जिस ज्ञानका अधिकारी हो उसको वही ज्ञान दे। पैगबर मुहम्मद अरबके खानाबदोश बद्दुओको सभ्य बनाना चाहते थे, उन्होने देखा कि बद्दुओको आत्मिक आनन्द आदिकी बाते बतलाना "भैसके सामने बीन बजाना" होगा, इसलिए उन्होने उनसे कहा "कयामत (=अन्तिम निर्णय)के दिन मुर्दे जिन्दा हो उठेगे।" बद्दुओने समझा, हमारा यह प्रिय शरीर सदाके लिए बिछुड़नेवाला नही, बल्कि वह हमे फिर मिलनेवाला है और यह उनके लिए आशा और प्रसन्नताकी बात थी। इसी तरह बहिश्त (=स्वर्ग)की दूध-शहदकी नहरे, अगूरोके बाग, हूरे

(=अप्सरायें) बद्दुओंके चित्तको आकर्षित कर सकती थी। मगर इन बातोंको यदि किसी ज्ञानी, योगी, दार्शनिकके सामने कहा जाय तो वह आकर्षण नही, घृणा पैदा करेगी। ऐसे व्यक्ति भगवान्‌की उपासना किसी स्वर्ग या अप्सराकी कामनासे नही करते, बल्कि उसमें उनका लक्ष्य होता है भगवत्-प्रेमका आनन्द और ब्रह्म-निर्वाण (=नफ्‌सकी आजादी)की प्राप्ति।

(अल्-बैरूनी ९७३-१०४८ ई०)

महमूद गजनवीके समकालीन पडित अबू-रेहाँ अल्बैरूनीका नाम भारतमे प्रसिद्ध है। यद्यपि अपने ग्रन्थो—खासकर "अल्-हिन्द"—मे उसने दर्शनका भी जिक्र किया है, किन्तु उसका मुख्य विषय दर्शन नही बल्कि गणित, ज्योतिष, भूगोल, मानवशास्त्र थे। उसका दार्शनिक दृष्टिविन्दु यदि कोई था, तो यही जो कि उसने आर्यभट्ट (४७६ ई०)के अनुयायियोंके मतको उद्धृत करके कहा है—

"सूर्यकी किरणे जो कुछ प्रकाशित करती है, वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, लेकिन उसका हम प्रयोग नही कर सकते। जहाँ सूर्यकी किरणे नही पहुँचती, वहाँ इन्द्रियोकी गति नही, और जहाँ इन्द्रियोकी गति नही उसे हम जान नही सकते।"

ख. धर्मवादी दार्शनिक

§ ५–ग़ज़ाली १०५९–११११ ई०

अब हम उस युगमे है जब कि बगदादके खलीफोका सम्मान शासकके तौरपर उतना नही था, जितना कि धर्माचार्यके तौरपर। विशाल इस्लामिक राज्य छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग सल्तनतोंके रूपमे परिणत

हो गया था। इन सल्तनतोमे सबसे बडी सल्तनत, जो कि एसियामे थी, वह थी सलेजूकी तुर्कोकी सल्तनत। इस सल्तनतके बानी तोग्रल बेग (१०३७-६२ ई०) ने ४२६ हिज्री (१०३६ ई०)मे सीस्तानकी राजधानी तूसपर अधिकार कर लिया, और धीरे-धीरे सारे ईरानको विजय करते ४४७ हिज्री (१०५४ ई०)मे इराक (बगदाद वाले देश)का भी स्वामी बन गया। तोग्रलके बाद अल्प अर्सलन् (१०६२-७२ ई०), फिर बाद मलिकशाह प्रथम (१०७२-९२ ई०) शासक बना। मलिकशाहके शासनमे सलजूकी-सल्तनतका भाग्य-सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। मलिकशाहके राज्यकी पूर्वी सीमा जहाँ काशगरके पास चीनसे मिलती, वहाँ पश्चिममे वह यरूशिलम और कुस्तुन्तुनिया तक फैली हुई थी। यही तुर्कोंके शासन-का प्रारम्भ है, जो कि अन्तमे तुर्कीके तुर्कोंके शासन और खिलाफतका अग्रदूत बना।

इस्लामके इन चिरशासित मुल्कोमे अब इस्लामकी प्रगतिशीलता खतम हो चुकी थी, अब वह दीन-दरिद्रोंका बधु तथा पुराने सामन्तवशो तथा धनी पुरोहितोका सहारक नही रह गया था। अब उसने खुद सामन्त और पुरोहित पैदा किये थे, जो पहिलेसे कम खर्चीले न थे, खास कर नये सामन्त तो शौक और विलासप्रियतामे कैसरो और शहशाहो-का कान काटते थे। (गजालीके समकालीन सुल्तान सजर सलजूकी-ने एक गुलाम लडकेके अप्राकृतिक प्रेममे पागल हो उसे लाखोकी जागीर तथा सात लाख अशर्फियाँ दे दी थी)। साधारण जाँगर चलानेवाली जनताके ऊपर इससे क्या बीत रही थी, यह गजालीके उस वाक्यसे पता लगता है, जिसे कि उसने सुल्तान सजर (१११८-५७ ई०)से कहा था—"अफसोस मुसलमानो (=मेहनत करनेवाली साधारण जनता)की गर्दने मुसीबत और तकलीफसे टूटी जाती है और तेरे घोडोकी गर्दने सोनेके हमेलोंके बोझसे दबी जा रही है।" धर्म-पुरोहितो (=मौलवियो)के बारेमे गजाली भी कहता है—"ये (मुल्ला) लोग इन्सानी सूरतमे शैतान (शयातीन-उल्-उन्स) है, जो कि स्वय पथभ्रष्ट है, और दूसरोको पथभ्रष्ट करते

है। आजकलके सारे धर्मोपदेशक ऐसे ही है, हाँ, शायद किसी कोनेमे कोई इसका अपवाद हो, किन्तु मुझको कोई ऐसा आदमी मालूम नही।"[१]

"पडित-पुरोहित (=उलमा) सुलतानो और अमीरोके वेतनभोगी बन गए थे। जिसने उनकी जबाने बन्द कर दी थी। वह प्रजापर होते हर प्रकारके अन्याय, अत्याचारको, अपनी आँखो देखते और जीभ तक नही हिला सकते थे। सुल्तान और अमीर हदसे ज्यादा विलासी और कामुक होते जाते थे। किन्तु पडित-पुरोहित रोक-टोक नही कर सकते थे।"[२]

१—जीवनी

मुहम्मद (इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद) गजालीका जन्म ४५० हिजरी (१०५९ ई०)मे तूस (सीस्तान) शहरके एक भाग ताहिरान-मे हुआ था। इनके घरवालोका खान्दानी पेशा सूत कातना (=कोरी या तँतवा)का था, जिसे अरबीमे गजल कहते है, इसीलिए उन्होने अपने नामके साथ गजाली लगाया। गजाली छोटे ही थे, तभी उनके बापका देहान्त हो गया। गजालीका बाप स्वय अनपढ था, किन्तु उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और चाहता था कि उसका लडका विद्वान् बने, इसीलिए मरते वक्त उसने मुहम्मदको उसके छोटे भाई अहमदके साथ एक दोस्तके हाथमे सौपते हुए उनकी शिक्षाके लिए ताकीद की थी। गजालीका घर गरीब था। उनके बापका दोस्त भी धनी न था। इसलिए बापकी छोडी सम्पत्तिके खतम होते ही दोनो भाइयोको खैरातकी रोटीपर गुजारा करके अपनी पढाई जारी रखनी पडी। शहरकी पढाई खतम कर गजालीको आगे पढनेकी इच्छा हुई और उसने जर्जानमें जाकर एक बडे विद्वान् अबू-नस्र इस्माइलीकी शिष्यता स्वीकार की। उस समय पढानेकी यह शैली थी, कि अध्यापक पाठ्य विषयपर जो बोलता जाता था, विद्यार्थी उसे लिखते

---

[१] "अह्याउल्-उलूम्"।

[२] 'अल्-गजाली'—शिब्ली नेअमानी (१९२८ ई०), पृष्ठ १९४

जाते थे। सौभाग्यसे सातवी सदीसे ही, जब कि अरबोने समरकदपर अधिकार किया, इस्लामिक देशोमे कागजका रवाज हो गया था, यद्यपि अभी तक नालदाके विद्यार्थी तालपत्र और लकडीकी पट्टीसे आगे नही बढे थे। गजालीने इस्माइलीसे जो पढा, उसे वह कागजपर लिखते गये थे। कुछ समय बाद जब वह अपने घरको लौट रहे थे तो रास्तेमे डाका पडा और गजालीके और सामानमे वह खर्रे भी लुट गए। गजालीसे रहा न गया, और उसने डाकुओके सरदारके पास उस कागजको दे देनेके लिए प्रार्थना की। डाकू सरदारने हँसकर कहा—"तुमने क्या खाक पढा है? जब तुम्हारी यह हालत है कि एक कागज न रहा, तो तुम कोरे रह गए।" किन्तु कागज उसने लौटा दिए।

गजालीकी पढाई काफी आगे तक बढ चुकी थी, और अब छोटे-मोटे विद्वान् उसे सतुष्ट न कर सकते थे। उस वक्त नेशापोर (ईरान) और बगदाद (इराक) दो शहर विद्याके महान् केन्द्र समझे जाते थे, जिनमे नेशापोरमे इमाम अब्दुल्मलिक हरमैन और बगदादमे अबू-इस्हाक शीराजी विद्याके दो सूर्य माने जाते थे। नेशापोर गजालीके ही प्रान्त (खुरासान)मे था, इसलिए गजालीने नेशापोर जाकर हरमैनकी शागिर्दी स्वीकार की।

अरबोने ईरानपर जब (६४२ ई०) अधिकार किया था, उस वक्त भी नेशापोर एक प्रसिद्ध नगर तथा शिक्षा-सस्कृतिका केन्द्र था, इसीलिए वहाँ वेहकियाके नामसे जो मदरसा खोला गया था, वह बहुत शीघ्रतासे उन्नति करके एक महान् विद्यापीठके रूपमे परिणत हो गया, और इस्लामके सबसे पुराने मदरसे निजामिया (बगदाद)का मुकाबिला कर रहा था। हरमैन वेहकिया तथा निजामिया (बगदाद)के विद्यार्थी रह चुके थे। अबुल्-मलिक, हरमैन (मक्का-मदीना)मे जाकर कुछ दिनो अध्यापन करते थे, इसीलिए हरमैन उनके नामके साथ लग गया था। सुल्तान अलप अर्सलन सलजूकी (१०६२-७२ ई०)का महामत्री पीछे निजामुल-मुल्क बना। वह स्वय विद्वान्—हसन बिन्-सब्बाह (किल्-उल्-मौतके सस्थापक) और (उमर-खय्यामका सहपाठी)-तथा विद्वानोकी इज्जत करता था।

हरमैनकी विद्वत्ताको वह जानता था इसलिए उसने नेशापोरमें अपने नाम-पर एक खास विद्यालय—मद्रसा निजामिया—बनवाकर हरमैनको वहाँ प्रधान अध्यापक नियुक्त किया।

गजाली हरमैनके बहुत प्रतिभाशाली छात्रोंमें थे। हरमैनके जीवनमें ही उसके योग्य शिष्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी थी। गजालीकी शिक्षा समाप्त हो गई थी, तो भी वह तब तक अपने अध्यापकके साथ रहे, जब तक कि ४७८ हिजरी (१०८५ या १०८७ ई०)में हरमैनका देहान्त न हो गया। गजालीकी आयु उस वक्त अट्ठाईस सालकी थी।

गजाली बड़े महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे, और महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए जरूरी था कि दरबारका वरदहस्त प्राप्त हो। इसलिए कितने ही सालोंके बाद गजालीने दरबारमें जाना तै किया। निजामुल्मुल्क उनके ही शहर तूसका रहनेवाला था और विद्वानोंका सम्मान तथा परख करना भी जानता था। निजामुल्-मुल्कने दरबारमें आनेपर गजालीका बड़ा सम्मान किया, और बड़े-बड़े विद्वानोंकी सभा करके गजालीकी विद्वत्ता देखनेके लिए शास्त्रार्थ कराया। गजाली विजयी हुए और ३४ वर्षकी उम्रमें इस्लामी दुनियाके सबसे बड़े विद्यापीठ बगदादके मद्रसा निजामिया-के प्रधानाध्यापक बनाए गए। जमादी-उल्-अव्वल ४८४ हिजरी (१०९१ या १०९३ ई०)को जब वह बगदादमें दाखिल हुए, तो सारे शहरने उनका शाहाना स्वागत किया। यद्यपि अब वास्तविक राजधानी नेशापोर थी, और बगदादका खलीफा बहुत कुछ सलजूकियोंका पेंशनख्वार-सा रह गया था, तो भी बगदाद अब भी विद्याकी नगरी थी।

४८५ हिजरी (१०९२ ई०)में मलिक शाह सलजूकी मर गया, उस वक्त उसकी प्रभावशाली बेगम तुर्कान खातूनने अमीरों और दरबारियों-को इस बातपर राजी कर लिया कि गद्दीपर उसका चार सालका बेटा महमूद (१०९२-९४ ई०) बैठे और साथ ही खलीफाके सामने यह भी माँग पेश की, कि खुत्बा (=शुक्रवारके नमाजके बाद शासक खलीफाके नामका पाठ)भी उसीके नामसे पढ़ा जाय। पहिली बातको तो खलीफा मुक्तदरने

डर कर मान लिया, किन्तु दूसरी बातका मानना बहुत मुश्किल था, इसके लिए खलीफाने गजालीको तुर्फान खातूनके दरबारमे भेजा, और गजालीके व्यक्तित्त्व और समझाने-बुझानेका यह असर हुआ, कि तुर्फान खातूनने अपने आग्रहको छोड दिया।

१०९४ ई०मे मुक्तदरके बाद मुस्तजहर खलीफा बना। गजालीपर मुस्तजहरकी खास कृपा थी। उस वक्त बातनी(=इस्माइली) पथका जोर फिर बढने लगा था, बगदाद हीमे नही, और जगहोपर भी। ग्यारहवी सदीमे मिश्रपर फातमी खलीफोका शासन था, वह सभी बातनी थे। काहिराका गणितज्ञ दार्शनिक अबू-अली मुहम्मद (इब्नुल्-हसन) इब्नुल्-रहीम (मृत्यु १०३८ ई०) बातनी था। ईरानमे इस्माइली बातनियो-का नेता हसन बिन-सब्बा (जो कि निजामुल्-मुल्कका सहपाठी था)ने एक स्वर्ग (किल-उल्-मौत) कायम किया था, और उसका प्रभाव बढता ही जा रहा था। गजालीने बातनियोके प्रभावको कम करनेके लिए एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम खलीफाके नामपर "मुस्तजहरी" रखा।

बगदादकी परपरा उसकी स्थापनाके समय (७६२ ई०)से ही ऐसी बन चुकी थी, कि वहाँ स्वतत्र विचारोकी लहरको दबाया नही जा सकता था। तीन सदियोसे वहाँ ईसाई, यहूदी, पारसी, मोतजली, बातनी, सुन्नी सभी शान्तिपूर्वक साधारण ही नही बौद्धिक जीवन बिताते आ रहे थे; यकबयक खिलाफतके इस गए-गुजरे जमानेमे, सीना और हसीमकी पुस्तको-की होली भले ही कभी जला दी जाये, किन्तु अब उस विचार-स्वातन्त्र्य-की लहरको दबाना उतना आसान न था। सनातनी इस्लामके जबरदस्त समर्थक अश्अरीके अनुयायी गजाली पहिले जोशमे आकर भले ही "मुस्त-जहरी" लिख डाले, अथवा "मजालिसे गजालिया"मे विरोधियोपर बडे-बडे वाग्-बाण बरसा जाये, किन्तु यह अवस्था देर तक नही रह सकती थी। गजालीने खुद लिखा है[1]—

---

[1] "मुनक़ज़-मिनल्-ज़लाल"।

"मै एक-एक बातनी, जाहिरी, फिलसफी, (=दर्शनानुयायी), मुतकल्लिम (=वादविद्यानुयायी), जिन्दीक (=नास्तिक)से मिलता था, और उनके विचारोको जानना चाहता था। चूँकि मेरी प्रवृत्ति आरम्भसे ही सचकी खोजकी ओर थी, इसलिए धीरे-धीरे यह असर हुआ, कि आँख मूँदकर पीछे चलनेकी बान छूट गई। जो (धार्मिक) विश्वास बचपनसे सुनते-सुनते मनमे जम गए थे, उनसे श्रद्धा उठ गई। मैने सोचा—इस तरहके अन्धानु-सरण करनेवाले (धार्मिक) विश्वास तो यहूदी, ईसाई, सभीके पास है . और (अन्तमे) किसी बातपर विश्वास नही रहा। करीब दो महीने तक यही हालत रही। फिर खुदाकी मेहरबानीसे यह हालत तो जाती रही, किन्तु भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासोके प्रति सन्देह अब भी बना रहा। उस वक्त चार सम्प्रदाय मौजूद थे—मुतकल्लिम्, बातनी, फिल्सफा (=दर्शन) और सूफी। मैने एक-एक सम्प्रदायके बारेमे जानकारी प्राप्त करनी शुरू की।

अन्तमे मैने सूफी मतकी ओर ध्यान दिया। जुनेद, शिब्ली, बायजीद, वस्तामी—सूफी आचार्योने जो कुछ लिखा था, उसे पढ डाला। लेकिन चूँकि यह विद्या वस्तुत अभ्यास करनेकी विद्या है, इसलिए सिर्फ पढनेसे कुछ फल नही प्राप्त हो सकता था। अभ्यासके लिए तप और सयमकी जरूरत है। (सब सोचकर) दिलमे ख्याल आया, कि बगदादसे निकल खडा होऊँ, और सभी सबधोको छोड दूँ। (किन्तु) दिल किसी तरह मानता न था, कि ऐसे ऐश्वर्य और सम्मानको तिलाजलि दे दूँ। इस तरहकी चिन्तासे नौबत यहाँ तक पहुँची कि जबान रुक चली, पढानेका काम बन्द हो गया, धीरे-धीरे पाचनशक्ति जाती रही, अन्तमें वैद्योने दवा करना छोड दिया ।"

गजालीका अपना विश्वास पुराने इस्लामकी शरीअतपर दृढ था, जो कि बिलकुल श्रद्धापर निर्भर था। यह श्रद्धामय धर्मवाद पहिली अवस्था थी। इसपर बुद्धिवादने प्रहार करना शुरू किया, जिसका असर जो हुआ वह बतला चुके है। अब गजालीके सामने दो रास्ते थे, एक तो बुद्धिको तिलाजलि देकर पहिलेके विश्वासपर कायम रहना, दूसरा

रास्ता था, बुद्धि जहाँ ले जाय वहाँ जाना। गजालीने बगदादके सुख-ऐश्वर्यके जीवनको छोड़कर अपनी शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता और त्यागका परिचय दिया, किन्तु बुद्धि अपने रास्तेपर ले जानेके लिए जो शर्त रख रही थी, वह इस त्याग और शारीरिक कष्टसे कही कठिन थी। उसमे नास्तिक बनकर "पडित", मूर्ख सबकी गालियाँ सहनी पडती, उसके नाम पर थू-थू होती। सत्य-शक्तिपर विश्वास न होनेसे वह यह भी ख्याल कर सकता था कि हमेशाके लिए दुनियाके सामने उसके मुँहपर कालिख पुत जायेगी, और निजामियाके प्रधानाध्यापककी सुख-ऐश्वर्य ही नही छिनेगा बल्कि शरीरको सरेबाजार ेडे खानेके लिए भी तैयार होना पडेगा। यदि बुद्धिके रास्तेपर पूरे दिलसे जानेका सकल्प करते तो गजालीको इन सबके लिए तैयार रहना पडता। गजाली न पूर्ण मूढ विश्वासको अपना सकते थे, और न केवल बुद्धिपर ही चल सकते थे, इसलिए उन्होने सूफियोके रास्तेको पकडा, जिसमे यदि दिखावेके लिए कुछ त्याग करना पडता है, तो उससे कई गुना मानसिक सन्तोष, सम्मान, प्रभावका ऐश्वर्य मिलता है। दिक्कत यही थी, कि बुद्धिके प्रखर तेजको रोका कैसे जाये, इसके लिए आत्म-सम्मोह[1]की जरूरत थी, जो एक बुद्धिप्रधान व्यक्तिके लिए कडवी गोली जरूर थी, किन्तु आ पडनेपर आदमी आत्महत्या भी कर डालता है।

आखिर चार वर्षके बगदादके जीवनको आखिरी सलाम कह ४८८ हिजरी (१०९५ ई०)मे ३८ वर्षकी उम्रमे कमली कधेपर रख गजालीने दमिश्कका रास्ता लिया। दमिश्कमे दो साल रहनेके बाद वह यरूशिलम आदि घूमते-घामते हजके लिए मक्का मदीना गये। मक्कामे बहुत समय तक रहे। इसी यात्रामे उन्होने सिकन्दरिया और काहिराको भी देखा।. ४९९ हिजरी (११०६ ई०)मे जब वह पैगवर इब्राहीमके जन्मस्थान खलीलामें थे, तो उसी वक्त उन्होने तीन बातोकी प्रतिज्ञा ली थी—

(१) किसी बादशाहके दरबारमे न जाऊँगा।

---

[1] Selfhypnotisation.

(२) किसी बादशाहके धनको स्वीकार न करूँगा।

(३) किसीसे वाद-विवाद (=शास्त्रार्थ) न करूँगा।

यरूशिलममे ईसाकी जन्मकुटी (भेडोका घर, जहाँ ईसा पैदा हुए थे) मे एक बार इस्मइल हाकमी, इब्राहीम शब्बाकी, अबुल्-हसन बस्री आदि सूफियोंके साथ सत्सग चल रहा था, उसी वक्त गजालीके मुँहसे एक पद्य[1] निकला, जिसपर बस्रीको समाधि लग गई, जिससे सबपर भारी प्रभाव पडा और बहुतोने अपने गरीबाँ (=कपडेके कोर) फाड डाले।

इसी जीवनमे गजालीने अपनी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक "अह्याउल्-उलूम" लिखी।

"हज करनेके बाद घरबारके आकर्षणने (गज़ालीको) जन्मभूमिमे पहुँचाया।"[2] और फिर मेरे एक दोस्तके अपने बारेमे हालके लिखे पत्रके अनुसार गजालीको "फिर वही चहारदीवारी, फिर वही खूँटा, वही पगहा, वही गाय और वही बैल! बहुत दिन उन्मुक्त रहनेके बाद . . स्वयवृत्त बधन", लेकिन मेरे दोस्तकी भाँति गजालीका "दम घुटने लगा" ऐसा पता नही लगता। आखिर सूफीवादमे वेदान्तकी भाँति यह करामात है, कि जब चाहे किसी बातको बधन बना दे, और जब चाहे उसे मुक्त कर दे।

गज़ाली अब घर-बारवाले थे। ४९९ हिजरी (११०६ ई०)के ग्यारहवे महीनेमें फिर उन्होने नेशापोरके निज़ामिया विद्यालयमे अध्यापन शुरू किया, किन्तु वहाँ ज्यादा दिन तक न रह सके। निजामुल्-मुल्क-

---

[1] "फिद्दैतक लौ लल्-हुब्ब कुन्तो फिद्दैत-नी।
व-लाकिन वे-सेहरुल्-मुक़्लतीन सब्बैत-नी॥
अतयक् लेमा जाक सद्री अनिल्-हवा।
व लौ कुन्तो तद्री कैफा शौकी अतैत-नी॥"
—अह्याउल्-उलूमकी टीका।

[2] "मुनक़्क़ज मिनल्-ज़लाल"।

का बडा बेटा फखरुल-मुल्क सजर सलजूकीका महामत्री बना था। उस वक्त एक बातनियो (इस्माइलियों, आगाखाँके पूर्वज हसन बिन-सब्बाहके अनुयायियों)का जोर बढ रहा था, यह बतला चुके है। उनके खिलाफ कलम ही नही बल्कि हुकूमतकी तलवार भी इस्तेमाल हुई, जिसपर बातनियोने भी अपना जबरदस्त गुप्त सगठन (=असेसिन) बनाया, और ५०० हिजरी (११०७ ई०)मे फखरुल्-मुल्क उनकी तलवारका शिकार हुआ। सब्बाहका "किल-उल्-मौत' ही नही नेशापोर भी असेसिनोका गुप्त गढ बनता जा रहा था, इसलिए गजालीने उसे छोडना ही पसन्द किया।

गज़ाली अब एकान्त जीवन पसन्द करते थे, किन्तु उनसे ईर्ष्या रखनेवालोकी भी कमी न थी। उन्होने गजालीकी किताबोको उलट-पलटकर यह कहना शुरू किया कि गजाली जिन्दीको-मुल्हिदो (दो नास्तिक मतो)-की शिक्षा देता है। चाहे सुल्तान सजर खुद अप्राकृतिक अपराधका अपराधी हो, किन्तु वह अपना यह कर्त्तव्य समझता था, कि इस्लामकी रक्षाके लिए गजाली जैसोकी खबर ले। संजरने गज़ालीको दरबारमे हाजिर होनेके लिए हुक्म दिया। गजाली मशहद-रजा (=वर्तमान मशहद शहर) तक गया, और वहाँसे सुल्तानके पास पत्र लिखा[1]—

"बिस्त साल दर-अय्याम सुल्तान शहीद (=मलिकशाह) रोजगार गुजाश्त। व अज्-ओ व-इस्पहान व बगदाद अक़बालहा दीद, व चद बार मियाने-सुल्तान व अमीरुल्मोमिनीन रसूल बूद् दर्-कारहांये-बुजुर्ग। व दर्-उलूमे-दीन नज्दीक हफ्ताद् किताब तस्नीफ कर्द। पस् दुनियारा चुनाँकि बवद् बदीद, व ब-जुम्लगी ब-यन्दाख्त। व मुद्दते दर-बैतुल्-मुकद्दस्, व मक्का कयाम कर्द। व बर्-सरे मश्हदे-इब्राहीम खलीलुल्लाह अहद कर्द, कि हर्गिज पेश्-हेच् सुल्तान न रवद्, व माले-हेच्-सुल्तान न गीरद्, व मुनाज़िरा व तअस्सुब न कुनद्। द्वाज्दह साल बरी वफा कर्द। व

---

[1] "मुकातिबात् गजाली"।

अमीरुल्-मोमिनीन् व यमा सुल्तानाँ दुआगोमरा मअजूर दाश्तन्द। इकनूँ शुनीदम् कि अज़्-मज्लिसे-आली इशारते रफ्ता अस्त व-हाज़िर आम्दान। फर्माँरा व-मश्हद आम्दम्, व निगह्दाश्त अह्दे-खलीलरा वलश्करगाह् न याम्दम्।"

जिसका भाव यह है कि आपके पिता मलिकशाहके शासनमे मैने बीस साल गुजारे, अस्फहान (सलजूकी राजधानी) और बगदादमे (शाही) अकवाल देखे। कितनी ही वार सुल्तान (सल्जूकी) और खलीफा (अमीमोरुल्मनीन्)के बीच बडे-बडे कामोंके लिए दूत बनकर काम किया। धर्मकी विद्याओकी सत्तरके नज्दीक पुस्तके लिखी मुद्दतो यरूशिलम, और मक्कामे वास किया। इब्राहीम अल्लाहके दोस्तके शहीद-स्थानपर प्रतिज्ञा की (१) कभी किसी सुल्तानके सामने न जाना, (२) किसी सुल्तानके धनको नही ग्रहण करना, (३) शास्त्रार्थ और हठधर्मी नही करनी। बारह साल तक इस (प्रतिज्ञा)को पूरा किया। खलीफा तथा सारे सुल्तानोने (इस) दुआ करनेवाले (फकीर)को माफ किया। अब सुना है कि सरकारने सामने आनेके लिए हुक्म निकाला है। हुक्म मानकर मश्हद-रज़ा तक आया हूँ। खलील (स्थान)पर ली हुई प्रतिज्ञाके ख्यालसे लश्करगाह नही आया।

किन्तु गज़ालीकी सारी प्रार्थना व्यर्थ गई, प्रतिज्ञाको तोडकर उन्हे लश्करगाह ही नही सजरके दरवारमे जाना पडा। गज़ालीके जनतापर प्रभाव, विद्वत्ता तथा पीछेके कामोको देखकर सजरने उनका सम्मान किया। सजरके दरवारके दवदवेका कहते है, गज़ालीपर इतना रोव छाया, कि वह होश-हवास खोने लगे थे। खैर, यह पीछेके लेखकोकी कारस्तानी है, गज़ालीके लिए ऐसे दरवारोमे जाना कोई नई वात नही थी। सजरके वर्त्तावसे गज़ालीकी जानमे जान ही नही आई, वल्कि उनकी हिम्मत कुछ खरी-खरी सुनानेकी भी हुई, उसीमे सुनहरी हमेलोके भारसे घोडोकी गरदन दवनेकी वात भी थी। सजरका खान्दान हन्फी मतको मानता था। गज़ालीपर यह भी आरोप था, कि उसने इमाम हनीफाको बुरा भला

कहा है। गजालीने अपनी सफाई देते हुए कहा—"मैंने (अपनी) किताब अह्याउल्-उलूममे लिखा है, कि मैं उन (हनीफा)को फिका (=धर्ममीमासा-शास्त्र)मे दुनियामे चुना हुआ (अद्वितीय) मानता हूँ।" खैर। गजालीने जवानीके जोशमे किसीके खिलाफ चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु अब वह वैसी तबियत नही रखते थे। जैसे-तैसे मामला शान्त हो गया।

वगदादको जब गजालीने छोडा था, तबसे उनकी विद्वत्ताकी कीर्त्ति वहुत वढ गई थी, और खलीफा तथा बगदादके दूसरे विद्याप्रेमी हाकिम और अमीर इस बातकी वहुत जरूरत महसूस करते थे कि गजाली फिर मद्रसा निजामियाकी प्रधानाध्यापकी स्वीकार करे। इसके लिए खलीफाका सारे दरबारियोके हस्ताक्षरसे गजालीके पास पत्र आया। सजरके महामत्रीने वडे जोर शोरकी शिफारिश की, किन्तु गजाली तैयार न हुए, और निम्न कारण बतलाते हुए माफी माँगी—(१) मेरे डेढ सौ विद्यार्थियोको तूससे वहाँ जाना मुश्किल है, (२) मैं पहिलेकी भाँति अब बेवालवच्चेका नही हूँ, वहाँ जानेपर घरवालोको कष्ट होगा, (३) मैंने शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा की है, जिससे वगदादमे बँचा नही जा सकता।

गजालीकी अन्तिम पुस्तक "मुस्तफ्सी" है, जिसे उन्होने मरनेसे एक साल पहिले ५०४ हिजरी (१११११ ई०)मे लिखा था। १४ जमादी द्वितीय वृहस्पतिवार ५०५ हिजरी (१९ दिसम्बर १११११ ई०)को तूसमे उनका देहान्त हुआ।

२–कृतियाँ

५०० हिजरी (११०७ ई०)के आसपास जब कि गजालीने सजरको अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था, उस वक्त तक वह सत्तरके करीब पुस्तके लिख चुके थे, यह उनके ही लेखसे मालूम होता है। उसके वादके चार सालोमे उनका लिखना बन्द नही हुआ। एक तरह बीस वर्षकी आयुसे अपने ५४वे ५५वे वर्ष तक (जब कि वह मरे)—लगातार ३४, ३५ वर्ष—उनकी लेखनी चलती रही। अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक

"अल्गजाली"मे उनकी ७८ पुस्तकोकी सूची दी है जिनमे कुछ तो कई-कई जिल्दोमे है। उनके ग्रन्थ मुख्यत फिका (=धर्म-मीमासा), तर्कशास्त्र, दर्शन, वाद-शास्त्र (=कलाम), सूफीवाद (=अद्वैत ब्रह्मवाद) और आचार-शास्त्रसे सबध रखते है।

गज़ालीकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तके है—

१ अह्याउल्-उलूम् (सूफी, आचार)
२ जवाहरुल्-कुरान (सूफी, आचार)
३ मकासिदुल् फिलासफा (=दर्शनाभिप्राय) (दर्शन)
४ मइयारुल् इल्म (तर्क)
५ तोहाफतुल्-फिलासफा (=दर्शन-खडन) (वाद)
६ मुस्तस्फी (फिका, धर्ममीमासा)

अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-सजीवनी) और तोहाफतुल्-फिलासफा (=दर्शन-खडन) गजालीकी दो सर्वश्रेष्ठ किताबे है, जिनमे अह्याउल्उलूम्को दूसरा "कुरान" समझा जाता है।

(१) अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी)—गजालीके अह्याउल्-उलूम्के कुछ प्रशसापत्र सुन लीजिए—

(क) प्रशंसापत्र—गजालीके समकालीन तथा हरमैनके पास साथ पढे अब्दुल्-गाफिर फार्सीका कहना है—"अह्याउल्-उलूम् जैसी कोई किताव उससे पहिले नही लिखी गई।"

इमाम नूदी "मुस्लिम्" (हदीस)के टीकाकारका उद्गार है—"अह्याउल्-उलूम् कुरानके लगभग है।"

शेख अवू-मुहम्मद कारजद्नीने कहा है—"यदि दुनियाकी सारी विद्याएँ (=उलूम्) मिटा दी जाये, तो अह्याउल्-उलूम्से सवको जिन्दा कर दूँगा।"

प्रसिद्ध सूफी शेख अब्दुल्ला ईदरदसको अह्याउल्-उलूम् कठस्थमी थी।

शेख अली दूसरे सूफीने पचीस वार अह्याउल्-उलूम्का अखड पाठ

किया, और हर बार पाठकी समाप्तिपर फकीरो और विद्यार्थियोको भोज दिया।

कुतुब शाज़ली बहुत पहुँचे हुए सूफी समझे जाते थे, एक दिन अह्याउल्-उलूम्को हाथमे लिए "जानते हो, यह क्या किताब है ?" कह बदनपर कोडोकी मारका दाग दिखला कर बोले—"पहिले मै इस किताबसे इन्कार करता था। आज रातको मुझे इमाम गजालीने आँ-हजरत (=पैगबर मुहम्मद)के दरबारमे पेश किया, और इस अपराधकी सजामे मुझे कोडे लगाए गए।"

शेख मुहीउद्दीन अकबर जगद्विख्यात सूफी गुज़रे है। वह अह्याउल्-उलूम्को काबा (मक्का)के सामने बैठकर पढा करते थे।

यह तो ख़ैर, "घरवालों"के मुँहसे अतिरजित प्रशसा होनेके कारण उतनी कीमत नही रखेगा, किन्तु पिछली सदीके प्रसिद्ध "दर्शन इतिहास"के लेखक जार्ज हेनरी लेविस्का कहना है[1]—

"अगर द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)के समयमे अह्याउल्-उलूम्का अनुवाद फ्रेंच भाषामे हो चुका होता, तो लोग यही कहते कि द-कार्तने अह्याउल्-उलूम्से चुराया है।"

(ख) आधार ग्रन्थ—अह्याउल्-उलूम् या विद्याओको सजीवित करनेवाली विद्या-सजीवनी कहिए—मे यद्यपि दर्शन, आचार और सूफी ब्रह्मवाद सब मिले हुए है, किन्तु मुख्यत वह आचार-शास्त्रका ग्रथ है। आचारशास्त्रमे गजालीके वक्त यूनानी ग्रथोके अनुवाद तथा स्वतत्र ग्रथ मौजूद थे, जिनमे दार्शनिक मस्कविया (मृ० १०३० ई०)की पुस्तक "तहज़ीबुल-इख़लाक" (आचार-सभ्यता)का जिक्र भी हो चुका है। सबसे पहिले अरस्तूने इस विषयपर दो पुस्तके (आचार-शास्त्र) लिखी, जिनपर पोर्फोरि (फोर्फोरियस)ने टीका लिखी थी। हुनैन इब्न-इस्हाकने अरस्तूकी

---

[1] History of Philosophy (G E Lewis, 4th edition), p. 50.

पुस्तकका अरबीमे अनुवाद किया था। मशहूर यूनानी वैद्य जालीनूस (=गलेन)ने भी इस विषयपर एक पुस्तक "मनुष्य अपने दोषोको कैसे जान सकता है"के नामसे लिखी थी, जिसका अनुवाद भी शायद अरवीमे हो चुका था, मस्कविया (१०३० ई०)ने इसके उद्धरण अपने ग्रन्थमे जगह-जगह दिये है।

यूनानी पुस्तकोसे प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न ग्रथकारोने इस विषयपर अरबीमे निम्न पुस्तके लिखी——

१ "आराउल्-मदीनतुल्-फाजिला", फाराबी(८७०-९५०ई०)राज-नीति भी है।

२ "तहजीबुल्-इखलाक", मस्कविया (मृ० १०३० ई०)

३ "अकबर वल्-इस्म" बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)।

यह तीनो पुस्तके यूनानी दार्शनिकोकी भाँति बहुत कुछ मजहबसे स्वतत्र रहकर लिखी गई है।

४ "कूवतुल्-कुलूब", अबूतालिब मक्की (मजहबी ढगपर)।

५ "जरिया इला मकारिमु'श्-शरीअत्" रागिव इस्फहानी (मजहबी ढग पर)।

इन पाँच पुस्तकोमेसे "तहजीबुल्-इखलाक" और "कूवतुल्-कुलूब"से तो बहुतसी वाते बिलकुल शब्दश ली गई है।[1] और ढग (मजहब+आचारशास्त्र) तो मक्कीकी किताब जैसा है।

(ग) लिखनेका प्रयोजन——हम बतला चुके है कि अह्याउल्-उलूम्-को गजालीने उस वक्त लिखा जब कि उनपर सूफीवादका भूत बडे जोर-से सवार था, और वह कमली ओढे अरब——शाम——की खाक छान रहे थे। उन्होने ब्रह्मानदको छोड इस पुस्तकको लिखनेके लिए कलम क्यो उठाई, इसका उत्तर गजालीने स्वय ग्रन्थके प्राक्कथनमे लिखा है——

---

[1] अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक "अलगजाली" (उर्दू)में इसके कई उदाहरण दिये है।

"मैंने देखा कि रोग सारी दुनियापर छा गया है, और चरम (आत्मिक पारलौकिक) सदाचारके रास्ते बद हो गए है। जो विद्वान् मार्ग समझाने-वाले थे, उनसे दुनिया खाली होती जा रही है। जो रह गए है वह नामके विद्वान् है, निजी स्वार्थोमे फँसे हुए है, और उन्होने सारी दुनियाको यह विश्वास दिला रखा है, कि विद्या सिर्फ तीन चीजोका नाम है, शास्त्रार्थ, कथा-उपदेश और फतवा ("व्यवस्था")। रही आखिरत (=परलोक)की विद्या वह तो ससारसे उठ गई है, और लोग उसको भूल-भुला चुके है।"

इसी रोगको दूर करने या "भूल-भुलाई" (मृत) विद्याओको सजीवन देनेके लिए गजालीने "विद्यासजीवनी" लिखनेके लिए लेखनी उठाई।

(घ) ग्रन्थकी विशेषता—शिब्लीने "विद्यासजीवनी"की कई विशेष-ताये विस्तारपूर्वक लिखी है, उनके वारेमे सक्षेपमे कहा जा सकता है—(१) ग्रथकारने विद्वानो और साधारण पाठको दोनोकी समझमे आनेके ख्यालसे बहुत सीधी-सादी भाषा (अरबी)का प्रयोग किया है, साथ ही उसके दार्शनिक महत्त्वको कम नही होने दिया है। मस्कविया-की किताब "अत्-तहारत्"को पढनेके लिए पहिले भाषाकी दुरारोह दीवारको फाँदना पडेगा, तव अर्थपर पहुँचनेके लिए मगज-पच्ची करनी होगी—वह नारियलके भीतर बद सूखी गरी है; किन्तु गजालीकी पुस्तक पतले छिलकोका लँगडा आम है। (२) इसमे अधिकारिभेद—गृहस्थ और गृहत्यागी (=अविवाहित रहनेवाले सूफी) आदि—का पूरा ख्याल रखकर उनके योग्य आचार-नियमोकी शिक्षा दी गई है। (३) उठने-बैठने, खाने-पीने जैसे साधारण आचारोपर भी व्यापक दृष्टिसे लिखा गया है। (४) क्रोध, आकाक्षा आदिको सर्वथा त्यागके उपदेशसे मनुष्यकी उपयोगी शक्तियोको कमजोर कर जो निराशावाद, अकर्मण्यता फैलाई जाती है, उसके खिलाफ काफी युक्तियुक्त बहस की गई है। यहाँ हम पिछली दो बातोके कुछ नमूने पेश करते है—

१. **(साधारण सदाचार)**—मेजपर खाना खाना, छलनी (से आटा छानना), अश्नान (=साबुनका काम देनेवाली घास) और पेट भर खाना—

इन चार चीजोंके बारेमें पुराणपंथी मुसलमान विद्वान् यह कहकर नाक-भौं सिकोड़ते थे, कि यह पैगंबरके बाद पैदा हुए बुरे व्यवहार हैं। इसपर गज़ालीने लिखा—"दस्तरखान (=सामने बिछी चादर)पर खाना अच्छा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मन्दली (=मेज)पर खाना बुरा या हराम है, क्योंकि इस तरहका कोई हुकुम शरीअत (=धार्मिक पुस्तकों)में नहीं आया है। मेजपर खानेमें (फायदेकी) यह बात है, कि खाना जमीनसे जरा ऊँचा हो जाता है, और खानेमें आसानी होती है। अश्नान (=घास)में हाथ धोना तो अच्छी बात है, क्योंकि इसमें सफाई और शुद्धता (रहती) है। खाना खानेके बाद हाथ धोनेका हुक्म (जो शरीअतमें है, वह) सफाईके ख्यालसे ही है, और अश्नानसे धोनेमें और ज्यादा सफाई है। पुराने जमानेमें (पैगंबरके समय) यदि इसका उपयोग नहीं किया जाता था, तो इसकी यह वजह होगी कि उस जमानेमें उसका रवाज न था, या वह मिलती न होगी। या (मिथ्याविश्वासके कारण) वह हाथ भी नहीं धोते थे, और तलवोंमें हाथ पोछ लिया करते थे, लेकिन इसमें यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हाथ धोना ठीक नहीं।"

खानेके तरीकेमें कितनी ही बातें पश्चिमसे लेते हुए लिखा है—"खाना किसी ऊँची चीजपर रखकर खाना चाहिए। खाने बारी-बारीसे आने चाहिएँ। जूसवाला (सूप आदि) खाना पहिले आना चाहिए। यदि अधिक मेहमान आ चुके हैं, और सिर्फ एक-दो बाकी हों तो खाना शुरू कर देना चाहिए। खानेके बाद मेवे या मिठाई आनी चाहिए।" अनुकरणीय उदाहरणके तौरपर पेश करते हुए लिखते हैं—"बाज लोगोंके यहाँ यह तरीका था, कि सारे खानोंके नाम पर्चेपर लिखकर मेहमानोंके सामने पेश किये जाते थे।"

२. उद्योगपरायणता और कर्मण्यतापर ज़ोर—बच्चोंकी प्रारंभिक शिक्षामें सैर, शारीरिक व्यायाम, मर्दाना खेलोंको रखना गज़ाली जरूरी समझते हैं। उन्होंने गानेको मनबहलावकी बात कह उसके औचित्यको यह कहकर साबित किया है कि पैगंबरने खुद हब्शियोंके खेलको

देखा था। इसके अतिरिक्त मैं कहता हूँ कि खेलकूद या मनोविनोद दिलको ताजगी देता है, उससे दिमागी थकावट दूर हो जाती है। मन-का यह स्वभाव है कि जब वह किसी चीजसे घबरा जाता है, तो अधा हो जाता है, इसलिए उसको आराम देना, इस बातके लिए तैयार करना है कि वह फिर कामके योग्य बन जाये। जो आदमी रात-दिन पढा करता है उसको चाहिए कि किसी-किसी समय खाली बैठे; क्योकि काम करनेके बाद खाली बैठना और खेल-कूद करना आदमीको गभीर काम करनेके लिए फिर तैयार कर देता है।"

इस तरह गजाली शरीरको कर्मण्य रखनेके लिए गाना, कसरत, खेलकूदकी सिफारिश करते हुए फिर उसके वास्ते मानसिक शक्तियोके इस्तेमालके लिए इस प्रकार जोर देते है—"क्रोधकी शक्तिको नष्ट करना आचारकी शिक्षा नही है। आचार-शिक्षाका अभिप्राय यह है, कि आदमीमे आत्मसम्मान और सच्चा शौर्य पैदा हो, यानी न डरपोकपन आये न गुडापन। क्रोधको बिलकुल नष्ट करना कैसे अभिप्रेत हो सकता है, जब कि खुद वन्दनीय पैगबर लोग गुस्सेसे खाली न थे। आँ-हजरत (=पैगंबर मुहम्मद)ने स्वय फरमाया है—'मै आदमी हूँ, और मुझको भी उसी तरह गुस्सा आता है जिस तरह और आदमियोको।' आँ-हजरतकी यह हालत थी कि जब आपके सामने कोई अनुचित बात की जाती तो आपके गाल लाल हो जाते थे, हॉ यह अन्तर जरूर था, कि गुस्साकी हालतमे भी आपके मुखारविन्दसे कोई बेजा बात नही निक-लती थी।"

"सन्तोष परम सुख" पर लाठी प्रहार करते हुए गजाली कहते है— "जानना चाहिए कि ज्ञान एक अवस्था पैदा करता है, और उस अवस्थासे काम लिया जाता है। कोई-कोई समझते है कि सन्तोषके यह माने है, कि जीविका-उपार्जनके लिए न हाथ पैर हिलाए जायँ न कोई उपाय सोचा जाय, बल्कि आदमी इस तरह बेकार पडा रहे, जिस तरह चीथडा जमीन पर पडा रहता है, या मास पटरेपर रखा रहता है। लेकिन यह मूर्खोका

जाये तो चेतावनी देनी चहिए, जिसमे बुरे कामोंके करनेमे दिलेर न हो जाये। किन्तु बार-बार लजवाना नही चाहिए . बार-बार कहनेसे बातका असर कम हो जाता है।

"(और उसे सिखलाना चाहिए कि) दिनको सोना नही चाहिए। बिछौना बहुत सजा तथा ज्यादा नरम नही होना चाहिए हर रोज कुछ न कुछ पैदल चलना और कसरत करनी चाहिए, जिसमे कि दिलमे अकर्मण्यता और सुस्ती न आने पावे। हाथ-पॉव खुले न रखे, बहुत जल्द-जल्द न चले, धन-दौलत, कपडा, खाना, कलम-दावात, किसी चीजपर अभिमान न प्रकट करे ।

"सभामे थूकना, जम्हाई-अँगडाई लेना, लोगोकी तरफ पीठ करके बैठना, पाँवपर पाँव रखना, ठोडीके नीचे हथेली रखकर बैठना—इन बातोसे मना करना चाहिए।

"कसम खानेसे—चाहे वह सच्ची भी हो—रोकना चाहिए। बात खुद न शुरू करनी चाहिए, कोई पूछे तो जवाब दे। .पाठशालासे पढकर निकले तो उसे मौका देना चाहिए कि कोई खेल खेले, क्योकि हर वक्त पढने-लिखनेमे लगे रहनेसे दिल बुझ जाता है, समझ मन्द हो जाती है, तबियत उचट जाती है।"

यह शिक्षाये मस्कवियाने अपने तहजीबुल्-इखलाकमे यूनानी ग्रन्थोसे लेकर दी है।

(२) प्रसिद्धिके लिए दान-पुण्य ग़लत—नाम और प्रसिद्धिकी लालचमे अमीर लोग दान-धर्म करते है, उनके बारेमे गजाली कहता है—

"इन (धनियो, अमीरो, बादशाहो)मे बहुतसे लोग, मस्जिद, मद्रसे और मठ (=खानकाहे), बनवाते है, और समझते है कि, यह बडे पुण्यका काम है, यद्यपि जिस आमदनीसे उन्हे बनवाया जाता है, वह बिलकुल नाजायज तरीकेसे हुई है। यदि आमदनी जायज हो, तो भी उनका अभिप्राय वस्तुत पुण्य नही बल्कि प्रसिद्धि और नामपाना होता है। उसी शहरमे ऐसी दुर्गतिमे पडे आदमी है, जिनकी सहायता करना मस्जिद बनानेसे

ज्यादा सवाबका काम है, लेकिन उसकी अपेक्षा इमारत बनवानेको बेहतर समझते है; जिसकी वजह सिर्फ यह होती है, कि इमारतसे जो चिरस्थायी प्रसिद्धि मिलती है, वह गरीबोंको देनेसे नही हो सकती।"

३—तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (=दर्शन-खंडन)

(क) लिखनेका प्रयोजन—कितनेही मुसलमान इस पुस्तकके नाम और गजालीकी सर्वप्रियताको देखकर यह समझनेकी गलती करते है, कि गजालीने सचमुच दर्शनका विध्वस (=खडन) कर दिया। गजालीके अपने ही विचार दर्शन छोड़ और है क्या? उन्होने कभी बद्दुओंके सीधे-सादे इस्लामकी ओर लौटनेका नारा नही लगाया, यद्यपि उनकी कुछ सामाजिक बातो—कबीलाशाही, भाई-चारा, समानता—को वह जरूर अनुकरणीय बनाना चाहते थे। शिक्षित सस्कृत-नागरिक श्रेणीमे उस वक्त यूनानी दर्शनका बहुत सम्मान था, खुद इस्लामके भीतर "पवित्र-सघ" (अखवानुस्सफा), बातनी आदि सम्प्रदाय पैदा हो गये थे, जो कि अफलातूँ-अरस्तूको सूक्ष्म ज्ञानमे रसूल-अरबीसे भी बडा समझते थे, इसलिए इस्लामके जवर्दस्त वकील गजालीको ऐसी पुस्तक लिखना जरूरी था, जैसा कि उन्होने स्वय पुस्तककी भूमिकामे लिखा है—

"हमारे जमानेमे ऐसे लोग पैदा हो गए है, जिनको यह अभिमान है, कि उनका दिल-व-दिमाग साधारण आदमियोसे श्रेष्ठ है। यह लोग मजहबी आज्ञाओ और नियमोको घृणाकी निगाहसे देखते है। इनका ख्याल है कि अफलातूँ, अरस्तू आदि पुराने हकीम (=मुनि या आचार्य) मजहबको झूठा समझते थे। चूँकि ये हकीम ज्ञान-विज्ञानके प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक थे, और बुद्धि तथा प्रतिभामे उनके जैसा कोई नही हुआ; इसलिए उनका धर्मको न मानना इस बातका प्रमाण है, कि मजहब (=धर्म) वस्तुत झूठ और फजूल है, उसके नियम तथा सिद्धान्त मनगढन्त और बनावटी है, जो सिर्फ देखने हीमे सुन्दर और चित्ताकर्षक मालूम होते है। इसी वजहसे मैने निश्चय किया कि (यूनानी) आचार्योंने आध्यात्मिक विषयपर

१३ ईश्वर व्यक्तियोको नही जानता गलत
१४ आसमान (=फरिश्ते) और प्राणी इच्छानुसार
गति करते है गलत
१५ आसमानकी गतिके लिए दिये गए कारण गलत
१६ आसमान सारे (जगत्-)अवयवोके जानकार है गलत
१७ अप्राकृतिक घटना नही होती गलत
१८ जीव एक द्रव्य है जो न गुण है न शरीर—साबित नही कर सकते
१९ जीव नित्य है साबित नही कर सकते
२० कयामत (=प्रलय) और मुर्दोका जी उठना नही होता गलत

४–दार्शनिक विचार

गजाली सभी दार्शनिक सिद्धान्तोके विरोधी न थे, यह तो ऊपरके लेखसे साफ हो गया, अब हम यहाँ उनके कुछ सिद्धान्तोको देते है—

(१) जगत् अनादि नहीं—यूनानी दार्शनिकोका जगत्-नित्यतावाद इस्लामके लिए खतरेकी चीज थी, यह इस्लामके ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) पर ही सख्त हमला न था, बल्कि अनीश्वरवादकी ओर खीचनेवाला जबर-दस्त हथियार था, जैसा कि गजालीने "दार्शनिकको नास्तिक होना पडता है" अपनी प्रतिपाद्य विषयके बारेमे लिखते हुए प्रकट किया है। दार्शनिक कहते थे कि जगत् एक सान्त, गोल, किन्तु कालमे अनन्त—सदा रहनेवाला—है, सदासे वह ईश्वरसे निकलता आ रहा है, वैसे ही जैसे कि कार्य (घडा) अपने कारण (मिट्टी)से।

गजालीका कहना है कि जो कालमे सान्तता मानता है, उसे देशमे भी सान्तता माननी पडेगी। यह कहना कि हम वैसा इसलिए मानते है क्योकि देश बाहरी इन्द्रियोका विषय है, किन्तु काल आन्तरिक इन्द्रिय (=अन्त-करण)का, उससे कोई अन्तर नही पडता, आखिर इन्द्रिय-ग्राह्य (विषय)-को तो स्वीकार करना ही पडेगा। फिर जैसे देशका पिड (=विषय)-के साथ एक सबध है, उसी तरह कालका सबध पिड (=विषय)-

की गतिसे वराबर बना रहता है। काल और देश दोनो ही वस्तुओके आपसी सबधमात्र है—देश वस्तुओकी उस स्थितिको प्रकट करता है, जो उनके साथ-साथ रहनेपर होती है, काल वस्तुओकी उस स्थितिको बतलाता है, जो उनके एक साथ न रहनेपर (आगे-पीछे होनेसे) होती है। ये दोनो ही जगत्की वस्तुओ (=पिडो, इन्द्रिय-विषयो)के भीतर और उनके साथ वने है, अथवा कहना चाहिए कि देश-काल हमारे मानस-प्रतिबिबो (मनके भीतर जिन रूपोमे वस्तुएँ ज्ञात या याद होती है)के पारस्परिक सबध है, जिन्हे कि ईश्वरने बनाया है। इस प्रकार देश और कालमे एककी सान्तताको स्वीकार करना दूसरेकी सान्तताका नही करना, गलत है। दोनो ही वस्तुत कृत और सादि है। और फिर सादि (देश-कालमे अवस्थित) जगत् भी सादि होगा। अतएव ईश्वरके सृजन (=जगत्-उत्पादन)मे किसी जगत्-अनादिता आदिकी बात नही, वह जगत् बनानेमे सर्वत्र-स्वतन्त्र है।

(२) कार्यकारणवाद और ईश्वर—गजालीके जगत्के आदि-अनादि होनेके बारेमे क्या ख्याल है, यह बतला चुके, किन्तु सवाल यही खतम नही हो जाता। यदि ईश्वरको सर्वतत्र-स्वतत्र—बिना कारण(मिट्टी)के कार्य (घडा) बनानेवाला—मानते है, तब तो कार्य-कारणका सवाल ही नही उठता, ईश्वर खुद हर वक्त वैसे ही बना रहा है, फिर तो इमाम अश्अरीका कार्य-कारण-रहित परमाणुवाद ठीक है। गजालीके सामने दो मुसीबते थी। कार्यकारणवाद माननेपर, यूनानी दार्शनिकोकी भाँति जगत्को (प्रवाह या स्वरूपसे) अनादि मानना होगा, यदि कार्य-कारण-वादको न माने तो अश्अरीके "परमाणुवाद"मे फँसना पडेगा। आइये "तोहाफतुल्-फिलासफा"से उनके शब्दोमे इस बहसको ले—

"(यूनानी) दार्शनिकोका ख्याल है, कि कार्य और कारणका जो सबध दिखाई पडता है, वह एक नित्य (=समवाय) संबध है, जिसकी वजहसे यह सभव नही कि कारण (मिट्टी)के बिना कार्य (घडा) पाया जाये। सारे साइस (=प्रयोग-सिद्ध ज्ञान)का आधार इसी (कार्य-कारण)वादपर है।

"लेकिन मै (गजाली) जो इस (वाद)के विरुद्ध हूँ, उसकी वजह यह है कि इसके माननेसे पैगबरोकी करामात (=दिव्य चमत्कार) गलत हो जाती है, क्योकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाये, कि दुनियाकी हर चीजमे 'नित्य-सबध' पाया जाता है, तो ऐसी अवस्थामे अ-प्राकृतिक घटनाएँ (=करामात) असभव हो जायेगी, और धर्मका आधार अप्राकृतिक घटनाओ (करामात, या कारण बिना ईश्वरके सृष्टि करनेके सिद्धान्त) पर है।[1] (इसीलिए हम मानते है कि) आग और आँचमे, सूर्योदय और प्रकाशमे कोई नित्य सबध नही पाया जाता, बल्कि ये सारे कार्य-कारण ईश्वरकी इच्छासे (हर क्षण नये) पैदा होते है।"[2]

दार्शनिक वैसा क्यो मानते है? इसलिए कि "जलानेवाली चीज अर्थात् आग इच्छा करके नही जलाती, बल्कि वह अपने स्वभावसे मजबूर है कि कपडेको जलावे, अतएव यह कैसे सभव है कि आग कपडेको जलावे, किन्तु (किसी सिद्ध पुरुषकी आज्ञा मान अपनी इच्छाको रोक) मस्जिदको न जलावे। . . ."[3]

अब सवाल होगा कि आगके स्वभाव और उसकी मजबूरीका ज्ञान कैसे हुआ—

"साफ है कि इस प्रश्नका उत्तर सिवाय इसके और कुछ नही हो सकता कि आग जब कपडेमे लगाई जाती है तो हम सदा देखते है कि वह जला देती है, लेकिन हमे बार-बारके देखनेसे यदि कुछ मालूम होता है, तो वह यह है कि आगने कपडेको जलाया। (इससे) यह कैसे मालूम हुआ कि आग ही जलानेका कारण है। उदाहरणोको देखो—सब जानते है कि विवाह-क्रियासे मानव-वशकी वृद्धि होती है, किन्तु यह तो कोई नही कहता कि यह क्रिया बच्चेकी उत्पत्तिका (—नित्य सबध होनेसे अवश्य ही—) कारण है?"[4]

---

[1] तोहाफतुल्-फिलासफा, पृष्ठ ६४ [2] वही, पृष्ठ ६५
[3] वही, पृष्ठ ६६
[4] वही, पृष्ठ ६६

इस सारी बहससे गज़ाली कार्य-कारणवादके किलेकी दीवारमें एक छोटा सा सूराख करना चाहते हैं, जिससे सृष्टिको सादि, ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र तथा पैगंबरोंकी करामातको सच्ची साबित कर सकें।

गज़ाली यहाँ अश्अरीके "परमाणुवाद"के बहुत पास पहुँच गए हैं। किन्तु अब फिर उनको होश आता है, और कहते हैं[1]—

"कारणोंके कारण (ईश्वर)ने अपना कौशल दिखलानेके लिए यह ढंग स्वीकार किया है, उसने कार्योंको कारणोंसे बाँध दिया है; कार्य अवश्य कारणके बाद अस्तित्वमें आयेगा, यदि कारणकी सारी शर्तें पाई जायँ। यह इस तरहके कारण हैं, जिनसे कार्योंका अस्तित्व बँधा हुआ है—वह कभी उनसे अलग नहीं होता; और यह भी ईश्वरकी प्रभुता और इच्छा है। ..जो कुछ आसमान और जमीनमें है, वह आवश्यक क्रम और अनिवार्य नियम (=हक)के अनुसार पैदा हुआ है। जिस तरह वह पैदा हुआ, और जिस क्रममें पैदा हुआ, इसके विरुद्ध और कुछ हो ही नहीं सकता। जो चीज किसी चीजके बाद पैदा हुई, वह इसी वजहसे हुई कि उसका पैदा होना इसी शर्तपर निर्भर था।.. जो कुछ दुनियामें है, उससे बेहतर या उससे पूर्णतर संभव ही नहीं था। यदि संभव था और तब भी ईश्वरने उसको रख छोड़ा, और उसको पैदा करके अपने अनुग्रहको प्रकट नहीं किया, तो यह कृपासे उलटी कृपणता (=कंजूसी) है, उलटा जुल्म है। यदि वैसा संभव होनेपर भी ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ नहीं है, तो इससे ईश्वरकी बेचारगी साबित होती है, जो कि ईश्वरताके विरुद्ध है।"[2]

(३) **ईश्वरवाद**—गज़ालीका दार्शनिकोंसे जिन बीस बातोंमें मतभेद है, उनमें तीन मुख्य हैं, एक "जगत्की अनादिता जिसके बारेमें कहा जा चुका। दूसरा मतभेद स्वयं ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें है।

---

[1] "मुसब्बबुल्-अस्बाब् इज्रा सनतन् बे-रब्तिल्-मुसब्बबाते बिल्-अस्बाबे इज्हारन् लिल्-हिकमते।" [2] 'अह्याउल्-उलूम्"।

दार्शनिक ईश्वरको सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माननेके लिए तैयार है, किन्तु साथ ही वह कहते है कि वह ज्ञानमय (=ज्ञानसार) है। जो (उसके) ज्ञानमे है, वही उससे निकलकर अस्तित्वमे आता है, किन्तु वह इच्छा नही करता, इच्छा तभी होती है, जब कि किसी बातकी कमी हो। इच्छा भौतिक पदार्थोके भीतरकी गति है—पूर्णसत्य आत्मा (=ब्रह्म) किसी बातकी इच्छा नही कर सकता। इसलिए ईश्वर अपनी सृष्टिको ध्यानमे पाता है, उसमे इच्छाके लिए गुजाइश नही।

किन्तु गजाली ईश्वरको इच्छारहित माननेको तैयार नही। उनके मतसे (ईश्वरकी इच्छा) सदा उसके साथ रहती है, और उसी इच्छासे वह सृष्टिको बिना किसी मजबूरी (प्रकृति-जीव तत्त्वोके पहिलेसे मौजूद होने)के बनाता है। दार्शनिकोके लिए ईश्वरका ज्ञान सृष्टिका कारण है, गजालीके लिए ईश्वरकी इच्छा, चूँकि वह इच्छापूर्वक हर चीज-को बनाता है, इसलिए उसे सिर्फ वस्तु सामान्यका ही ज्ञान नही बल्कि वस्तु-व्यक्ति (=एक-एक वस्तु)का भी ज्ञान है, और इस तरह गजाली **भाग्यवाद**के फदेमे फँसते है, और फिर कर्म-स्वातत्र्य न होनेसे मनुष्यके उद्योगपरायण होने आदिकी शिक्षा बेकार हो जाती है।

(४) **कर्मफल**—ईश्वरको सर्वतत्र-स्वतत्र (प्रकृति-जीव तत्त्वो पर निर्भर न होना) सिद्ध करनेके लिए इस्लामके वकील गजालीको जगत्-का सादि होना, तथा ईश्वरको इच्छावान् मानना पडा, "ईश्वरेच्छा बलीयसी" माननेपर भाग्यवादसे बचना असभव हुआ। जीवका पहिले-पहिल एक ही बारके लिए जगत्मे उत्पन्न होना यह सिद्धान्त ऊपरकी बातो-को लेते हुए गजालीको और मुश्किलमे डाल देता है। आखिर खुदाने मनुष्योकी मानसिक शारीरिक योग्यतामे भेद क्यो किया ?—खैर इसका उत्तर तो वह दे नही सकते थे, क्योकि उसकी न्यायताके लिए उन्हे पिथागोर या हिन्दुओकी भाँति पुनर्जन्म मानना पडता, और फिर जगत्-जीव-अनादिताका सवाल उठ खडा होता। किन्तु इस्लामने कर्मके अनु-सार सजा-इनाम (नर्क-स्वर्ग) पानेकी जो बात कही है, उससे भी ईश्वरपर

आक्षेप आता है। सजा (=दड) सिर्फ दो ही मतलबसे दी जा सकती है या तो बदला लेनेके लिए, जो कि ईश्वरके लिए शोभा नही देता; अथवा सुधारनेके लिए किन्तु वह भी ठीक नही क्योकि सुधारके बाद मनुष्यको फिर कार्यक्षेत्रमे उतरने (जगत्मे पुन जन्मने)का मौका कहाँ मिलता है ? ईश्वरको ऐसा करनेसे अपने लिए कोई लाभकी इच्छा हो, यह बात मानना तो ईश्वरकी ईश्वरतापर भारी धब्बा होगा। इस शकाका उत्तर गजालीने अपनी पुस्तक "मज्मून बे अला-गैर-अहलें-ही"मे दिया है।—जिसका भाव यह है—स्थूल जगत्मे कार्यकारणका जो क्रम देखा जाता है, उससे किसीको इन्कार नही हो सकता। सखिया घातक है, गुलाब जुकाम पैदा करता है। यह चीजे जब इस्तेमाल.की जायेगी तो उनके असर जरूर प्रकट होगे। अब यदि कोई आदमी सखिया खाये और मर जाए, तो यह आक्षेप नही किया जा सकता, कि ईश्वरने क्यो उसको मार डाला, या ईश्वरको उसके मार डालनेसे क्या मतलब था। मरना सखिया खानेका एक अनिवार्य परिणाम है। उसने सखिया अपनी खुशीसे खाई और जब खाई, तो उसके परिणामका प्रकट होना अवश्यभावी था। यही बात आत्मिक जगत्में भी है। भले बुरे जितने कर्म है, उनका अच्छा-बुरा प्रभाव जीवपर लगातार होता है। अच्छे कामोसे जीवमे दृढता आती है, बुरे कामोसे गदगी। यह परिणाम किसी तरह रुक नही सकते। जो आदमी किसी बुरे कामको करता है, उसी समय उसके जीवपर एक खास प्रभाव पड जाता है, इसीका नाम सजा(दड)है। मान लो एक आदमी चोरी करता है, इस कामके करनेके साथ ही उसपर भय सवार हो जाता है। वह चाहे पकडा जाये या नही, दडित हो या नही, उसके दिलपर दाग लग चुका, और यह दाग मिटाए नही मिट सकता। जिस तरह ईश्वरपर यह आक्षेप नही हो सकता कि सखिया खानेपर ईश्वरने अमुक आदमीको क्यो मार डाला, उसी तरह यह आक्षेप भी नही हो सकता कि बुरा काम करनेके लिए, ईश्वरने दड क्यो दिया ? क्योकि उस बुरे कामका यह अवश्यभावी परिणाम था, इसलिए वह हुए बिना नही रह सकता था। गजालीके अपने शब्द है—

"भगवान्‌के ग्रथके विधि-निषेधोके अनुसार न चलनेपर जो फल (=अजाव)होगा, वह क्रोध या वदला लेना नही है। उदाहरणार्थ जो आदमी वीवीसे प्रसग नही करेगा, ईश्वर उसे सन्तान नही देगा, जो आदमी खाना-पीना छोड देगा, ईश्वर उसे भूख-प्यासकी तकलीफ देगा। पापी-पुण्यात्माका कयामत (=ईश्वरीय न्यायके दिन) की यातनाओ और सुखोंके साथ यही सवध है। पापीको क्यो यातना दी जायेगी—यह उसी तरह कहना है कि प्राणी विषसे क्यो मर जाता है, और विष क्यो मृत्युका कारण है ?"

ईश्वरने अपने धार्मिक विधि-निषेधोकी जहमतमे आदमियोको क्यो डाला, इसके उत्तरमे गजाली कहते हैं—

"जिस तरह शारीरिक रोगोंके लिए चिकित्सा-शास्त्र (वैद्यक) है, उसी तरह जीवके लिये भी एक चिकित्सा-शास्त्र है, और वदनीय पैगवर लोग उसके वैद्य है। कहनेका ढग है कि वीमार इसलिए अच्छा नही हुआ कि वह वैद्य(की आज्ञा)के विरुद्ध गया, इस वजहसे अच्छा हुआ कि वैद्यकी आज्ञाका पालन किया। यद्यपि रोगका वढना इसलिए नही हुआ कि रोगी वैद्य(की आज्ञा)के विरुद्ध गया; वल्कि (असली) वजह यह थी, कि उसने स्वास्थ्यके उन नियमोका अनुसरण नही किया, जो कि वैद्यने उसे वताए थे।"[1]

(५) जीव (=रूह)—पैगवर मुहम्मदको भी लोगोने जीवके वारेमे सवाल करके तग किया था, जिसपर अल्लाहने अपने पैगवरको यह जवाव देनेके लिये कहा—"कह जीव मेरे रवके हुक्मसे है"[2]। जव कुरान और पैगवर तकको इससे ज्यादा कहनेकी हिम्मत नहीं है, तो गजालीका आगे वढना खतरेसे खाली नही होता, इसलिए वेचारोने "अह्याउल्-उलूम्"मे यह कहकर जान छुडानी चाही, कि यह उन रहस्योमें है, जिनको

---

[1] "मज्नून वेः अला-ग़ैरे-अह्ले-ही", पृष्ठ १०

[2] "क़ुल् अ'र्-रूहो मिन्-अम्रे रव्वी"—क़ुरान

प्रकट करना ठीक नही, लेकिन "मजूनून-सगीर"मे उन्होने इस चुप्पीको तोडना जरूरी समझा—आखिर "रबके हुक्मसे" जीवका होना बद्दुओ-को सन्तोष भले ही दे सकता था, किन्तु फाराबी और सीनाके शागिर्दोको उससे चुप नही किया जा सकता था, इसलिए गजाली दर्शनकी भाषामे कहते है—"वह (जीव) द्रव्य है, शरीर नही। उसका सबध बदनसे है, किन्तु इस तरह कि न शरीरसे मिला न अलग, न भीतर न बाहर, न आधार न आधेय।"

द्रव्य है—क्योकि जीव वस्तुओको पहिचानता है, पहिचानना या पहिचान एक गुण है। गुण विना द्रव्यके हो नही सकता, अतएव जीवको जरूर द्रव्य होना चाहिए, अन्यथा उसमे गुण नही रह सकता।

शरीर नही है, क्योकि शरीर होनेपर उसमे लबाई चौडाई होगी, फिर उसके अश हो सकेगे, अश हो सकनेपर यह हो सकता है, कि एक अशमे एक बात पाई जाये और दूसरे अशमे उससे विरुद्ध बात जैसे लकडीके फट्ठेमे आधेका रग सफेद, आधेका रग काला। और फिर यह भी सभव है, कि जीवके एक भागमे राम (जिसका कि वह जीव है)का ज्ञान हो, और दूसरे भागमे उसी रामकी बेवकूफीका। ऐसी अवस्थामे जीव एक ही समयमे एक वस्तुका जानकार भी हो सकता है, और गैरजानकार भी। और यह असभव है।

न मिला न अलग, न भीतर न बाहर है, क्योकि यह गुण शरीर (=पिंड)के है, जब जीव शरीर ही नही है तो वह मिला-अलग-भीतर-बाहर कैसे हो सकता है।

कुरान और आप्त पुरुषोने जीव क्या है, इसे बतानेसे इन्कार क्यो किया, इसका उत्तर गजाली देते है—दुनियामे साधारण और असाधारण दो तरहके लोग है। साधारण लोगोकी तो बुद्धिमे ही जीव जैसी चीज नही आयेगी, इसीलिए तो **हंबलिया** और **कर्रामिया** सम्प्रदायवाले ईश्वर-को साकार मानते है, क्योकि उनके ख्यालसे जो चीज साकार नही उसका अस्तित्व नही हो सकता। जो व्यक्ति साधारण लोगोकी अपेक्षा कुछ

विस्तृत विचार रखते है, वह शरीरका निषेध करते है, तो भी ईश्वरका दिशावान होना मानते है। अश्-अरिया और मोतजला सम्प्रदायवाले इस तरहके अस्तित्वको स्वीकार करते है जिसमे न शरीर हो, न दिशा। लेकिन वह इस प्रकारके अस्तित्वको सिर्फ ईश्वरके व्यक्तित्व तथा ईश्वरके गुणके साथ ही मानते है। यदि जीवका अस्तित्व भी इस तरहका हो, तो उनके विचारसे ईश्वर और जीवमे कोई अन्तर नही रह जायेगा। जैसे भी देखे, चूँकि जीवकी वास्तविकता क्या है यह साधारण और असाधारण दोनो प्रकारके लोगोकी समझसे बाहरकी बात थी, इसलिए उसके बतानेसे टालमटोल की गई।

गज़ालीने जीवका जो लक्षण बतलाया है, वह यूनानी और भारतीय दर्शन जाननेवालोके लिए नई बात नही है।

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे"की आवाजमे आवाज मिलाते हुए गजाली कहते है—

"व लैस'ल्-बद्नो मिन् कवामे जाते-का
फ इन्हदाम'ल्-बद्ने ला यअ्दमो-का।"

("शरीर तेरे अपने लक्षणो (स्वरूपो)में नही है, इसलिए शरीरका नष्ट होना तेरा नष्ट होना नही है।")

(६) **क़यामतमें पुनरुज्जीवन**—जो मनुष्य दुनियामे मरते है, वह कयामत (=अन्तिम न्याय)के दिन फरिश्ता इस्राफीलके नरसिंगे (=सूर)के बजते ही उठ खडे होगे। इस तरहके पुनरुज्जीवनको इस्लाम भी दूसरे सामीय (यहूदी, ईसाई) धर्मोकी भाँति मानता है। बद्दुओमे भी कुछ वस्तुवादी थे, जो इसे खामखाकी कवाहत समझते थे, जैसा कि बद्दू कवि अल्-हाद अपनी स्त्रीको सुनाकर कहता है—

"अमोतो सुम्म बअ्स सुम्म नश्रा। हदीसे खुराफात या' उम्-अम्रु"

(मरना फिर जीना फिर चलना-फिरना। अमरू की माँ! यह तो खुराफातकी बाते है।) गज़ाली इस बातको अपने और दार्शनिकोंके बीचके तीन बड़े मतभेदोमे मानता है। दार्शनिक सिर्फ जीवको अमर मानते है,

शरीरको वह नश्वर समझते है। इस्लाममे कयामतमे मुर्दोंके जिन्दा उठ खडे होनेको लेकर दो तरहके मत थे—(१) एक तो अब्दुल्ला बिन्-अब्बास जैसे लोगोका जो कि कयामतके बाद मिलनेवाली सारी चीजोको आजकी दुनियाकी चीजोंसे सिर्फ नाममात्रकी समानता मानते थे—शराब होगी किन्तु उसमे नशा न होगी, आहार होगा किन्तु पेशाब-पाखाना नही होगा। इसी तरह शरीर मिलेगा किन्तु यही शरीर नही। (२) दूसरा गिरोह अश्-अरियोका था, जो कि कयामतवाले जिस्म क्या सभी चीजोको इसी दुनियाकी तथा बिलकुल ऐसी ही मानते थे। इनके अलावा तीसरा गिरोह बाहरी विचारो और दर्शनसे प्रभावित सूफी लोगोंका था जो कहते थे—

"हूर-ो खुल्द-ो कौसर् ऐ वाअज अगर खुश्कर्द ई।
बज्मे मा-हम् शाहिद-ो नक्ल-ो शराबे बेश् नेस्त॥"

(धर्मवक्ता! अप्सरा, बाग और नहर यदि स्वर्गमे हमे खुश करनेके लिए है, तो वह हमारी आमोदमडली और शराबसे बेहतर तो नही है।)

गजाली तीसरे पथके पथिक होते हुए भी पहिले दो गिरोहोको अपने साथ रखना चाहते थे—

"बहारे-आलमे-हुस्न-श् दिल-ो जॉ ताज मी-दारद्।
ब-रग'स्हाबे-सूरतरा ब-बू अर्बाबे-मानी-रा॥"

(उस प्रियतमके सौदर्यकी दुनियाकी बहार अपने रगसे सूरतके प्रेमियोके और सुगंधसे भावके प्रेमियोके दिलो-जानको ताजा रखती है।)

खैर! यह तो बहिश्तमे मिलनेवाली दूसरी चीजोकी बात कही। सवाल फिर भी वही मौजूद है—कयामतमे जिन्दा हो उठेको वही पुराना छोडा शरीर मिलेगा या दूसरा? अश्-अरियोका कहना था—बिलकुल वही शरीर और वैसी ही आकृति (सूरत)। इसपर प्रश्न होता था—जो चीज नष्ट हो गई उसका फिर लौटकर अस्तित्वमे आना असंभव है। और फिर मान लो एक आदमी दूसरे आदमीको मारकर खा गया, और एकके शरीर-परमाणु दूसरेके शरीर-परमाणु बन गए तो हत्यारेका शरीर कयामतमे यदि ठीक वही हो जो कि दुनियामे था, तो मारे गए

व्यक्तिका शरीर बिलकुल वैसा ही नही हो सकता।

गजालीका मत है, कि कयामतमे मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे, यह ठीक है, शरीर बिलकुल वही पुराना होगा यह जरूरी नही।

(७) सूफीवाद—गजालीका लडखडाता पैर सूफीवादके सहारे सँभल गया, इसके बारेमे पहिले भी कहा जा चुका है, और उसके समकालीन किसी महाविद्वानकी गवाही चाहते हो तो अबुल्-वलीद तर्तूशीके शब्द सुनिए—

"मैने गजालीको देखा। निश्चय, वह अत्यन्त प्रतिभाशाली, पडित, शास्त्रज्ञ है। बहुत समय तक वह अध्ययन-अध्यापनमे लगा रहा; किन्तु अन्तमे सब छोड-छाडकर सूफियोमे जा मिला, और दार्शनिकोके विचारो तथा मन्सूर-हल्लाज (सूफी)के रहस्य (वचनो)को मजहबमे मिला दिया। फकीहो (=इस्लामिक मीमासको) तथा वाद-शास्त्रियो (=मुत्कल्लमीन्) को उसने बुरा कहना शुरू किया, और मजहबकी सीमासे निकलनेवाला ही था। उसने "अह्याउल्-उलूम्" लिखा, तो चूँकि . . . पूरी जानकारी नही थी इसलिए मुँहके बल गिरा, और सारी किताबमे निर्बल प्रमाणवाली (मौजूअ) पैगबर-वचनो(-परपरा)को उद्धृत किया।"

तर्तूशी बेचारे रटन्तू पीर थे, इसलिए वह ग़जालीकी दूरदर्शिता, और विचार-गाभीर्यको क्यो समझने लगे, उन्होने तो इतना ही देखा, कि वह उनके जैसे फकीहो और मुत्कल्लमीनो (=मुलटो)के हलवे-माडेपर भारी हमला कर रहा है।

सूफीवादपर गजालीकी कितनी आस्था थी, इसका पता उनके इन शब्दोंसे मालूम होता है—

"जिसने तसव्वुफ (=सूफीवाद)का मजा नही चखा है, वह पैगबरी क्या है, इसे नही जान सकता, पैगबरीका नाम भले ही जान ले। सूफियोके तरीकेके अभ्याससे मुझको पैगबरीकी असलियत और विशेषता प्रत्यक्षकी तरह मालूम हो गई।"[1]

---

[1] "मुनक़्क़ज़् मिन'ल्-ज़लाल"।

गज़ालीके पहिले हीसे इस्लाममे भीतर-भीतर सूफी-मत फैल चुका था, यह हम बतला चुके है किन्तु गज़ालीने ही उसको एक सुव्यवस्थित शास्त्रका रूप दिया। गजालीके पहिले सूफीवादपर दो पुस्तके लिखी जा चुकी थी—

(१) "कूवतु'ल्-कुलूब" अबूतालिब मक्की।
(२) "रिसाला केसरिया" इमाम केसरी।

पहिले कुछ लोग कर्म-योग (शौच-सतोष आदि)पर जोर देते थे, और कितने ही समाधि-योग (=मुकाशफा)पर। गजाली पहिले शख्स थे जिन्होने दोनोको बडी खूबीके साथ मिलाया, जैसे कि इतिहासका दार्शनिक इब्न-खल्दून कहता है[1]—

"गज़ालीने अह्याउल्-उलूम्मे दोनो तरीकोको इकट्ठा कर दिया.... जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद (=तसव्वुफ) भी एक बाकायदा शास्त्र बन गया, जो कि पहिले उपासनाका ढग मात्र था।"

सूफियोका "अह ब्रह्मवाद" (अन'ल्-हक) शकरके ब्रह्मवाद जैसा है। सूफी बहस नही करना चाहते, वह जानते है, बुद्धिको वह दर्शनसे कुठित नही कर सकते, इसीलिए रहस्यवादकी शरण लेते है।

"जौके-ईं बादा न दानी ब-खुदा ता न चशी।"

(खुदाकी कसम! जब तक नही पीता, तब तक वह इस प्यालेका स्वाद नही जान सकता।)

गज़ालीका सूफीवाद क्या था, इसे हम पहिले सूफीवादके प्रकरणमे दे आए है, इसलिए यहाँ दुहरानेकी ज़रूरत नही।

(८') **पैग़ंबरवाद**—दार्शनिकोका इस्लाम और सभी सामीय धर्मोपर एक यह भी आक्षेप था, कि वह इस तरहकी भोली-भाली बातोपर विश्वास करते है—खुदा अपनी ओरसे खास तरहके आदमियो (=पैगबरो) को तथा उनके पास अपनी शिक्षा-पुस्तक भेजता है। गजाली पैगबरीको ठीक साबित करते हुए कहते है—[2]

---

[1] "मुकद्दमये-तारीख़"। [2] "मुनक़्क़ज मिन'ल्-ज़लाल"।

"आदमी जन्मते बिलकुल अज्ञ पैदा होता है। पैदा होते वक्त वह किसी चीजसे परिचित नही होता। सबसे पहिले उसे स्पर्शका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वह उन चीजोसे परिचय प्राप्त करता है, जो कि छूनेसे सबध रखती है, फिर गर्मी-सर्दी, खुश्की-नमी, नर्मी-सख्तीको। फिर देखनेकी शक्ति फिर सुनने चखनेकी शक्ति . । इस तरह इन्द्रियाँ (तैयार हो जाती है) । फिर नया युग शुरू होता है। अब उसे विवेककी शक्ति प्राप्त होती है, और वह उन चीजोकी जानकारी प्राप्त करता है, जो इन्द्रियोकी पहुँचसे बाहर है। यह युग सातवे वर्षसे शुरू होता है। इससे बढनेपर बुद्धि (=अक्ल)का युग आता है, जिससे सभव-असभव, उचित-अनुचितका ज्ञान होता है। इससे बढकर एक और दर्जा है, जो बुद्धिकी सीमासे भी आगे है, जिस तरह विवेक और बुद्धिके ज्ञेयो (=विषयो)की जानकारीके लिए इन्द्रियाँ बिलकुल बेकार है, उसी तरह इस दर्जेके ज्ञेयो (=विषयो)के लिए बुद्धि बिलकुल बेकार है। इसी दर्जेका नाम पैगबरी (=नबूवत्) है।"

पैगबर और उसके पास खुदाकी ओरसे भेजे सदेश (=वही)के बारेमे गज़ालीका कहना है[1]—

"मनुष्योमे कोई इतना जडबुद्धि होता है कि समझानेपर भी बहुत मुश्किलसे समझता है। कोई इतना तीक्ष्णबुद्धि होता है कि जरासे इशारे-से समझ जाता है। कोई इतना पूर्ण (प्रतिभा रखनेवाला) है, कि बिना सिखाए सारी बातें उसके मनसे पैदा होती है। वदनीय पैगबरोकी यही उपमा है, क्योकि बिना किसीसे सीखे-सुने उनके मनमे सूक्ष्म बाते स्वय खुल जाती है। इसीका नाम अल्हाम (=ईश्वर-सदेशका पाना) है, और आँ हजरत (मुहम्मद)ने जो यह फर्माया कि पवित्रात्माने मेरे दिलमे यह फूँका, उसका यही अभिप्राय है।"

पैगबरीके लिए करामात (=चमत्कार)को प्रमाण माना जाता है, और

---

[1] "अह्याउ'ल्-उलूम्"।

करामातको ठीक सिद्ध करनेके लिए गजालीकी क्या दलील है यह कार्य-कारणवादके प्रकरणमे बतलाया जा चुका है।

(९) **क़ुरानकी लाक्षणिक व्याख्या**—मोतजला और पवित्र-संघ (=अखवानुस्सफा)के वर्णनमे बतलाया जा चुका है, कि वह कुरानके कितने ही वाक्योका शब्दार्थ छोड लाक्षणिक अर्थ ले अपने मतकी पुष्टि करते थे। इमाम अहमद बिन्-हंबल लाक्षणिक अर्थका सबसे जबरदस्त दुश्मन था। वह समझता था, कि यदि इस तरह लाक्षणिक अर्थ करनेकी आजादी दी जायेगी, तो अरबी इस्लामको सिर्फ कुरानके लफ्जोको लेकर चाटना पडेगा लेकिन निम्नोक्त पैगबर-वाक्यो (=हदीसो)मे उसे भी मुख्यार्थकी जगह लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करना पडा—

"(काबाका) कृष्ण-पाषाण (=सग-असवद्) खुदाका हाथ है।" "मुसलमानोका दिल खुदाकी अँगुलियोमे है।" "मुझको यमनसे खुदाकी खुश्बू आती है।"

सूफियोका तो लाक्षणिक अर्थके बिना काम ही नही चल सकता, और गजाली किस तरह बहिश्तके बागो-हूरो-शराबोका लाक्षणिक अर्थ करते है, इसका वर्णन किया जा चुका है।

(१०) **धर्ममें अधिकारिभेद**—हर एक सूफीके लिए मुल्लोकी चोट-से बचनेके लिए बाहरसे शरीअतकी पाबदीकी भी जरूरत है, साथ ही तसव्वुफ (=सूफीवाद)के प्रति सच्चा-ईमान रखनेसे उसे बहुतसी शरीअत-की पाबदियो और विचारोका भीतरसे विरोध करना पडता है। इस "भीतर कुछ बाहर कुछ"की चालसे लोगोके मनमे सन्देह हो सकता है, इसलिए अधिकारि-भेदके सिद्धान्तकी कल्पना की गई। इसका कुछ जिक्र साधारण और असाधारण लोगके तौरपर "कयामतमे पुनरुज्जीवन"के प्रकरणमे आ चुका है। इस अधिकारिभेदवाले सिद्धान्तकी पुष्टिमे पैगबरके दामाद तथा चौथे खलीफा (शीओके सर्वस्व) अलीका वचन उद्धृत किया जाता है[1]—

---

[1] "सहीह-बुखारी"।

"जो वात लोगोकी अकलमे आए वह उनसे वयान करो, और जो न आए उसे छोड दो।"

गजालीने वैसे तो बातनी शीओके विरुद्ध कई पुस्तके लिखी थी, मगर जहाँ तक अलीके इस वचनका सबध है, वह उनसे बिलकुल सहमत थे। यहाँ अपने विरोधियोको फटकारते हुए वह कहते है—

"विद्याओके गुप्त और प्रकट दो भेद होनेसे कोई समझदार आदमी इन्कार नही कर सकता। इससे सिर्फ वही लोग इन्कार करते है जिन्होने वचपनमे कुछ बाते सीखी और फिर उसीपर जम गए।"[1]

अपने मतलबको और स्पष्ट करते हुए गजाली दूसरी जगह लिखते है[2]—

"खुदाने (कुरानमे) कहा है—'बुला, अपने भगवान्के पथकी ओर हिकमत (=युक्ति) और सुन्दर उपदेशके द्वारा और ठीक तरह बहस कर।"[3] जानना चाहिए कि हिकमत (=युक्ति)के द्वारा जो लोग बुलाए जाते है वह और है; और जो नसीहत और बहसके जरिएसे बुलाए जाते है वह और। यदि हिकमत (=दर्शन) उन लोगोके लिए इस्तेमाल की जाय जो कि नसीहतके अधिकारी है, तो उनको नुकसान होगा—जिस तरह दुधमुँहे बच्चेको चिडियाका गोश्त खाना नुकसान करता है। और नसीहतको यदि उन लोगोके लिए इस्तेमाल किया जाये जो कि हिकमत (=दर्शन)के अधिकारी है, तो उनको घृणा होगी—जैसे कि बलिष्ठ आदमीको औरतका दूध पिलाया जाय। और नसीहत यदि पसद लगनेवाले ढगसे न की जाय, तो उसकी मिसाल होगी सिर्फ खजूर खानेकी आदतवाले वद्दूको गेहूँका आटा खिलाना।.. "

(११) बुद्धि (=दर्शन) और धर्मका समन्वय—हम गजालीकी जीवनीमे भी देख चुके है, किस तरह बगदाद पहुँचनेपर उनके हृदयमे

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] "कस्तास् मुस्तकीम्"।

[3] "अद्ऊ इला-सबीले रब्बि-क बि'ल्-हिक्मते, व'ल्-मोअ़्जति'ल्-हस्नते व जादल्-हुम् बि'ल्-लती हिया अह्-सनो"।

धर्म (=मजहब) और वुद्धिका झगडा खडा हुआ, और तर्तूशीके शब्दोंमे वह "मजहबसे निकलनेवाला ही था।" किन्तु उन्होने अपने भीतर वुद्धि और धर्ममे समन्वय (=समझौता) करनेमें सफलता पाई, उनके सूफीवाद, अधिकारिभेदवाद, लाक्षणिकव्याख्यावाद, इसी तरफ किये हुए प्रयत्न है। गजालीका यह प्रयत्न खतरेसे खाली न था, इसका उदाहरण तो सजरके सामने उसकी तलवीके वयानमे देख चुके है। गजालीके जीवनहीमे उनकी कीर्ति इस्लामिक जगत्‌मे दूर दूरतक फैल गई थी। किस तरह उनके शिष्य मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) तोमरतने स्पेन-मराकोके मुसलमानोंमे "गजाली सप्रदाय" फैलाने तथा एक नये मोहिदीन राजवशकी स्थापनामे सफलता पाई, इसे हम आगे वतलानेवाले है; किन्तु तोमरतकी सफलताके पहिले गजालीके जीवनहीमे ५०० हिजरी (११०७ ई०) मे ऐसा मौका आया, जव कि स्पेनमे खलीफा अली (इब्न-यूसुफ) विन्-ताशकीनके हुक्मसे मरियामे गजालीकी पुस्तको—खासकर "अह्याउल्-उलूम्"—को वडे मजमेके सामने जलाया गया।

विरोधको देखते हुए भी गजालीने तै कर लिया था, कि वुद्धि और धर्मके झगडेमे उनकी क्या स्थिति होनी चाहिए—

"कुछ लोगोंका ख्याल है, कि वौद्धिक विद्याओ तथा धार्मिक विद्याओं मे (अटल) विरोध है, और दोनोका मेल कराना असभव है; किन्तु यह विचार कमसमझीके कारण पैदा होता है।"[1]

"जो आदमी वुद्धिको तिलाजलि दे सिर्फ (अव-)अनुगमनकी ओर लोगोको वुलाता है, वह मूर्ख (=जाहिल) है, और जो आदमी केवल वुद्धि-[illegible]रोसा करके कुरान और हदीस (=पैगवर-वचन)की पर्वा नही करता [illegible]गी है। खवरदार! तुम इनमे एक पक्षके न वनना। तुमको [illegible] (=जामेअ) होना चाहिए, क्योकि वौद्धिक विद्याए [illegible] तरह है, और धार्मिक विद्याए दवाकी तरह।"[2]

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

बौद्धिक विद्याओंके प्रति उनके यही विचार थे, जिन्होंने गज़ालीको यह लिखनेके लिए मजबूर किया कि दर्शनके अधशत्रु इस्लामके नादान दोस्त हैं—

"बहुत से लोग इस्लामकी हिमायतका अर्थ यह समझते है कि दर्शनके सभी सिद्धान्तोको धर्मके विरुद्ध साबित किया जाये। लेकिन चूँकि दर्शनके बहुतसे सिद्धान्त ऐसे है, जो पक्के प्रमाणोसे सिद्ध है, इसलिए जो आदमी उन प्रमाणोंसे अभिज्ञ है, वह उन सिद्धान्तोंको पक्का समझता है। इसके साथ जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध है, तो उन सिद्धान्तोमे सन्देह होनेकी जगह, उसे खुद इस्लाममे सन्देह पैदा हो जाता है। इसके कारण इन नादान दोस्तोसे इस्लामको सख्त नुकसान पहुँचता है।"

गजालीके ये विचार सनातनी विचारोंके मुसलमानों तथा उनको हर वक्त भड़कानेके लिए तैयार मुल्लोको अपना विरोधी बनानेवाले थे, इसे फिरसे कहनेकी ज़रूरत नही। तो भी गजालीका प्रयत्न सफल हुआ, इसे उनके विरोधी इब्न-तैमियाके ये शब्द बतला रहे है[1]—

"मुसलमान और आँखवाले (मुल्ले ?) लोग तर्क (=शास्त्रियों)के ढंगको समझते आते थे। इस (तर्क)के प्रयोगका रवाज अबू-हामिद (गज़ाली)के समयसे हुआ, उसने यूनानी तर्क शास्त्रके मन्तव्योको अपनी पुस्तक—मुस्तस्फी—में मिला लिया।"

५—सामाजिक विचार

हो नही सकता था, कि गजालीके जैसा उर्वर मस्तिष्क अपने विचारोको दर्शन और धर्म तक ही सीमित रखता। यहाँ उसके समाज-सबधी विचारोंपर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते है।

(१) राजतंत्र-संबंधी—गजालीने इस्लामी साहित्यमे कबीलोके भीतरकी सादगी, भाईचारा आदिके बहुतसे उदाहरण पढे थे, जब वह उनसे

---

[1] "अर्-रद्द अल'ल्-मन्तिक़्"।

अपने समकालीन राजाओंके आचरणसे मिलाते थे तो उनके दिलमे असन्तोषकी आग भडके बिना नही रह सकती थी। इसीलिए गज़ालीने अपने समयके राजतन्त्रपर कितनी ही बार चोटे की है। जैसे—

"हमारे समयमें सुल्तानोंकी जितनी आमदनी है, कुल या बहुत अधिक हराम है, और क्यो हराम न हो? हलाल आमदनी तो जकात (=ऐच्छिक कर) और लड़ाई-लूट (=गनीमतके माल)का पाँचवाँ हिस्सा (यही दो) है। सो इन चीजोंका इस समयमे कोई अस्तित्व नही। सिर्फ जज़िया (अनिवार्य कर) रह गया है, जिसे ऐसे जालिमाना ढगसे वसूल किया जाता है, कि वह उचित और हलाल नही रहता।[1]"

गजालीने सुल्तानके पास न जानेकी शपथ ली थी, जिसे यद्यपि सजरकी जबर्दस्तीके सामने झुककर एक बार तोडनेकी नौबत आई, तो भी गजाली इन सुल्तानोंसे सहयोग न रखनेको अपने ही तक सीमित न कर दूसरोंको भी वैसा ही करनेकी शिक्षा देते थे[2]—

"आदमीको सुल्तानोके दरबारमे पग-पगपर गुनाह (=पाप) करना पडता है। पहिली ही बात यह है, कि शाही मकान बिलकुल जबर्दस्तीके जरिए बने होते है, और ऐसी भूमिपर पैर रखना पाप है। दरबारमे पहुँचकर सिर झुकाना, हाथको बोसा (=चुम्बन) देना, और जालिमका सम्मान करना पाप है। दरबारमे जरदोजीके पर्दे, रेशमी लिबास, सोनेके बर्तन आदि जितनी चीजें आती है सभी हराम है और इनको देखकर चुप रहना पाप है। आखिरमे बादशाहके तन-धनकी कुशल-क्षेमके लिए दुआ माँगनी पडती है, और यह पाप है।"

इसलिए गज़ालीकी सलाह है—

"आदमी इन सुल्तानो(=राजाओ)से इस तरह अलग-अलग रहे कि कभी उनका सामना न होने पाये। यही करना उचित है, क्योंकि इसीमें मंगल है। आदमीको यह विश्वास रखना फर्ज है, कि इन (=सुल्तानो)के

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

अत्याचारके प्रति द्वेष रक्खे। आदमीको चाहिए कि न वह उनकी कृपाका इच्छुक हो, और न उनकी प्रशंसा करे, न उनका हाल-चाल पूछे और न उनके संबंधियोंसे मेल-जोल रखे।"[1]

एक जगह गज़ालीके निष्क्रिय असहयोगने चन्द शर्तोंके साथ कुछ सक्रियताका रूप भी लेना चाहा है—

"सुल्तानों (=राजाओं)का विरोध करनेसे यदि देशमें फसाद (=खून-खराबी) होनेका डर हो, तो (वैसा करना) अनुचित है। किन्तु अगर सिर्फ अपनी जान-मालका खतरा हो, तो उचित ही नहीं बल्कि वह बहुत ही श्लाघनीय है। पुराने बुजुर्ग हमेशा अपनी जानको खतरेमें डालकर स्वतंत्रताका परिचय देते थे, और सुल्तानों तथा अमीरोंको हर समय टोकते रहते थे। इस कामके लिए यदि कोई आदमी जानसे मारा जाता था, उसे सौभाग्यशाली माना जाता था, क्योंकि वह शहीदका दर्जा पाता था।"[2]

यही तक नहीं उनके दिलमें यह भी ख्याल काम कर रहा था, कि ऐसे राज्योंको हटाकर एक आदर्श राज्य कायम किया जाये, जिसके शासकमें जहाँ एक ओर बद्दू कबीलेके सरदारकी सादगी तथा भायप हो, वहाँ दूसरी ओर उसमें अफलातूनी प्रजातंत्रके नेता दार्शनिको अथवा खुद ग़ज़ाली जैसे सूफीके गुण हों। इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेमें गज़ाली स्वयं तो असमर्थ रहे, किन्तु उनकी सलाहसे उनके शिष्य तोमरतने उसे कार्यरूपमें परिणत किया, यह हम अभी बतलानेवाले हैं।

(२) **कबीलाशाही आदर्श**—गज़ाली न व्यवहार-कुशल विचारक थे, न उनकी प्रकृतिमें साहस और जोखिम उठानेकी प्रवृत्ति थी। सुल्तानों-अमीरोंके दर्बारसे वह तंग थे, एक ओर सल्जूकी सुल्तान या बगदादके खलीफाके यहाँ जानेपर झुककर दोहरे शरीरसे सलाम फिर हाथपर चुंबन देना, दूसरी ओर अरबोंका पैगंबर मुहम्मदके आनेपर भी सम्मानार्थ

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] "अह्याउल्-उलूम्"।

खडा न होना, गजालीके दिमागको सोचनेपर मजबूर करता था। शायद गजाली स्वय अमीरजादा या शाहजादा होते तो दूसरी तरहकी व्याख्या कर लिए होते; किंतु उन्हे अपने बचपनके दिन याद थे, जब कि भर्तृहरि[1] के शब्दोमें—

"भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित् फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशंकया काकवत्।"

अनाथ गजालीने कितने ही दिन भूखों और कितनी ही जाडेकी राते ठिठुरते हुए बिताई होगी। दूसरोके दिए टुकडोको खाते वक्त उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया होगा, कि उनमें कितना तिरस्कार भरा हुआ है। यद्यपि ३४ वर्षकी उम्रमे पहुँचनेपर उन्हे वह सभी साधन सुलभ थे, जिनसे कि वह भी एक अच्छे अमीरकी जिन्दगी बिता सकते थे, किन्तु यहाँ वह उसी तरह मानसिक समझौता करनेमे सफल नही हुए जैसे धर्मवाद और बुद्धिवादके झगडेमे। उन्होंने पैगबर और उनके साथियो (सहाबा) के जीवनको पढा था, उनकी सादगी, समानता उन्हे बहुत पसद आई, और वह उसीको आदर्श मानते थे। उन्हे क्या पता था, प्रकृतिने लाखों सालके विकासके बाद मानवको कबीलेके रूपमे परिणत होनेका अवसर दिया था। अपनी बढती आवश्यकता, सख्या, बुद्धि और जीवन-साधनोंने जमा होकर उसे अगली सीढी सामन्तवादपर जानेके लिए मजबूर किया था। कबीलाशाही प्रभुत्वको हटाकर सामन्तशाही प्रभुत्व स्थापित करने-मे हजारों वर्षो तक जो नर-सहार होता रहा, म्वाविया और अली अथवा कर्बलाका झगडा भी उसीका एक अंश था, किन्तु बहुत छोटा नगण्यसा अश। इतने संघर्षके बाद आगे बढे इतिहासके पहिएको पीछे हटाना प्रकृतिके लिए कितना असभव काम था, यह गजालीकी समझमे नही आ सकते थे, इसीलिए वह असभवके संभव होनेकी (करनेकी नही) लालसा रखता था।

---

[1] "वैराग्यशतक"।

उनके ग्रथोमें जगह-जगह उद्धृत वद्दू समाजकी निम्न घटनाए गज़ाली-के राजनीतिक आदर्शका परिचय देती है—

१. "एक वार अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०)ने लोगोकी वृत्तियाँ वन्द कर दी थी। इसपर अवू-मुस्लिम खौलानीने भरे दरवारमें उठकर कहा—'ऐ म्वाविया! यह आमदनी तेरी या तेरे वापकी कमाई नही है'।"

२. "अवू-मूसाकी रीति थी, कि खुत्वा (=उपदेश)के वक्त खलीफा उमर (६४२-४४ ई०)का नाम लेकर उनके लिए दुआ करते थे।.... ज़व्वाने ठीक खुत्वा देते वक्त ही खड़े होकर कहा—'तुम अवू-वकरका नाम क्यो नही लेते, क्या उमर अवू-वकरसे वड़ा है?'.... (उमरने इस वातको सुनकर) ज़व्वाको मदीना वुलवाया। जव्वाने उमरसे पूछा—'तुमको क्या हक था, कि मुझे यहाँ वुलवाते?'.... फिर उसने (अवू-मूसाकी खुशामद वाली) सव वात ठीक-ठीक वतलाई। उमर रोने लगे, और वोले—'तुम सचपर हो, मुझसे कसूर हुआ, माफ करना'।"

३. "हारून और सफियान सोरीमे वचपनकी दोस्ती थी। जव हारून वगदादमें खलीफा (७८६-८०९ ई०) वना तो सव लोग उसको वधाई देने आए, किन्तु सफियान नही आया। हारूनने स्वंय सफियानसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन उसने पर्वा न की, अन्तमें हारूनने सफियानको पत्र लिखा—

"मेरे भाई सफियान,.....तुमको मालूम है कि भगवान्ने सभी मुसलमानोमें भाईका सवध कायम किया है। अव भी मेरे और तुम्हारे वीच पहिलेके संवंध वैसे ही है, मेरे सारे दोस्त मेरी खिलाफतके लिए वधाई देने मेरे पास आए और मैने उन्हें वहुमूल्य इनाम दिये। अफसोस है कि, आप अव तक नही आए। मै खुद आता, लेकिन यह खलीफाकी शानके खिलाफ है। कुछ भी हो अव अवश्य तशरीफ लाइये।"

सफ़ियानने पत्रको न पढकर फेंक दिया और कहा कि मैं इसे हाथ नही लगाना चाहता, जिसे कि जालिम (=राजा)ने छुआ है। फिर उसी पत्रकी पीठपर यह जवाव दूसरेसे लिखवाया—

"बंदा निर्बल सफियानकी ओरसे धनपर लट्टू हारूनके नाम। मैंने पहिले ही तुझे सूचित कर दिया था, कि मेरा तुझसे कोई संबंध नही। तूने अपने पत्रमे स्वयं स्वीकार किया है, कि तूने मुसलमानोंके कोषागार (=बैतु'ल्-माल)के रुपयेको ज़रूरतके बिना अनुचित तौरसे खर्च किया। इसपर भी तुझको सन्तोष नही हुआ, और चाहता है, कि मै कयामतमे (=अन्तिम न्यायके दिन) तेरी फजूलखर्चीकी गवाही दूँ। हारून! तुझको कल खुदाके सामने जवाब देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। तू तख्तपर (बैठकर) इजलास करता है, रेशमी लिबास पहिनता है। तेरे दर्वाजे-पर चौकी-पहरा रहता है। तेरे अफसर स्वयं शराब पीते है, और दूसरोको शराब पीनेकी सजा देते है; खुद व्यभिचार करते है, और व्यभिचारियों-पर रोब जारी करते हैं। खुद चोरी करते है, और चोरोका हाथ काटते है। पहिले इन अपराधोंके लिए तुझको और तेरे अफसरोंको सजा मिलनी चाहिए, फिर औरोको।.... अब फिर कभी मुझको पत्र न लिखना।"

"यह पत्र जब हारूनके पास पहुँचा, तो वह (आत्मग्लानिके मारे) चीख उठा, और देर तक रोता रहा।"

गजाली एक ओर दार्शनिक उडानकी आजादी चाहता था, दूसरी ओर कबीलाशाहीकी सादगी और समानता—कहाँ कबीलाशाही और कहाँ ख्यालकी आजादी!

(३) इस्लामिक पंथोंका समन्वय—इस्लामके भीतरी सम्प्रदायों-के झगडोको दूर करना गजालीके अपने उद्देश्योमे था। दर्शनमे उनके जबर्दस्त विरोधी रोश्दका कहना है[1]—

"गजालीने अपनी किताबोमे सम्प्रदायोमेंसे किसी खास सम्प्रदायको नही दूषा है। बल्कि (यह कहना चाहिए कि) वह अशअ्रियोंके साथ अशअरी, सूफियोके साथ सूफी और दार्शनिकोंके साथ दार्शनिक है।"

गजालीके वक्त इस्लाम सिन्ध और काश्गरसे लेकर मराको और

---

[1] "फ़स्लु'ल्-मुक़ाला"।

स्पेन तक फैला हुआ था, इस विस्तृत भूखडपर इस्लामसे भिन्न धर्म खतम हो गए थे, या उनमें इस्लामसे आँख मिलानेकी शक्ति नही रह गई थी। किन्तु खुद इस्लामके भीतर बीसियो सम्प्रदाय पैदा हो गए थे। इनमे सबसे ज्यादा जोर तीन फिर्कोका था—अश्अरी, हबली और बातनी (=शीआ)। इन सम्प्रदायोका प्रभाव सिर्फ धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न था, बल्कि उन्होने शासनपर अपना अधिकार जमाया था। स्पेनमें हबली सम्प्रदायके हाथमे धार्मिक राजनीतिक शक्ति थी। बातनी (=शीआ) मिश्रपर अधिकार जमाए हुए थे। खुरासान (पूर्वी ईरान)से इराक तक अश्अरियोका बोलबाला था। बातनी चूँकि शीआ थे, इसलिए उनके विरुद्ध अली-म्वावियाके समयसे सुलगाई आग अब भी यदि धाँय-धाँय कर रही थी, तो कोई आश्चर्य नही; किन्तु ताज्जुब तो यह था, कि अश्अरी और हबली दोनो सुन्नी होनेपर भी एक दूसरेके खूनके प्यासे रहते थे। शरीफ अबुल्-कासिम (४७५ हिजरी या १०८२ ई०) बहुत बडा उपदेशक था। महामत्री निजामुल्मुल्कने उसे बडे सम्मानके साथ निजामिया (बगदाद)का धर्मोपदेष्टा बनाया था। वह मस्जिदके मेबर (=धर्मासन) से खुले आम कहता था कि हबली काफिर है। इतनेहीसे उसे सन्तोष नही हुआ, बल्कि उसने महाजजके घरपर जाकर ऐसी ही बाते की, जिसपर भारी मारकाट मच गई। अल्प अर्सलन् सल्जूकी (१०६२-७२ ई०)-के शासनकालमे शीओ और अश्अरियोपर मुद्दतो मस्जिदके धर्मासनसे लानत (धिक्कार) पढी जाती थी। निजामुल्-मुल्क जब महामत्री हुआ तो उसने अश्अरियोंपर पढी जानेवाली लानतको तो बद कर दिया, किन्तु शीआ बेचारोकी वही हालत रही। अबू-इस्हाक शीराजी बगदादकी विद्वन्मडलीके सरताज थे, और वह भी हबलियोको बुरा-भला कहना अपना फर्ज समझते थे, इसकी ही वजहसे एक बार बगदादमे भारी मारकाट मच गई थी।

जहाँ जिस सम्प्रदायका जोर था, वहाँ दूसरेको "दशननमें जीभ बेचारी" बनकर रहना पडता था। इब्न-असीर मोतज़ला-सम्प्रदायका प्रधान नेता

और भारी विद्वान् था, उसकी मृत्यु ४७८ हिजरी (१०८५ ई०)मे हुई। अपने सम्प्रदाय-विरोधियोके डरके मारे पूरे पचास साल तक वह घरसे बाहर नही निकल सका था। इन झगडो, खून-खराबियोकी जड़को बुरा कहते हुए गजाली लिखते है—

"(धार्मिक) विद्वान् बहुत सख्त हठधर्मी दिखलाते है, और अपने विरोधियोको घृणा और बेइज्जतीकी नजरसे देखते है। यदि यह लोग विरोधियोके सामने नर्मी, मुलायमियत और प्रेमके साथ काम लेते, और हितैषीके तौरपर एकान्तमे उन्हे समझाते, तो (ज्यादा) सफल होते। लेकिन चूँकि अपनी शान-शौकत (जमाने)के लिए जमातकी जरूरत है, जमात बाँधनेके लिए मजहबी जोश दिखलाना तथा अपने सम्प्रदाय-विरोधियोको गाली देना जरूरी है, इसलिए विद्वानोने हठधर्मीको अपना हथियार बनाया है, और इसका ही नाम धर्म-प्रेम तथा इस्लाम-विरोध-परिहार रखा है; हालाँकि यह वस्तुत लोगोको तबाह करना है।"[1]

पैगबर मुहम्मदके मुँहसे कभी निकला था—"मेरे मजहबमे ७३ फिर्के (=सम्प्रदाय) हो जायेगे, जिनमेसे एक स्वर्गगामी होगा, बाकी सभी नरक-गामी।" इस हदीस (=पैगबर-वाक्य)को लेकर भी हर सम्प्रदाय अपनेको स्वर्गगामी और दूसरोको नरक-गामी कहकर कटुता पैदा करता था। गजालीने इस्लामके इस भयकर गृहकलहको हटानेके लिए एक ग्रथ "तफ़का बैनु'ल्-इस्लाम व'ज्-जन्दका" [इस्लाम और जिन्दीको (नास्तिको)का भेद] लिखा है, जिसमे वह इस हदीसपर अपनी राय इस तरह देते है—

"हदीस सही है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि वह (बाकी ७२ फिर्के-वाले) लोग काफिर है, और सदा नरकमे रहेगे। बल्कि इसका असली अर्थ यह है, कि वह नरकमे... अपने पापकी मात्राके अनुसार... रहेगे।"

गजालीने अपनी इस पुस्तकमे काफिर (नास्तिक) होनेके सभी लक्षणोसे इन्कार करके कहा, कि काफिर वही है, जो मुसलमान नही है,

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"।

और "वह सारे (आदमी) मुसलमान है जो कल्मा ('अल्लाहके सिवाय दूसरा ईश्वर नही, मुहम्मद अल्लाहका भेजा हुआ है')[1] पढनेवाला है, और मुसलमान होनेके नाते सभी भाई-भाई है। इन सम्प्रदायोका जो मतभेद है, उसका मूल इस्लामसे कोई सम्बन्ध नही, वह गौण और वाहरी वातें है।"

गजालीने अपनी इस उदाराशयताको मुसलमानों तकही सीमित नही रखा वल्कि उन्होने लिखा है—

"वल्कि मै कहता हूँ कि हमारे समयके वहुतसे तुर्क तथा ईसाई रोमन लोग भी भगवान्के कृपापात्र होगे।"[2]

इस प्रयत्नका फल गज़ालीको अपने जीवनमे ही देखनेको मिला। अश्अरियो और हवलियोंके झगडे वहुत कुछ वद हो गए। बगदादके शीओं और सुन्नियोमें ५०२ हिजरी (११०९ ई०)मे सुलह हो गई, और वह आपसी मार-काट वन्द हो गई, जिससे राजधानीके मुहल्लेके मुहल्ले वर्वाद हो गए थे।

६—ग़ज़ालीके उत्तराधिकारी

अपनी पुस्तकोंकी भाँति गजालीके शिष्योकी भी भारी सख्या थी, जिनमे कितनेही इस्लामके धार्मिक इतिहासमें खास स्थान रखते है, पाठकोंके लिए अनावश्यक समझकर हम उनके नामोकी सूची देना नही चाहते। गज़ालीकी शिक्षाका महत्त्व इसीसे समझिए कि मुसलमानोकी भारी संख्या आज भी उन्हेही अपना नेता मानती है। हाँ, उनके एक शिष्य तोमरतके वारेमे हम आगे लिखनेवाले है, क्योकि उसने अपने गुरुके धर्म-मिश्रित राजनीतिक स्वप्नको साकार करनेमें कुछ हद तक सफलता पाई।

---

[1] "ला इलाह इन्न'ल्लाह मुहम्मदुन्-रसूलल्लाह"।

[2] "तफ़्रका वैनु'ल्-इस्लाम व'ज्-जिन्दका"।

सप्तम अध्याय

स्पेनके इस्लामी दार्शनिक

§ १—स्पेनकी धार्मिक और सामाजिक अवस्था

१—उमैय्या शासक

जिस वक्त इस्लामिक अरबोने पूर्वमें अपनी विजय-यात्रा शुरू की थी, उसी समय पश्चिमकी ओर—खासकर पडोसी मिश्रपर—भी उनकी नज़र जानी ज़रूर थी। मिश्रके बाद पश्चिमकी ओर आगे बढते हुए वह तूनिस् और मराको (=मराकश) तक पहुँच गए। पैगबरके देहान्त हुए एक सौ वर्ष भी नही हुए थे, जब कि ९२ हिजरी (७०६ ई०) मे तारिक (इब्न-ज़ियाद) लेसीने १२ हजार बर्बरी (=मराको-निवासी) सेनाके साथ स्पेनपर हमला किया। स्पेनपर उस वक्त एक गॉथिक वशका राज्य था, जो दो हज़ार वर्षसे शासन करता आ रहा था—जिसका अर्थ है, वह समयके अनुसार नया होनेकी क्षमता नहीं रखता था। किसानोकी अवस्था दयनीय थी, ज़मीदारोंके ज़ुल्मोका ठिकाना न था। दासता-प्रथाके कारण लोगोंकी दशा और असह्य हो रही थी—किसानो और दासोंके बच्चे पैदा होते ही जमीदारो और फौजी अफसरोमे बॉट दिये जाते थे। जनता इस ज़ुल्मसे त्राहि-त्राहि कर रही थी, जब कि तारिककी सेना अफ्रीकाके तटसे चलकर समुद्रके दूसरे तटपर उस पहाड़ीके पास उतरी जिसका नाम पीछे जब्रुल-तारिक (=तारिककी पहाडी) पडा, और जो बिगडकर आज जिब्रालटर बन गया है। राजा रोद्रिकने तारिकका सामना करना चाहा,

किन्तु पहिली ही मुठभेडमे उसकी ऐसी हार हुई, कि निराश हो रोद्रिक नदीमें डूब मरा। दूसरे साल अफ्रीकाके मुसलमान गवर्नर मूसा-बिन्-नसीर-ने स्वय एक बडी फौज लेकर स्पेनपर चढाई की, स्पेनमे किसीकी मजाल नही थी, कि इस नई ताकतको रोकता। तो भी मुल्कमे थोडी बहुत अशान्ति धर्म और जातिके नामपर कुछ दिनों तक और जारी रही। किन्तु तीन चार सालके बाद प्राय. सारा स्पेन मुसलमानोके हाथमे आ गया—"जायदादे मालिकोको वापस की गईं, मज़हबी स्वतन्त्रताकी घोषणा की गई। दूसरी जातियोको अपने धार्मिक कानूनके अनुसार जातीय मुकदमोंके फैसलेकी इजाजत दी गई।" मूसाका बेटा अब्दुल्-अज़ीज़ स्पेनका पहिला गवर्नर बनाया गया।

इसके कुछ ही समय बाद बनी-उमैय्याके शासनपर प्रहार हुआ। उसकी जगह अब्दुल्-अब्बासने अपनी सल्तनत कायम की, और उमैय्या खान्दानके राजकुमारोको चुन-चुनकर मौतके घाट उतारा। उसी समय (७५० ई०?) एक उमैय्या राजकुमार अब्दुर्रहमान दाखिल भागकर स्पेन आया और उसने स्पेनको उमैय्यावशके हाथसे जानेसे रोक दिया। अब्दुर्रहमान दमिश्कके सास्कृतिक वायुमडलमे पला था, इसलिए उसके शासनमें स्पेनने शिक्षा और सस्कृतिमे काफी उन्नति की; और पश्चिमके इस्लामिक विद्वानोंने पूर्वसे सबध जोडना शुरू किया।

जब तक इस्लाम मराको तक रहा, तब तक अरबोका सबध वहाँके बर्बर लोगोंसे था, जो कि स्वय बद्दुओंसे बेहतर अवस्थामें न थे। किन्तु स्पेनमे पहुँचनेपर वही स्थिति पैदा हुई, जो कि बगदाद जाकर हुई थी। दोनो ही जगह उसे एक पुरानी सस्कृत जातिके संपर्कमे आनेका मौका मिला। बगदादमें अरबोने ईरानी बीबियोंके साथ ईरानी सभ्यतासे विवाह किया, और स्पेनमे उन्होने स्पेनिश स्त्रियोंके साथ रोमन-सभ्यताके साथ। इसका परिणाम भी वही होना था, जो कि पूर्वमे हुआ। अभी उस परिणामपर लिखनेसे पहिले ऐतिहासिक भित्तिको जरा और विशद कर देनेकी जरूरत है।

स्पेनपर उमैय्योका राज्य ढाई सौ सालसे ज्यादा रहा। स्पेनिश उमैय्योका वैभव-सूर्य तृतीय अब्दुर्रहमान (६१२-६१ ई०)के शासनकालमे मध्याह्नपर पहुँचा था। इसीने पहिले-पहिल खलीफाकी पदवी धारण की थी। उसके वाद उसका पुत्र हकम द्वितीय (६६१-७६ ई०)ने भी पिताके वैभवको कायम रखा। धन और विद्या दोनोमे अब्दुर्रहमान और हकमका शासनकाल (६१२-७६ ई०) पश्चिमके लिए उसी तरह वैभवशाली था, जिस तरह हारून मामूनका शासनकाल (७८६-८३३ ई०) पूर्वके लिए। हाँ, यह जरूर था कि स्पेनके मुसलमानी समाजमे अपने पूर्वज या अब्बासियो द्वारा शासित समाजकी अपेक्षा विद्यानुरागके पीछे सारा समय वितानेवालोकी अपेक्षा कमाऊ लोग ज्यादा थे। अब्दुर्रहमान-की प्रजामे ईसाइयोके अतिरिक्त यहूदियोंकी सख्या भी शहरोमे पर्याप्त थी। कैसर हर्दियनने विजन्तीनसे देशनिकाला देकर पाँच लाख यहूदियोंको स्पेनमे बसाया था। ईसाई शासनमे उन्हे दवाकर रखनेकी कोशिश की जाती थी, किन्तु इस्लामिक राज्य कायम होनेपर उनके साथ वेहतर वर्ताव होने लगा, और इन्होने भी देशकी वौद्धिक और सास्कृतिक प्रगतिमें भाग लेना शुरू किया। स्पेनके यहूदियोका भी धार्मिक केन्द्र वगदादमें था, जहाँ सर्कार-दर्वारमे भी यहूदी हकीमों और विद्वानोका कितना मान था, इसका जिक्र पहिले हो चुका है। स्पेनमे पहिलेसे भी रोमन-कैथलिक जैसे धार्मिक संकीर्णताके लिये दु.ख्यात सम्प्रदायका जोर था। मुसल्मान आए, तो अरब और अर्ध-अरब इतनी अधिक संख्यामे आकर बस गए, कि स्पेनके शहरो और गाँवोंमे अरबी भाषा आम बोल चाल हो गई। ये अरब पूर्वके साम्प्रदायिक मतभेदोको देखकर नही चाहते थे कि वहाँ दूसरे सम्प्रदाय सर उठाये। उन्होंने हंबली सम्प्रदायको स्वीकार किया था, जिसमे कुरानका वही अर्थ उन्हे मंजूर था, जो कि एक साधारण बद्दू समझता है। ईसाइयो और अरबोंकी इस पक्की किलाबंदीमे यदि कोई दरार थी, तो यही यहूदी थे, जिनका संबध वगदाद जैसे "वायु बहै चौआई" वाले विचार-स्वातत्र्य-केन्द्रसे था। ये लोग चुपके चुपके दर्शनकी पुस्तकोको

पढते और प्रचार करते थे। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रतिभाशाली मुसलमान भी "निषिद्ध फल"के खानेके लिए पूर्वकी सैर करने लगे। अब्दुर्रहमान बिन्-इस्माइल ऐसे ही लोगोमें था, जिसने पूर्वकी यात्रा की, और ईरानके साबी विद्वानोंके पास रहकर दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की। इसीने लौटकर पहिले-पहिल पवित्र-संघ (अख़वानुस्सफा)-ग्रंथावलीका स्पेनमें प्रचार किया। यह ४५८ हिजरी (१०६५ ई०)में मरा था।

२—दर्शनका प्रथम प्रवेश

हकम द्वितीय स्पेनका हारून था। उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और दार्शनिकोकी वह खास तौरसे बहुत इज्जत करता था। उसे पुस्तकोके संग्रहका बहुत शौक था। दमिश्क, बगदाद, काहिरा, मर्व, बुखारा तक उसके आदमी पुस्तकोकी खोजमें छुटे हुए थे। उसके पुस्तकालयमें चार लाख पुस्तकें थी। इस पुस्तकालयका प्रधान पुस्तकाध्यक्ष अल्-हज्जी बयान करता है कि पुस्तकालयकी ग्रंथ सूची ४४ जिल्दो—प्रत्येक जिल्दमे बीस पृष्ठ—में लिखी गई थी। हकमको पुस्तकोंके जमा करनेका ही नही पढनेका भी बहुत शौक था, पुस्तकालयकी शायद ही कोई पुस्तक हो जिसे उसने एक बार न पढा हो, या जिसपर हकमने अपने हाथसे ग्रंथकारका नाम, मृत्युकाल आदि न लिखा हो; उसका दर्शनकी पुस्तकोका सग्रह बहुत जबर्दस्त था।

हकमके मरने (९७६ ई०)के बाद उसका बारह सालका नाबालिग बेटा हश्शाम द्वितीय गद्दीपर बैठा, और काजी मंसूर इब्न-अबीआमर उसका वली मुकर्रर हुआ। आमरने हश्शामकी माँको अपने काबूमें करके दो सालोमें पुराने अफसरो और दरबारियोको हटाकर उनकी जगह अपने आदमियोको भर दिया। और फिर हश्शामको नाम मात्रका बादशाह बनाते हुए उसने अपने नामके सिक्के जारी किए, खुत्बे (मस्जिदमें शुक्रके उपदेश) अपने नामसे पढ़वाने शुरू किए; देशके लोग और बाहरवाले भी आमरको खलीफा समझने लगे थे। आमरने तलवारसे यह शक्ति

नही प्राप्त की, बल्कि यह उसकी चालबाजियोका पारितोषिक था। इन्ही चालबाजियोमे एक यह भी थी कि वह अपनेको मजहबका सबसे जबर्दस्त भक्त जाहिर करता था। "उसने (इसके लिए) आलिमों और फकीहों (=मीमासको)का एक जलसा बुलाया। एक छोटेसे भाषणमे उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारे ख्यालमे दर्शन और तर्कशास्त्रकी कौन-कौनसी पुस्तके देशमे फैलकर भोले-भाले मुसलमानोके ईमानको खराब कर रही है। स्पेनके मुसलमान अपनी मजहबी हठधर्मीके लिए मशहूर ही थे, और दर्शनसे उन्हे हमेशा टकराना पडता था। इन लोगोने तुरन्त प्रचारके लिए निषिद्ध पुस्तकोकी एक लबी सूची तैयार करके इब्न-अबी-आमरके सामने रखी। आमरने उन्हे बिदा कर दर्शनकी पुस्तकोको जलानेका हुक्म दिया।"[1]

हकमका बहुमूल्य पुस्तकालय बातकी बातमे जलकर राख हो गया; जो पुस्तके उस वक्त जलनेसे बच गईं वह पीछे (१०१३ ई०) बर्बरोके गृह-युद्धमे जल गईं। हकमके शासनमे दार्शनिकोको बहुत बड़े-बडे दर्जे मिले थे, यह कहनेकी जरूरत नही कि आमरने उन्हे पहिले ही दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेका। खैरियत यही थी कि आमर यहूदियोंका कतल-आम नही कर सकता था, जिससे और जबतक वह स्पेन (युरोप)की भूमिपर थे, तबतक दर्शनका उच्छेद नही किया जा सकता था।

३—स्पेनिश् यहूदी और दर्शन

दसवी सदीमे स्पेनकी राजधानी कार्दोवा (=कर्तबा)की आबादी दस लाखसे ज्यादा थी, और पश्चिममे उसका स्थान वही था, जो कि पूर्वमे बगदादका। वहाँ स्पेन और मराकोके ही नही युरोपके नाना देशोके गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी विद्या पढने आया करते थे—यह कहनेकी जरूरत

[1] "इब्न-रोश्द" (मुहम्मद यूनस् अन्सारी फिरंगीमहली), पृष्ठ २७से उद्धृत।

नही कि इस वक्तकी सभ्य दुनियाके पश्चिमार्द्ध (पश्चिमी एसिया और युरोप)की सांस्कृतिक भाषा अरबी थी, उसी तरह जैसे कि प्राय. सारे पूर्वार्द्ध (भारत, जावा, चम्पा, आदि)की संस्कृत। अरबी और इब्रानी (यहूदियोकी भाषा) बहुत नजदीककी भापाएं है, इसलिए यहूदियोको और भी सुभीता था। दर्शनके क्षेत्रमे यहूदियोंका पहिलेसे भी हाथ था, किन्तु जब हकम द्वितीयने अपने समयके प्रसिद्ध दार्शनिक हकीम हस्दा बिन-इस्हाकको अपना कृपा-पात्र बनाया, तबसे उन्होने दर्शनके झडेको और आगे बढानेकी जद्दोजहद शुरू की। इब्न-इस्हाकने जब पहिले-पहिल अरस्तूके दर्शनका प्रचार करना शुरू किया, तो यहूदी धर्माचार्योंने फतवा निकालकर मुखालफत करनी चाही, किन्तु वह बेकार गई; और ग्यारहवी सदी पहुँचते-पहुँचते अरस्तू स्पेनके यहूदियोका अपना दार्शनिक-सा बन गया।

(१) **इब्न-जिब्रोल** (१०२१-७० ई०)—जिब्रोल माल्ताके एक यहूदी परिवारमे पैदा हुआ था। यह स्पेनका सबसे बड़ा और मशहूर दार्शनिक था। जिब्रोलकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक "यन्बूउ'ल्-ह्यात" है। इसके दार्शनिक विचार थे—दुनियामे दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ है भूत (मूल प्रकृति या हेवला) और आत्मा (=विज्ञान) या "आकार"। लेकिन यह दो वस्तुए वस्तुत एक **परमसामान्य** (परमतत्त्व)के भीतर है, जिसे, जिब्रोल सामान्यभूत (या सामान्यप्रकृति) कहता है। जिब्रोल-के इस विचारको रोश्दने और विकसित किया है।

(२) **दूसरे यहूदी दार्शनिक**—जिब्रोलके बाद दूसरा बडा यहूदी दार्शनिक मूसा बिन-मामून हुआ, जिसका जन्म ११३५ ई०मे कार्दोवामे हुआ था। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। तोमरतके उत्तराधिकारी अब्दुल्मोमिनने जब स्पेनपर अधिकार करके दर्शनके उत्पादन-क्षेत्र यहूदियोपर गजब ढाना, तथा देश निकाला देना शुरू किया, तो मूसा मिश्र चला गया, जहाँ मिश्रके सुल्तान सलाहुद्दीनने उसे अपना (राज-)वैद्य बना लिया और वही ६०५ हिजरी (१२१२ ई०)मे उसकी मृत्यु हुई।

कोई-कोई विद्वान् मूसाको रोश्दका शिष्य कहते है।

मूसाके बाद उसका शिष्य तथा दामाद यूसुफ-बिन्-यह्या एक अच्छा दार्शनिक हुआ।

स्पेनिश् यहूदी दर्शनप्रेमियोकी सख्या घटनेकी जगह वढती ही गई, किन्तु अब रोश्द-सूर्यके उग आनेपर वह टिमटिमाते तारे ही रह सकते थे।

४—मोहिद्दीन शासक

ग्यारहवी सदीमे उमैय्या शासक इस अवस्थामे पहुँच गए थे, कि देश-की शक्तिको कायम रखना उनके लिए मुश्किल हो गया। फलत सल्तनत-मे छोटे-छोटे सामन्त स्वतत्र होने लगे। वह समय नजदीक था, कि पडोसी ईसाई शासक स्पेनकी सल्तनतको खतम कर देते, इसी वक्त समुद्रके दूसरे (अफ्रीकी) तटके बर्बरोने १०१३ ई० मे हमला किया और कार्दोवाको जलाया, बर्बाद किया। इसके बाद उन्होने मराकोमे एक सल्तनत कायम की जिसे ताशकीन (मुल्समीन) कहते है। अली (बिन्-यूसुफ) ताशकीन (—११४७ ई०) वशका अन्तिम बादशाह था, जबकि एक दूसरे राजवश—मोहिदीन—ने उसकी जगह ली।

(१) **मुहम्मद बिन्-तोमरत** (मृ० ११४७ ई०)—मोहिदीन शासन-का सस्थापक मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) बिन्-तोमरत मराकोके वर्बरी कवीले मस्मूदीमे पैदा हुआ था। उसका दावा था कि हमारा वंश अलीकी सन्तानमेसे है। देशमे उपलभ्य शिक्षाको समाप्त कर वह पूर्वकी ओर आया और वहाँ जिन विद्वानोसे उसने शिक्षा ग्रहण की, उनमे गजालीका प्रभाव उसपर सबसे ज्यादा पडा। गजालीके पास वह कई साल रहा, और इस समय इस्लाम और खासकर स्पेनकी इस्लामी सल्तनतकी दुरवस्थापर गुरु-चेलोमे अकसर चर्चा हुआ करती थी। गजाली भी एक धर्म-राजनीतिक सल्तनतका स्वप्न देख रहे थे, और इधर तोमरत भी उसी मर्जका मरीज था। इतिहास-दार्शनिक इब्न-खल्दून इस वारेमे लिखता है—

"जैसाकि लोगोका ख्याल है, वह (तोमरत) गजालीसे मिला, और

उससे अपनी योजनाके बारेमे राय ली। गज़ालीने उसका समर्थन किया, क्योकि वह ऐसा समय था, जबकि इस्लाम सारी दुनियामे निर्बल हो रहा था, और कोई ऐसा सुल्तान न था, जो कि सारे पथ (मुसलमानो)को संगठित कर उसे कायम रख सके। किन्तु गजालीने (अपनी सहमति तब प्रकट की, जब कि उसने, पूछकर जान लिया कि उसके पास उतना साधन और जमात है, जिसकी सहायतासे अपनी शक्ति और रक्षाका प्रबन्ध कर सकता है।"[1]

गज़ालीके आशीर्वादसे उत्साहित हो तोमरत देशको लौटते हुए मिश्रमें पहुँचा। काहिरामे उसके उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानोसे ऐसी अशान्ति फैली, कि हुकूमतने उसे शहरसे निकाल दिया। सिकन्दरियामें चन्द दिनो रहनेके बाद वह तूनिस होता मराको पहुँचा। तोमरत पक्का धर्मान्ध था, उसके सामने जरासी भी कोई बात शरीअतके विरुद्ध होती दिखाई पड़ती, कि वह आपेसे बाहर हो जाता। मराकोके बर्बर कबीलोमे काफी बद्दूइयत मौजूद थी, इसलिए उनके वास्ते यह आदर्श मुल्ला था, इसमे सन्देह नही। थोड़े ही समयमे गज़ालीके शागिर्द, बगदादसे पढकर लौटे इस महान् मौलवी-की चारों ओर ख्याति फैल गई। वह बादशाह, अमीर, मुल्ला सबके पीछे लट्ठ लिए पडा था; और इसके लिए वहाँ बहुत मसाला मौजूद था। मुल्समीन (ताशकीन) खान्दानमे एक अजब रवाज था, उनकी औरते खुले मुँह फिरती थी, किन्तु मर्द मुँहपर पर्दा डालकर चलते थे। व्यभिचार आम था, भले घरोकी बहू-बेटियोकी इज्ज़त फौजके लोगोके मारे नही बचती थी—शहरोमे यह सब कुछ खुल्लमखुल्ला चल रहा था। शराब खुले आम बिकती थी। मामला बढते देख मुल्समीन सुल्तान अली बिन्-ताशकीनने तोमरत-के साथ शास्त्रार्थ करनेके लिए विद्वानोकी एक सभा बुलाई। शास्त्रार्थ-मे तोमरतकी जीत हुई, बादशाहने उसके विचारोको स्वीकार किया।[2]

---

[1] इब्न-खल्दून, जिल्द ५, पृष्ठ २२६ [2] स्मरण रहे यही अली बिन्-ताशकीन् था, जिसने गज़ालीकी पुस्तकोंको जलवाया था।

इसपर दर्बारवाले दुश्मन बन गए, और तोमरतको भागकर अम्सास्दा नामक बर्बरी कबीलेके पास शरण लेनी पडी। यहाँसे उसने अपने मतका प्रचार और अनुयायियोको सैनिक ढंगपर संगठित करना शुरू (११२१ ई०) किया। इसी समय अब्दुलमोमिन उसका शागिर्द बना। तोमरत अपने जीवनमे अपने विचारोके प्रचार तथा लोगोके संठनमे ही लगा रहा, उसे चद कबीलोके सगठनसे ज्यादा सफलता नही हुई, किन्तु उसके मरनेके बाद उसका शागिर्द अब्दुल्-मोमिन उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसने ५४२ हिजरी (११४७ ई०)मे मराकोपर अधिकार कर मुल्समीनकी सल्तनतको खतम कर दिया।

(२) अब्दुल्-मोमिन (११४७-६३ ई०)—तोमरत अपनेको मोहिद् (अद्वैतवादी) कहता था, इसलिए, उसका सस्थापित शासन मोहिदो (मोहिदीन) का शासन कहा जाने लगा, और अब्दुल्-मोमिन मोहिदीनका पहिला सुल्तान था। अब्दुलमोमिन कुम्हारका लड़का था, और सिर्फ अपनी योग्यता और हिम्मतसे तोमरतके मिशनको सफल करनेमे समर्थ हुआ था। मराकोमे इस तरह उसने अपना राज्य स्थापित कर तोमरतकी शिक्षाके अनुसार हुकूमत चलानी शुरू की। इसकी खबर उस पार स्पेनमे पहुँची। स्पेनकी सल्तनत टुकड़े-टुकडेमे बँटी हुई थी। इन छोटे-छोटे सुल्तानोकी विलासिता और जुल्मसे लोग तंग थे, उन्होने स्वय एक प्रतिनिधि मडल अब्दुलमोमिनके पास भेजा। अब्दुलमोमिनने उसका बहुत स्वागत किया, और आश्वासन देकर लौटाया। थोडे ही समय बाद अब्दुलमोमिनने स्पेनपर हमला किया, और स्पेनको भी मराकोकी सल्तनतमे मिला लिया।

तोमरतने अपनेको अश्अरी घोषित किया था, इसलिए अब्दुलमोमिनने भी उसे सरकारी पथ घोषित किया, लेकिन यह अश्अरी पथ गजालीकी शिक्षासे प्रभावित था, इसलिए दर्शनका अधा दुश्मन नही बल्कि बुद्धिकी कदर करता था। यद्यपि उसके शासनके आरम्भिक दिनोंमे सख्तीके कारण कितने ही यहूदियों और उनके दार्शनिकोको देश छोडकर भागना पडा था, किन्तु आगे अवस्था बदली। हकम द्वितीयके बाद यह पहिला

समय था जब कि दर्शनके साथ हुकूमतने सहानुभूति दिखानी शुरू की। अबूमर्दा बिन-जुह्र और इब्न-तुफैल उस वक्त स्पेनमे दो प्रसिद्ध दार्शनिक थे, अब्दुल्मोमिनने दोनोको ऊँचे दर्जे दिये। अब्दुल्मोमिन शिक्षाका बडा प्रेमी था। अब तक विद्यार्थी मस्जिदोमे ही पढा करते थे, मोमिनने मद्रसोके लिए अलग खास तरहकी इमारते बनवाईं। उसका ख्याल था, कि जो बुराइयाँ इस्लाममे आयेदिन घुस आया करती है, उनके दूर करनेका उपाय शिक्षा ही है।

मोमिनके बाद (११६३ ई०) उसका पुत्र मुहम्मद ४८ दिन तक राज कर सका, और नालायक समझ गद्दीसे उतार दिया गया, उसके बाद उसका भाई याकूब मन्सूर (११६३-८४) गद्दीपर बैठा, इसमे मोमिनके बहुतसे गुण थे, कितनी ही कमजोरियाँ भी थी, जिन्हे हम रोश्दके वर्णनमे बतलायेगे।

§ २—स्पेनके दार्शनिक

१—इब्न-बाजा[1] (मृ० ११३८ ई०)

(१) जीवनी—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-यहिया इब्न-अल्-सायग) इब्न-बाजाका जन्म स्पेनके सरगोसा नगरमे ग्यारहवी सदीके अन्तमे उस वक्त हुआ था, जब कि स्पेनिश सल्तनत खतम होकर स्वतंत्र सामन्तोमे बँटनेवाली थी। स्पेनके उत्तरमे अर्धसभ्य लडाकू ईसाई सर्दारोंकी अमलदारियाँ थी, जिनसे हर वक्त खतरा बना रहता था। देशकी साधारण जनता उसी दयनीय अवस्थामे पहुँच गई थी जो कि तारिकके आते वक्त थी। मुल्समीन दर्शनके कितने प्रेमी थे, यह तो गजालीके ग्रथोकी होलीसे हम जान चुके है, ऐसी अवस्थामे बाजा जैसे दार्शनिकको एक अजनबी दुनियामे आये जैसा मालूम हो तो कोई ताज्जुब नही। बाजाकी कीमतको सरगोसाके गवर्नर अबू-बक्र इब्न-इब्राहीमने समझा, जो स्वय

---

[1] Avempace.

दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिषका पडित था। उसने बाजाको अपना मित्र और मत्री बनाया, जिसका फल यह हुआ कि मुल्ला (=फकीह) और सैनिक उसके खिलाफ हो गए और वह ज्यादा दिन तक गवर्नर नही रह सका।

बाजाके जीवनके बारेमे सिर्फ इतना ही मालूम है कि सरगोसाकी पराजयके बाद १११८ ई०मे वह शेविलीमे रहा, जहाँ उसने अपनी कई पुस्तके लिखी। एक बार उसे अपने विचारोके लिए जेलकी हवा खानी पडी, और रोश्दके बापने उसे छुडाया था। वहाँसे वह फेज राजदर्बार-मे पहुँचा और वही ११३८ ई०मे उसका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि बाजाके प्रतिद्वद्वी किसी हकीमने उसे जहर देकर मरवा दिया। अपने छोटेसे जीवनसे बाजा स्वय ऊबा हुआ था, और अन्तिम शान्तिमे पहुँचनेके लिए वह अकसर मृत्युकी कामना करता था। आर्थिक कठिनाइयाँ तो होगी ही, सबसे ज्यादा अखरनेवाली बात उसके लिए थी, सहृदय विचार-वाले मित्रोका अभाव और दार्शनिक जीवनके रास्तेमे पग-पगपर उपस्थित होनेवाली कठिनाइयाँ। उस वातावरणमे बाजाको अपना दम घुटता-सा मालूम होता था, और वह फाराबीकी भाँति एकान्त पसन्द करता था।

(२) कृतियाँ—बाजाने बहुत कम पुस्तके लिखी है और जो लिखी भी है, उन्हे सुव्यवस्थित तौरसे लिखनेकी कोशिश नही की। उसने छोटी-छोटी पुस्तके अरस्तू तथा दूसरे दार्शनिकोके ग्रथोपर सक्षिप्त व्याख्याके तौर-पर लिखी है। बाजाकी पुस्तकोमे "तद्बीरु'ल्-मुत्वहहद्" और "हयातु'ल्-मोतज़िल" ज्यादा दिलचस्प इस अर्थमे है, कि उनमे बाजाने एक राज-नीतिक दृष्टिकोण पेश किया है। रोश्दने इस दृष्टिकोणके बारेमे लिखा है—'इब्न'स्-सायग (बाजा)ने हयातु'ल्-मोतजिलमे एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण पेश किया है, जिसका सबध उन मानव-समुदायोसे है, जो अत्यन्त शान्तिके साथ जीवन व्यतीत करना चाहते है।'[1]

---

[1] "अल्-इत्तिसाल"।

बाजाका विचार है, कि राज्य (हकूमत)की बुनियाद आचारपर होनी चाहिए। उसके ख्यालसे एक स्वतन्त्र प्रजातंत्रमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की श्रेणीका होना बेकार है। जब आदमी सदाचारपूर्ण जीवन बितानेके लिए अभ्यस्त हो जायेंगे, और खाने-पीने तथा आमोद-प्रमोदमें संयम और मितव्ययिताकी बान डाल लेंगे, तो जरूर ही वैद्योंकी जरूरत नहीं रह जायगी। इसी तरह जजोंकी श्रेणी इसलिए बेकार है कि ऐसे समाजमें व्यभिचार तथा आचारिक पतनका पता नहीं होगा; फिर मुकदमा कहाँसे आयेगा? और जज लोग फैसला क्या करेंगे?

(३) **दार्शनिक विचार**—बाजासे एक सदी पहिले जिबोल हो चुका था। गज्जाली बाजासे सत्ताईस साल पहिले मरे थे। पूर्वके दूसरे दार्शनिकों खासकर फाराबीका उसपर बहुत ज्यादा असर था। बाजाकी रायमें दिव्य प्रकाश द्वारा सत्य-साक्षात्कारके पूर्ण लाभ मात्रसे सुखी होनेकी बातसे आनंदित हो गज्जाली वास्तविक तत्त्व तक नहीं पहुँच सका। दार्शनिकको ऐसे आनंदको भी छोड़ना होगा, क्योंकि धार्मिक रहस्यवाद द्वारा जो प्रतिबिम्ब मानसतलपर प्रकट होते हैं वह सत्यको खोलते नहीं ढाँकते हैं। किसी भी तरहकी आकांक्षासे अकंपित शुद्ध चिन्तन ही महान् ब्रह्मके दर्शनका अधिकारी बनाता है।

(क) **प्रकृति-जीव-ईश्वर**—बाजाके अनुसार जगत्‌में दो प्रकारके तत्त्व हैं—(१) एक वह जो कि गतियुक्त होता है; (२) दूसरा जो कि गति-रहित है। जो गतियुक्त है, वह पिंड (=जड़) और परिच्छिन्न (=सीमित) होता है; परिच्छिन्न शरीर होनेके कारण वह स्वयं अपने भीतर सदा होती रहती गतिका कारण नहीं हो सकता। उसकी अनन्त गतिके लिए एक ऐसा कारण चाहिए, जो कि अनन्त शक्ति या नित्य-सार हो, यही ब्रह्म (=नफ्स) है। पिंड (=शरीर) या प्राकृतिक (जड़) तत्त्व परत: गतियुक्त होता है, ब्रह्म (=नफ्स) स्वयं अचल रहते, पिंड (जड़ तत्त्व)को गति प्रदान करता है; (३) जीव तत्त्व इन दोनों (जड़, ब्रह्म) तत्त्वोंके बीचकी स्थिति रखता है—उसकी गति स्वत: है। पिंड और

जीवका सबध एक दूसरेसे कैसे होता है, इस प्रश्नको बाजा महत्त्व नही देता, उसके लिए सबसे बडी समस्या है—'मानवके अन्दर जीव और ब्रह्म आपसमे कैसा सबंध रखते है ?"

(a) **"आकृति"**—अफलातूकी भाँति बाजा मान लेता है कि जड (भूत) तत्त्व बिना "आकृति"के नही रह सकता, किन्तु "आकृति" बिना जड तत्त्वके भी रह सकती है, क्योकि ऐसा न माननेपर विश्वके परिवर्तनकी कोई व्याख्या नही हो सकती—यह परिवर्तन वास्तविक आकृतियोके आने और जानेसे ही संभव है। बाजाकी इस बातको समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिए—घडा आकृति (मुटाई, गोलाई आदि) और भूत तत्त्व (मिट्टी) दोनोके मिलनेसे बना है। जब मिट्टीसे आकृति नही जुडी थी, तब वहाँ घडा नही था। चिरकालसे मिट्टी पडी थी, किन्तु घडा वहाँ नदारद था, क्योकि आकृति उससे आकर नही मिली थी। अब आकृति आकर मिट्टीसे मिलती है, मिट्टी घडेका रूप धारण करती है। जब यह आकृति मिट्टीको छोडकर चली जाती है, तो घडा नष्ट हो जाता है। पिथागोर, अफलातू, अरस्तू सभी इस "आकृति" पदार्थपर सबसे ज्यादा जोर देते है, और कहते है कि वह पिडसे बिलकुल स्वतत्र पदार्थ है, और वही जगत्के परिवर्तनका कारण है।

(b) **मानवका आत्मिक विकास**—इन आकृतियोके कई दर्जे है, सबसे निचले दर्जेमे हेवला (सक्रिय-प्रकृति)में पाई जानेवाली आकृतियाँ है, और सबसे ऊपर शुद्ध आत्मिक (ब्रह्म) आकृति। मानवका काम है सभी आत्मिक **आकृतियों**का एक दूसरेके साथ साक्षात्कार (बोध) करना—पहिले सभी पिडमय पदार्थोंकी सभी बुद्धिगम्य आकृतियोका बोध, फिर वाह्यान्त.करणो द्वारा उपस्थापित सामग्रीसे जीवका जो स्वरूप प्रतीत होता है, उसका बोध; फिर खुद मानव-विज्ञान[1] और उसके ऊपरके कर्त्ता-विज्ञान

---

[1]यूनानी दर्शनका अनुसरण करते इस्लामिक दार्शनिक जीव (=रूह)से विज्ञान (=नफ्स)को अलग मानते है।

है, और वही **सामान्य** वस्तुसत् है, इन्द्रिय-गम्य **व्यक्ति** वस्तु-सत् नही है, इसलिए, इस जीवनके बाद व्यक्तिके तौरपर मानव-विज्ञानका रहना सभव नही। मानव-विज्ञान तो नही, किंतु हो सकता है, मानव-जीव (जो कि व्यक्तिका ज्ञान करता है, और उसके अस्तित्वको अपनी इच्छा और क्रियासे प्रकट करता है) मृत्युके बाद ऐसे वैयक्तिक अस्तित्वको जारी रखने तथा कर्मफल पानेकी क्षमता रखता हो। लेकिन विज्ञान (=नफ्स) या जीवका बौद्धिक (इन्द्रियक नही) अश सबमे एक है। यह सारी मानवताका **विज्ञान**—अर्थात् वह एक **बुद्धि** मानवताके भीतरका **मन** या विज्ञान ही एक मात्र नित्य सनातन तत्त्व है, और वह विज्ञान भी अपने ऊपरके **कर्त्ता-विज्ञानके** साथ एक होकर।

बाजाके सिद्धान्तको हम फाराबीमे भी अस्पष्टरूपमे पाते है, और बाजाके योग्य शिष्य रोश्दने तो इसे इतना साफ किया कि मध्यकालीन युरोपकी दार्शनिक विचारधारा मे इसे रोश्दका सिद्धान्त कहा जाता था।

(ग) मुक्ति—विज्ञान (=नफ्स)के उस चरम विकास—सामान्य-विज्ञानके समागम—को बहुत कम मनुष्य प्राप्त होते है। अधिकाश मानव अँधेरेमे ही टटोलते रहते है। यह ठीक है, कितनेही आदमी **ज्योति** और वस्तुओकी रगीन दुनियाको देखते है, किंतु उनकी सख्या बहुत ही कम है, जो कि देखे हुए सारका बोध करते है। वही, जिन्हे कि सारका बोध होता है, अनन्त जीवनको पाते तथा स्वयज्योति बन जाते है।

ज्योति बनना या मुक्त होना कैसे होता है, इसके लिए बाजाका मत है—बुद्धि-पूर्वक क्रिया और अपनी बौद्धिक शक्तिका स्वतत्र विकास ही उसका उपाय है। बुद्धि-क्रिया स्वतंत्र (=बिना मजबूरीकी) क्रिया है, वह ऐसी क्रिया है जिसके पीछे उद्देश्यप्राप्ति या प्रयोजनका ख्याल काम कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि कोई आदमी ठोकर लगनेके कारण उस पत्थरको तोडने लगता है, तो वह छोटे बच्चे या पशुकी भाँति उद्देश्य-रहित काम कर रहा है; यदि वह इसी कामको इस ख्यालसे कर रहा है, कि दूसरे उससे ठोकर न खाये, तो उसके कामको मानवोचित तथा बुद्धि-

पूर्वक कहा जायेगा।

(घ) **"एकान्तता-उपाय"**—बाजाकी एक पुस्तकका नाम "तद्-बीरुल्-मुत्वह्हद्" या एकान्तताका उपाय है। आत्माकी चरम उन्नतिके लिए वह एकान्तता या एकान्तचिन्तनके जीवनपर सबसे ज्यादा जोर देता है, फाराबीने इस विचारको अपनी मातृभूमि (मध्य-एसिया)के बौद्ध-विचारोंके ध्वंसावशेषसे लिया था, और बाजाने इसे फाराबीसे लिया—और इस सारे लेन-देनमें बौद्ध दुःख(निराशा)-वाद चला आये तो आश्चर्य ही क्या ? एकान्तताके जीवनके पीछे समाजपर व्यक्तिकी प्रधानताकी छाप स्पष्ट है और इसीलिए बाजा एक ऐसे अ-सामाजिक समाजकी कल्पना करता है, जिसमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की जरूरत नहीं, जिसमें एक दूसरेकी स्वच्छंदतापर प्रहार किए बिना मानव कमसे कम पारस्परिक संपर्क रखते आत्माराम हो विहरें।—"वह पौधोंकी भाँति खुली हवामें उगते हैं, उन्हें मालीके चतुर हाथोंकी आवश्यकता नहीं, वह (अज्ञानी) लोगोंके निकृष्ट भोगों और भावुकताओंसे दूर रहते हैं। वह संसारी समाजके चाल-व्यवहारसे कोई सरोकार नहीं रखते। और चूँकि वह एक दूसरेके मित्र हैं, इसलिए उनका जीवन पूर्णतया प्रेमपर आश्रित है। फिर सत्यस्वरूप ईश्वरके मित्रके तौरपर वह अमानुष (दिव्य) ज्ञान-विज्ञानकी एकतामें विश्राम पाते है।[1]

२—इब्न-तुफ़ैल[2] (मृत्यु ११८५ ई०)

अब्दुलमोमिन् (११४७-६३)के शासनका जिक्र हम कर चुके हैं। उसके पुत्र यूसुफ (११६३-८४ ई०) और याकूब (११८४-९८ ई०)का शासन-काल मोहिदीन वंशके चरम-उत्कर्षका समय है। इन्हींके समय स्पेनमें फिर दर्शनका मान बढ़ा। इस वक्त दर्शनके मान बढ़नेका मतलब

---

[1] "The Philosophy in Islam" (by Dr. T. J De Boer), pp 180-81 [2] Abubacer

था समाजमे शारीरिक श्रमसे मुक्त मनुष्योकी अधिकता, और जिसका मतलब था गुलामी और गरीबीके सीकडोका कमकर जनतापर भारी भार और उसके बर्दाश्त करनेके लिए मजहब और परलोकवादके अफीमकी कडी पुडियोका उत्साहके साथ वितरण। यही समय भारतमे जयचन्द और "खडनखडखाद्य" (शून्यवादी वेदान्त)के कर्त्ता श्रीहर्ष कविका है।

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-अब्दुलमलिक) इब्न-तुफैल (अल्-कैसी)का जन्म गर्नाताके गादिस[1] स्थानमे हुआ। उसका जन्म-संवत् अज्ञात है। उसने अपनी जन्मभूमि हीमे दर्शन और वैद्यकका अध्ययन किया। बाजा (मृत्यु ११३८ ई०) शायद उस वक्त तक मर गया था, किन्तु इसमे शक नही बाजाकी पुस्तकोने उसके लिए गुरुका काम किया था। शिक्षा-समाप्तिके बाद तुफैल गर्नाता[2]के **अमीर**का लेखक हो गया। किन्तु तुफैलकी योग्यता देर तक गर्नाताकी सीमाके भीतर छिपी नही रह सकती थी और कुछ समय ही बाद (११६३ ई०) सुल्तान यूसुफने उसे मराको बुलाकर अपना वजीर और राजवैद्य नियुक्त किया। तुफैल सर्कारी काम-से जो समय बँचा पाता, उसे पुस्तकावलोकनमे लगाता था। उसका अध्ययन बहुत विस्तृत जरूर था, किन्तु वह उन विद्वानोमे था, जिनको अध्ययनके फलको अपने ही तक सीमित रखनेमे आनद आता है, इसीलिए लिखनेमे उसका उत्साह नही था।

यूसुफके बाद याकूब (११८४-९८ ई०) सुल्तान बना, उसने भी तुफैलका सम्मान बापकी तरह ही किया। इसीके शासनमे ११८५ ई०मे तुफैलकी मराकोमे मृत्यु हुई।

(२) **कृतियाँ**—तुफैलकी कृतियोमे कुछ कविताये तथा "हई इब्न-यकज़ान" (प्रबुद्ध-पुत्र जीवक)की कथा है। "हईकी कथा" डेढ सौ साल पहिलेकी बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०) रचित "हई इब्न-यकजान"-

---

[1] Gaudix. [2] Granada.

की नकल नाममे जरूर है, किन्तु विचार उसमे तुफैलके अपने है।

(३) दार्शनिक विचार—(क) बुद्धि और आत्मानुभूति— बुद्धि-पूर्वक ज्ञानकी प्रधानताको माननेमे तुफैल भी बाजासे सहमत है, यद्यपि वह उतनी दूर तक नही जाता, बल्कि कही-कही तो गज्जालीकी भाँति उसकी टाँग लड़खड़ाने लगती है—

"आत्मानुभूति"[1] ("योगि प्रत्यक्ष")से जो कुछ दिखाई देता है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट नही किया जा सकता क्योकि वह (आत्मानुभूति द्वारा देखा तत्त्व) गौरवपूर्ण ऊँचे अर्थोवाले शब्दोके पहिनावेमे पड़कर दुनियाके चलते-फिरते पदार्थो जैसे लगने लगते है, जो कि सत्य(स्वरूप) आत्माके विचारसे देखनेपर उनसे कोई संबंध नही रखते। यही वजह है, कि कितने ही (विद्वान्) लोग अपने भावोंको प्रकट करनेमे असमर्थ रहे और बहुतोंने इस राहमे ठोकरे खाई।"[2]

(ख) हईकी कथा—दो द्वीप है, जिनमेंसे एकमे हमारे जैसा मानव-समाज अपनी सारी रूढियोंके साथ है; और दूसरेमे एक अकेला आदमी प्रकृतिकी गोदमे आत्मविकास कर रहा है। समाजवाले द्वीपमें मनुष्यकी निम्न प्रवृत्तियोका राज है, जिसपर यदि कोई अकुश है तो मोटे ज्ञानवाले धर्मका बाहरी नियत्रण। किन्तु इसी द्वीपमे इसी परिस्थितिमे पलते दो आदमी—सलामाँ और असल बुद्धिपूर्वक (बौद्धिक) ज्ञान तथा अपनी इच्छाओंपर विजय प्राप्त करनेमे समर्थ होते है। सलामाँ व्यवहारकुशल मनुष्य है, वह सार्वजनिक धर्मके अनुसार बने हुए लोगोपर शासन करता है। असल मननशील तथा सन्तप्रवृत्तिका आदमी है, वह पर्यटन करते दूसरे द्वीपमें पहुँच जाता है। पहिले वह उसे एक निर्जन द्वीप समझता है, और वहाँ स्वाध्याय तथा योगाभ्यासमे लग जाता है।

लेकिन, इस द्वीपमे हई यक्ज़ान—(प्रबुद्ध)का पुत्र हई (जीवक)—एक पूर्ण दार्शनिक विद्यमान है। हई इस द्वीपमे बचपनमें ही फेक दिया

---

[1] Intuition [2] रिसाला "हई बिन्-यक्ज़ान", पृष्ठ १३६

गया था, अथवा अयोनिज प्राणीकी तरह वही उत्पन्न हुआ था। वचपनमे हरिनियोने उसे दूध पिलाया, सयाना होनेपर उसे सिर्फ अपनी बुद्धिका सहारा रह गया था। उसने अपनी बुद्धिको पूरा इस्तेमाल किया, और उसके द्वारा उसने शारीरिक आवश्यकताओकी ही पूर्ति नही की, बल्कि निरीक्षण और मनन द्वारा उसने प्रकृति, आसमानो (=फरिश्ते), ईश्वर और स्वय अपनी आन्तरिक सत्ताका ज्ञान प्राप्त करते हुए ७×७ (४९) वर्ष तक उस उच्चतम अवस्थाको प्राप्त हो गया है, जिसे ईश्वरका सूफीवाला साक्षात्कार या समाधि-अवस्था कहते है। जब असल वहाँ पहुँचा, तो हई इसी अवस्थामे था। हईको भाषा नही मालूम थी, इसलिए पहिलेपहिल दोनोको एक दूसरेके विचारोंके जाननेमे दिक्कत हुई, किन्तु जब वह दिक्कत दूर हो गई, तो उन्होने एक-दूसरेको अपने तजर्बे बतलाये, जिससे पता लगा कि हईका दर्शन और असलका धर्म एक ही सत्यके दो रूप है, फर्क दोनोमे इतना ही है कि पहिला दूसरेकी अपेक्षा कम ढँका है।

जब हई (जीवक)को मालूम हुआ, कि सामनेके द्वीपमे ऐसे लोग बसते है, जो अधकार और अज्ञानमे अपना जीवन बिता रहे है, तो उसने निश्चित किया कि वहाँ जाकर उन्हे भी सत्यका दर्शन कराये। जब उसे उन लोगोसे वास्ता पडा, तो पता लगा कि वह सत्यके शुद्ध दर्शन करनेमे असमर्थ है; तब उसने समझा कि पैगबर मुहम्मदने ठीक किया जो कि उन्होने लोगोको पूर्ण ज्योति न प्रदान कर, उसके मोटे रूपको प्रदान किया। इस तरह हार स्वीकार कर हई अपने मित्र असलको लिये फिर अपने द्वीपमे चला गया, और वहाँ अपनी शुद्ध दार्शनिक भावनाके साथ जीवनके अन्तिम क्षण तक भगवान्की उपासना करता रहा।

सीना और तुफैलके हईमे फर्क है, दोनो ही हई प्रबुद्ध-पुत्र या दार्शनिक हैं, किन्तु जहाँ सीनाका हई अपने दार्शनिक ज्ञानसे दूसरेको मार्ग बतलानेमे सफल होता है, वहाँ तुफैलका हई हार मानकर मुहम्मदी मार्गकी प्रशसा करता हुआ लौट आता है। तो भी दोनोमे एक बात जरूर एकसी है—दोनो ही ज्ञान-मार्गको श्रेष्ठ मानते है।

(ग) ज्ञानीकी चर्या—हईकी चर्याके रूपमे तुफैलने ज्ञानी या दार्शनिककी दिनचर्या बतलाई है। हई कर्मको छोडता नही, वह उसे करता है, किंतु इस उद्देश्यसे कि सबमे एक (अद्वैत तत्त्व)को ढूँढे और उस स्वयं-विद्यमान परम(-तत्त्व)से अपनेको मिला दे। हई सारी प्रकृतिको उस सर्वश्रेष्ठ सत्ता तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील देखता है। हई (कुरानकी) इस बातको नही मानता, कि पृथिवीकी सारी वस्तुएं मनुष्यके लिए है। मनुष्यकी भाँति ही पशु और वनस्पति भी अपने लिए और भगवान्के लिए जीते है, इसलिए हई उचित नही समझता कि उनके साथ मनमाना बर्ताव करे। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओको कम करके उतना ही रहने देता है, जितना कि जीनेके लिए अत्यन्त जरूरी है। वह पके फलोंको खाता है, और उनके बीजोको बडी सावधानीसे धरतीमे गाड देता है, जिसमे किसी वनस्पति-जातिका उच्छेद न हो। कोई दूसरा उपाय न रहनेपर ही हई मास ग्रहण करता है, और वहाँ भी वह इस बातका पूरा ख्याल रखता है, कि किसी जातिका उच्छेद न हो। "जीनेके लिए पर्याप्त, सोनेके लिए पर्याप्त नही" हईके आहारका नियम है।

पृथ्वीके साथ उसके शरीरका सबध कैसा होना चाहिए, उसका निदर्शन है, हईकी यह शरीर-चर्या। लेकिन उसका जीवन-तत्त्व उसे **आसमानों** (=फरिश्ते)से सबद्ध कराता है, आसमानो (=फरिश्तो)की भाँति ही उसे अपने पास-पडोसके लिए उपयोगी बनना तथा अपने जीवनको शुद्ध रखना चाहिए। इसी भावको सामने रखते हुए, अपने द्वीपको स्वर्गके रूपमे परिणत करनेके लिए हई अपने पास-पडोसके पौधोको सीचता, खोदता तथा पशुओकी रक्षा करता है, अपने शरीर और कपडोको शुद्ध रखनेका बहुत अधिक ध्यान रखता है, और कोशिश करता है कि, आसमानी पिंडो (ग्रहो, आदि)की भाँति ही अपनी हर एक गतिको सबकी अनुकूलताके साथ रखे।

इस तरह हई अपनी आत्माको पृथिवी और आस्मानसे ऊपर उठाते हुए शुद्ध-आत्मा तक पहुँचानेमे समर्थ होता है। यही वह समाधि (=आत्म-

विस्मृति)की अवस्था है, जिसे किसी भी कल्पना, शब्द, मानसप्रतिबिब द्वारा न जाना जा सकता है, न प्रकट किया जा सकता है ।

३—इब्न[1]-रोश्द (११२६-९८ ई०)

बू-अली सीनाके रूपमे जैसे पूर्वमे दर्शन अपने उच्चतम शिखरपर पहुँचा, उसी तरह रोश्द पश्चिमी इस्लामिक दर्शनका चरम विकास है । यही नही, रोश्दका महत्त्व मध्यकालीन युरोपीय दर्शन-चक्रको गति देकर आधुनिक दर्शनके लिए क्षेत्र तैयार करनेमे साधन होनेके कारण और बढ जाता है ।

(१) **जीवनी**—अबू-वलीद मुहम्मद (इब्न-अहमद इब्न-मुहम्मद इब्न-अहमद इब्न-अहमद) इब्न-रोश्दका जन्म सन् ११२६ ई० (५२० हिजरी)मे स्पेनके प्रसिद्ध शहर कार्दोवा (कर्तवा)मे एक शिक्षित परिवारमें हुआ था। कार्दोवा उस समय विद्याका महान् केन्द्र तथा १० लाखकी आबादीकी महानगरी थी । रोश्दके खान्दानके लोग ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदोपर रहते चले आए थे । रोश्दका दादा मुहम्मद (१०५८-११२६ ई०) फिका (=इस्लामिक मीमासा)का भारी पडित कार्दोवाका महाजज (काजी-उल्-कुज्जात्) तथा जामा-मस्जिदका इमाम था । रोश्दका बाप अहमद (१०९४-११६८ ई०) भी अपने बापकी तरह कार्दोवाका काजी (जज) और जामा मस्जिदका इमाम हुआ था । रोश्दका घर स्वय एक बडा विद्यालय था, जहाँ उसके बाप-दादाके पास दूर-दूरके विद्यार्थी काफी सख्यामे आकर पढते थे, फिर बालक रोश्दकी पढाईका माँ-बापने कितना अच्छा प्रबध किया होगा इसे कहनेकी जरूरत नही । रोश्दने पहिले-पहिल अपने बापसे कुरान और मोता[2] पढकर कठस्थ किया, उसके बाद अरबी साहित्य और व्याकरण। बचपनमे रोश्दको कविता करनेका शौक हुआ था, और उसने कुछ पद्य-रचना भी की थी, किन्तु सयाना होनेपर उसे वह नही जँची, और कार्ल मार्क्सकी भाँति उसने अपनी कविताओको आगके सिपुर्द कर दिया ।

---

[1] Averroes. [2] इमाम मालिककी लिखी फ़िक़ाकी एक पुस्तक।

दर्शनका शौक रोश्दको बचपनसे ही था। उस वक्त बाजा (११३८ ई०) जिन्दा था। रोश्दने इस तरुण दार्शनिकसे दर्शन और वैद्यक पढना शुरू किया, लेकिन बाजाके मरनेके बाद उसे दूसरे गुरुओकी शरण लेनी पडी, जिनमे अबू-बक्र बिन्-जज्रियोल और अबू-जाफर बिन-हारून रजाली ऊँचे दर्जेके दार्शनिक थे।

बाजाका शागिर्द तथा स्वय भी दर्शनका पण्डित होनेके कारण तुफैल-की नजर रोश्दपर पडनी जरूरी थी। अभी रोश्दकी विद्वत्ताका सिक्का नही जम पाया था, उसी वक्त तुफैलने लिखा था—[1]

"बाजाके बाद जो दार्शनिक हमारे समकालीन है, वह अभी निर्माणकी अवस्थामे है, और पूर्णताको नही पहुँच पाये है, इसलिए उनकी वास्तविक योग्यता और विद्वत्ताका अदाजा अभी नही लगाया जा सकता।"

रोश्दने साहित्य, फिका (=इस्लामिक मीमासा), हदीस (=पैगबर-वचन) आदिका भी गभीर अध्ययन किया था, किन्तु वैद्यक और दर्शनमे उसका लोहा लोग जल्दी ही मानने लगे। शिक्षा समाप्तिके बाद रोश्द कार्दोवामे वैद्यकका व्यवसाय और अध्यापनका काम करता रहा।

तुफैल रोश्दका दोस्त था, उसने समय पाकर सुल्तान यूसुफसे उसकी तारीफ की। रोश्दकी यूसुफसे इस पहिली मुलाकातका वर्णन, रोश्दके एक शागिर्दसे सुनकर अब्दुल्वाहिद मराकशीने इस प्रकार किया है—

"जब मै दरबारमे दाखिल हुआ, तो वहाँ तुफैल भी हाजिर था। उसने अमीरु'ल्-मोमिनीन (खलीफा) यूसुफके सामने मुझको पेश किया और वह मेरे खान्दानकी प्रतिष्ठा, मेरी अपनी योग्यता और विद्याको इतना बढा चढाकर बयान करने लगा, जिसके कि मै योग्य न था, और जिससे मेरे साथ उसका स्नेह और कृपा प्रकट होती थी। यूसुफने मेरी ओर देखते हुए मेरे नाम आदिको पूछा। फिर एक बारही मुझसे सवाल कर बैठा, कि दार्शनिक (अरस्तू आदि) आसमानो (=देवताओ)के बारेमे क्या राय

---

[1] "हई बिन्-यक्जान"।

रखते है, अर्थात् वह दुनियाको नित्य या नाशवान् मानते है। यह सवाल सुनकर मै डर गया, और चाहा कि किसी बहानेसे उसे टाल दूँ। यह सोचकर मैने कहा कि मै दर्शनसे परिचित नही हूँ। यूसुफ (सुल्तान) मेरी घबराहटको समझ गया, और मेरी ओरसे फिरकर तुफैलकी ओर मुँह कर उसने इस सिद्धान्तपर बहस शुरू कर दी, और अरस्तू, अफलातू, तथा दूसरे (दर्शनके) आचार्योंने जो कुछ इस सिद्धान्तके बारेमे लिखा है, उसे सविस्तर कहा। फिर इस्लामके वाद-शास्त्रियो (=मुत्कल्लमीन्)ने (दर्शन-) आचार्योंपर जो आक्षेप किये है, उन्हे एक-एक कर बयान किया। यह देखकर मेरा भय जाता रहा। . अपना कथन समाप्तकर (यूसुफ-ने) फिर मेरी ओर नजर की। अब मैने आजादीके साथ इस सिद्धान्तके सबंधमे अपने विचार और ज्ञानको प्रकट किया। जब मै दरबारसे चलने लगा, तो (सुल्तानने) मुझे नकद अशर्फी, खिलअत (=पोशाक), सवारीका घोड़ा और बहुमूल्य घडी प्रदान की।"[1]

यूसुफ पहिली ही मुलाकातमे रोश्दकी विद्वत्तासे बहुत प्रभावित हुआ। ११६९ ई० (५६५ हिजरी)मे यूसुफने रोश्दको शेविली (अश्बीलिया)[2]-का जज (काजी) नियुक्त किया। इसी सन् (५६५ हिजरी सफ़र मास)मे शेविलीहीमे रोश्दने अरस्तूके "प्राणिशास्त्र"की व्याख्या समाप्त की। रोश्द अपनी पुस्तकोमे अकसर शिकायत करता है—"अपने सरकारी कामसे बहुत लाचार हूँ, मुझको इतना समय नही मिलता कि लिखनेके कामको शान्त चित्तसे कर सकूँ. मेरी अवस्था बिलकुल उस आदमीकी है, जिसके मकानमे चारो तरफसे आग लग गई हो और वह परेशानी और घबराहटकी हालतमे सिर्फ मकानकी जरूरी और कीमती चीजोको बाहर निकाल निकालकर फेक रहा हो। अपनी ड्यूटीको पूरा करनेके लिए मुझे राज्यके नजदीक और दूरके स्थानोका दौरा करना पडता है। आज राजधानी मराकश (मराको)मे हूँ, तो कल कर्तबा (कार्दोवा)मे और परसो

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँकी फ़्रेंच पुस्तक), पृष्ठ १०-११ [2] Seville.

फिर अफ्रीका (मराको)में। इसी तरह बार-बार सल्तनतके जिलोंके दौरेमें वक्त गुजर जाता है, और साथ ही साथ लिखनेका काम भी जारी रहता है, जो कि बहुधा इस मानसिक अस्थिरताके कारण दोषपूर्ण और अधूरा रह जाता है।"[1]

राजकीय अधिकारी बननेके बाद रोश्दकी यही हालत रही, किन्तु रोश्दने दर्शनप्रेममें सीनाकी तरहका दृढ़ संकल्प और कामकी लगन पाई थी, जिसका फल हम देखते हैं इतना बहुधंधी होनेपर भी उसका उतनी पुस्तकोंका लिखना।

११८४ ई० (५८० हिजरी)में यूसुफ मर गया, उसके बाद उसका बेटा याकूब मंसूर गद्दीपर बैठा। तोमरत और उसके बाद अब्दुलमोमिन-ने मोहिदीनोंमें विद्याके लिए इतनी लगन पैदा कर दी थी, कि शाहजादोंको पढ़नेके लिए बहुत समय और श्रम करना पड़ता था। याकूब अपने बाप और दादासे भी बढ़-चढ़कर विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था। साथ ही वह एक अच्छा जेनरल था, और उठती हुई पड़ोसी ईसाई शक्तियोंको कई बार पराजित करनेमें सफल हुआ।

याकूब अपने बापसे भी ज्यादा रोश्दका सम्मान करता था, और अकसर दर्शन-चर्चाके लिए उसे अपने पास रखता था। याकूबके साथ रोश्दकी बेतकल्लुफी इतनी बढ़ गई थी, कि वार्तालापमें अकसर वह उसे कहता— "अस्मओ या अखी !" (सुना मेरे मित्र !)....

आखिरी उम्र रोश्द बादशाहसे छुट्टी ले कार्दोवामें रह लेखन-अध्ययन-में बिताने लगा।

११९५ ई० (५९१ हि०)में याकूब मंसूर अपने प्रतिद्वंदी अल्फासोके हमलेका बदला लेनेके लिए कार्दोवा आया और वहाँ तीन दिन ठहरा, इस वक्त रोश्दके सम्मानको उसने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। रोश्दके समकालीन एक काजीने इस मुलाकातका वर्णन इस प्रकार किया है—

---

[1] "इब्न-रोश्द"—रेनाँ, पृष्ठ १२

"मसूर जब ५९१ हिजरी (११९५ ई०)मे दशम अल्फासोके ऊपर चढाई करनेकी तैयारी कर रहा था, उस समय उसने रोश्दको मुलाकातके लिए बुलाया। दरबारमे मुहम्मद अब्दुल्वाहिदका बहुत प्रभाव था, वह मंसूरका दामाद और **नदीम-खास** था। इसके बेटेको मसूरने अफ्रीकाकी गवर्नरी दी थी। दर्बारमे अबू-मुहम्मद अब्दुलवाहिदकी कुर्सी तीसरे नंबर पर होती थी, लेकिन उस दिन मंसूरने इब्न-रोश्दको अब्दुल्-वाहिदसे भी आगे बढा अपनी बगलमे जगह दी, और देर तक बेतकल्लुफीसे बाते करता रहा। बाहर रोश्दके दुश्मनोंने खबर उड़ा दी, कि मसूरने उसके कत्लका हुक्म दे दिया है। विद्यार्थियोंकी भारी जमात बाहर प्रतीक्षा कर रही थी, यह खबर सुनकर सब परेशान हो गये। जब थोडी देर बाद इब्न-रोश्द बाहर आया (और असली हालत मालूम हुई तो) उसके दोस्तोने इस प्रतिष्ठा और सम्मानके लिए उसे बधाई दी। लेकिन आखिरमे हकीम (रोश्द)ने खुशी प्रकट करनेकी जगह अफसोस जाहिर किया, और कहा—'यह खुशीका नही बल्कि रजका मौका है, क्योकि यकबयक इस तरहकी समीपता बुरे परिणाम लायेगी।'"[1]

रोश्दकी बात सच निकली और उसके जीवनके अन्तिम चार साल बडे दुःख और शोकसे पूर्ण बन गये।

(क) सत्यके लिए यंत्रणा—११९५ से ११९७ ई० तक याकूब मंसूर लड़ाइयोमे लगा रहा, और अन्तमें दुश्मनोको जबर्दस्त शिकस्त देनेके बाद उसने शेविलीमें देर तक रहनेका निश्चय किया। रोश्दके इतने बड़े सम्मानसे कितने ही बड़े-बडे लोग उससे डाह करने लगे थे, उधर रोश्द अपने विचारोको प्रकट करनेमें सावधानी नही रखता था, जिससे उनको अच्छा मौका मिला। उन्होंने रोश्दके कुछ विद्यार्थियोको उसके विचारों-को जमा करनेमे लगाया। उनका मतलब यह था, कि इस प्रकारसे रोश्द जी खोलकर सब कुछ कह डालेगा और फिर खुद उसीके वचनसे

---

[1] "तबक़ातुल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७६

उसकी बेदीनीके सबूतका एकत्रित करना मुश्किल न होगा। और हुआ भी ऐसा ही। रोश्दने अपने शागिर्दोसे वह बातें कह डाली जो कि मुल्लोंके उस धर्मान्ध-युगमे नही कहनी चाहिए थी। दुश्मनोको और क्या चाहिए था। उन्होने रोश्दके पूरे व्याख्यानको खूब नमक मिर्च लगाकर सुल्तानके पास पहुँचा दिया। सबूतके लिए सौ गवाह पेश कर दिये गए। यूसुफ चाहे कितना ही दर्शनानुरागी हो, उसे अपने समकालीन जयचदकी प्रजा न मिली थी, जिसके सामने खुले बॉग श्रीहर्ष न्यायके ऋषि गौतमको गोतम[1] (=महाबैल) कहकर निर्द्वंद घूमते-फिरते; और दर्बारमे "ताबूलद्वय" और "आसन" (कुर्सी?) प्राप्त करते। मसूर यदि अब रोश्दका पक्ष करता तो उसे प्रजा और सेनाको दुश्मन बनाना पडता।

गवाहोने गवाही दी, रोश्दके हाथके लेख पेश किये गये, जिनमेसे एक-मे रोश्दने बादशाहको अमीरुल'मोमिनीन या सुल्तान न कह "बर्बरो"के सर्दार (मलिकु'ल्-बर्बर)के मामूली नामसे याद किया था। दूसरे लेखमे रोश्दने शुक्र (=जोहरा) ताराको यूनानियोकी भाँति सम्मान प्रकट करते हुए देवी कहा था। पहिली बातके लिए अब्दुल्ला उसूलीने रोश्दकी ओर-से बहस की, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह भी धर लिया गया। सभी गवाहियो, सबूतोसे यह साबित किया गया कि रोश्द बेदीन नास्तिक है। यूसुफ मजबूर था, उसने रोश्दको अपने शिष्यो और अनुयायियोके साथ सार्वजनिक सभामे आनेका हुक्म दिया, जिसके लिए कार्दोवाकी जामा मस्जिदको चुना गया। बादशाह अपने दर्बारियोके साथ वहाँ पहुँचा। इस भारी जल्सेकी कार्रवाईका वर्णन अन्सारीने इस प्रकार किया है:—

"मन्सूरकी मजलिसमे इब्न-रोश्दका दर्शन टीका और व्याख्याके साथ पेश किया गया। कुछ डाह करनेवालोने उसमे नमक-मिर्च भी मिला दी थी। चूँकि सारा दर्शन बेदीनी (=नास्तिकता) से भरा था, इसलिए आवश्यक था कि इस्लामकी रक्षा की जाये। खलीफा (यूसुफ)ने सारी जनताको

---

[1] "नैषधीयचरित"।

एक दर्बारमे जमा किया, जिसका स्थान पहिलेहीसे जामा मस्जिद निश्चित था। ..(इस जल्सेमे) यह बतलाना था, कि इब्न-रोश्द पथभ्रष्ट और धिक्कारका पात्र हो गया है। इब्न-रोश्दके साथ काजी अबू-अब्दुल्ला उसूली भी इसी अपराधमे धरे गये थे—उनके बार्तालापमे भी बाज वक्त बेदीनी जाहिर हुई थी। कार्दोवाकी जामा मस्जिदमे दोनो अपराधी उपस्थित किये गए . अबू-अली हज्जाजने खडे होकर घोषित किया कि इब्न-रोश्द नास्तिक (=मुलहिद्) और बेदीन होगया है।"[1]

हज्जाजके व्याख्यानके बाद सुल्तानने खुद इब्न-रोश्दको इस अभिप्रायसे बुलाया कि वह जबावदेही करे, और पूछा कि क्या ये लेख तुम्हारे है? यह अजब नाटक था। क्या याकूब मन्सूर जानता नही था, कि रोश्दके दार्शनिक विचार क्या है। क्या वर्षो उसके साथ बेतकल्लुफाना दर्शन-चर्चामे रोश्दके विचार उससे छिपे हुए थे? वह जानते हुए भी लोगोको अपनी धर्मप्राणता दिखलाने तथा अपनी राजनीतिक स्थितिको सर्वप्रियता द्वारा दृढ करनेके ख्यालसे यह अभिनय कर रहा था। अच्छा होता यदि इस वक्त रोश्द भी सुक्रातके रास्तेको स्वीकार किये होता, किन्तु रोश्दका नागरिक समाज अथेन्सके नागरिक समाजसे बहुत निम्न श्रेणीका था, वह उसके साथ अधिक कमीनेपनसे पेश आता? साथ ही रोश्द सब कुछ खोकर भी जितने दिन और जीता उतना ही दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्यके लिए अच्छा था। इसके अतिरिक्त रोश्दको अपने शिष्यो—अनुयायियो—मित्रोका भी ख्याल करना जरूरी था। यह सब सोच रोश्दने भी उसी तरह अपने लेखोसे इन्कार कर दिया, जिस तरह मसूरने उनके पूर्वपरिचयसे इन्कारका नाटक किया था। जवाब सुनकर मसूरने उन लेखोके लिखने-वालेको धिक्कार (लानत) कहा, और उपस्थित जनमडलीने "आमीन" (एवमस्तु) कहा। इब्न-रोश्दका अपराध सारी जनताके सामने साबित हो गया, उसमे शक-शुबहाकी गुजाइश न थी। यदि सुल्तान बीचमे न होता,

[1] "इब्न-रोश्द व फिलसफा"—कर्हुल्-जोन्।

तो शायद सारी जनमंडलीने गुस्सामें आकर रोश्दकी वोटियाँ नोच डाली होती। लेकिन वादशाहकी रायसे सिर्फ इस सजापर सन्तोष किया गया, कि वह किसी अलग स्थानपर भेज दिया जाये।

रोश्दके विरुद्ध गवाही देनेवालोमे कुछने यह भी कहा था, कि स्पेनमें जो अरवी कवीले आकर आवाद हुए है, इब्न-रोश्दका उनमेंसे किसीके साथ खान्दानी सबध नही है, और यदि उसका सबंध है तो वनी-इस्राईल (यहूदी)के खान्दानसे। इसपर यह भी फैसला हुआ कि उसे लोसीनिया[1] (=अलेसान्ता)मे भेज दिया जाये, क्योंकि यह वनी-इस्राईल (यहूदियो)की वस्ती है, और उनके अतिरिक्त दूसरी जातिके लोग वहाँ नही रहते।

रोश्दके दुश्मनो और मुल्लाओने एक अर्सेसे उसके खिलाफ जो जवर्दस्त प्रचार करके लोगोकी धर्मान्धताको उत्तेजित कर रखा था, उसे इस फैसलेके वाद भडक उठनेका वहुत डर था। रोश्द यदि यहूदी वस्तीमे भेज दिया गया, तो यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। लोग मुल्लोकी वातमें आकर कुछ और कह वैठते। इसका ध्यान उन्हे शान्त करने तथा अपनेको सदेह-भाजन न वनानेके लिए मन्सूरने एक खास सरकारी विभाग कायम किया, जिसका काम था दर्शन और तर्कशास्त्रकी पुस्तकोंको एकत्रित कर उन्हें जलाना; तथा इन विद्याओंके पढनेवालोको कडी-कडी सजाएँ दिलवाना। इसी समय मन्सूरने लोगोको शान्त करनेके लिए एक फरमान (=घोषणा) लिखकर सारे मुल्कमें प्रकाशित कराया। इस सारे फर्मानको अन्सारीने अपने ग्रन्थ[2]में उद्धृत किया है, और उसके संक्षेपको इस प्रकार दिया है[3]—"पुराने जमानेमे कुछ लोग ऐसे थे, जो मिथ्याविश्वासका अनुगमन करते और हर वातमें उल्टे सीधे सवाल उठाया करते थे; तो भी आम लोग उनकी वुद्धिकी प्रखरता पर लट्टू हो गए थे। इन लोगोने अपने विचारोके अनुसार ऐसी पुस्तकें लिखी जो कि शरीअत (इस्लामी धर्मग्रथो)से

[1] कार्दोवाके पास एक गाँव। [2] "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ७३-७६

[3] वहीं, टिप्पणी, पृष्ठ ७६

उतनी ही दूर थी जितना पूर्वसे पश्चिम दूर है। हमारे समयमे भी कुछ लोगोने इन्ही नास्तिको (=मुल्हिदो) की पैरवी की और उन्हीके मतके अनुसार किताबे लिखी। यह पुस्तके देखनेमे कुरानकी आयतो (=वाक्यावलियो) से अधिक अलकृत है, लेकिन भीतरसे कुफ्र (=नास्तिकता) और जिन्दका (=धर्मविरोधी एक मत) है। जब हम (सुल्तान मसूर) को उनके धोका-फरेबका हाल मालूम हुआ, तो हमने उनको दर्बारसे निकाल दिया, और उनकी किताबे जलवा दी, क्योकि हम शरीअत और मुसलमानोको इन नास्तिकोके फरेबसे दूर रखना चाहते है. . . .या खुदा! इन नास्तिको और उनके दोस्तोको तबाह और बर्बाद कर।. . . .(फिर लोगोको हुक्म दिया है कि) इन नास्तिकोकी सगतसे वैसे ही परहेज करो जैसे विषसे करते हो, यदि कही उनकी कोई पुस्तक पाओ तो उसे आगमे झोक दो, क्योकि कुफ्रकी सजा आग है. . ."

तर्क और दर्शनके प्रति शिक्षित मुल्लाओका उस वक्त क्या रुख था, वह विद्वान् इब्न-जुह्र—जिसे कि मंसूरने पुस्तकोके जलानेका इन्चार्ज बनाया था—की इस हरकतसे पता लगेगा। दो विद्यार्थी जुह्रसे वैद्यक पढ रहे थे। एक दिन उनके पास कोई किताब देख जुह्रने उसे लेकर गौर किया तो मालूम हुआ, मतिक (=तर्क) की किताब है। जुह्र गुस्सेमे पागल हो नगे पैर उनके पीछे मारनेके लिए दौडा। उन विद्यार्थियोने फिर जुह्रके पास जाना छोड दिया। कुछ दिनो बाद उन्होने जाकर उस्तादसे कसूरकी माफी माँगी और कहा कि वस्तुत वह पुस्तक हमारी न थी, एक दोस्तसे हमने जबर्दस्ती छीनी, और गलतीसे हमारे पास रह गई थी। जुह्रने कसूर माफ कर दिया, और नसीहत दी, कि कुरान कठस्थ करो, फिका (=मीमासा) और हदीस (=पैगबर-वचन) पढो। जब उन्होने उसे समाप्त कर लिया, तो उसने स्वय अपने पुस्तकालयसे फोर्फोरि (=फोर्फोरियस) की पुस्तक ईसागोजीको लाकर कहा कि फिका और हदीसके बाद अब इसको पढनेका समय है, तर्क और दर्शनमे पाडित्य प्राप्त करो, किंतु इससे पहिले दर्शनका पढना तुम्हारे लिए हर्गिज़ उचित न था। इब्न-जुह्र यद्यपि बाहरसे तर्क-दर्शनकी पुस्तकोंको

"जलवाता फिरता" था, किन्तु भीतर स्वय दर्शनके अध्ययनमे लगा रहता था। जुह्लके एक दुश्मनने रोश्दके उदाहरणसे लाभ उठाकर उसे तबाह करना चाहा। उसने मसूरके पास बहुतसे लोगोके हस्ताक्षरके साथ एक आवेदनपत्र भेजा कि जुह्ल स्वय दर्शनका हामी है, उसके घरमे दर्शनकी हजारो पुस्तके है। मंसूरने आवेदनपत्रको पढकर हुक्म दिया कि लेखकको तुरत जेल भेज दिया जाये। वह जेल भेज दिया गया और हस्ताक्षर करनेवाले डरके मारे छिपते फिरने लगे। मुल्लोने जनताकी आँखोमे धूल झोककर उनमे धर्मान्धताकी भारी आग भडका दी थी। मसूर जानता था, कि यह आग देर तक इसी अवस्थामे नही रह सकती, किन्तु इसका दबना भी तभी सभव है, जब कि इसे एक बडी बलि दी जाये। वह रोश्दकी बलि चढा चुका था, और वह आग ठडी पड गई थी। वह जानता था, कि मुल्लोकी ताकतसे यह बाहरकी बात है, कि तुरत ही फिर जनताको उसी तरह उत्तेजित कर सके। इसीलिए बडे इतमीनानके साथ उसने इन कठमुल्लोको दबा देनेका निश्चय किया।

जिस वक्त रोश्दको निर्वासित किया गया था, उसी वक्त कितने ही दूसरे दार्शनिको—जहबी, उसूली, बजाया, कफ़ीफ, कराबी आदि—को भी निर्वासित किया गया था। इस वक्त मुल्लोंने खुशीमे आकर सैकडो कविताये बनाई थी, जिनमेंसे कितनी ही अब भी सुरक्षित है।

यहूदी स्पेनमे पहिलेसे दर्शनके झडाबर्दार थे, इसलिए लूसीनियाके यहूदियोने जब इस नास्तिक, पतित, दार्शनिकको उस दीन-अवस्थामे देखा, तो उसे वह सर-आँखोपर बैठानेके लिए तैयार थे। आखिर स्पेनमे एक छोटा गाँव था, जहाँके गँवार उस वक्त भी रोश्दको सत्यका शहीद समझते थे। उनके इस सम्मानकी कीमत और बढ जाती है, जब हम जानते है कि उन्हे यह मालूम न था कि लूसीनियाका यह रोश्द भविष्यमे सारी विद्या और प्रकाशकी दुनियाका पूज्य देवता बनने जा रहा है, और उस दुनियाके निर्माणकी बुनियादमे उसके विचार और अपमानकी ईंटे भी पडेगी।

रोश्दके ऊपर होनेवाले अत्याचारोके बारेमें कितनीही बाते मशहूर

है। एक बार वह लूसीनियासे फ्रास भाग गया, मुल्लोने पकडवाकर उसे मस्जिदके दर्वाजेपर खडा करवाया, और यह सजा दी कि जो मस्जिदके भीतर दाखिल हो या बाहर निकले उसपर थूकता जाये। एक अपमानका वर्णन स्वय रोश्दने लिखा है—"सबसे अधिक दुख मुझे उस वक्त हुआ था, जब कि एक वार मै और मेरा बेटा अब्दुल्ला कार्दोवाकी जामा मस्जिदमे नमाज पढनेके लिए गये, लेकिन न पढ सके। चद गुडोने हल्ला मचाया, और हम दोनोको मस्जिदसे निकाल दिया गया।"[1]

रोश्दको लूसीनियामे निर्वासित कर एक तरहसे सख्त नजरबदीमे रखा गया था; कोई दूसरी जगहका आदमी उससे मिलने नही पाता था।

(ख) मुक्ति और मृत्यु—दो साल (११९७-९८ ई०) तक रोश्द उस बुढापेमे अपनी दार्शनिक प्रतिभाके लिए उस शारीरिक और मानसिक यातनाको सहता रहा। मसूर समझ रहा था, कि उसने अपने समयके लोगोके सामने ही नही इतिहासके सामने कितना भारी पाप किया है, किन्तु रोश्दके बदले स्वय बलिवेदीपर चढनेकी उसको हिम्मत न थी। अब मसूर अपने पडोसी ईसाई राजाओकी अतिम पराजय करके जहाँ उधरसे निश्चिन्त था, वहाँ उसका प्रभाव अपनी प्रजापर एक भारी विजेताके तौर-पर हो गया था, उधर मुल्लोका जादू भी जनताके सिरसे कम हो गया था। मसूरके इशारेसे या खुद ही सेविली (अश्वीलिया)के कुछ सभ्रात लोगोने गवाही दी कि रोश्दपर झूठा, बेबुनियाद इल्जाम लगाया गया था। इसपर मसूरने इस शर्तपर छोडनेका हुक्म दिया कि रोश्द जामा-मस्जिद-के दर्वाजेपर खडा होकर लोगोके सामने तोबा करे। रोश्द जामा मस्जिदके दर्वाजेपर तब तक नगे सिर खडा रखा गया, जब तक लोग नमाज पढते रहे, (और खुदा शान्तचित्तसे उस नमाजको सुनता भी रहा!)। इसके बाद वह कार्दोवामे बडी गरीबीकी जिन्दगी बिताने लगा।

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनॉ द्वारा एक पुराने लेखक अब-मुहम्मद अब्दुल् कबीर अंसारी से उद्धृत), पृष्ठ १९

मसूरकी आत्मा अभी भी उसे कोस रही थी, इसलिए वह रोश्दके साथ कुछ और उपकार करनेका रास्ता ढूँढ रहा था। इसी बीच मराकोके काजी (जज)को उसके जुल्मके लिए बर्खास्त करना पडा। मंसूरने तुरत उसकी जगह रोश्दको मुकर्रर किया। दर्शनकी पुस्तकोके ध्वंसका हुक्म भी वापिस लिया गया, और जो दूसरे दार्शनिक निर्वासित किये गए थे, उनको बुलाकर कितनोंको बडे-बडे दर्जे दिये गए।

रोश्द एक साल और जीवित रहा, और अन्तमें १० दिसम्बर ११९८ ई० को मराकोमे उसका देहान्त हुआ; उसके शवको कार्दोवामे लाकर खान्दानी कब्रस्तान मकबरा-अब्बासमे दफन किया गया।

तेईस दिन बाद (२ जनवरी, ११९९ ई०)को मसूर भी मर गया, और साथही अपने नामपर हमेशाके लिए एक काला धब्बा छोड गया। वह समय जल्द आया जब स्पेनकी भूमिसे मंसूरके खान्दानका शासन ही नही बल्कि इस्लाम भी खतम हो गया, किन्तु रोश्दकी आवाज सारे युरोपमें गूँजने लगी।

(ग) रोश्दका स्वभाव—रोश्दके स्वभावके बारेमे इतिहास-लेखक बाजीका कहना है—

"इब्न-रोश्दकी राय बहुत मजबूत होती थी। वह जैसा ही जबर्दस्त प्रतिभाका धनी था, वैसाही दिलका मजबूत था। उसके सकल्प बहुत पक्के होते थे, और वह कष्टोसे कभी भय नही खाता था।"[1]

"रोश्द गंभीरताकी मूर्ति था। ज्यादा बोलना उसके स्वभावमे न था। अभिमान उसे छू नही गया था। किसीको बुरा-भला कहना उसे पसद न था। धन और पदका न उसे अभिमान था और न लोभ। वह अपने शरीरपर खर्च न करता था। दूसरोकी सहायता करनेमे उसे बहुत आनंद आता था। चापलूसीसे उसे सख्त घृणा थी। उसकी विशालहृदयता मित्रो ही तक नही शत्रुओ तकके लिए खुली हुई थी। वह कहा करता

---

[1] "तब्कातु'ल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७६

था—'यदि हमने दोस्तोको दिया, तो वह काम किया, जो कि हमारी अपनी रुचिके अनुकूल है। उपकार और दया उसे कहते है, जिसमे उन शत्रुओंतकको शामिल किया जाये, जिनको हमारी तबियत पसद नही करती'।"[1]

"दया उसमे इतनी थी कि यद्यपि वर्षो वह काज़ी (जज) रहा, किन्तु कभी किसीको मृत्यु-दंड नही दिया। यदि कोई ऐसा मौका आता, तो स्वयं न्यायासनको छोड दूसरेको अपना स्थानापन्न बना देता। अपने शहर कार्दोवासे उसका वैसा ही प्रेम था, जैसा कि यूनानी दार्शनिकोका अथेन्ससे। एक बार मंसूरके दर्बारमे जुह्र और रोश्दमें अपने-अपने शहरो सेविली और कार्दोवाके सबंधमे बहस छिड़ गई। रोश्दने कहा—सेविलीमे जब कोई विद्वान् मर जाता है, तो उसके ग्रंथ-सग्रहको बेचनेके लिए कार्दोवा लाना पडता है, क्योकि सेविलीमे इन चीजोकी पूछ करनेवाले नही हैं; हाँ, जब कार्दोवाका कोई गायनाचार्य मर जाता है, तो उसके वाद्य-यंत्र सेविलीमे विकनेके लिए जाते है, क्योकि कार्दोवामे इन चीजोंकी माँग नही है"।[2]

पुस्तक पढ़नेका रोश्दको बहुत शौक था। इब्नु'ल्-अबारका कहना है कि रातके वक्त भी उसके हाथसे किताब नही छूटती थी। सारी-सारी रात वह किताब पढा करता था। अपनी उम्रमे सिर्फ दो रातें उसने किताव पढ़े विना विताईं, एक शादीकी रात, दूसरी वह रात जब कि उसके बापकी मृत्यु हुई।"[3]

(२) कृतियाँ—भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी लिखी हुई पुस्तकोकी सख्या साठसे ऊपर है। इब्नु'ल्-अबारके कथनानुसार वह दस हजार पृष्ठके करीव है। मौलवी मुहम्मद यूनस् अन्सारी (फिरंगीमहली)ने अपनी पुस्तक "इब्न-रोश्द" मे (जो कि मेरे इस प्रकरणका मुख्य आधार है) भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी पुस्तकोंकी विस्तृत सूची दी है, मै वहाँसे[4] सिर्फ

---

[1] "आसारु'ल्-अद्हार", पृष्ठ २२२ [2] "नफ़्हु'ल्-तैब", पृष्ठ २१६
[3] "अल्-दीबाजु'ल्-मज्हब", पृष्ठ २८४ [4] "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ११९-३०

पुस्तकोंकी संख्या देता हूँ।

(१)	दर्शन	२८
(२)	वैद्यक	२०
(३)	फ़िक़ा	८
(४)	कलाम (वाद)-शास्त्र	६
(५)	ज्योतिष-गणित	४
(६)	व्याकरण (अरबी)	२
		६८

रोश्दने अपनी सभी पुस्तकें अरबीमें लिखी थीं, किन्तु उनमेंसे कितनों-के अरबी मूल नष्ट हो चुके हैं, और उनके इब्रानी या लातीनी अनुवाद-ही मौजूद हैं।

इब्न-रोश्दने स्वयं लिखा है कि किस तरह तुफ़ैलने उसे दर्शनकी पुस्तकों-के लिखनेकी ओर प्रेरणा दी—"एक दिन इब्न-तुफ़ैलने मुझे बुलाया। जब मैं गया तो उसने कहा कि आज अमीरु'ल मोमिनीन (यूसुफ) अफसोस करते थे कि अरस्तूका दर्शन बहुत गंभीर है, और (अरबी-) अनुवादकोंने अच्छे अनुवाद नहीं किये हैं। यदि कोई आदमी तैयार होता और उनका संक्षेप करके सुबोध बना देता। मैं तो यह काम नहीं कर सकता, मेरी उम्र अब नहीं है, और अमीरु'लमोमिनीनकी सेवासे भी छुट्टी नहीं। तुम तैयार हो जाओ, तो कुछ मुश्किल नहीं, तुम इस कामको अच्छी तरह कर भी सकते हो। मैंने इब्न-तुफ़ैलको वचन दे दिया, और उसी दिनसे अरस्तूकी किताबोंकी व्याख्या-टीकायें लिखनी शुरू की।"[1]

रोश्दकी दर्शन-संबंधी पुस्तकोंको तीन प्रकारसे बाँटा जा सकता है—

(१) अरस्तू तथा कुछ और यूनानी दार्शनिकोंकी पुस्तकोंकी टीकायें या विवरण।

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ), पृष्ठ ११

(२) अरस्तूका पक्ष ले सीना और फाराबीका खडन।

(३) दर्शनका पक्ष ले गजाली आदि वाद-शास्त्रियोका खडन।

रोश्दने अरस्तूके ग्रंथोंकी तीन प्रकारकी टीकायें की है—

(१) विस्तृत व्याख्या टीका—इनमे हर मूल शब्दको उद्धृत कर व्याख्या की गई है।

(२) मध्यम व्याख्या—इनमे वाक्यके प्रथम शब्दको उद्धृतकर व्याख्या की गई है।

(३) सक्षेप ग्रथ—इनमे वाक्यको बिलकुल दिये बिना ही वह भाव को समझाता है।

अरस्तूके कुछ ग्रथोकी निम्न व्याख्याए रोश्दने निम्न सालो और स्थानोमे समाप्त की—

सन्	नाम पुस्तक	स्थान
११७१ ई०	अस्समाअ-वल्-आलम[1] (व्याख्या)	सेविली
११७४ ई०	खताबत-वल्-शेअर[2] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
	मावाद'त्-तबीआत[3] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११७६ ई०	अखलाक[4] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११८६ ई०	तबीआत[5] (विस्तृत व्याख्या)	सेविली

इनके अतिरिक्त उसकी निम्न पुस्तकोकी समाप्तिके समय और स्थान मालूम है—

११७८ ई०	जवाहरु'ल्-कौन	मराको
११७९ ई०	कश्फ-मनाहजु'ल्-अवला	सेविली

---

[1] De Coelo et mundo (देवात्मा और जगत्)

[2] Rhetoric (भाषण-शास्त्र) Poetics (काव्य-शास्त्र)

[3] Metaphysics (अध्यात्म या अतिभौतिक-शास्त्र)

[4] Ethics (आचार-शास्त्र)

[5] Physics (साइंस या भौतिक-शास्त्र)

११९३ ई० अल्-इस्तेकात[1] (व्याख्या) सेविली
११९५ ई० बाज'ल्-अस्अला व'ल्-अजबा फि'ल्-मन्तिक् निर्वासन

अरस्तूकी निम्न पुस्तकोपर रोश्दकी तीनो तरहकी व्याख्यायें[2] अरबी, इब्रानी, लातीनीमे से किसी न किसी भाषामे मौजूद है—

१. तब्इयात (भौतिक शास्त्र)
२ समाअ (देवता या फरिश्ता)
३. नफ्स (विज्ञान या आत्म-शास्त्र)
४ माबाद्-तब्इयात् (अतिभौतिक या अध्यात्म शास्त्र)

अरस्तूके प्राणिशास्त्र (किताबु'ल्-हैवान)के पहिले दस अध्यायोपर रोश्दकी व्याख्या नही मिलती। आचार-शास्त्रकी व्याख्यामे उसने लिखा है कि मुझे अरस्तूके राजनीति-शास्त्रका अरबी अनुवाद स्पेनमे नही मिला, इसलिए मैंने अफलातूके "प्रजातंत्र" (जमहूरियत्)की व्याख्या लिखी।[3]

---

[1] जालीनूस (गलेन)की पुस्तक

[2] रोश्दकी पुस्तकोंके हस्तलेख अधिकतर युरोपके निम्न पुस्तकालयोंमें मिलते हैं—

१—स्क्योरियल पुस्तकालय, (मद्रिदसे ४० मीलपर स्पेन); २—बिब्लियोथिक नाश्नल (पेरिस); ३—बोड्लियन लाइब्रेरी (आक्सफोर्ड, इंग्लैंड); ४—लारन्तीन पुस्तकालय (फ़्लोरेन्स, इताली); ५—लाइडेन पुस्तकालय (हालैंड)। इनमें सबसे ज्यादा ग्रंथ स्क्योरियलमें है। स्पेन और इतालीके पुस्तकालयोहीमें अरबी लिपिके कुछ हस्तलेख हैं, नहीं तो इब्रानी और लातीनीके अनुवाद या इब्रानी-लिपिमें अरबी भाषाके ग्रंथ ही ज्यादा मिलते हैं। हिन्दुस्तानमें हमारे प्रान्तके आरा शहरकी एक मस्जिदके पुस्तकालयमें रोश्दके दो संक्षेप ग्रंथ बारेम्नियास और प्रथम अनालोतिकापर हैं।

[3] सब मिलाकर अरस्तूकी निम्न पुस्तकोपर रोश्द कृत टीकायें हैं—

टीकायें—१—बुर्हान् (मन्तिक), २—समाअ-व-आलम, ३—तब्इयात,

रोश्दके दार्शनिक विचारोको जाननेके लिए उसके दर्शन-सबधी "सक्षेप" (तल्खीस) फाराबी, तथा सीनापर आक्षेप और वाद-शास्त्रके खडन देखने लायक है, जो बदकिस्मतीसे किसी जीवित भाषामे बहुतही कम छपे हुए है।[1]

रोश्दकी किसी पुस्तककी विशेष तौरसे विवेचना यहाँ सभव नही है,

४—नफ़्स, ५—माबाद-तब्इयात्।

संक्षेप—६—खतावत्, ७—शेअ्र ८—तौलीद-व-इन्हलाल, ९—आसार-अल्इया, १०—अखलाक, ११—हिस्स्-व-महसूस, १२—हैवान, १३—तवल्लुद-हैवान।

इनमें १,६,७, मन्तिक़ (=तर्कशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमें से हैं। २,३, ४,८,९,११,१३—तब्-इयात (=भौतिकशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमेंसे; ५वीं पुस्तक अतिभौतिकशास्त्र है, और १०वीं आचार-शास्त्र।

[1] संक्षेपोंमें—

१—तलख़ीस्-मंतकियात् (तर्कशास्त्र-संक्षेप)

२—तलख़ीस्-तब्इयात् (भौतिशास्त्र-संक्षेप)

३—तलखीस्-माबाद-तब्इयात् (अतिभौतिकशास्त्र-संक्षेप)

४—तलख़ीस्-अख़्लाक़ (आचारशास्त्र-संक्षेप)

५—शरह्-जम्हूरियत् (प्रजातंत्रकी व्याख्या)

वादशास्त्रियोंके खंडन—

१—तोहाफ़तुल्-तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (दर्शन-खंडन-खंडन) यह प्रधानतया ग़ज़ालीके तोहाफ़तुल्-तोहाफत (दर्शन-खंडन)का खंडन है।

२—फस्लुल्-मुक़ाल।

३—कश्फ़ुल्-अद्ला।

अरस्तूके तर्कको ग़लत समझनेके लिए फ़ाराबीके विरुद्ध रोश्दने तीन पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "तलख़ीस्-मोक़ालात्-फ़ाराबी फिल्मन्तिक़" मुख्य हैं। सीनाकी पुस्तक "शफ़ा" की ब्रह्म-विद्या (इल्मु'ल्-इलाही) पर आक्षेप किया है।

इसलिए इसके लिए पाठक आगे आनेवाले उद्धरणोसे ही सतोष करे।

(३) दार्शनिक विचार—रोश्दके लिए अरस्तू मनुष्यकी बुद्धिका उच्चतम विकास था, वह अपना काम बस यही समझता था, अरस्तूके दर्शनको ऐसे रूपमे प्रकट करे, जिसमें उसके तत्वज्ञानके समझनेमे गलती न हो, इसीलिए वह कितनी ही बार फाराबी और सीनाकी गलतियोको दिखलाता है। फाराबी "द्वितीय अरस्तू"के नामसे मशहूर हुआ, किन्तु रोश्द अरस्तूको जिस ऊँचाईपर पहुँचा समझता था, वहाँ पहुँचना किसीकी शक्तिसे बाहर समझता था, और शायद वह यदि यह सुनता तो बहुत खुश होता कि पीछेकी दुनियाने उसे (अरस्तू) "भाष्यकार"की उपाधि दी है।

सबसे पहिले हम उन बातोके बारेमे कहना चाहते है जिनके बारेमे रोश्द और गजाली तथा दूसरे "वादशास्त्रियो"का झगडा था—

(क) ग़ज़ालीका खंडन—रोश्दका समय ठीक वही है, जो कि श्री हर्षका। श्रीहर्षका दार्शनिक ग्रथ "खडन-खड-खाद्य" (खडरूपी खाँडका आहार या खडन रूपी मिठाई) है, और रोश्दके ग्रथका नाम भी उससे मिलता-जुलता "तोहाफतु'ल्-तोहाफतु'ल्-फिलासफा" (दर्शन-खडन-खडन) सक्षेपमे तोहाफतु'ल्-तोहाफत् (खडन-खडन) है, "खडन-खाद्य" और, "खडन-खडन"-मे नाम सादृश्य बहुत ज्यादा जरूर है, किन्तु, इससे दोनोके प्रतिपाद्य विषयोको एक समझनेकी गलती नही करनी चाहिए, 'दोनोमे यदि और कोई समानता है, तो यही कि दोनो ऐसे युगमे पैदा हुए, जिसमे खडनपर खडन बडे जोरसे चल रहे थे। श्रीहर्ष अपने "खडन" को "धर्मकीर्ति"[1] और उन जैसे तर्कशास्त्रियो तथा वस्तुवादी दार्शनिकोके खिलाफ इस्तेमालकर "शून्य-ब्रह्म-वाद" स्थापित करना चाहता है। उसका समकालीन रोश्द गज़ालीके द्विविधात्मक "ब्रह्मवाद"का खडनकर वस्तुवादी "विज्ञानवाद"—जो कि

---

[1] "दुरावाध इव धर्मकीर्त्तेः पन्था., तदत्रावहितेन भाव्यम"—खंडन-खंड खाद्ये।

धर्मकीर्तिके वादके बहुत नजदीक है—की स्थापना करना चाहता था। अर्थात् पूर्व और पश्चिमके दोनो महान् दार्शनिकोंमे एक (श्रीहर्ष) वस्तुवादको हटाकर अ-वस्तुवाद (विज्ञानवाद, शून्यवाद) कायम करना चाहता था, दूसरा (रोश्द) अवस्तुवाद (सूफी ब्रह्मवाद)को हटाकर वस्तुवादकी स्थापना कर रहा था। और दोनोके प्रयत्नोका आगे हम परिणाम क्या देखते है? श्रीहर्षकी परपरा ब्रह्मवादके मायाजालमे उलझकर भारतके मृतोत्पन्न समाजको पैदा करती है, और रोश्दकी परम्परा पुनर्जागरणके संघर्षमे भाग लेकर नवीन युरोपके उत्पादनमे सफल होती है। भारतमे यदि गजाली और श्रीहर्ष परपरा सर्वमान्य रही, तो उसके कार्य-कारण सबध भी दिखाई पडते है।

(a) **दर्शनालोचना ग़ज़ालीकी अनधिकार-चेष्टा**—एक बार अपनी स्मृतिको ताजा करनेके लिए इस्लामिक वाद-शास्त्र(=कलाम)पर नजर दौडानी चाहिए। मोतजलाने "वाद"को अपनाया, फिर अबुल्-हसन-अश्अरीने बस्रामे इसी हथियारको लेकर मोतजलापर प्रहार करना शुरू किया। अश्अरीके अनुयायी अबूबक्र बाकलानीने बादमे थोडी दर्शनकी पुट देनी चाही, जिसमे गजालीके गुरु इमाम हर्मैनने अपनी प्रतिभाका ही सहारा नही दिया, बल्कि गजाली जैसे शागिर्दको तैयार करके दे दिया। गजालीने सूफीवाद, दर्शनवाद, कुरानवाद, बुद्धिवाद, अ-बुद्धिवाद, कबीलाशाही जनतत्रवाद....क्या क्या नही मिलाकर एक चूँचूँका मुरब्बा "वाद" (कलाम)के नामपर तैयार किया, जिसका नमूना हम देख चुके है। गजालीके "दर्शन-खडन"के खडनमे उस जैसेही नामपर रोश्दका "दर्शन-खंडन-खडन" लिखना बतलाता है, कि रोश्दको गजालीका चूँचूँका मुरब्बा पसद नही आया। रोश्द अपनी पुस्तक "कश्फु'ल्-अदला"[1]मे गजालीके इस चूँचूँके मुरब्बेके बारेमे लिखता है—

"इस्लाममे सबसे पहिले बाहरी (मतवालो)ने फसाद (झगडा, मतभेद)

---

[1] पृष्ठ ७२

पैदा किया, फिर मोतज़लाने, फिर अग्अरियोंने, फिर सूफियोंने और सबसे अन्तमें ग़ज़ालीने। पहिले उस (गज़ाली)ने "मक़ासिदुल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शनाभिप्राय) एक पुस्तक लिखी। जिसमें (यूनानी-)आचार्योंके मतोको खोलकर विना घटाये वढ़ाये नकल कर दिया। उसके वाद "तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) लिखा, जिसमें तीन सिद्धान्तोंके वारेमे दार्शनिकोको काफिर वनाथा। उसके वाद "जवाहरु'ल्-कुरान"में ग़ज़ालीने खुद वतलाया, कि "तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) केवल लड़ाई-भिडाई (=जदल)की किताव है, और मेरे वास्तविक विचार "मज्नून-वे-अला-गैरे-अह्लेही"में हैं। इसके वाद ग़ज़ालीने "मिश्कातु'ल्-अन्वार" एक किताव लिखी, जिसमें ज्ञानियोंके मतंवोकी व्याख्या करके यह सावित किया कि सभी ज्ञानी असली सत्यसे अपरिचित है; इसमें अपवाद सिर्फ वह है, जो कि महान् सिर्जनहारके संवंधके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ठीक मानते है। यह कहनेके वाद भी कितनी ही जगह ग़ज़ालीने यह वतलाया है कि ब्रह्म-ज्ञान(=इल्म-इलाही) केवल चिन्तन और मननका नाम है; और इसी लिए "मुनक्क़ज़-मिन'ल्-ज़लाल" में (अरस्तू आदि) आचार्योपर ताना कसा है, और फिर स्वयं ही यह सावित किया है, कि ज्ञान एकान्तवास तथा चिन्तनसे प्राप्त होता है। सारांश यह कि ग़ज़ालीके विचार इतने विभिन्न और अस्थिर हैं, कि उसके असली विचारोका जानना मुश्किल है।"

ग़ज़ालीने "तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा"की भूमिकामें[1] अपने जमानेके दार्शनिकोंको जो फटकारा है और उनके २० सिद्धान्तोका खंडन किया है, उसके उत्तरमें रोश्द "खंडन-खंडन"[2]में लिखता है—

"(दार्शनिकोंके) इन सिद्धान्तोंकी जाँच सिर्फ वही आदमी कर सकता है, जिसने दर्शनकी कितावोंको ध्यानपूर्वक पढ़ा है (गज़ाली सीनाके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था), ग़ज़ाली जो यह आक्षेप करता है, इसके दो कारण हो सकते हैं,—या तो वह सव वातोंको जानता है, और फिर आक्षेप करता

---

[1] देखो पृष्ठ १६१ [2] 'तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त,' पृष्ठ ३४

है, और यह दुष्टताका काम है; या वह अनभिज्ञ है, तो भी आक्षेप करता है, और यह मूर्खोंको ही शोभा देता है। लेकिन गजालीमे दोनो बातें नही मालूम होती। मालूम यह होता है, कि बुद्धिके अभिमानने उसे इस पुस्तक-को लिखनेके लिए मजबूर किया। आश्चर्य नही यदि उसकी मशा इस तरह लोगोंमे प्रिय होनेकी रही हो।"

(b) **कार्य-कारण-नियम अटल**—गज़ालीने प्रकृतिमे कार्य-कारण नियमको माननेसे यह कहकर इन्कार कर दिया कि वैसा मान लेनेपर "करामात (=अकलके खिलाफ अप्राकृतिक घटनाएँ) गलत हो जावेगी, और धर्मकी बुनियाद करामातपर ही है।"[1]

इसके उत्तरमे रोश्द कहता है—

"जो आदमी कार्य-कारण-नियमसे इन्कार करता है, उसको यह मान-नेकी भी जरूरत नही कि हर एक कार्य किसी न किसी कर्तासे होता है। बाकी यह बात दूसरी है, कि सर्सरी तौरसे जिन कारणोंको हम देखते है, वह काफी ख्याल न किए जाये; किन्तु इससे कार्य-कारण-नियम (=इल्लियत) पर असर नही पडता! असल सवाल यह है कि चूँकि कुछ ऐसी चीजे भी है जिनके कारण या सबबका पता नही लगता, इसलिए क्या एकदम कार्य-कारण-नियमसे ही इन्कार कर दिया जाये। लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। हमारा काम यह है, कि अनुभूत (वस्तु)से अन्-अनुभूत (अज्ञात)की खोज करें, न कि यह कि (एक वस्तुके) अन्-अनुभूत होनेकी वजहसे जो अनुभूत (ज्ञात है) उससे भी इन्कार कर दें।....

"आखिर ज्ञानका प्रयोजन क्या है? सिर्फ यही कि अस्तित्व रखने-वाले (पदार्थो)के कारणोंका पता लगावे। लेकिन जब कारणोंहीसे बिल्कुल इन्कार कर दिया गया, तो अब बाकी क्या रहा? तर्कशास्त्रमे यह बात प्रमाण-कोटि तक पहुँच गई है, कि हर कार्यका एक कारण होता है; फिर यदि कारण और हेतुसे ही इन्कार कर दिया गया, तो इसका नतीजा या

---

[1] "तोहाफतुल्-फ़िलासफ़ा, पृष्ठ ६४

तो यह होगा, कि कोई वस्तु मालूम (=ज्ञात) न रहेगी, या यह कि किसीको पक्का मालूम (=ज्ञात) न (मानना) होगा, और सभी ज्ञात (वस्तुओं)को काल्पनिक कहना पड़ेगा। इस तरह 'पक्का (सच्चा) ज्ञान' दुनियामें रह न जायेगा।"[1]

"कश्फुल्-अदला"[2] में इसी विषयपर बहस करते हुए रोश्द कहता है—

"यदि कार्य-कारण (नियम)से बिलकुल इन्कार कर दिया जाये अर्थात् यह मान लिया जाये कि जगत्का वर्तमान (कार्य-कारण-) स्थितिसे किसी दूसरी स्थितिके रूपमें बदलना संभव है, और जगत्में कोई अटल सबब नहीं है; तो शिल्पी (=हकीम)के शिल्प (=हिकमत)के लिए क्या बाकी रह जायेगा? शिल्प तो नाम ही इसका है, कि सारा जगत् क्रम और नियमका अनुसरण करे। लेकिन जब मनुष्यके सारे काम सयोगवश हर अंगसे किये जा सकते हैं—अर्थात् आँखके ज्ञानका आँखसे, कानके विषयका कानसे, रसनाके विषयका रसनासे कोई अटल संबंध नहीं है, तो मनुष्यके ढाँचेमें ईश्वरकी कारीगरी या शिल्पका कौनसा नमूना बाकी रहेगा।....अगर वर्तमान नियम पलट जाये—यानी जो चीज पश्चिमकी ओर गति कर रही है, वह पूर्वकी ओर, और जो पूर्वकी ओर गति कर रही है वह पश्चिमकी ओर गति करने लगे, आग ऊपर उठनेकी जगह नीचे उतरने लगे, मिट्टी नीचे उतरनेकी जगह ऊपर चढने लगे, तो फिर क्या (ईश्वरकी) कारीगरी और शिल्प झूठा न हो जायेगा।"

(c) **धर्म-दर्शन-समन्वयका ढंग ग़लत**—गज़ाली भी बुद्धि और धर्म अथवा दर्शन और धर्ममे समन्वय (समझौता) करानेके पक्षपाती है, और रोश्द भी, किन्तु दोनोंमे भारी अन्तर यह है। "इब्न रोश्द मजहबको विद्या (=दर्शन)के मातहत समझता है, और गज़ाली विद्याको मजहबके मातहत। रोश्द लिखता है[3]—"जब कोई बात प्रमाण (=बुर्हान)से

[1] "तोहाफतु'त्-तोहाफ़त्", पृष्ठ १२२ [2] पृष्ठ ४१
[3] "फ़स्लु ल्-मुक़ाल", पृष्ठ ८

सिद्ध हो गई, तो मजहब (की बात)मे जरूर नई व्याख्या (=तावील) करनी होगी।"

(ख) जगत् आदि-अन्त-रहित—अरस्तू तथा दूसरे यूनानी दार्शनिक जगत्को अभावसे उत्पन्न नही बल्कि अनादिकालसे चला आता, तथा अनन्तकाल तक चला जानेवाला मानते थे; गजाली और इस्लामका इसपर एतराज था। रोश्दने इस विषयको साफ करते हुए अपने ग्रंथ "अतिभौतिक शास्त्र-सक्षेप"[1]मे लिखा है—

"जगत्की उत्पत्तिके सिद्धान्तपर दार्शनिकोके दो परस्पर विरोधी मत है। (१) एक पक्ष उत्पत्तिसे इन्कार करता है, और विकास-नियमका माननेवाला है, और (२) दूसरा पक्ष विकाससे इन्कार करता है और उत्पत्ति होनेको मानता है। विकासवादियोका मत है, कि उत्पत्ति इसके सिवा और कुछ नही है कि बिखरे हुए परमाणु इकट्ठे हो मिश्रित रूप स्वीकार कर लेते है। ऐसी अवस्थामे निमित्तकारण (ईश्वर)का कार्य सिर्फ इतना ही होगा कि भौतिक परमाणुओको शकल देकर उनके भीतर पारस्परिक भेद पैदा करे। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसी अवस्थामे कर्त्ता उत्पादक (=स्रष्टा) नही रहा; बल्कि उसका दर्जा गिर गया, और वह केवल चालकके दर्जेपर रह गया।

"इसके विरुद्ध उत्पत्ति या सृष्टिके पक्षपाती मानते है, कि उत्पादकने भूत (=प्रकृति)की जरूरत रखे बिना जगत्को उत्पन्न किया। हमारे (इस्लामिक)वाद-शास्त्री (मुत्कल्लमीन, गज़ाली आदि) और ईसाई दार्शनिक इसी मतको मानते है। .

"इन दोनो मतोके अतिरिक्त भी कुछ मत है, जिनमे कम या अधिक इन दो विचारोमेसे किसी एक विचारकी झलक पाई जाती है। उदाहरणार्थ (१) इब्न-सीना यद्यपि विकासवादियोसे इस बातमे सहमत है, कि (जगत्-उत्पत्ति) केवल भूत(=प्रकृति)के शकल-सूरत पकडनेका नाम है;

---

[1] "तल्खीस्-माबाद'-तब्इआत", अध्याय १, ४

लेकिन 'सूरत' (='आकृति')की उत्पत्तिके प्रश्नपर वह अरस्तूसे मत-भेद रखता है। अरस्तू कहता है कि प्रकृति (=भूत) और आकृति दोनो अनुत्पन्न (=नित्य) है, लेकिन इब्न-सीना प्रकृतिको अनुत्पन्न तथा आकृतिको उत्पन्न (=अनित्य) मानता है; इसीलिए उसने जगत्-उत्पादकका नाम **आकृति-कारक शक्ति** रखा है। इस प्रकार इस (सीना)के मतके अनुसार प्रकृति केवल (कार्य-)अधिकरण[1]का नाम है—उत्पत्ति या कार्यकी सामर्थ्य[2] (स्वत.) उसमे बिलकुल नही है। (२) इसके विरुद्ध देमासियुस्[3] और फाराबीका मत है कि बाज अवस्थाओंमें स्वयं **प्रकृति** भी (जगत्-) उत्पत्तिका काम कर सकती है। (३) तीसरा मत अरस्तूका है। उसके मतका संक्षेप यह है—स्रष्टा (=उत्पादक) नही प्रकृतिका स्रष्टा है और नही आकृतिका, बल्कि इन (प्रकृति, आकृति)दोनोसे मिलकर जो चीजे बनती है, उनका स्रष्टा है।—अर्थात् प्रकृति[4]मे गति पैदाकर उसकी आकृति—शकल—को यहाँ तक बदल देता है, कि जो अन्तर्हित शक्तिकी अवस्थामे होती है, वह कार्य-पन (=कार्य-अवस्था)मे आ जाती है। स्रष्टाका कार्य बस इतना ही है। इस तरह उत्पत्तिकी क्रियाका यह अर्थ हुआ, कि प्रकृतिको गति देकर अन्तर्हित, अ-प्रकट) शक्ति(की अवस्था)से कार्य (के रूप)मे ले आना।—अर्थात् सृष्टि वस्तुकी गति-क्रिया है। किन्तु, गति गर्मीके बिना नही पैदा हो सकती। यही कारण है कि जल—और पृथिवी—मडलमें जो गर्मी छिपी (=निहित) है, उसीसे रग-रंगके वनस्पतियो और प्राणियोकी उत्पत्ति होती रहती है। नेचरके ये सारे कार्य नियम—क्रम—के साथ होते है; जिसको देखकर यह ख्याल होता है कि कोई **पूर्णबुद्धि** इसका पथ-प्रदर्शन कर रही है, यद्यपि दिमागको इसके बारेमे किसी इन्द्रिय या मानसिक-ज्ञानका पता नही। इस बातका अर्थ यह हुआ, कि अरस्तूके मतमे जगत्-स्रष्टा

---

[1] इन्फ़आल। [2] सलाहियत्। [3] सामस्तियुस् (नौशेरवांकालीन)।

[4] **प्रकृति यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके अर्थमें नहीं बल्कि मूल भौतिकतत्त्व-के अर्थमें प्रयुक्त है।**

आकृति—शकल—का उत्पादक नही है; और हम उसको उनका उत्पादक माने, तो यह भी मानना पडेगा, कि वस्तुका होना अ-वस्तुसे (अभावसे भावका) होना हो गया।

"इब्न-सीनाकी गलती यह है, कि वह आकृतियोंको उत्पन्न मानता है, और हमारे (इस्लामिक) वादशास्त्रियोंकी गलती यह है, कि वह वस्तुको अ-वस्तु (=अ-भाव)से हुई मानते है। इसी गलत सिद्धान्त—वस्तुका अ-वस्तुसे होना—को स्वीकार कर हमारे वादशास्त्रियोंने जगत्-स्रष्टाको एक ऐसा पूर्ण (सर्वतंत्र-) स्वतत्र कर्त्ता मान लिया है, जो कि एक ही समयमे परस्पर-विरोधी वस्तुओको पैदा किया करता है। इस मतके अनुसार न आग जलाती है, और न पानीमे तरलता और आर्द्रता (=स्नेह)की सामर्थ्य है। (जगत्मे) जितनी वस्तुए है, वह अपनी-अपनी क्रियाके लिए जगत्-स्रष्टाके हस्तक्षेपपर आश्रित है। यही नही, इन लोगोंका ख्याल है, कि मनुष्य जब एक ढेला ऊपर फेकता है, तो इस क्रियाको उसके अग—अवयव-स्वयं नही करते, बल्कि जगत्-स्रष्टा उसका प्रवर्त्तक और गतिकारक होता है। इस प्रकार इन लोगोंने मनुष्यकी क्रिया-शक्तिकी जडही काट डाली।"

इसी तत्त्वको अन्यत्र समझाते हुए रोश्द लिखता है[1]—

(a) **प्रकृति**—"(जगत्-)उत्पत्ति केवल गतिका नाम है; किन्तु गतिके लिए एक गतिवालेका होना जरूरी है। यह गतिवाला जब केवल (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामे है, तो इसीका नाम मूल भूत (प्रकृति) है, जिसपर हर तरहकी आकृतियाँ पिन्हाई जा सकती है, यद्यपि वह अपने निजी रूप (=स्वभाव)मे हर प्रकारकी आकृतियों—शकलों—से सर्वथा रहित रहता है। उसका कोई तर्कसम्मत लक्षण नही किया जा सकता, वह केवल क्षमता—योग्यता—का नाम है। यही वजह है, जगत् पुरातन—अनादि—है, क्योकि जगत्की सारी वस्तुए अस्तित्वमे आनेसे पहिले क्षमता—योग्यता—की अवस्थामे थी, अ-वस्तु (=अ-भाव)-

---

[1] "तल्खीस्-तब्इयात" (भौतिक-शास्त्र संक्षेप)।

से वस्तु (=भाव) का होना असभव है।"

"प्रकृति सर्वथा अनुत्पन्न (=अनादि) और अ-नश्वर (=न नाश होने लायक) है, दुनियामे पैदाइशका न-अन्त होनेवाला क्रम जारी है। जो वस्तु (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामे होती है, वह क्रिया-अवस्थामे जरूर आती है, अन्यथा दुनियामे बाज चीजोको कर्त्ताके बिना ही रह जाना पडेगा। गतिके पहिले स्थिति या स्थितिके पहिले गति नही होती, बल्कि गति स्वय आदि-अन्त-रहित है। उसका कर्त्ता स्थिति (=गति-शून्यता) नही है, बल्कि गतिके कारण स्वयं एक दूसरेके कारण होते है।

(b) **गति सब कुछ**—जगत्‌का अस्तित्त्व भी गतिहीसे कायम है। हमारे शरीरके अन्दर जो तरह-तरह के परिवर्तन होते है उन्हीसे हम इस दुनियाका अदाजा लगाते है, यही परिवर्तन गतिके भिन्न-भिन्न प्रकार है। यदि जगत् एक निर्जीव यत्रकी भाँति स्थिर (=गति-शून्य) हो जाये, तो हमारे दिमाग से दुनियाका ख्याल भी निकल जायेगा। स्वप्नावस्थामे हम दुनियाका अदाजा अपने दिमाग और ख्यालकी गतियोसे करते है। और जब हम मधुर स्वप्नमे बेखबर (=सुषुप्त) रहते है, उस समय दुनियाका ख्याल भी हमारे दिलसे निकल जाता है। साराश यह है कि यह गतिहीका चमत्कार है, जो कि आरम्भ और अन्तके विचार हमारे दिमागमे पैदा होते है। यदि गतिका अस्तित्व न होता, तो जगत्‌मे उत्पत्तिका जो यह लगातार प्रवाह जारी है, उसका अस्तित्व भी न होता, अर्थात् दुनियामे कोई चीज मौजूद नही हो सकती।"[1]

(ग) **जीव**—नफ़्स[2] या विज्ञानका सिद्धान्त अरस्तूके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, रोश्दके लिए वह उससे भी ज्यादा है, क्योकि उसने इसीके ऊपर अपने एक-विज्ञानता[3]के सिद्धान्तको स्थापित किया है। लेकिन जिस तरह जगत्‌के समझनेके लिए प्रकृति (=मूल तत्त्व) और गति एवं

---

[1] "तल्खीस-तब्-इयात" (भौतिक-शास्त्र-संक्षेप)।

[2] यूनानी नव्स (Nous)=अक़्ल। [3] "वहदत्-अक़्ल।"

गतिका स्रोत ईश्वर जानना जरूरी है, उसी तरह ईश्वर कर्त्ता-नफ्स या कर्त्ता-विज्ञान[1] जो कि नफ्सो (=विज्ञानो)का नफ्स (विज्ञान) और सभी नफ्सोके उद्गम तक पहुँचनेके पहिले प्रकृति और ईश्वर (=नफ्स)के बीचके तत्त्व जीव (रूह्)के बारेमे जानना ज़रूरी है।

(a) **पुराने दार्शनिकोंका मत**—पुराने यूनानी दार्शनिक जीवके बारेमे दो तरहके विचार रखते थे, एक वह जो कि जीवको भूत (=प्रकृति)-से अलग नही समझते थे जैसे एम्पेदोकल (४८३-३० ई० पू०), एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)। और दूसरे दोनोको अलग-अलग मानते थे, इनमे मुख्य है अनखागोर (५००-४२८ ई० पू०), अफलातून (४२७-३७० ई० पू०)। पुराने यूनानी दार्शनिक इस बातपर एकमत थे, कि जीवमे ज्ञान और स्वत गति यह दो बाते अवश्य पाई जाती है। अखीमनके मतमे जीव सदा गतिशील तथा आदि-अन्तहीन (=नित्य) पदार्थ है। क्षणिकवादी हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)के मतमे जीव सारे (भौतिक) तत्त्वोसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है, इसीलिए वह हर तरहकी परिवर्तनशील चीजोको जान सकता है। देवजेन (४२१-३२२ ई० पू०) जीवके मूल तत्त्वको वायुका सा मानता है, जीव स्वय उसकी दृष्टिमे सूक्ष्म तथा ज्ञानकी शक्ति रखता है। परमाणुवादी देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)के मतमे जीव कभी न स्थिर होनेवाली सतत गतिशील, तथा दुनियाकी दूसरी चीजोंको गति देनेवाला तत्त्व है, भौतिकवादी एम्पेदोकल (४८३-४३० ई० पू०) के मतमे जीव दूसरी मिश्रित वस्तुओकी भाँति चार महाभूतोसे बना है। आपसमें मत-भेद जरूर है, किन्तु सिर्फ पिथागोर[2] (५७०-५०० ई० पू०) और जेनो[3] (४९०-४३० ई० पू०)को छोड सुक्रात (४६९-३९९ ई०

---

[1] नफ़स-फआल=Active Reason.

[2] संख्या-ब्रह्मके सिद्धान्तमें जीवको भी शामिलकर उसे अ-भौतिक संख्या-तत्त्व मानता था।

[3] वह जीवको संख्या जैसी एक अ-भौतिक वस्तु मानता था।

पू०)से पहिलेवाले सारे यूनानी दार्शनिक जीव और भूत (=प्रकृति) को अलग-अलग तत्त्व नही समझते ।

(b) **अफलातूँका मत**—अफलातूँने इस बातपर ज्यादा जोर दिया कि जीव और भूत अलग-अलग तत्त्व है। मानव शरीरके भीतरके जीव उसके मतमे तीन प्रकारके है—'(१) **विज्ञानीय जीव**[1] जो कि मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर सदा गतिशील रहता है; (२) दूसरा **पाशविक जीव** हृदयमे रहता है, और नश्वर है। इससे आदमीको क्रोध और वीरताकी प्राप्ति होती है। (३) पाशविक जीवसे भी नीचे **प्राकृतिक** (=वानस्पतिक) जीव है; क्षुधा, पिपासा, मानुषिक कामना आदिका उद्गम यही है। वानस्पतिक (=प्राकृतिक) और पाशविक जीव आमतौरसे आत्मिक जीवके आधीन काम करते है, किन्तु कभी-कभी वह मन-मानी करने लगते है, तब अक्ल (=विज्ञान) बेचारी असमर्थ हो जाती है, और आदमीके काम अबुद्धि-पूर्वक कहे जाते है।

(c) **अरस्तूका मत**—अरस्तू जीवके बारेमे अपने गुरु अफलातूँके इस मत (भूतसे जीवका एक भिन्न द्रव्य होना)से सहमत नही है। अरस्तूका पुराने दार्शनिकोपर यह आक्षेप है कि वह जीवका ऐसा लक्षण नही बतलाते जो कि वानस्पतिक (प्राकृतिक), पाशविक, और आत्मिक तीनों प्रकारके जीवोपर एकसा लागू हो।[2] अरस्तू अपना लक्षण करते हुए कहता है कि भूत (=प्रकृति) क्रियाका आधार[3] (=क्रिया-अधिकरण) मात्र है, और जीव केवल क्रिया या **आकृति**[4] है। भूत और जीव अथवा प्रकृति और आकृति परस्पर-सबद्ध तथा एक दूसरेके पूरे अंश है, इन दोनोके योगको ही प्राकृतिक (=भौतिक) पिंड[5] कहा जाता है। अभाव या अंधकारमे पड़ी प्रकृति (=भूत)को जीव (=आकृति) प्रकाशमे लाता है, दूसरी ओर

---

[1] रूहे-अक़्ली ।
[2] "प्राणिशास्त्र", अध्याय २
[3] इन्फ़आल, Receptive.
[4] Form, सूरत।
[5] Physical body, जिस्म-तबई ।

जीव भी प्रकृतिका मुखापेक्षी है, क्योंकि वह प्रकृतिमें उन्ही बातोंका प्रकाश ला सकता है, जिसकी योग्यता उसमे पहिलेसे मौजूद है।

अरस्तू भी अफ़लातूकी ही भाँति जीवके तीन भेद बतलाता है—(१) **वानस्पतिक जीव** जिसका काम प्रसव और वृद्धि है, और जो वनस्पतियोंमे पाया जाता है। (२) **पाशविक जीव** जिसमें प्रसव और वृद्धिके अतिरिक्त पहिचान[1]की भी शक्ति है, यह सभी पशुओमे पाई जाती है। (३) **मानुषिक जीव** बाकी दोनो जीवोंसे श्रेष्ठ है, इसमे प्रसव, वृद्धि, पहिचानके अतिरिक्त बुद्धि, चिन्तन या विचारकी शक्ति भी है, यह सिर्फ मनुष्यमे है। प्राणिशास्त्रका पिता अरस्तू चाहे डार्विनी विकासवाद तक न पहुँचा हो, किन्तु वह एक तरहके विकासको वनस्पति—पशु—मनुष्यमे क्रमश होते जरूर मानता है; जैसा कि उसके जीव सबधी पूर्व-पूर्वके गुणोंको लेते हुए उत्तर-उत्तरमे नये गुणोके विकाससे मालूम हो रहा है। अरस्तू जीव (=आकृति)को प्रकृतिसे अलग अस्तित्व रखनेवाली वस्तु नही मानता, यह बतला आए है। वह यह भी मानता है, कि जीव-व्यक्तियोंके रूपमें प्रकट होते है, और व्यक्तिके खातमेके साथ उनका भी खातमा हो जाता है। अरस्तू जीवकी सीमाको यहाँ समाप्त कर नफ़्स या आत्माकी सीमामे दाखिल होता है, यह जरा ठहरकर बतलायेंगे। गोया अरस्तूका वर्गीकरण हुआ प्रकृति—आकृति (=जीव)—विज्ञान (=नफ़्स), जिनमें प्रकृति और आकृति अभिन्न-सहचारिणी सखियाँ है, उपनिषद्का त्रैतवाद प्रकृति, आकृति (=जीव)के सखित्वको न मानकर आकृतिको आत्मा बना आत्मा-(परम-) आत्माको सखा बनाता है।[2] किंतु जिस तरह हमने यहाँ साफ-साफ करके इस वर्गीकरणको दिखलाया, अरस्तू अपने लेखोमे उतना साफ नही है। कही वह मानुषिक जीवको जीव कोटिमें रख, उसे प्रकृति-सहचर तथा व्यक्तिके साथ उत्पत्तिमान और नाशमान मानता है, और कही

---

[1] अद्राक। [2] "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः"—श्वेताश्वतर (४।६) और मुंडकउपनिषद् (३।१।१)

वानस्पतिक और पाशविक जीवकी बिरादरीसे निकालकर उसे नातिक-विज्ञान[1] लोकमे लाना चाहता है। वह जीवन ही नातिक-विज्ञान[1] है।

नातिक-विज्ञान—विज्ञानीय जीव या नातिक-विज्ञान नीचेके तत्त्वो (प्रकृति, आकृति)से श्रेष्ठ है, और वही सभी चीजोका ज्ञाता[2] है—मानो नातिक-विज्ञान ऊपरसे नीचेकी दुनियामे खास उद्देश्यसे भेजा जाता है। उसका इस दुनियाकी (प्राकृतिक या आकृतिक) व्यक्तियोसे कोई अपनापन नही; वह अवयवको नही अवयवी, सामान्य तथा आकृतिका ज्ञान रखता है। इसीके द्वारा मनुष्य इन्द्रियोकी दुनियाके परे ज्ञान-गम्य दुनियाको जाननेमे समर्थ होता है। किन्तु ज्ञान-गम्य दुनियाका ठीक-ठीक पता अतिमानुष विज्ञानों (=ऊपरकी नफ्सों)को ही होता है, अत. नातिक विज्ञान एक दर्पण है, जिसके द्वारा मनुष्य ऊपरकी विज्ञानीय दुनियाके प्रतिबिंबको देख सकता है।

इन्द्रिय-विज्ञान—नातिक-विज्ञान अवयवका ज्ञान नही करता, वह अति मानुष विज्ञानो[3]की भाँति केवल अवयवी, आकृति या सामान्यका ज्ञान करता है; यह कह आए है। इसलिए अवयव या व्यक्तिके ज्ञानके लिए अरस्तूने एक और विज्ञानकी कल्पना की है, जिसका नाम इन्द्रिय-विज्ञान है। आगको छूकर गर्मीका ज्ञान इन्द्रिय-विज्ञानका काम है। इन्द्रिय-विज्ञानोका कार्यक्षेत्र निश्चित है, शरीरमे उनका सीमित स्थान है; नातिक-विज्ञान न तो अवयव या शरीरके किसी भागमे समाया हुआ है, न शरीरके भीतर एक जगह सीमित होकर बैठा है; न उसके लिए वाह्य विषयोकी पाबदी है, और न उसकी क्रियाके लिए देश-काल या कमी-बेशीकी। वह भौतिक वस्तुओपर बिलकुल आश्रय नही करता।

नातिक-विज्ञान—जीव और शरीरके पारस्परिक संबध तथा शरीरके उत्पत्ति विनाशके साथ जीवके उत्पत्ति-विनाशकी बात कह आए है; किंतु नातिक-विज्ञान, जैसा कि अभी बतलाया गया, शरीरसे बिलकुल अलग है

---

[1] नफ़्स-नातिक़ा, या रूहे-अक़्ली नत्क़=Noetic (यूनानी)=ज्ञान।
[2] मुद्रिक। [3] अजरामे-अलूइया।

जिस तरह अपनी क्रियाके आरभ करनेमे वह शरीरपर अवलबित नही, उसी तरह शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसमे परिवर्तन नही होता, वह नित्य सनातन है।

नातिक विज्ञानके अरस्तूने दो भेद बतलाए है—क्रिया-विज्ञान[1], और अधिकरण-विज्ञान[2], क्रिया-विज्ञान वस्तुओको ज्ञात—मालूम—होने योग्य बनाता है, यह अतिमानुष विज्ञानोका नातिक-विज्ञान है, जिसके भागीदारोमे मानव जाति भी है। अधिकरण-विज्ञान ज्ञात (वस्तुओ)से प्रभावित हो उनके प्रतिबिबको अपने भीतर ग्रहण करता है, यह मानव-व्यक्तियोका विज्ञान है; पहिलेका गुण क्रिया और प्रभाव है, दूसरेका गुण है प्रभावित होना। ये दोनों ही तत्त्व मौजूद रहते है, किंतु अधिकरण-विज्ञानका प्रकाश=प्राकटच क्रिया-विज्ञानके बाद होता है। क्रिया-विज्ञान अधिकरण-विज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योकि क्रिया-विज्ञान शुद्ध विज्ञानीय शक्ति[3] है, किन्तु अधिकरण-विज्ञान चूँकि उससे प्रभावित होता है, इसलिए उसमे पिड (=शरीर)का भी मेल है[4]। अरस्तूके नफ्स (=विज्ञान)-सबधी विचारो का सक्षेप है—

(१) क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान एक नही भिन्न-भिन्न है।
(२) क्रिया-विज्ञान नित्य और अधिकरण विज्ञान नश्वर है।
(३) क्रिया-विज्ञान मानव व्यक्तियोसे भिन्न है।
(४) क्रिया-विज्ञान आदमीके भीतर भी है।

अरस्तू-टीकाकार सिकन्दर अफ्रदिसियुस् और देमासियुस् (५४९ ई०) दोनो अरस्तूसे भिन्न विचार रखते है। वह क्रिया-विज्ञानको मानवसे बिलकुल अलग मानते है, क्रिया-विज्ञानको देमासियुस् भेदक-विज्ञान कहता है, और उसीको सिकदर कारण-कारण कहता है।

---

[1] नफ़्स-फ़ेअ्ली Active reason. [2] नफ़्स-इन्फ़आली, Material or Receptive Nous (Reason).
[3] अक़्ली कूवत्। [4] The Anime प्राणि-शास्त्र (किताबु'ल् हयात्)।

(घ) रोश्दका विज्ञान (=नफ्स) वाद—ऊपरके विवरणसे अरस्तूके निम्न-विचार हमे मालूम हैं। तत्व मुख्यत. तीन है—प्रकृति, जीव (=आकृति) और विज्ञान (=नफ्स)। जीवके वह तीन भेद मानता है, जिनमे मानुष (=विज्ञानीय) जीवको विज्ञानकी तरफ खीचना चाहता है। विज्ञान (=नफ्स)के वह सिर्फ दो भेद मानता है—क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान।

लेकिन, रोश्दके वर्णनसे नफ्स (=विज्ञान)के पाँच भेद मिलते है—(१) प्राकृतिक विज्ञान[1] या भूतानुगत विज्ञान; (२) अभ्यस्त-विज्ञान[2]; (३) ज्ञाता-विज्ञान[3]; (४) अधिकरण-विज्ञान और (५) क्रिया-विज्ञान।

सिकन्दर और अरब दार्शनिक प्राकृतिक-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञानको एक समझते है, किन्तु रोश्द कभी-कभी प्राकृतिक-विज्ञानको क्रिया-विज्ञान आत्माके अर्थमे लेता है, और उसे अनादि अनुत्पन्न मानता है, और कही इससे भिन्न मानता है। देमासियुस् अभ्यस्त-विज्ञान और ज्ञाता-विज्ञानको एक मानता है, क्योंकि अक्ल (=विज्ञान)को अक्ल ही पैदा कर सकती है, माद्दा (=प्रकृति) अक्ल (=विज्ञान)को नही पैदा कर सकता, अतएव सारी ज्ञान रखनेवाली वस्तुएं सिर्फ क्रिया-विज्ञानसे ही उत्पन्न है। इस बातकी और पुष्टि करते हुए वह कहता है—यद्यपि सभी अक्ल (=नफ्स या विज्ञान) अक़्ल-फआल (कर्ता-विज्ञान)से उत्पन्न है, लेकिन ज्ञानकी शक्ति हर व्यक्तिमे उसकी अभ्याससे प्राप्त ज्ञान-योग्यताके अनुसार होती है; इसलिए ज्ञाता-विज्ञान और अभ्यस्त विज्ञानमे अन्तर नहीं रहा, अर्थात् ज्ञाता-विज्ञान भी वही है जो कि अभ्यास-प्राप्त होता है। देमासियुस्के इस मतके विरुद्ध रोश्द अभ्यस्त-विज्ञानमे दोनो बाते मानता है—एक ओर उसे वह ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)[4]का कार्य बतलाता है, और इस प्रकार उसे अनादि और अ-नश्वर मानता है, और दूसरी ओर उसे आदमीके अभ्यासका परिणाम कहता है, जिससे वह उत्पन्न तथा नश्वर है।

---

[1]अक़्ल-हेवलानी। [2]अक़्ल-मुस्तफाद। [3]अक़्ल मुद्रिक। [4]अक़्ले-फआल।

नाम अलग-अलग रखते हुए भी अरस्तू तथा उसके दूसरे टीकाकारोंकी भाँति रोश्द वस्तुतः नफ्सो (=अक्लो, विज्ञानों) के भेदको न मानकर नफ्सकी एकताको स्वीकार करता है। वह कहता है—यह ठीक है कि चूँकि विज्ञान (=नफ्स) अनेक भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारोको स्वीकार करनेकी शक्ति रखता है, इसलिए जहाँ तक उसके अपने स्वरूपका संबध है, उसे आकार-प्रकार-से रहित होना चाहिए—अर्थात् अपने असली स्वरूपमे विज्ञान (=नफ्स) ज्ञान-योग्यताका नाम है। लेकिन यह कहनेका कोई अर्थ नही कि सिर्फ योग्यताके अस्तित्वको स्वीकार कर मनुष्यमे क्रिया-विज्ञानके होनेसे इन्कार कर दिया जाये। और जब हम मनुष्यमे क्रिया-विज्ञानको मानते है, तो यह भी मानना पडेगा, कि विज्ञान[1] अपने स्वरूपमे किसी विशेष आकार-प्रकार-के साथ मूर्तिमान् हो गया—"क्रिया सिर्फ (अ-प्रकट, अन्तर्हित) योग्यताके प्रकाशका नाम है", वह किसी विशेष आकार-प्रकारके साथ मूर्तिमान् होनेका नाम नही है। अतएव यह कहनेके लिए कोई कारण नही मालूम होता, कि आध्यात्मिक या (आन्तरिक) सभवनीयता या योग्यताको तो स्वीकार किया जाये, किन्तु वाह्य क्रियावत्ता या प्रकाशको स्वीकार न किया जाये। ऐसी अवस्थामे, ज्ञान या प्रतीतिका अर्थ सिर्फ ज्ञान योग्यता नही, बल्कि ज्ञान-घटना है। जबतक आध्यात्मिक या अधिकरण-सबधी, और बाह्य या क्रिया-सबधी विज्ञानोके पारस्परिक प्रभाव—अर्थात् शक्तिमत्ता और क्रियावत्ता—एकत्रित न होगे, तबतक ज्ञान अस्तित्वमे आ नही सकता। यह ठीक है, कि अधिकरण-विज्ञान[2] मे अनेकता या बहुसंख्यकता है, और वह मानव-शरीरकी भाँति नश्वर है, तथा क्रिया-विज्ञान अपने उद्गमके ख्यालसे मनुष्यसे अलग और अनश्वर है।

दोनों (क्रिया और अधिकरण-) विज्ञानोमें उपरोक्त भेद रहते भी दोनोंका एकत्रित होनेका न तो यह अर्थ है, कि क्रिया-विज्ञान व्यक्तियोकी अनेकताके कारण अनेक हो जाये, और न इसका यह अर्थ है कि व्यक्तियोकी

---

[1] Nous (नफ़्स), अक़्ल। [2] अक्ल-इन्फ़आली।

अनेकता खतम हो जाये, और वह क्रिया-विज्ञानकी एकतामे विलीन हो जाये। इसका अर्थ सिर्फ यही है, कि क्रिया-विज्ञानके (अनादि सनातन) अंशोमे मानवता बॉट दी गई है—अर्थात् क्रिया और अधिकरण-विज्ञानोंके एकत्रित होनेका सिर्फ यह अर्थ है, कि मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट जिस तरह एक-सी योग्यताओंकी प्रदर्शिका है, उससे मानवजातिको क्रिया-विज्ञानके अंशोका मिश्रण होता रहता है। ये अंश अपने स्वरूपमे अ-नश्वर और चिरस्थायी है। इनका अस्तित्व मानव व्यक्तियोके साथ बँधा नही है। बल्कि, यदि कभी मानव-व्यक्तिका अस्तित्व न रह जाये, उस अवस्थामें भी इनका काम इसी तरह जारी रहता है, जिस तरह मानव व्यक्तियोंके भीतर। इस असंभव कल्पनाकी भी आवश्यकता नही। सारा विश्व परम-विज्ञान[1]के प्रकाशमान कणोंसे प्रकाशित है। प्राणी, वनस्पति, धातु और भूमिके भीतर-बाहरके भाग—सभी जगह इसी परम-विज्ञानका शासन चल रहा है। परम विज्ञान जैसे इन सब जगहोंमें प्रकाशमान है, वैसे ही मनुष्यमे भी, क्योकि मनुष्य भी उसी प्रकाशमान विश्वका एक अंग है। जिस तरह मानवता सारे मनुष्योमे एक ही है, उसी तरह सारे मनुष्योंमे एक विज्ञान भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ, कि व्यक्ति-संख्या-भेदसे शून्य तथा विश्व-शासक परम-विज्ञान जब क्रियापनका वस्त्र पहनता है, तो भिन्न-भिन्न किस्मोमे प्रकाशित होता है—कही वह प्राणीमे प्रकाशित होता है, कही देवताओंमें[2], और कही मनुष्यमे; इसीलिए व्यक्ति स्वरूप नश्वर है, किन्तु मानवता-विज्ञान[3] चिरन्तन तथा अनश्वर है, क्योकि वह उस विज्ञानका एक अंश है।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्रिया-विज्ञान और मानवता-विज्ञान दोनोंके अनादि होनेपर मानवता कभी नष्ट न होगी—मानव-ज्ञान (=दर्शन, साइंस आदि)का प्रकाश सदा होता रहेगा।

(ङ) सभी विज्ञानोका परमविज्ञानमे समागम—रोश्दके कहे

---

[1] अक्ल-मुत्लक्। [2] अफलाक। [3] नफसे-इन्सानियत्।

पाँच विज्ञानोका[1] नाम हम बतला चुके हैं। रोश्द उनको समझाते हुए कहता है कि (१) प्राकृतिक विज्ञानका[2] अस्तित्त्व मनुष्यके पैदा होनेके साथ होता है, उस वक्त वह सिर्फ ज्ञानकी योग्यता या सभावनाके रूपमें रहता है आयुके बढनेके साथ (अन्तर्हित) योग्यता क्रियाका रूप लेती है, और इस विकासका अन्त (२) **अभ्यस्त-विज्ञानकी**[3] प्राप्तिपर होता है, जो कि मानव-जीवनकी चरम सीमा है। लेकिन अभ्यस्त-विज्ञान विज्ञानका चरम-स्थान नही है। हाँ, प्रकृतिसे लिप्त रहते उसका जो विकास हो सकता है, उसका चरम विकास कह सकते है। उसके आगे प्राकृतिक जगत्से ऊपर उठता वह शुद्ध **विज्ञान-जगत्**की ओर बढता है, जितना वह विज्ञान-जगत्के करीब पहुँचता जाता है, उतना ही उसका विज्ञान-जगत्से समागम होता जाता है। इस अवस्थामे पहुँचकर विज्ञान हर प्रकारकी वस्तुओका ज्ञान स्वय प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ज्ञाता-विज्ञानकी[4] अवस्थामे पहुँच जाता है। यही वह अवस्था है, जहाँ 'मै-तुम'के भेद उठ जाते है, और मनुष्य कर्त्ता-विज्ञान[5] (=ईश्वर)का पद प्राप्त कर लेता है। चूँकि कर्त्ता-विज्ञानके अन्दर सब तरहकी वस्तुए मौजूद है, इसलिए मनुष्य भी मूर्त्तिमान् "सर्वं खल्विद ब्रह्म"[6] बन जाता है।

[कर्त्ता (परम) विज्ञान ही सब कुछ]—अरस्तू कहता है—"ज्ञान ही विज्ञानका स्वरूप है, और ज्ञान भी मामूली इन्द्रिय-विषयोका नही बल्कि सनातन गुण रखनेवाली चीजो—विज्ञानमय (=विज्ञान-जगत्)—का। तब स्पष्ट है कि नफ्सोका नफ्स (=विज्ञानोका विज्ञान) अर्थात् कर्त्ता-विज्ञान (ईश्वर)का स्वरूप ज्ञानके सिवा और कुछ हो ही नही सकता। ईश्वरमे जीवन है, और उसका जीवन केवल ज्ञान-क्रिया होनेका नाम है। कर्त्ता-विज्ञान सनातन शिव और केवल मगल (-मय) है; और ज्ञानसे बढकर कोई शिवता (=अच्छाई) नही हो सकती। ("नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह

---

[1] अक़्ल। [2] अक़्ल-हेवलानी। [3] अक़्ल-मुस्तफ़ाद। [4] अक़्ले-मुद्रिक्। [5] अक़्ल-फ़आल। [6] "हमा-ओ-स्त" (सब वह है)।

विद्यते") अत ईश्वर इस शिवताका स्रोत है। किन्तु उसके ज्ञानमे विज्ञाता और विज्ञेयका भेद नही, क्योकि वहाँ उसके स्वरूपके सिवा और कोई चीज मौजूद भी नही है, और है भी तो उसके अन्दर। अतएव वह (=कर्त्ता-विज्ञान, ईश्वर) यदि अपनेसे भिन्न चीजका ज्ञान भी करे, तो भी अपने स्वरूपके ज्ञानके सिवा और हो नही सकता। इस तरह वह स्वय ही ज्ञाता और ज्ञेय दोनो है; बल्कि यो कहना चाहिए कि उसका ज्ञान, ज्ञानके ज्ञानका नाम है, क्योकि उस अवस्थामें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातामें कोई भी भेद नही है—जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, और इसके अतिरिक्त सारी चीजें 'नास्ति' है।[1]

रोश्द आचार-शास्त्रमे सक्षेपमे फिर अपने विज्ञान-अद्वैतवादपर लिखता है[2]—

"ज्ञान—प्रतीति—के अतिरिक्त और जितनी शिवतायें (=अच्छाइयाँ) है, उनमेंसे कोई भी स्वत. वाछनीय नही होती, और न किसीसे आयुमे वृद्धि होती है। वह सबकी सब नश्वर है, किंतु यह शिवता (-ज्ञान) अनश्वर है, सबकी सब दूसरोकी वाछा पूरी करती है, किंतु यह (ज्ञान) स्वय अपनी वाछा है, उसको छोड किसी वाछाका अस्तित्व नही। लेकिन मुश्किल यह है, कि ज्ञानोका उच्चतम पद मनुष्यकी पहुँचसे वाहर है—मनुष्य सिरसे पैर तक भौतिकतासे घिरा हुआ है, वह मानवताकी चहारदीवारीके भीतर रहते उन पदो तक किसी तरह पहुँच नही सकता। हाँ, उसके भीतर ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)की ज्योति जग रही है, यदि वह उसकी ओर बढनेकी कोशिश करे—मानवताकी पोशाक (=आवरण)को उतारकर—अपने अपनत्व (=मैपन)को नष्ट कर दे, तो निस्सदेह केवल शिवकी प्राप्ति उसे हो सकती है।....लोग कहते है कि मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीवन-यापन करना चाहिए, चूँकि वह स्वयं भौतिक है, इसलिए भौतिकतासे ही उसे नाता रखना

[1] "मावाद-तवइयात्", पृष्ठ २५५

[2] "तल्खीस किताबे-अख्लाक़", पृष्ठ २९६

चाहिए। लेकिन यह ठीक नही है। हर जातिकी शिवता (=अच्छाई) सिर्फ उसी चीजमे होती है, जिससे उसके आनदमे वृद्धि होती हो, और जो उसके अनुकूल हो। अतएव मनुष्यकी शिवता यह नही है, कि वह कीड़ो-मकोडोकी तरह (प्रवाहमे) बह जाये। उसके भीतर तो ईश्वरकी ज्योति जगमगा रही है, वह उसकी ओर क्यो न ख्याल करे, और ईश्वरसे वास्तविक समागम क्यो न प्राप्त करे—यही तो वास्तविक शिवता[1] और उसका अमर जीवन है। "उस पदकी क्या प्रशसा की जाये? वह आश्चर्यमय पद है, जहाँपर पहुँचकर बुद्धि आत्मविभोर हो जाती है, लेखनी आनदातिरेकमे रुक जाती है, जिह्वा स्खलित होने लगती है, और शब्द अर्थोके पर्दोमे छिप जाते है। जबान उसके स्वरूपको किस तरह कहे, और लेखनी चलना चाहे तो भी किस तरह चले?"

(च) परमविज्ञानकी प्राप्तिका उपाय—यद्यपि ऊपरके उद्धरण-की भाषा और कुछ-कुछ आशयसे भी—आदमीको भ्रम हो सकता है, कि रोश्द सूफीवादके योग-ध्यानको कर्त्ता-विज्ञान (=ईश्वर)के समागमके लिए जरूरी समझता होगा, किन्तु, ध्यानसे देखनेसे मालूम होगा, कि उसका परमविज्ञान-समागम ज्ञानकी प्राप्तिपर है। इस्लामिक दार्शनिकोमे रोश्द सबसे ज्यादा सूफीवादका विरोधी है। वह योग, ध्यान, ब्रह्मलीनता[2]को बिलकुल झूठी बात कहता है। मनुष्यकी शिवता उसी योग्यताको विकसित करनेमे है, जिसे लेकर वह पैदा हुआ, और वह है ज्ञानकी योग्यता। आदमीको उसी वक्त शिवता प्राप्त होती है, जब वह इस योग्यताको उन्नत कर पदार्थोकी वास्तविकताके तह तक पहुँच जाता है। सूफियोका आचार-उपदेश बिल्कुल असत्य और बेकार है। मनुष्यके पैदा होनेका प्रयोजन यह है, कि इन्द्रिय-जगत्पर विज्ञान-जगत्का रग चढ़ाये। बस इसी एक उद्देश्यके प्राप्त हो जानेपर मनुष्यको स्वर्ग मिल जाता है, चाहे उसका कोई भी मजहब क्यों न हो। "दार्शनिकोंका असली मजहब है

---

[1] सआदत्। [2] फ़ना-फ़िल्लाही।

विश्वके अस्तित्वका अध्ययन, क्योकि ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ उपासना केवल यही हो सकती है, कि उसकी सृष्टि—कारीगरी—का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाये; यह ईश्वरके परिचय करने जैसा है। यही एक कर्म है, जिससे ईश्वर खुश होता है। सबसे बुरा कर्म वे करते है, जो कि ईश्वरकी बहुत ही श्रेष्ठ उपासना करनेवालेको काफिर कहते, तथा परेशान करते है।"[1]

(छ) मनुष्य परिस्थितिका दास—मनुष्य काम करनेमे स्वतत्र है या परतत्र; दूसरे कितने ही दार्शनिकोकी भाँति रोश्दने भी इस प्रश्नपर कलम उठाई है। इसपर कुछ कहनेसे पहिले सकल्पको समझना जरूरी है, क्योकि कर्म करनेसे पहिले सकल्प होता है अथवा सकल्प स्वय ही एक कर्म—मानस-कर्म—है।

(a) **संकल्प**—सकल्पके बारेमे रोश्दका मत है—संकल्प मनुष्यकी एक आत्मिक (=मानसिक) अवस्था है, जिसका उद्देश्य यह है, कि मनुष्य कोई कर्म करे। लेकिन, मनुष्यके सकल्पकी उत्पत्ति उसके भीतरसे नही होती, बल्कि उसकी उत्पत्ति कितने ही बाहरी कारणोपर निर्भर है। यही नही कि इन बाहरी कारणोंसे हमारे संकल्पमे दृढता पैदा होती है, बल्कि हमारे सकल्प-की कायमी और सीमा भी इन्ही कारणोपर निर्भर है। संकल्प राग या द्वेष इन दो मानसिक अवस्थाओंका है, जो कि बाहर किसी लाभदायक या हानि-कारक वस्तुके अस्तित्व या ख्यालसे हमारे भीतर पैदा होती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक हद तक सकल्पका अस्तित्व बाहरी कारणों ही पर निर्भर है—जब कोई सुन्दर वस्तु हमारी आँखके सामने आती है, अवश्य ही हमारा आकर्षण उसकी ओर होता है; जब कोई असुन्दर या भयानक वस्तुपर हमारी निगाह पड़ती है, तो उससे विराग होता है। मनकी इसी राग-द्वेष या आकर्षण-विराग वाली अवस्थाका नाम सकल्प है। जब तक हमारे मनको उकसानेवाली कोई बात सामने नही आती, उस वक्त तक सकल्प भी अस्तित्वमे नही आता, यह स्पष्ट है।

---

[1] History of Philosophy (G. E. Lewis) Vol. 1

(b) **संकल्पोत्पादक बाहरी कारण**—(१) बाहरी कारण संकल्प-के उत्पादक होते है, यह तो बतलाया; किन्तु यह भी ख्याल रखना है, कि इन बाहरी कारणोका अस्तित्व भी क्रम-रहित—व्यवस्था-शून्य—नही होता; बल्कि ये स्वयं बाहरवाले अपने कारणोके आधीन होते है। इस प्रकार हमारे भीतर सकल्पका आना क्रम-शून्य तथा बे-समय नही होता; बल्कि (२) कारणोके क्रम (=परम्परा)की भाँति सकल्पोकी भी एक क्रमबद्ध शृंखला होती है। जिसकी प्रत्येक कडी कारणोंकी शृंखलाकी भाँति बाहरी कडीसे मिली होती है। इसके अतिरिक्त (३) स्वय हमारी शारीरिक व्यवस्था—जिसपर कि बहुत हद तक हमारे सकल्प निर्भर करते है—भी एक खास व्यवस्थाके आधीन है। ये तीनों कार्य-कारण शृखलामे एक दूसरेसे जकडी हुई है। इन तीनों शृखलाओंके सभी अश या कडियाँ मनुष्यकी अक़्लकी पहुँचसे बाहर है। हमारे शरीरकी व्यवस्थामे जो परि-वर्त्तन होते है, वे सभी हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर है। इसी तरह बाहरी जगत्‌की जो क्रियाएं या प्रभाव हमारे मानसिक जीवनपर काम करते है, वह असख्य होनेके अतिरिक्त हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर रहते, हमपर काम करते है। इस तरह इन बाहरी क्रियाओ या प्रभावोमेसे अधि-काशको सचित करना क्या उनका ज्ञान प्राप्त करना भी मनुष्यकी शक्तिसे बाहरकी बात है। यही वजह है, कि मनुष्य परिस्थितिके सामने लाचार और बेबस है। वह चाहता कुछ है, और होता कुछ है।

(४) **सामाजिक विचार**—हम देख चुके है, कि रोश्द जहाँ विज्ञान (=नफ्स)को लेता है,तो ज्ञानकी हलकीसी चिनगारीको भी परम विज्ञानसे आई बतलाकर सबको विज्ञानमय बतलाता है। साथ ही प्रकृति (=भूत) से न वह इन्कार करता है, और न उसे विज्ञानका विकार या माया बतलाता है; बल्कि परिस्थितिवादमे तो विज्ञान-ज्योतिसे युक्त मानवको वह जिस प्रकार प्रकृतिसे लाचार बतलाता है, उससे तो अपने क्षेत्रमे प्रकृति उसके लिए विज्ञानसे कम स्वतत्र नही है। इन्ही दो तरहके विचा-रोको लेकर उसके समर्थकोका विज्ञानवादी और भौतिकवादी दो दलोमे

लिए क्या कहा जाय, जो कि आज कत्ल-आमके द्वारा "हीन" जातियोंका सहार कर "उच्च" जातिका विस्तार करना चाहते है।

रोश्द मूर्ख शासको और धर्मान्ध मुल्लोके सख्त खिलाफ था। मुल्लोको वह विचार-स्वातत्र्यका दुश्मन होनेसे मानवताका दुश्मन मानता था। अपने समयके शासकों और मुल्लाओका उसे बडा तल्ख़ तजर्बा था, और हकामकी (हस्तलिखित) चार लाख पुस्तकोकी लाइब्रेरीकी होली उसे भूलनेवाली न थी। इस तरह दुनियामे अधेर देखते हुए भी वह फाराबी या बाजाकी भॉति वैयक्तिक जीवन या एकान्तताका पक्षपाती न था। समाजमे उसका विश्वास था। वह कहता था कि वैयक्तिक जीवन न किसी कलाका निर्माण कर सकता है न विज्ञानका। वह ज्यादासे ज्यादा यही कर सकता है, कि समाजकी पहिलेकी अर्जित निधिसे गुजारा करे, और जहॉ-तहाँ नाममात्रका सुधार भी कर सके। समाजमे रहना, तथा अपनी शक्तिके अनुसार सारे समाजकी भलाईके लिए कुछ करना हर एक आदमीका फर्ज़ होना चाहिए। इसीलिए वह स्त्रियोकी स्वतत्रता चाहता है। मजहबवालों-की भाँति सदाचार नियमको वह "आसमानसे टपका" नही मानता था, बल्कि उसे बुद्धिकी उपज समझता था; न कि वैयक्तिक स्वार्थके लिए वैयक्तिक बुद्धिकी उपज। राष्ट्र या समाजकी भलाई उसके लिए सदाचारकी कसौटी थी। धर्मके महत्त्वको भी वह सामाजिक उपयोगिताके ख्यालसे स्वीकार करता था। आमतौरसे दर्शनसे भिन्न और उलटी राय रखनेके कारण धर्मकी असत्यतापर रोश्दका विश्वास था, किन्तु अफलातूँके "भिन्न-भिन्न धातुओसे बने आदमियोकी श्रेणियॉ होने"को प्रोपेगडा द्वारा हृदया-कित करनेकी भॉति मजहबको भी वह प्रोपेगडाकी मशीन समझता था, और उस मशीनको इस्तेमाल करनेसे उसे इन्कार नही था, यदि वह अपने आचार-नियमो द्वारा समाजकी बेहतरी कर सके।[1]

(ख) **स्त्री-स्वतन्त्रतावादी**—मुल्समीन शासकोके यहाँ स्त्रियॉ मुँह

---

[1] देखो "मानव-समाज" पृष्ठ १२०-१

खोले सरे-आम घूमती थीं, और मर्द मुँहपर पर्दा रखते थे, ऐसा करके इस्लाम-ने दिखला दिया कि वह इस पार उस पार दोनो चरम-पथोमे जा सकता है। किंतु, इसका यह अर्थ नही कि मुल्समीन रानियाँ और राजकुमारियाँ आर्थिक स्वातंत्र्य—जो ही कि वास्तविक स्वातन्त्र्य है—की अधिकारिणी थी; और फिर यह रवाज सिर्फ राजवश तक सीमित था। रोश्द वस्तुत स्त्रियोकी स्वतत्रता चाहता था, क्योंकि वह इसीमे समाजका कल्याण समझता था। यह भी स्मरण रहना चाहिए, कि इस वातमे अफलातूँ भी इतना उदार नही था।

रोश्दकी रायमे स्त्री और पुरुषकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियोमें कोई मौलिक भेद नही है, भेद यदि कही मिलेगा तो वह कुछ कमी-वेशी ही का। कला, विद्या, युद्ध-चातुरीमे जिस तरह पुरुष दक्षता प्राप्त करते है, उसी तरह स्त्रियाँ भी प्राप्त कर सकती है; पुरुषोंके कधेसे कधा मिलाकर वह समाजकी हर तरहसे सेवा कर सकती है। यही नही, कितनी ही विद्याए—कलाए—तो स्त्रियोके ही लिए प्रकृतिकी ओरसे सुरक्षित है,—उदाहरणार्थ संगीतकी व्यवस्था और चरम विकास तभी हो सकता है, जव कि स्त्रियाँ उसमे हस्तावलव दें। युद्धमे स्त्रियोंकी दक्षता कोई काल्पनिक वात नही है। अफ्रीकाकी कितनी ही वद्दू-रियासतोमें स्त्रियोकी रण-चातुरीके वहुत अधिक उदाहरण मिलते है, जिनमें स्त्रियोने युद्ध-क्षेत्रमे सिपाही और अफसरके कर्त्तव्यको वड़ी सफलतासे पूरा किया। इसी तरह इसके भी कितने ही उदाहरण है, जव कि शासन-यत्र स्त्रीके हाथमे रहा, और राज्य-प्रवध ठीकसे चलता रहा। स्त्रियोंके लिए स्थापित की गई आजकलकी व्यवस्था वहुत वुरी है, इसके कारण स्त्रियोको अवसर नही मिलता, कि वह अपनी योग्यताको दिखला सकें। आजकी व्यवस्थाने तै कर दिया है कि स्त्रियोका कर्त्तव्य सिर्फ यही है, कि सन्तान वढावे, और वच्चोका पालन-पोषण करे। लेकिन इसीका परिणाम है, जो कि एक हद तक उनकी छिपी हुई स्वाभाविक शक्ति लुप्त होती चली जा रही है। यही वजह है, कि हमारे देश (=स्पेन) मे ऐसी स्त्रियाँ वहुत कम दिखलाई

पडती है, जो किसी बातमे भी समाजमे विशेष स्थान रखती हो। उनका जीवन वनस्पतियोंका जीवन है, खेतीकी भाँति वह अपने पतियोकी सम्पत्ति है। हमारे देश (=स्पेन) मे जो दरिद्रता दिन-पर-दिन बढ रही है, उसका भी कारण स्त्रियोकी यही दुरवस्था है। चूँकि हमारे देशमे स्त्रियोकी सख्या पुरुषोंसे अधिक है, और स्त्रियाँ अपने दिनोको अधिकतर बेकार गुजारती है, इसलिए वह अपने श्रमसे परिवारकी सम्पत्तिको बढानेकी जगह मर्दोपर भार होकर जिन्दगी बसर करती है।

रोश्दके ये विचार बतलाते है, कि क्यों वह युरोपीय समाजमे तूफान लाने तथा उसे एक नई दिशाकी ओर धक्का देनेमें सफल हुआ।

४—यहूदी दार्शनिक

क—इब्न-मैमून (११३५–१२०८ ई०)

यद्यपि इब्न-मैमून मुसलमान घरमे नही, बल्कि इब्न-जिब्रोलकी भाँति यहूदी घरमे पैदा हुआ था, तो भी इस्लामिक दर्शन या दार्शनिकसे हमारा अभिप्राय यहाँ कुरानी दर्शनसे नही है, बल्कि ऐसी विचारधारासे है, जो अरबसे निकले उस क्षीण स्रोतमें दूसरी नई-पुरानी विचार-धाराओके मिलनेसे बनी। इसीलिए हमने जिब्रोल—जो कि स्पेनिश इस्लामिक दर्शनधाराका आरम्भक था—के बारेमे पहिले लिखा, और अब इब्न-मैमूनके बारेमें लिखते है, जिसके साथ यह धारा प्राय. बिलकुल खतम हो जाती है।

(१) **जीवनी**—मूसा इब्न-मैमूनका जन्म रोश्दके शहर कार्दोवामें ११३५ ई० मे हुआ था। बचपनसे ही वह बहुत तेज बुद्धि रखता था, और जब वह अभी बिलकुल तरुण था, तभी उसने बाबुल और यरूशिलमकी तालमूदों[1]पर विवरण लिखे, जिसकी वजहसे यहूदियोमे उसका बहुत

---

[1] यहूदियोके धर्म-ग्रंथ जो बाइबलसे निचले दर्जेके समझे जाते है, और जिन्हें उनके धर्माचार्योंने यरूशिलम या बाबुलके प्रवासमें बनाया।

सम्मान होने लगा। मैमूनने दर्शन किससे पढा, इसमे मतभेद है। कुछ लेखक उसे रोश्दका शिष्य कहते है, और वह अपने दार्शनिक विचारोमे रोश्दका अनुगामी था, इसमे सन्देह नही है, लेकिन वह स्वय अपनी पुस्तक "दलाला" मे सिर्फ इतना ही लिखता है, कि उसने इब्न-वाजाके एक शिष्यसे दर्शन पढा। मोहिदीनके प्रथम शासक अबुल्मोमिन (११४७-६३ ई०) के शासनारभमे यहूदियोकी जो बुरी अवस्था हुई थी, उसी समय मैमून मिश्र भाग गया। पीछे वह मिश्रके नये शासक तथा शीयोंके ध्वंसक सलाहुद्दीन अयूबीका राजवैद्य बना। मिश्रमे आनेपर उसे रोश्दके ग्रथोको पढनेका शौक हुआ। ११९१ ई० मे वह अपने योग्य शिष्य यूसुफ इब्न-यह्याको लिखता है—"मै अरस्तूपर लिखी इब्न-रोश्दकी सारी व्याख्याओको एकत्रित कर चुका हूँ, सिर्फ "हिस्स व महसूस" (=इन्द्रियके ज्ञान और ज्ञेय)की पुस्तक अभी नही मिली। वस्तुत. इब्न-रोश्दके विचार बहुत ही न्याय-सम्मत होते है, इसलिए मुझे उसके विचार बहुत पसद है; किन्तु अफसोस है, कि समयाभावसे मै उसकी पुस्तकोका अध्ययन नही कर सका हूँ।"

मैमूनने ही सबसे पहिले रोश्दके महत्त्वको समझा, और उसकी वजहसे यहूदी विद्वानोने उसके दर्शनके अध्ययन-अध्यापनका काम ही अपने हाथमे नही लिया, बल्कि उन्हीके इब्रानी और लातीनी अनुवादोने युरोपकी अगली विचार-धाराके बनानेका भारी काम किया।

मैमूनका देहान्त ६०५ हिजरी (=सन् १२०८ ई०) मे हुआ।

(२) दार्शनिक विचार—रोश्दने जिस तरह दर्शनके बुद्धि-प्रधान हथियारसे इस्लामके मजहबी वाद-शास्त्रियोकी खबर ली, मैमूनने वही काम यहूदी वाद-शास्त्रियोके साथ किया। रोश्दकी "तोहाफतु'त्-तोहाफ़त्" (=खडन-खंडन)की भाँति ही उसकी पुस्तक "दलाला"ने यहूदी धर्मवादियो-पर प्रहारका काम किया। यहूदियोके कितने ही सिद्धान्त इस्लामकी तरहके थे, और उनके खडनमें मैमूनने रोश्दकी तरह ही सरगर्मी दिखलाई; बल्कि ईश्वरके बारेमे तो वह रोश्दसे भी आगे गया, और उसने कहा कि ईश्वरके बारेमे हम सिर्फ इतना ही कह सकते है, कि वह "यह नही" है "ऐसा

नही है"। यह बतलाना तो हमारी सामर्थ्यके बाहर है, कि उसमे अमुक-अमुक गुण है; क्योकि यदि हम ईश्वरके गुणोको साफ तौरसे बतला सके, तो वह ससारकी चीजे जैसा हो जायेगा। वह यहाँ तक कहता है, कि ईश्वरको "असग-अद्वैत" (=वहदहू-लाशरीक) भी नही कह सकते, क्योकि अद्वैत भी एक गुण है। यद्यपि मैमून "जगत्की अनादिता"को स्वयं नही मानता था, किन्तु ऐसा माननेवालेको वह नास्तिक कहनेके लिए तैयार न था।

विज्ञान (=नफ्स)के सिद्धान्तमे मैमूनका रोश्दसे मतभेद था। वह मानता था, कि प्राकृतिक-विज्ञान[1], अभ्यस्त-विज्ञान[2]से ज्ञान प्राप्त करता है, और अभ्यस्त-विज्ञान कर्त्ता-विज्ञान[3] (=ईश्वर)से। विद्या (=दर्शन)को वह भी रोश्दकी भाँति ही बहुत महत्त्व देता था—मनुष्यकी चरमोन्नति उसकी विद्यासबधी उन्नतिपर निर्भर है, और यही ईश्वरकी सच्ची उपासना है।[4] विद्याके द्वाराही आदमी अपने जीवनको उन्नत कर सकता है; किन्तु, इस साधनका उपयोग सबके लिए आसान नही, इसलिए मूर्खों और अ-विद्वानों की शिक्षाके लिए ईश्वर पैगंबरोको भेजता है।

ख—यूसुफ़ इब्न-यह्या (११९१ ई०)

जीवनी—यूसुफ इब्न-यह्या मराकोका रहनेवाला यहूदी था। यहूदियोंके निर्वासनके जमानेमे वह भी मिश्र चला आया, और मूसा इब्न-मैमूनसे उसने दर्शनका अध्ययन किया। यूसुफ भी अपने गुरुकी भाँति ही रोश्दके दर्शनका बडा भक्त था। रोश्दके प्रति अपनी भक्तिको उसने एक पत्रमे प्रकट किया है, जिसे उसने अपने गुरु मैमूनको लिखा था—

"मैने आपकी प्रिय पुत्री सुरैयाको ब्याह-सदेश दिया। उसने

---

[1] अक्ल-माद्दी। [2] अक्ल-मुस्तफ़ाद। [3] अक्ल-फ़आल।

[4] मैमूनसे दो सदी पहिले ब्राह्मण नैयायिक उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने भी "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" (कुसुमांजलि) कहा था।

तीन शर्तोंके साथ मुझ गरीबकी प्रार्थना स्वीकार की—(१) स्त्रीधन (=मेहर) देनेकी जगह मैं अपने दिलको उसके हाथ बेच डालूँ; (२) शपथ-पूर्वक सदा प्रेम करनेकी प्रतिज्ञा करूँ; (३) वह षोडशी कुमारियोंकी तरह मुझे आलिंगन करना पसंद करे। मैंने विवाहके बाद तीनो शर्तें पूरी करनेकी उससे प्रार्थना की। बिना किसी उज्रके वह राजी हो गई। अब हम दोनो पारस्परिक प्रेमके आनंद लूट रहे है। ब्याह दो गवाहोकी उपस्थितिमे हुआ था : एक स्वयं आप—मूसा इब्न-मैमून—थे, और दूसरे थे इब्न-रोश्द।"

सारे पत्रको यूसुफने आलंकारिक भाषामे लिखा है। सुरैया वस्तुत. मैमूनकी कोई औरस पुत्री नही थी, बल्कि मैमून द्वारा प्रदत्त दर्शन-विद्याको ही वह उसकी प्रिय पुत्री कह रहा है, और इस "पाणिग्रहण"के करानेमे रोश्दका भी हाथ वह स्वीकार करता है।

यूसुफ जब हलब् (=अलेप्पो, सीरिया) मे रहता था, तो उसकी जमाल-उद्दीन कुफ़्तीसे बहुत दोस्ती थी। जमालुद्दीन लिखता है—"एक दिन मैंने यूसुफसे कहा—यदि यह सच है कि मरनेके बाद जीवको इस दुनियाकी खबर मिलती रहती है, तो आओ हम दोनो प्रतिज्ञा करे कि हममेंसे जो कोई पहिले मरे, वह स्वप्नमे आकर दूसरेसे मृत्युके बादकी हालतकी सूचना दे। . . . इसके थोडे ही समय बाद यूसुफ मर गया। अब मुझको फिक्र पडी, कि यूसुफ स्वप्नमे आये और मुझे परलोककी बात बतलाये। प्रतीक्षा करते-करते दो वर्ष बीत गए। अन्तमे एक रात उसके दर्शनका सौभाग्य हुआ। मैंने देखा कि वह एक मस्जिदके आँगनमे बैठा हुआ है, उसकी पोशाक उजली है। उसे देखते ही मैंने पुरानी प्रतिज्ञाकी याद दिलाई। पहिले वह मुस्कराया, और मेरी ओरसे उसने मुँहको दूसरी ओर फेर लिया। लेकिन मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। लाचार हो कहने लगा—अवयवी (=पूर्ण ब्रह्म) अवयवमे समा गया, और अवयव (=शरीर-परमाणु) अवयव हीमे रह गया।"[1]

---

[1] "अखबारु'ल्-हुक्मा कुफ़्ती", पृष्ठ २५८

यूसुफ इब्न-यह्याकी प्रसिद्धि एक लेखकके तौरपर नही है। उसने अपने गुरुके काम—रोश्दके दर्शनका पठन-पाठन द्वारा यहूदियोमे प्रचार—को खूब किया। यहूदियोमे इस प्रचारका यह नतीजा हुआ, कि उनमे धर्मकी ओरसे उदासीनता होने लगी। यह अवस्था देख यहूदी धर्माचार्य मैमूनियोंके विरोधी हो गए, और १३०५ ई०मे बारसलोना (स्पेन)के बडे यहूदी धर्माचार्य सुलेमान इब्न-इद्रीसने फतवा जारी किया कि जो आदमी २५ वर्षकी आयुसे पहिले दर्शनकी पढाई करेगा वह बिरादरीसे निकाल दिया जावेगा।

युरोपमे दर्शनके प्रचार—विशेषकर रोश्दके ग्रंथोंके अनुवाद-द्वारा—यहूदी विद्वानोंने किस तरह किया इसे हम अगले अध्यायमे कहेंगे।

५—इब्न-खल्दून (१३३२—१४०६ ई०)

[सामाजिक-अवस्था]—तेरहवी सदीमे जब कि इस्लामने भारतपर अधिकार कर पूर्वमे अपने राज्यका विस्तार किया, उसी समय पच्छिममे उठती हुई युरोपीय जातियोके प्रहारके कारण उसे स्पेन छोडकर हटना पडा। लेकिन यह छोडना सिर्फ शासनके क्षेत्रमे ही नही था, बल्कि इस्लाम-धर्मको भी उसीके साथ जिब्राल्तरके जलतटको छोड अफ्रीका लौटना पडा, जहाँ अब भी मराकोपर इस्लामी ध्वजा फैला रही है, और जिसकी राजधानी फेज़की बनी काले फुँदनेवाली लाल टोपियाँ अब भी तुर्की टोपी-के नामसे भारतके कितने ही मुसल्मानोंके सिरोपर देखी जाती है। कबीलाशाही युगके यहूदी धर्मने राजनीतिक विजयमे जिस तरह धर्मको भी शामिल किया था, उसे सामन्तशाही युगका ईसाई-धर्म स्वीकार करनेमे असमर्थ था, और उसने कबीलाशाही मनोवृत्तिको छोड भिन्न-भिन्न राष्ट्रोमे केवल धार्मिक भावको लेकर अपना प्रसार किया। धार्मिक प्रचारके साथ राजनीतिक प्रभाव विस्तार भी पीछे हुआ, बल्कि युरोपके कितने ही जर्मन, स्लाव आदि सामन्तोने तो ईसाइयतको स्वीकारकर उसका प्रचार अपनी प्रजामे इसलिए जोरसे किया कि उससे कबीलाशाही स्वतन्त्रताका खात्मा

होता है, और निरकुश ईश्वरके प्रतिनिधि सामन्तके शासनकी पुष्टि होती, तो भी ईसाइयतमे दूसरेके देशपर आक्रमण कर उसे जीतनेके लिए जहाद (धर्म-युद्ध) छोड़नेकी गुजाइश नही थी। शुद्ध कबीलाशाही समाजमे धर्म, राजनीति, और बहुत हद तक अर्थनीति भी सामाजिक जीवनके अभिन्न अंशसे होते है, इसलिए कबीला जो कुछ भी करता है उसके पीछे सिर्फ एक लक्ष्यको रख करता है यह नही कहा जाता। इस्लाम कबीलाशाही अरबमे पैदा हुआ था, किंतु वह सामन्तशाही प्रभावसे वंचित नहीं बल्कि बहुत हद तक प्रभावित था, जहाँ तक उसके धर्मका सबध था; हाँ, प्रारंभमे आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि उसकी बहुत कुछ कबीलाशाही थी। हर कबीलेका ईश्वर, धर्म तथा जातीयताके साथ इतना सबद्ध होता है, कि उसे दूसरे कबीलेको दिया नही जा सकता है; इस्लाम इस बारेमे एक गैर-कबीलाशाही धर्म था, उसका ईश्वर और धर्म सिर्फ कुरैशके कबीलेके ही नही, सिर्फ अरब भाषा-भाषी कबीलो हीके लिए नही बल्कि दुनियाके सभी लोगोंके लिए था। इस तरह धर्ममे गैर-कबीलाशाही होते भी, युद्धनीति और राजनीतिमे उसने कबीलाशाहीका अनुसरण करना चाहा। राज (=शासन)-नीतिमे किस तरह म्वावियाने कबीलाशाही—जिसे कितने ही लोग जनतन्त्रता समझनेकी भारी गलती करते है—को तिलाजलि दी, इसका हम जिक्र कर चुके है। लेकिन युद्धनीतिमे कबीलाशाही मनोभावको इस्लामने नही छोडा—जहाद और माल-गनीमत (=लूटका धन) का औचित्य उसीके निदर्शन है। अरब कबीले कबीलाशाही सार्वदैशिक नियमके अनुसार जहाद और गनीमतको ठीक समझते थे; किन्तु इस्लाम जिस सामन्तशाही धर्मका प्रचार कर रहा था, उसमे ज्यादा विशाल दृष्टिकी जरूरत थी, जिसे कि ईसाई या बौद्ध जैसे दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय धर्मोने स्वीकार किया था। इस्लामको वैसा बननेके लिए इतिहासने भी मजबूर किया था। पैगबर मुहम्मदने अपनी पैगबरीके आरभिक (मक्कावाले) वर्षोंमे इस्लामके लिए जो नीति स्वीकार की थी, वह बहुत कुछ ईसाइयो जैसी युक्ति और प्रेमके साथ धर्मको समझानेकी थी; किन्तु जब कुरैशके जुल्मसे 'बचनेके लिए' वह भागकर मदीना आये

और वहाँ भी वही खतरा ज्यादा जोरके साथ दिखलाई देने लगा, तो उन्हे तलवार उठानी पडी। हर तलवारके पीछे कोई नारा जरूर होना चाहिए, वहाँके लोग कबीलेशाही नारेको ही समझते थे—जो कि जहाद और माल-गनीमतका नारा हो सकता था—पैगबरको भी वही नारा स्वीकार करना पडा। और जब एक बार इस नारेपर अल्लाहकी मुहर लग गई, तो हर देश और कालमे उसे स्वीकार करनेसे कौन रोक सकता है? इस्लाम अरबसे बाहर गया, साथ ही इस "जहाद" (रक्षात्मक ही नही धन जमा करनेके लिए भी आक्रमणात्मक युद्ध)के नारेको भी लेता गया। इस्लामका नेतृत्व अरबी कबीलो तथा अरबी सामन्तोके हाथसे निकलकर गैर-अरब लोगोंके हाथमे चला गया, तो भी उन्होने इस नारेको अपने मतलबके लिए इस्तेमाल किया।

यह भी पीछे कहा जा चुका है कि इस्लामने एक छोटेसे कबीलेसे बढते-बढ़ते अनेक जाति-व्यापी "विश्व कबीला" बनानेका आदर्श अपने सामने रखा था। कबीला होनेके लिए एक धर्म, एक भाषा, एक जाति, एक संस्कृति, एक देश, (भौगोलिक स्थिति). होनेकी जरूरत है। इस्लामने इस स्थितिके पैदा करनेकी भी कोशिश की। आज मराको, त्रिपोली, मिश्र, सीरिया, मेसोपोतामियामे (पहिले स्पेन और सिसलीमे भी) जो अरबी भाषा बोली जाती है, वह बहुत कुछ उसी एक भाषा बनानेका नतीजा है। अरबी भाषामे ही नमाज पढनेकी सख्ती भी उसी मनोभावको बतलाती है। ईरान, शाम, तुर्किस्तान (मध्य-एसिया) आदि देशोंकी जातीय सस्कृतियो तथा साहित्योको एक ओरसे नेस्त-नाबूद करनेका प्रयत्न भी एक कबीला-स्थापनाका फल था। प्रारभिक अरब मुस्लिम विजेता बडी ईमानदारीके साथ इस्लामके इस आदर्शको पूरा करना चाहते थे। उनको क्या मालूम था, कि जिस कामको वह करना चाहते है, उसमे उनका मुका-बिला वर्तमान पीढीकी कुछ जातियाँ ही नही कर रही है, बल्कि उनकी पीठपर प्रकृति भी है, जो सामन्तवादी जगत्को कबीलाशाही जगत्मे बदल देनेके लिए इजाजत नही दे सकती। आखिर भयकर नरसहार और कुर्बा-नियोके बाद भी एक कबीला (=जन) नही बन सका।

हाँ, सामन्तशाही युगके निवासियोंके लिए "जहाद"का नारा अजब-सा लगा। वे लोग लड़ाइयाँ न लड़ते हों यह बात नहीं थी; किन्तु वह लड़ाइयाँ राजाओंके नेतृत्वमें राजनीतिक लाभके लिए होती थीं। उनमें ईश्वरकी सहायता या वरदान भी माँगा जाता था, लेकिन लड़नेवाले दोनों फ़रीक़ दिलमें समझते थे, कि ईश्वर इसमें तटस्थ है। जो धार्मिक थे वह यह भी मानते थे कि जिधर न्याय है, ईश्वर उधर ही पलड़ा भारी करना चाहेगा। यह समझना उनके लिए मुश्किल था, कि वह जो लड़ाई लड़ रहे हैं, वह ईश्वरकी लड़ाई है। इस्लामके जहादियोंने किस तरह अपने झंडोंको दूर-दूर तक गाड़नेमें सफलता पाई, इसको यहाँ कहनेकी ज़रूरत नहीं। यहाँ हमें सिर्फ़ इतना बतलाना है कि इस्लामी जहादके मुकाबिलेमें युरोपकी जातियोंको भी उसीकी नक़लपर ईसाई जहाद (=सलीबी जंग)[1] लड़ने पड़े। ये ईसाई जहादसे भी कितने अधिक भयंकर थे, यह इसीसे पता लगता है, कि जहाँ मुस्लिम स्पेनमें कितने ही स्पेनिश ईसाई परिवार बँच गये थे, वहाँ ईसाई स्पेनमें कोई भी पहिलेका मुसलमान नहीं रह गया।

इस्लामके इस युगके एक दार्शनिकका हम यहाँ जिक्र करते हैं।

(१) **जीवनी**—इब्न-खल्दूनका जन्म १३३२ ई०में उत्तरी अफ़्रीकाके तूनिस् नगरमें हुआ था। उसका परिवार पहिले सेविली (स्पेन)का रहने-वाला था। इस प्रकार हम उसे प्रवासी स्पेनिश मुसलमान कह सकते हैं। तूनिस्में ही उसने शिक्षा पाई। उसका दर्शनाध्यापक एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने पूर्वमें भी शिक्षा पाई थी, और इस प्रकार उसके शिष्यको सेविली, तूनिस् और पूर्वकी शिक्षाओंसे लाभ उठानेका मौका मिला।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद खल्दून कभी किसी दरबारमें नौकरी करता और कभी देशोंकी सैर करता रहा। वह कितनी ही बार भिन्न-भिन्न सुल्तानोंकी ओरसे अफ़्रीका और स्पेनमें राजदूत भी रहा। राजदूत बनकर

---

[1] Crusade.

कुछ समय वह 'क्रूर' पीतरके दरबारमे सेविलीमे भी रहा। उस वक्त पूर्वजोकी जन्मनगरी इस्लामिक स्पेनके गौरव—सेविली—को उस तरह ईसाइयोके हाथमे देखकर उसके दिलपर कैसा असर हुआ होगा, उसकी वजहसे उसके दिमागको जो सोचना पडा था, उसी सोचनेका फल हम उसके इतिहास-दर्शनमे पाते है। तैमूरका शासन उस वक्त मध्य-एसियासे भूमध्य-सागरके पूर्वी तट तक था, और दमिश्क भी उसकी एक राजधानी थी। खल्दून दमिश्कमे तैमूर (मगोल, थि-मुर=लोहा)के दर्बारमे राजदूत बनकर भी कितने ही समय तक रहा था। १४०६ ई० मे काहिरा (मिश्र)मे खल्दूनका देहान्त हुआ।

(२) दार्शनिक विचारः (क) प्रयोगवाद—इस्लामिक दर्शनके इतिहासके बारेमे हमने अबतक देखा है, कि अश्अरीकी तरह कुछ लोग तो दर्शन या तर्कको इस्तेमाल करके सिर्फ यही साबित करना चाहते थे कि दर्शन गलत है, बुद्धि, ज्ञान प्राप्तिके लिए टूटी नैया है। गजालीकी भाँति कुछका कहना था कि दर्शनकी नैया कुछ ही दूर तक हमारा साथ दे सकती है, उसके आगे योग-ध्यान ही हमे पहुँचा सकता है। सीना और रोश्द जैसे इन दोनो तरीकोको झूठ और बेकार कह कर बुद्धिको अपना सारथी बना दर्शनको ही एक मात्र पथ मानते थे। खल्दून, सीना और रोश्दके करीब जरूर था, किन्तु उसने जगत् और उसकी वस्तुओंको बहुत बारीकीसे देखा था, और उस बारीक् दृष्टिने उसे वस्तु-जगत्के बारेमे विश्वास दिला दिया था, कि सत्य तक पहुँचनेके लिए यहाँ तुम्हे बेहतर साधन मिलेगा। उसका कहना था—दार्शनिक समझते है कि वह सब कुछ जानते है, किंतु विश्व इतना महान् है, कि उस सारेको समझना दार्शनिककी शक्तिसे बाहर है। विश्वमे इतनी हस्तियाँ और वस्तुए है, वह इतनी अनगिनित है, जिनका जानना मनुष्यके लिए कभी सभव न होगा। तर्कसे जिस निष्कर्षपर हम पहुँचते है, वह कितनी ही बार व्यवहार या प्रयोग—वस्तुस्थिति—से मेल नही खाता। इससे साफ है, कि केवल तर्कके उपयोगसे सच तक पहुँचनेकी आशा दुराशा मात्र है। इसलिए साइसवेत्ताका काम है प्रयोगसे प्राप्त अनुभवके सहारे

सत्य तक पहुँचनेकी कोशिश करे। और यहाँ भी उसे सिर्फ अपने प्रयोग, अनुभव, और निष्कर्षपर सन्तोष नही करना चाहिए, बल्कि पीढियोसे मानव जातिने जो ऐसे निष्कर्ष छोडे है, उनसे भी मदद लेनी चाहिए। वादकी सत्यता प्रयोगके अनुसरण करनेपर है—साइसके इस सिद्धान्तकी कितनी साफ तौरसे खल्दूनने पुष्टि की है, इसे कहनेकी जरूरत नही।

(ख) ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तर्क नहीं—खल्दून जीवको स्वभावसे ज्ञान-हीन मानता है, किन्तु साथ ही यह भी कि उसमे यह शक्ति स्वाभाविक है, वह अपने तजर्बेपर मनन और व्याख्या कर सकता है। जिस वक्त वह इस तरहके मननमे लगा रहता है, उसी वक्त अक्सर एक विचार यकायक विजलीकी तरह दिमागमे चमक उठता है, और हम अन्तर्दृष्टि—वास्तविकता—सत्य—तक पहुँच जाते है। इस प्रयोग, मनन, अन्तर्दृष्टिको पीछे तर्ककी भाषा (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि)में क्रमबद्ध किया जा सकता है। इससे यह तो साफ है कि तर्क ज्ञानको उत्पन्न नही करता, वह सिर्फ उस पथको अकित करता है, जिसे हमे मनन करते वक्त पकडना चाहिए था; वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुँचते है। तर्कका एक फायदा यह भी है, कि वह हमे हमारी भूल बतलाता है, बुद्धिको तीखी करता, और उसे ठीक तौरसे सोचनेमे सहायक होता है।

खल्दून ज्ञानके युद्धमे प्रयोगको प्रधान और तर्कको सहायक मानता है, फिर उससे इस बातकी आशा ही थी, कि वह कीमिया और फलित ज्योतिपके मिथ्या-विश्वाससे मुक्त होगा।

(ग) इतिहास-साइंस—खल्दूनका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार है, इतिहासकी सतहसे भीतर घुसकर उसके मौलिक नियमों—इतिहास-दर्शन या इतिहास-साइस—को पकडना। खल्दूनके मतसे इतिहासको साइस या दर्शनका एक भाग कहना चाहिए। इतिहासकारका काम है घटनाओका संग्रह करना और उनमे कार्य-कारण सबधको ढूँढना। इस कामको गभीर आलोचनात्मक दृष्टिके साथ बिल्कुल निष्पक्षपात होकर करना चाहिए। हर समय हमे इस सिद्धान्तको सामने रखना चाहिए कि कारण जैसा कार्य

होता है—अर्थात्, एक जैसी घटनाए बतलाती है कि उनसे पूर्वकी स्थितियाँ एक जैसी थी, अथवा सभ्यताकी एक जैसी परिस्थितियोमे एक जैसी घटनाए घटित होती है। यह बहुत सभव है, कि समयके बीतनेके साथ मनुष्यों और मानव-समाजके स्वभावमें परिवर्तन नही हुआ है, या बहुत ज्यादा नही हुआ है; ऐसा होनेपर वर्तमानका एक सजीव ज्ञान हमे अतीत सबधी गवेषणाके लिए जबर्दस्त साधन हो सकता है। जिसे हम पूरी तौरसे जानते है तथा जो अब भी हमारे आँखोंके सामने है, उसकी सहायतासे हम एक गुजरे जमानेकी अल्पज्ञात घटनाके बारेमे एक निष्कर्षपर पहुँच सकते है। हर एक परम्पराको लेते वक्त उसे वर्तमानकी कसौटीपर कसना चाहिए, और यदि वह ऐसी बात बतलाये जो कि वर्त्तमानमे असंभव है, तो उसकी सत्यतापर सदेह होना चाहिए। वर्तमान और अतीत दो बूँदोकी भाँति एक दूसरे जैसे है। किन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह नियम सामान्य तौरसे ही ठीक है, विस्तारमे जानेपर उसमे कई दिक्कतें है, और वहाँ इसके ठीक होनेके लिए घटनाओकी आवश्यकता होगी।

सामाजिक जीवन—या समाजकी सामूहिक, भौतिक और बौद्धिक सस्कृति—खल्दूनके मतसे इतिहासका प्रतिपाद्य विषय है। इतिहासको दिखलाना है, कि कैसे मनुष्य श्रम करता, तथा अपने लिए आहार प्राप्त करता है? क्यों वह एक दूसरेपर निर्भर रहते तथा एक अकेले नेताके अधीन हो एक बड़े समुदायका अग बनना चाहते है? कैसे एक स्थायी जीवनमे उन्हे उच्चतर कला और साइसके विकासके लिए अवकाश और अनुकूलता प्राप्त होती है? कैसे एक मोटे-मोटे तथा छोटे आरभसे सुन्दर सस्कृति फूट निकलती, और फिर काल-कवलित हो जाती है? जातियाँ अपने इस उत्थान और पतनमें समाजके निम्न स्वरूपोसे गुजरती है—(१) खानाबदोशी समाज; (२) सैनिक राजवंशके अधीनस्थ समाज; (३) नागरिक ढंगका समाज।

सबसे पहिला प्रश्न आदमीके लिए आहारका है। अपने आर्थिक स्वरूपोंके कारण मनुष्य और जातियाँ तीन अवस्थाओं में बँटी है—खानाबदोश

(अ-स्थायी-वास, घुमन्तू), स्थायी-वास पशुपालक, और कृषिजीवी। आहारकी माँग, युद्ध, लूट और संघर्ष पैदा करती है, और मनुष्य ऐसे एक राजाकी अधीनताको स्वीकार करते हैं, जो कि वहाँ उनका नेतृत्व करे। वह सैनिक नेता अपना राजवंश स्थापित करता है, जिसके लिए नगर—राजधानी—की जरूरत पड़ती है। नगरमें श्रम-विभाग और पारस्परिक सहयोग स्थापित होता है, जिससे वह अधिक सम्पत्तिमान् तथा समृद्ध होता है। किन्तु यही समृद्धि नागरिकोंको विलासिता और निठल्लेपनमें गिराती है। श्रमने सभ्यताकी प्रथमावस्थामें सम्पत्ति और समृद्धि पैदा की; किन्तु सभ्यताकी उन्नतम अवस्थामें मनुष्य दूसरे आदमियोंसे अपने लिए श्रम करवा सकता है, और अक्सर बदलेमें बिना कुछ दिये। आगे समाज और खासकर समृद्धि-शाली वर्गकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, जिसके कारण करका बोझ और बढ़ता तथा असह्य होता जाता है। समृद्धिशाली धनी वर्गका एक ओर विला-सिताके कारण फ़ज़ूलखर्च होता है, और दूसरी ओर उसपर करका बोझ बढ़ता है; इस प्रकार वह अधिक और अधिक दरिद्र होता जाता है; साथ ही अस्वाभाविक जीवन बितानेके कारण उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गिरता जाता है। खल्दून स्वयं सेविली-निर्वासित इसी गिरे हुए वर्गमें पैदा हुआ था, इसलिए वह सिर्फ इसी संस्कृत प्रभुवर्गकी दुरवस्थापर आँसू बहाता है, उसे अपने आसपासके दासों और कमियोंके पशुसे बदतर जीवनके ऊपर नजर डालनेकी फुरसत न थी। नागरिक जीवन उसके पुराने नैतिक रीति-रवाज अधिक सम्भ्रान्त रूप धारण कर अपनी उपयोगिता खो बैठते हैं, और लोग शत्रुके आक्रमणसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। एक समाज या एक वर्गसे संबद्ध होनेके कारण जो सामूहिक शक्ति और इरादा पहिले मौजूद था, वह जाता रहता है. और लोग ज्यादा स्वार्थी तथा अधार्मिक हो जाते हैं। भीतर ही भीतर सारा समाज खोखला बन जाता है, उसी वक्त रेगिस्तानसे कोई प्रबल खानाबदोश, या सभ्यतामें अधिक प्रगति न रखनेवाली किन्तु सामूहिक जीवनमें दृढ़ जंगली-प्राय जाति उठकर स्त्रैण नागरिकोंपर टूट पड़ती है। एक नया शासन कायम होता है और

शनै. शनै विजयी जाति पुरानी सभ्यताकी भौतिक तथा बौद्धिक सम्पत्ति-को अपनाती है, और फिर वही इतिहास दुहराया जाता है। यह उतार-चढ़ाव जैसे परिवारमे देखा जाता है, वैसे ही राजवश या बडे समाजमे भी पाया जाता है, और तीनसे छै पीढीमे उनका इतिहास समाप्त हो जाता है—पहिली पीढी अधिकार स्थापित करती है, दूसरी पीढी उसे कायम रखती है, और शायद तीसरी या कुछ और पीढियाँ भी उसे सँभाले रहती है; और फिर अन्त आ पहुँचता है। यही सभी सभ्यताओका जीवन-चक्र है।

जर्मन-विद्वान् अगस्ट मूलरका कहना है, खल्दूनका यह नियम ग्यार-हवीसे पन्द्रहवी सदी तकके स्पेन, मराको, दक्षिणी अफ्रीका और सिसलीके इतिहासोंपर लागू होता है, और उन्हीके अध्ययनसे खल्दून इस निष्कर्षपर पहुँचा मालूम होता है।

खल्दून पहिला ऐतिहासिक है, जिसने इतिहासकी व्याख्या ईश्वर या प्राकृतिक उपद्रवोके आधारपर न करके उसकी आन्तरिक भौतिक सामग्रीसे करनेका प्रयत्न किया, और उनके भीतर पाये जानेवाले नियमो—इतिहास-दर्शन—तक पहुँचनेकी कोशिश की। खल्दून अपने ऐतिहासिक लेखोमे इति-हासकी कारण-शृखला तक पहुँचनेके लिए जाति, जलवायु, आहार-उत्पादन आदि सभीकी स्थितिपर बारीकीसे विचार करता है; और फिर सभ्यताके जीवन-प्रवाहमे वह अपने सिद्धान्तकी पुष्टि होते देखता है। हर जगह अ-प्राकृ-तिक नही प्राकृतिक, दैवी—लोकोत्तर—नही, लौकिक कारणोको ढूँढनेमे वह चरम सीमा तक जाता है। कारण-शृखलाका जहाँसे आगे पता नही लगता, वहाँ हमे चरम कारण या ईश्वरको स्वीकार करना पडता है। गोया खल्दून इस तरह इतिहासकी कारण शृंखलामे ईश्वरके लानेका मतलब अज्ञता स्वीकार करना समझता है। अपने अज्ञानसे आगाह होना भी एक प्रकारका ज्ञान है, किन्तु जहाँ तक हो सकता है, हमे ज्ञानके पानेकी कोशिश करनी चाहिए। खल्दून अपने कामके बारेमे समझता है कि उसने सिर्फ मुख्य-मुख्य समस्याओंका सकेत किया है, और इतिहास-साइसकी

प्रक्रिया तथा विषयके बारेमे सुझाव भर पेश किये है। लेकिन वह आशा करता है कि उसके बाद आनेवाले लोग इसे और आगे बढायेगे।

इब्न-खल्दूनकी आशा पूर्ण हुई, किन्तु इस्लामके भीतर नही : वहाँ जैसे उसका (अपने विचारोंका) कोई पूर्वगामी नही था, वैसे ही उसका कोई उत्तराधिकारी भी नही मिला।[1]

---

[1] The Philosophy in Islam (by G.T.J. De Boer), pp. 200-208.

अष्टम अध्याय

युरोपपर इस्लामी दार्शनिकोंका ऋण

रोश्दके बाद कैसे उसके दर्शनका मैमूनियोंने अध्ययनाध्यापन जारी रखा, इसका जिक्र पहिले हो चुका है, और हम यह भी बतला चुके है, कि स्पेनकी इस्लामिक सल्तनत तथा स्वयं इस्लाम भी वहाँसे ईसाई जहादोमे खतम हो गया। इस्लामकी प्रभुता जब स्पेनमे स्थापित थी और कार्दोवा दस लाखका एक बडा शहर ही नही बल्कि विद्याका महान् केन्द्र था, उस वक्त भी पास-पड़ोसके देशोंके ईसाई-विद्यार्थी वहाँ विद्या पढने आते थे (अध्ययनका माध्यम अरबी थी), और रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोके विचारोको अपने साथ ले जाते थे। लेकिन जब मोहिदीन शासको और स्पेनिश ईसाइयोंकी अन्तिम जहादी लडाइयाँ होने लगी, तो देशके हर भाग और श्रेणीके लोगो मे खून-खराबी मच गई, दोनों पक्षोमेंसे किसी भी ओर रहनेवाले यहूदी स्पेन छोड़कर भागने लगे। यह भागे हुए यहूदी या तो उत्तरी (ईसाई) स्पेनके शहरो—प्राविस, बारसलोना, सारागोसा आदिमे बस गए, या दक्षिणी फ्रासके मार्सेई आदि शहरोमे चले गए। ये प्रवासी यहूदी अपने साथ अपनी विद्या और विद्याप्रेमको भी लेते गये, और कुछ ही समय बाद उनके नये निवास-स्थान भी विद्या-केन्द्र बनने लगे।

§ १. अनुवादक और लेखक

१—यहूदी (इब्रानी)

यूनानी पुस्तकोंके सुरियानी, इब्रानी फार्सी और अरबी भाषाओमे अनुवाद होनेकी बात कही जा चुकी है। अब सात सदियो बाद फिर नये

अनुवादोका दौर शुरू होता है। यूनानी दर्शनके आधारपर अरबोने जो दर्शन-प्रासाद खडा किया था, अब उसको युरोपके दर्शन अनुरागियोंके सामने रखना था, और इसमे भाग लेनेवाले थे यही प्रवासी यहूदी। यहूदी जबतक इस्लामिक स्पेनमे रहे तबतक अरबी उनकी मातृभाषा बनी हुई थी, इसलिए अनुवादकी जरूरत न थी, किन्तु जब वह दूसरे देशोमें बस गए और वहाँ अरबीकी जगह दूसरी भाषाको उन्हे द्वितीय भाषाके तौर-पर अपनाना पडा, तो अरबी भाषा (अरबी भाषा क्या अरबी लिपि) को भी द्वितीय भाषाके तौरपर जारी रखना उनके लिए मुश्किल था। स्थानीय भाषाए उतनी उन्नत न थी, इसलिए उन्होने जहाँ अरबीकी पुस्तको-को इब्रानी लिपिमे उतार डाला, वहाँ उन्हे इब्रानीमे अनुवादित करना भी शुरू किया। इन अनुवादित ग्रथोमे रोश्दकी कृतियाँ बहुत ज्यादा थी।

(१) प्रथम इब्रानी अनुवाद-युग—इब्रानी-अनुवादके कामको शुरू करनेवालोमे इब्न-तैबूनके खान्दानका खास हाथ है। ये लोग इस्लामिक स्पेनसे आकर ल्योनल (उत्तरी स्पेन)मे बस गये थे। इस खान्दानका पूर्व-पुरुष इब्न-तैबून दर्शन, प्राणिशास्त्र और कीमियाका एक बडा पडित था। इस खान्दानका सबसे पहिला अनुवादक समुयेल इब्न-तैबून था, जिसने "दार्शनिकोंके सिद्धान्त"[1] के नामसे एक पुस्तक लिखी जो कि इब्न-रोश्दके ग्रथोसे शब्दश ली गई थी। इसी समय तलीतला[2] (स्पेन)के एक यहूदी धर्माचार्य यह्या बिन्-सलामाने "तिब्बुल्-हिकमत्" (१२७४ ई०) लिखी, यह्या जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०) के दरबारमे अरबी ग्रथोंके अनुवादका काम करता था।

समुयेलके बाद मूसा-बिन्-तैबूनने "भौतिक-शास्त्र"[3] की अधिकतर पुस्तकोका इब्रानीमे अनुवाद किया। समुयेलके समकालीन इब्न-यूसुफ बिन्-फाखोरा (जन्म १२२६ ई०) तथा जर्सन बिन्-सुलेमानने भी अनुवाद किये। जर्सन समुयेलका सबंधी भी था, इसने इब्रानीमें बहुत ज्यादा अनुवाद किये।

---

[1] "आराउ'ल्-हुकमा"। [2] तूलो ? [3] "तब्-इयात्"।

फ्रेडरिकके दरबारमे एक मशहूर यहूदी अनुवादक याकूब बिन्-मरियम् अंबी-शम्शून था, इसने फ्रेडरिककी आज्ञा (१२३२ ई०)से रोश्दकी बहुतसी पुस्तकोका अनुवाद किया, जिनमे निम्न मुख्य है—

तर्कशास्त्र (मन्तकियात)-व्याख्या (१२३२ ई० नेपल्समे)
तर्क-सक्षेप (तल्खीस-मन्तिक)
तल्खीस-मुहस्सती (१२३१ नेपल्समे)

इनके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोके कुछ अनुवाद इस प्रकार है—

सुलेमान बिन्-यूसुफ	मुक़ाला फि'स्-समाअ्-व-आलम्[1]	(१२५९ ई०)
जकरिया बिन्-इस्हाक	भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	अति भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	देवात्मा-जगत्-टीका	(१२८४ ई०)
याकूब बिन्-मशीर	तर्क-सक्षेप	(१२९८ ई०)
	प्राणिशास्त्र[2]	(१३०० ई०)

(२) **द्वितीय इब्रानी अनुवाद-युग**—चौदहवी सदीसे इब्रानी अनुवादोका दूसरा युग आरम्भ होता है। पहिले अनुवादकी भाषा उतनी मँजी हुई नही थी, और न उसमे ग्रथकारके भावोका उतना ख्याल रखा गया था। ये अनुवाद गोया फाराबीसे पहिलेके अरबी अनुवादो जैसे थे, लेकिन नये अनुवाद भाषा-भाव दोनोकी दृष्टिसे बेहतर थे। इन अनुवादकोमे सबसे पहिला है कालोनीम् बिन्-कालोनीम् बिन्-मीर[3] (जन्म १२८७ ई०) है। उसने निम्न पुस्तकों[4]के अनुवाद किये —

---

[1] समाअ-व-आलम्।　　[2] हैवानात्।

[3] यह लातीनी भी जानता था, इसने रोश्दके "खंडन-खंडन"का लातीनी भाषामें अनुवाद (१३२८ ई०) किया था।

[4] Topics, Sophistics, the Second Analytics, Physics, Mytaphysics, De Coelo et Mundo, De Generatione et Corruptione, Meteorology.

टॉपिक् (तर्क)	अरस्तू	१३१४ ई०
सोफिस्ता (तर्क)	,,	,,
अनालोतिक द्वितीय (तर्क)	,,	,,
भौतिक शास्त्र	,,	१३१७
अतिभौतिक शास्त्र	,,	,,
देवात्मा और जगत् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
कोन-व-फसाद (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
मुकाला फिल्-माहयात् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,

इसके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोने भी इस युगमे इब्रानी अनुवाद[1] किये—

अनुवादक	ग्रंथ	ग्रंथकर्त्ता	अनुवाद-काल
कालोनीम् बिन्-दाऊद	खंडन-खंडन[2]	रोश्द	
अबी समुयेल बिन्-यह्या	आचार-शास्त्र	अरस्तू	१३२१
	"प्रजातंत्र"-व्याख्या	रोश्द	,,
थ्योदोर	टॉपिक	अरस्तू	१३३७
	खिताबत्[3]	अरस्तू	,,
	आचार-शास्त्र	अरस्तू	,,

इसी सदीमे निम्न अनुवादक और हुए जिन्होने करीब सारे ही रोश्द-दर्शनको इब्रानीमे कर डाला—

इब्न-इस्हाक, यह्या बिन्-याकूब,
यह्य बिन्-मैमून, सुलेमान बिन्-मूसा अल्-गोरी,
मूसा बिन्-ताबूरा,
मूसा बिन्-सुलेमान

---

[1] पुस्तक-नामोंके लिए देखो पृष्ठ ११५, २२१-२३ भी।
[2] "तोहाफतु-त्तोहाफत्"। [3] Rhetoric (=भाषण-शास्त्र)

(क) ल्योन् अफ़्रीकी—इसी चौदहवी सदी हीमे लावी बिन्-जर्सन—जिसे ल्योन् अफ़्रीकी भी कहते है—ने रोश्दके दर्शनके अध्ययनाध्यापनके सुभीतेके लिए वही काम किया है, जो कि रोश्दने अरस्तूके लिए किया था। ल्योन्ने रोश्दके ग्रंथोकी व्याख्याए और सक्षेप लिखे। उनका एक समय इतना प्रचार हुआ था, कि लोग रोश्दके ग्रथोको भी भूल गए। ल्योन् भूत (=प्रकृति)को अनुत्पन्न नित्य पदार्थ मानता था। वह पैगम्बरीको मानवी शक्तियोका ही एक भेद समझता था।

ल्योन् अफ्रीकीके ग्रथोंने यहूदी विद्वानोमे रोश्दका इतना प्रचार बढाया कि अरस्तूकी पुस्तकोको कोई पढना न चाहता था। इसी कालमे मूसा नारबोनीने भी रोश्दकी बहुतसी व्याख्याएं और संक्षेप लिखी।

(ख) अहरन् बिन्-इलियास्—अब तक यहूदियोमे मज़हबी लोग दर्शनसे दूर-दूर रहा करते थे, और वह सिर्फ स्वतत्र विचार रखनेवाले धर्मोपेक्षकोंकी चीज समझा जाता था; किंतु चौदहवी सदीके अतमें एक प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक अहरन्-बिन्-इलियास् पैदा हुआ। इसने "जीवन-वृक्ष"[1] के नामसे एक पुस्तक लिखी, जिसमे रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त समर्थन किया, जिससे उसका प्रचार बहुत ज्यादा बढा।

यहूदी विद्वान् इलियास् मदीजू पेडुआ (इताली) विश्वविद्यालयमे अन्तिम प्रोफेसर था। इसने भी रोश्दपर कई पुस्तके लिखी।

सोलहवी सदी पहुँचते-पहुँचते रोश्दके दर्शनके प्रभावसे विचार-स्वातंत्र्यका इतना प्रचार हो गया, कि यहूदी धर्माचार्योंको धर्मके खतम होनेका डर होने लगा। उन्होंने दर्शनका जबर्दस्त विरोध शुरू किया, और दर्शनके खिलाफ मुसलमान धर्माचार्योंके इस्तेमाल किये हुए हथियारोको इस्तेमाल करना चाहा। इसी अभिप्रायसे अबी-मूसा अल्-मशीनोने १५३८ ई० में गज़ालीकी पुस्तक "तोहाफतुल्-फिलासफा" (=दर्शन-खंडन) का इब्रानी अनुवाद प्रकाशित किया। अफलातूनके दर्शनको धर्मके ज्यादा

---

[1] "शज्रुल्-हयात्"।

अनुकूल देखकर उन्होने अरस्तूकी जगह उसका प्रचार शुरू किया। अब हम बेकन् (१५६१-१६२६), हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०) और द-कार्त (१५९६-१६५० ई०) के जमानेके साथ दर्शनके आधुनिक युगमे पहुँच जाते है, जिसमे अन्तिम यहूदी दार्शनिक स्पिनोजा (१६३२-७७ ई०) हुआ जिसने यहूदियोके पुराने दर्शन और द-कार्तके सिद्धान्तोको मिलाकर आधुनिक युरोपके दर्शनकी बुनियाद रखी, और तबसे दर्शन धर्मसे स्वतत्र हो गया।

स्पिनोजापर इस्राईली (८५०-९५० ई० के बीच), सादिया (८९२-९४२ ई०), वाकिया (१०००-१०५० ई०), इब्न-जब्रोल (१०२०-७० ई०), मैमून (११३५-१२०४ ई०), गेरसूनी (१२८८-१३४४ ई०) और क्रस्का (१३४०-१४१० ई०) के ग्रथोका बहुत असर पडा था।

२—ईसाई (लातीनी)

ईसाई जहादो (—सलीबी युद्धो) का जिक्र पहिले हो चुका है। तेरहवी सदीमे ये युद्ध स्पेन हीमे नही हो रहे थे, बल्कि उस वक्त सारे यूरोपके ईसाई सामन्त मिलकर यरोशिलम और दूसरे फिलस्तीनी ईसाई तीर्थ-स्थानोके लौटानेके बहानेसे लडाइयॉ लड रहे थे। इन लड़ाइयोमे भाग लेनेके लिए साधारण लोगोसे ज्यादा उत्साह यूरोपीय सामन्त दिखाते थे। कितनी ही बार तो एक सामन्त दूसरे सामन्त या राजासे अपने प्रभाव और प्रभुत्वको बढानेके लिए युद्धमे सबसे आगे रहना चाहता था।

(१) **फ्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०)**—जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय सलीबी युद्धोके बडे बहादुरोमेसे था। जब युरोपीय ईसाइयोने यरोशिलमपर छठा हमला किया, तो फ्रेडरिक उसमे शामिल था। धर्मके बारेमे उसकी सम्मति बहुत अच्छी न थी, तो भी अपने ही कथनानुसार, वह उसमे इसलिए शामिल हुआ कि अपने मूर्ख सिपाहियो और जनतापर प्रभुत्व बढाये। —इस बातमे वह हिटलरका मार्ग-दर्शक था। फ़्रेडरिककी प्रारम्भिक ज़िन्दगीका काफी भाग सिसलीमे बीता था। सिसली द्वीप सदियोतक अरबोके हाथमे रहनेसे अरबी सस्कृतिका केन्द्र बन गया था। फ्रेडरिकका

अरब विद्वानोसे बहुत मेल-जोल था और वह अरबी भाषाको बहुत अच्छी तरहसे बोल सकता था। अरबी सभ्यताका वह इतना प्रेमी हो गया था कि उसने भी हरम (=रनिवास) और ख्वाजा-सरा (=हिजडे दरोगा) कायम किये थे। ईसाइयतके बारेमे उसकी राय थी—"चर्चकी नींव दरिद्रावस्थामे रखी गई थी, इसीलिए आरम्भिक युगमे सन्तोसे ईसाई दुनिया खाली न रहती थी, लेकिन अब धन जमा करनेकी इच्छाने चर्च और धर्माचार्योंके दिलको गदगीसे भर दिया है।" वह खुल्लमखुल्ला ईसाई-धर्मका उपहास करता था, जिससे नाराज होकर पादरियोने उसे शैतानका नाम दे रखा था। पोप इन्नोसेत चतुर्थकी प्रेरणासे ल्योन्समे एक धर्म-परिषद् (कौंसिल) बैठी, जिसने फ्रेडरिकको ईसाई बिरादरीसे छाँट दिया।

जिस वक्त सलीबी युद्ध चल रहा था, उस वक्त भी फ्रेडरिकका दार्शनिक कथा-सवाद जारी रहता था। मुसलमान विद्वान् बराबर उसके दरबारमे रहते थे। मिश्रके सुल्तान सलाह्-उद्दीनसे उसकी वैयक्तिक मित्रता थी, जो उन युद्धके दिनोमे भी वैसी ही बनी हुई थी, और दोनो ओरसे भेंट-उपायन आते-जाते रहते थे।

युद्धसे लौटनेके बाद उसने खुल्लमखुल्ला, दर्शन तथा दूसरी विद्याओका प्रचार शुरू किया, सिसलीमे पुस्तकालय स्थापित किये; अरस्तू, तालमी, और रोश्दके ग्रथोको अनुवाद करनेके लिए यहूदी विद्वानोको नियुक्त किया। पिपल्समे एक युनिवर्सिटीकी नीव रखी और सलर्नोके विद्यापीठका सरक्षक बना। उसने विद्या-प्रचारके लिए दूर-दूरसे अरबीदाँ विद्वानोको एकत्रित किया। तैबून खान्दानवाले अनुवादक इसीके दरबारसे सबध रखते थे। फ्रेडरिक स्वय विद्वान् था और विद्या तथा सस्कृतिमे सिरमौर उस समयकी अरबी दुनियाको उसने नजदीकसे देखा था, इसलिए वह चाहता था कि अपने लोगोको भी वैसा ही बनाये। आक्सफोर्डके एक पुस्तकालयमे 'मसायल्-सक्लिया' नामक एक अरबी हस्तलिखित पुस्तक है जिसके बारेमे कहा जाता है कि फ्रेडरिकने स्वय उसे लिखा था, लेकिन वस्तुत वह पुस्तक दक्षिणी स्पेनके एक सूफी दार्शनिक इब्न-सबईनकी कृति है, जिसे उसने १२४० ई०

मे फ्रेडरिकके चद दार्शनिक प्रश्नो—जिन्हे कि उसने इस्लामिक दुनियाके दूसरे प्रसिद्ध विद्वानोके पास भी भेजे थे—के उत्तरमे लिखा था। इस वक्त दक्षिणी स्पेनपर सुल्तान रशीदकी हुकूमत थी। इस हुकूमतमे उस वक्त विचार-स्वातन्त्र्यकी क्या हालत थी यह सबईनके इस वाक्यसे पता लगता है—"हमारे देशमे इन विषयोपर कलम उठाना बहुत खतरेका काम है। यदि मुल्लोको खबर हो जाये कि मैने इस विषयपर कलम उठाई है, तो वह मेरे दुश्मन बन जायेगे और उस वक्त मै दुश्मनीके हमलोसे बच न सकूँगा।"[1]

चालीस साल तक फ्रेडरिकने चर्चके विरोधके होते हुए भी युरोपको विद्याके प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी कोशिश जारी रखी। जब वह मरा तो पोप इन्नोसेतने सिसलीके पादरियोके सामने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा —"आसमान और जमीनके लिए यह खुशीकी घडी है, क्योकि जिस तूफानमे मानव जगत् फँस गया था उससे ईसाई जगत्को अन्तिम बार मुक्ति मिली।" लेकिन फ्रेडरिकके बाद जो परिवर्तन यूरोपमे दिखाई पडा, उसने पोपकी रायको गलत साबित किया।

(२) **अनुवादक**—बिन्-मीरके "खडन-खडन"के लातीनी अनुवाद (१३२८ ई०) के बारेमे हम कह चुके है; किन्तु इसके पहिले हीसे अरबी ग्रथोके लातीनी अनुवाद शुरू हो गए थे। फ्रेडरिकका दरबारी मी काल स्कात तलेतला (स्पेन) का निवासी था, इसने अपने शहरके एक यहूदी विद्वान्की मददसे कई पुस्तकोका लातीनी भाषामे अनुवाद किया, जिनमे कुछ है—

समाअ्-व-आलम्-शरह (टीका)	रोश्द	१२३० ई०
मुकाला फिल्-रूह (टीका)	रोश्द	"
मुकाला कौन-व-फसाद	रोश्द	
जौहरुल्-कौन		

[1] "आसारुल्-अद्हार", पृष्ठ २४१

राजर बैकन (१२१४-९२ ई०) के अनुसार स्काट अरबी भाषा बहुत कम जानता था और उसने दूसरोकी सहायतासे ही अनुवाद किये थे। कुछ भी हो, स्काट पहिला आदमी है जिसने ईसाई दुनियाके सामने पहिले-पहिल रोश्दके दर्शनको, उस वक्तकी चर्चकी भाषा लातीनीमे पेश किया। राजर बैकन खुद अरबी जानता था, उसने रोश्दके दर्शनको अपने देश इगलैण्ड-में फैलानेके लिए क्या किया, यह हम आगे कहेंगे।

फ्रेडरिकके दर्बारके दूसरे विद्वान् हरमनने निम्न दर्शन ग्रथोका लातीनी-में अनुवाद किया—

भाषण[1]-टीका	फाराबी	१२५६ (तलेतला[2])
अलंकार[3]-संक्षेप	रोश्द	१२५६ (तलेतला)
आचार[4]-संक्षेप	रोश्द	१२४० ई० (तलेतला)

तेरहवी सदीके अन्त होते-होते तक रोश्दके सभी दार्शनिक ग्रंथोंका लातीनी भाषामें अनुवाद हो गया था।

---

[1] Rhetoric. [2] Toledo. [3] Rhetoric. [4] Ethics.

नवम अध्याय

यूरोपमें दर्शन-संघर्ष

सत अगस्तिन् (३५३-४३० ई०) के दर्शन प्रेमके बारेमे हम पहिले कह चुके है; किंतु अगस्तिन्का प्रेम अगस्तिन् तक ही रह गया। उसके बाद यद्यपि ईसाई-धर्म यूरोपमे बडे जोरसे फैला; किन्तु ईसाई साधु या तो लोगोको अपनी तोतारटनपर विश्वास करते, मठोको दान-पुण्य करनेका उपदेश देते, और छोटे-बडे महन्त बन मौज लूट रहे थे, अथवा कोई-कोई सब छोड एकान्तवासी बन ध्यान-भक्तिमे लगे हुए थे—विद्याका दीपक एक तरहसे बुझ चुका था।

§ १. स्कोलास्तिक

आठवी सदीमे जब शार्लमान (=चार्लस) यूरोपका महान् राजा हुआ तो उसने यह हालत देखी। साथ ही उसने यह खतरा भी देखा कि बाहरसे देख-सुनकर आये लोगोके द्वारा धर्मपर सदेहकी दृष्टि डालनेकी ओर प्रवृत्ति भी चुपके-चुपके बढ रही है। शार्लमानने इसके प्रतीकारके लिए मूर्ख-उजड्ड साधुओसे भरे ईसाई-मठोमे पढे-लिखे साधुओको बैठा बच्चोकी शिक्षाका प्रबंध किया, और नये-नये मठ भी कायम किये। इन पाठशालाओमे सिर्फ धर्म हीकी शिक्षा नही दी जाती थी, बल्कि, ज्यामिति, अकगणित, ज्योतिष, सगीत, साहित्य, व्याकरण, तर्क—इन "सात उदार कलाओ"की भी पढाई होती थी। बढते हुए बुद्धिवादको कुठित कर धर्मका अनुसरण करनेके ही लिए वहाँ तर्ककी पढाई होती थी। शार्लमानका यह प्रयत्न उसी वक्त हो रहा था जब कि भारतके नालदाकी कीर्ति सारी दुनियामे

फैली हुई थी, और उसमे भी शार्लमानकी भॉति ही राजाओ और सामन्तोने दिल खोलकर गॉव और धन दे रहे थे। नालदाके अतिरिक्त और भी विद्यापीठ तथा "गुरुकुल" थे जिनमे विद्या, विशेषकर दर्शनकी चर्चा होती थी। हमारे यहॉ हीकी तरह शार्लमान द्वारा स्थापित विद्यापीठोमें भी ग्रथोंको कठस्थ तथा शास्त्रार्थ करना—विद्याध्ययनका मुख्य अग था। यहाँ यह कहनेकी जरूरत नही कि भारतके इतने बडे शिक्षा-प्रयत्न क्यो निष्फल हुए, और वह क्यो फिर अंधकारकी कालरात्रिमे चला गया—वस्तुत भारतमे उस वक्त भी शिक्षाको सार्वजनिक करनेका प्रयत्न नही हुआ और न बाद ही, विद्या-प्रचार थोडेसे लोगो—शासको और धर्माचार्यो—मे ही सीमित रहा।

शार्लमानके मरनेके बाद यद्यपि उसके स्थापित मठो, विद्यापीठोमे शिथिलता आ गई, तो भी ईसाई यूरोपकी छातीपर—स्पेनमे—इस्लाम काला साँप बनकर लोट रहा था, वह सिर्फ तलवारके बल पर ही अपने प्रभुत्वका विस्तार नही कर रहा था, बल्कि पुराने यूनान और पूरबके पुराने ज्ञान-भडारको अपनी देनके साथ युरोपके ज्ञान-पिपासुओमे वितरित कर रहा था। ऐसी अवस्थामे ईसाई-धर्म अच्छी तरह समझता था कि उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब कि वह भी अपनी मददके लिए विद्याके हथियारको अपनावे।

शार्लमानके इन मठीय विद्यालयोको स्कोल (=स्कूल, पीठ) कहा जाता था, और इनमे धर्म और दर्शन पढानेवाले अध्यापकोको **स्कोलास्तिक आचार्य**[1] कहा जाता था। पीछे धर्मकी रक्षाके समर्थकके तौरपर जिस मिश्रित दर्शन (वाद-शास्त्र)को उन्होने विकसित किया, उसका नाम भी स्कोलास्तिक दर्शन पड गया। इस वाद-दर्शनका विकास ईसाई धर्माचार्यों-के उस प्रयत्नके असफल होनेका पक्का प्रमाण था जो कि बुद्धिवाद और दर्शनकी ओर बढती हुई रुचिको दबानेके लिए वह पशुबलसे गला घोटकर

[1] Doctors Scholastic.

कर रहे थे। इस नये प्रयत्नसे उन्हें इतनी आशातीत सफलता हुई कि जिस समय (बारहवीं सदीके अन्तमे) नालंदा, उडन्तपुरी, विक्रमशिला, जग-त्तला आदिके महान् विद्यापीठ भारतमे आगकी नजर किये जा रहे थे, उसी समय यूरोपमे आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस, सोरबोन्, बोलोना, सलेर्नो आदिमे नये मठीय विश्वविद्यालय क़ायम किये जा रहे थे।

स्कोलास्तिक विद्वानोंमे जान स्काट्स एरिगेना (=१०-७७ ई०), सन्त अन्से(ल्)म् (१०६३-११०९ ई०), रोसेलिन्[1] (१०५१-११२१ ई०) अबेलार्द (१०७९-११४२ ई०) ज्यादा प्रसिद्ध है।

१. जान स्काट्स एरिगेना[2] (८१०-७७ ई०)

एरिगेना इंगलैण्डमे पैदा हुआ था और स्कोलोंके प्रयत्नके पहिले फलोंमे था। उसे अरस्तूका वस्तुवादी दर्शन पसन्द था। उस वक़्त यूनानी दार्शनिकोंके ग्रंथ सिर्फ़ एसियाई भाषाओंमे ही मिलते थे, लेकिन एरिगेना अरबी भाषासे बिलकुल अनभिज्ञ था। संभव है सुरियानी भाषा पढ़ने या सुरियानी ईसाई विद्वानोंकी संगतिका उसे अवसर मिला हो।

एरिगेनाके मुख्य सिद्धान्त थे, अद्वैत विज्ञानवाद और जगत्की अना-दिता। यह दोनों ही सिद्धान्त ईसाई-धर्मके विरुद्ध थे, इसे यहाँ बतला-नेकी आवश्यकता नही। एरिगेना अपनी पुस्तक "जगत्की वास्तविकता"में अपने सिद्धान्तके बारेमे लिखता है—"जगत्के अस्तित्वमें आनेसे पहिले सभी चीजे पूर्ण-विज्ञानके भीतर मौजूद थी, जहाँसे निकल-निकलकर उन्होंने अलग-अलग रूप धारण किये लेकिन जब ये रूप नष्ट हो जायेंगे तो वे फिर उसी पूर्ण विज्ञानमे जाकर मिल जायेंगी, जहाँसे कि वह निकली थी। इसमे संदेह नही यह वसुबंधु (४०० ई०) की "विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि' (त्रिंशतिका) की इस कारिकाका भावार्थ है—

("आलय विज्ञान रूपी समुद्रसे) वीची तरंगकी तरह उन (जगत्की

---

[1] Roscellinus. [2] जान अर्पंचीना।

चीज़ों) की उत्पत्ति कही गई है।"[1]

एरिगेनाका **पूर्ण-विज्ञान** योगाचार (विज्ञानवाद) का **आलय-विज्ञान** है, जिसमे क्षणिकताके अटल नियमके अनुसार नाश-उत्पाद वीची-तरंगकी तरह होता रहता है। एरिगेनासे पहिले यह सिद्धान्त यूरोपकेलिए अज्ञात था। हमने देखा है, पीछे रोश्दने भी इसी विज्ञानवादको अपनी व्याख्याके साथ लिया है। धर्मांधता-युगके दूसरे दार्शनिकोकी भाँति एरिगेना भी धर्म और दर्शनका समन्वय करना चाहता था।

२. अमोरी और दाविद्

एरिगेनाके विचार-बीज पश्चिमी यूरोपके मस्तिष्कमे पड जरूर गये, किन्तु उनका असर जल्दी दिखाई नही दिया। दसवी सदीमें अमोरी और उसका शागिर्द दाविद दे-देनिन्तो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। अमोरीके सिद्धान्त जिब्रोल (१०२१-७० ई०) से मिलते है जो कि अभी तक पैदा न हुआ था। दाविद जगत्की उत्पत्ति मूल हेवला[2] (=प्रकृति)से मानता है। हेवला स्वय शकल-सूरतसे रहित है, यह एरिगेनाके पूर्ण विज्ञानका ही शब्दान्तरसे व्याख्यान है, यद्यपि मूल प्रकृतिके रूपमे वह बाह्यार्थवाद—प्राकृतिक(=वास्तविक) दुनियाके बहुत करीब आ जाता है।

३. रोसेलिन् (१०५१-११२१ ई०)

दाविद और अमोरीके दर्शनने बाह्यार्थवाद (=प्राकृतिक जगत्की वास्तविकता)की ओर कदम बढाया था। स्कोलास्तिक डाक्टर रोसेलिन्ने उसके विरुद्ध **नाम (=अ-रूप) वाद**[3] पर जोर दिया और कहा कि एक प्रकारकी सभी व्यक्तियोंमे जो समानताएं (=सामान्य) पाई जाती है, उनका अस्तित्व उन व्यक्तियोसे बाहर नही है।

---

[1] **"वीची-तरंग-न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता।"—त्रिंशिका (वसुबंधु)**
[2] Hyla. [3] Nominalism.

§ २. इस्लामिक दर्शन और ईसाई चर्च

रोश्दके ग्रंथोका पठन-पाठन तथा पीछे उनके अनुवादोकी प्रगतिके बारेमे हम बतला चुके है। यह हो नही सकता था कि एरिगेना, अमोरी आदिके प्रयत्नके कारण पहिलेहीसे कान खड़े किये ईसाई धर्मके क्षेत्रपर उसका असर न पड़ता।

१. फ्रांसिस्कन संप्रदाय

रोश्दके दर्शनका सबसे ज्यादा प्रभाव ईसाइयोंके फ्रांसिस्कन सम्प्रदायपर पड़ा। इस संप्रदायके संस्थापक—उस वक्त काफिर और पीछे सन्त—फ्रांसिस्ने तेरहवी सदीमे विलासितामे सरतक डूबे पोप और उसके महन्तोंके विरुद्ध बगावतका झंडा खड़ा किया था। फ्रांसिस्का जन्म असिसी (इताली)मे १२१९ ई० में हुआ था। उसने विद्या पढ़नेकेलिए तीव्र प्रतिभा ही नही पाई थी, बल्कि आसपासके दीन-हीनोकी व्यथा समझने लायक हृदय भी पाया था। "सादा आचार और उच्च विचार"—उसका आदर्श था। महन्तोंकी शान-शौकत और दुराचारसे वह समझ रहा था कि ईसाई-धर्म रसातलको जानेवाला है; इसलिए उसने गरीबीकी जिन्दगी बितानेवाले शिक्षित साधुओंका एक गिरोह बनाया जिसे ही पीछे फ्रांसिस्कन संप्रदाय कहा जाने लगा। फ्रांसिस् जैसे विद्वान्को ऐसी गरीबीकी जिन्दगी बिताते देख लोगोका उधर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था—खासकर उस वक्तके विचार-संघर्षके समयमे—और थोड़े ही समयमे फ्रांसिसके साथियोकी संख्या पाँच हजार तक पहुँच गई।

(१) अलेक्जेंडर हेस—अलेक्जेंडर हेस (तेरहवी सदी) फ्रांसिस्कन संप्रदायका साधु था। इसने पेरिसमे शिक्षा पाई थी। हेसने अरस्तूके अति-भौतिक-शास्त्र[1]पर विवरण लिखा था। अपने विवरणमे उसने सीना और

[1] Metaphysics.

गजालीके मतोको बडे सम्मानके साथ उद्धृत किया है, किन्तु उसी सबधके रोश्द-के विचारोके उद्धृत नही करनेसे पता लगता है कि वह उनसे परिचित न था।

(२) राजर बैकन (१२१४-९२ ई०)—(क) जीवनी—आक्स-फोर्ड विश्वविद्यालय फ्रासिस्कन सप्रदायका गढ था, और वहाँ रोश्दके दर्शनका बहुत सम्मान था। राजर बैकन नालदा-विक्रमशिलाके ध्वस (१२०० ई०) के चद ही सालोके बाद इगलैण्डमे पैदा हुआ था। उसने पहिले आक्सफोर्ड मे शिक्षा पाई थी, पीछे पेरिसमे जाकर डाक्टरकी उपाधि प्राप्त की। वह लातीनी तो जानता ही था, साथ ही अरबी और यूनानीसे भी परिचित था। इन भाषाओका जानना—खासकर अरबीका जानना—उस वक्तके विद्या-भ्यासीकेलिए बहुत जरूरी था। पेरिससे लौटनेपर वह साधु (फ्रासिस्कन) बना। यद्यपि उसके विचार मध्यकालीनतासे मुक्त न थे, तो भी उसने वेध, प्रयोग, तथा परीक्षणके तरीकोपर ज्यादा जोर दिया, पुस्तकों तथा शब्दप्रमाणपर निर्भर रहने को ज्ञानकेलिए बाधक बतलाया। वह स्वय यत्र और रसायन शास्त्रकी खोजमे समय लगाता था, जिसके लिए स्वार्थी पादरियोने लोगोमे मशहूर कर दिया कि वह जादूगर है। जादूगरीके अपराधमे उस वक्त यूरोपमे लाखो स्त्री-पुरुष जलाये जाते थे। खैर, राजर उससे तो बच गया, किन्तु उसके स्वतत्र विचारोको देखकर पादरी जल बहुत रहे थे, और जब इसकी खबर रोममे पोपको पहुँची, तो उसने भी इसके बारेमे कुछ करनेकी कोशिश की, किन्तु वह तबतक सफल नही हुआ जबतक कि १२७८ ई० मे फ्रासिस्कन सप्रदायका एक महथ जेरोम डी-एसल् राजरका दुश्मन नही बन गया। राजर बैकन नास्तिकता और जादूगरीके अपराधमे जेलमे डाल दिया गया। उसके दोस्तोंकी कोशिशसे वह जेलसे मुक्त हुआ और १२९२ ई० मे आक्सफोर्डमे मरा। पादरियोने उसकी पुस्तकोको आगमे जला दिया, इसलिए रॉजर बैकनकी कृतियोसे लोगोको ज्यादा फायदा नही हो सका।

(ख) दार्शनिक विचार—सीना और रोश्दके दार्शनिक विचारोसे रॉजर बहुत प्रभावित था। एक जगह वह लिखता है—

"इब्न-सीना पहला आदमी था, जिसने अरस्तूके दर्शनको दुनियामें प्रकाशित किया; लेकिन सबसे बड़ा दार्शनिक इब्न-रोश्द है, जो इब्न-सीनासे अकसर मतभेद प्रकट करता है। इब्न-रोश्दका दर्शन एक समय तक उपेक्षित रहा; किन्तु अब (तेरहवीं सदीमें) दुनियाके करीब-करीब सारे दार्शनिक उसका लोहा मानते हैं। कारण यही है, कि अरस्तूके दर्शनकी उसने ठीक व्याख्या की है। यद्यपि कहीं-कहीं वह उसके विचारोंपर कटाक्ष भी करता है; किन्तु सिद्धान्ततः उसके विचारोंकी सत्यता उसे स्वीकृत है।"

राजर दूसरे फ़्रांसिस्कनोंकी भाँति रोश्दका समर्थक था; और वह कर्त्ता-विज्ञान[1]को जीवसे अलग एक स्वतंत्र सत्ता मानता, तथा उसीका नाम ईश्वर बतलाता था[2]—

"कर्त्ता-विज्ञान एक रूपमें ईश्वर है, और एक रूपमें फरिश्तों (=देवात्माओं) के तौर पर। (दोमिनिकन संप्रदायवाले कहते हैं, कि) कर्त्ता-विज्ञान नातिक-विज्ञान[3] (=जीव) की एक अवस्थाका नाम है; लेकिन यह ख्याल ठीक नहीं जान पड़ता। मनुष्यका नातिक-विज्ञान स्वयं ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है, जबतक कि दैवी साधन उसके सहायक न हों। और वह सहायक किस तरह होते हैं? कर्त्ता-विज्ञानके द्वारा, जो कि मनुष्य तथा ईश्वरके बीच संबंध पैदा करानेवाला, और मनुष्यसे अलग स्वतः सत्तावान् एक अ-भौतिक द्रव्य है।

(३) **दन् स्कातस्**—राजर बेकनके बाद अरबी दर्शनका समर्थक दन् स्कातस् था। पहिले स्कातस् अक्विनाका अनुयायी था, किन्तु पीछे अक्विनाके इस बातसे असहमत हो गया, कि ईश्वरका मनुष्यके कर्मोंपर कोई अधिकार नहीं। अक्विना और स्कातस्के इस विवादकी प्रतिध्वनि सारे

---

[1] **अक़्ल-फ़आल** (Creative Reason)
[2] Ibn Roshd (Renan), pp. 154, 155
[3] Nautic nouse.

स्कोलास्तिक दर्शनमे मिलती है। तामस्के विरुद्ध स्कातस्की यह भी राय थी, कि मूलभूत (=प्रकृति) अनादि है, *आकृति*के उत्पन्न होनेसे प्रकृतिका उत्पन्न होना ज़रूरी नही है, क्योकि प्रकृति आकृतिके बिना भी पाई जाती है। ईश्वरका सृष्टिकरनेका यही मतलब है, कि प्रकृतिको आकृतिकी पोशाक पहना दे। स्कातस् रोश्दके अद्वैत-विज्ञानको माननेसे ही इन्कार नही करता था; बल्कि इस सिद्धान्तके प्रारंभको मनुष्यताकी सीमाके भीतर रखना नही चाहता था। स्कात्सने ही पहिले-पहिल रोश्दको उसके अद्वैतवादके कारण घोर नास्तिक घोषित किया, जिसको लेकर पीछे यूरोपमें रोश्दकी पैगंबरीके अन्दर नास्तिकोंका गिरोह क़ायम हो गया।

२–दोमिनिकन्-सम्प्रदाय

जिस तरह ईसाइयोंका फ़ासिस्कन सम्प्रदाय रोश्द और इस्लामिक दर्शनका जबर्दस्त समर्थक था, उसी तरह दोमिनिकन् सम्प्रदाय उसका ज़बर्दस्त विरोधी था। इस सम्प्रदायका सस्थापक सन्त दोमिनिक ११७० मे पैदा हुआ था, और १२२१ ई० मे मरा—गोया वह भारतके अन्तिम बौद्ध सघराज तथा विक्रंशिलाके प्रधानाचार्य शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) का समकालीन था। फ़ासिस्कन सम्प्रदाय रोश्दके दर्शनका ज़बर्दस्त विरोधी था, यह बतला चुके है।

(१) **अल्बर्तस् मग्नस् (११९३-१२८० ई०)**—अल्बर्तस् मग्नस् उसी समय पैदा हुआ था, जब कि दिल्लीपर अभी हालमें तुर्की झंडा फहराने लगा था। वह उसी साल (१२२१ ई०) दोमिनिकन संप्रदायमें साधु बना, जिस साल कि सन्त दोमिनिक मरा था; और फिर बोलोन् (फ़ास) विश्वविद्यालयमे प्रोफेसर हुआ। अरबी दार्शनिकोके खंडनमें इसने कितनी ही पुस्तकें लिखी थी, तो भी वह इब्न-सीनाका प्रशसक, और रोश्दका दूषक था। रोश्दका विरोधी तथा अरस्तूका जबर्दस्त समर्थक ताम्स अक्विना इसीका शिष्य था। अल्बर्तस्ने स्वयं भी रॉजर बेकन और दन स्कातस्के रोश्द-समर्थक विचारोंका खडन किया, तो भी

वह ज़्यादा एकान्तप्रिय था; और उसके कामको उसके शिष्य अक्विनाने पूरा किया।

(२) तामस् अक्विना (१२२५-७४ ई०) (क) जीवनी—तामस् अक्विना इतलीके एक पुराने सामन्त वंशमें १२२५ ई० में (जिस साल कि नेपाल, तिब्बत, आदिकी खाक छानकर अपनी जन्मभूमि कश्मीरमें शाक्य श्रीभद्रने शरीर छोड़ा) पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा केसिनो और नेपल्स-में हुई, मगर अन्तमें वह अल्वर्तस् मग्नस्की विद्याकी प्रसिद्धि सुन, बोलोञ् विश्वविद्यालयमें अल्वर्तस्के शिष्योंमें सम्मिलित हो गया। विद्या समाप्त करनेके वाद पेरिस विश्वविद्यालयमें धर्म, दर्शन और तर्कशास्त्रका प्रोफेसर नियुक्त हुआ। १२७२ ई० में जब पोप ग्रेगरी दशमने रोमन[1] और यूनानी[2] चर्चमें मेल करानेके लिए एक परिषद् बुलाई थी, तो तामस् अक्विनाने एक पुस्तक लिखकर परिषद्के सामने रखी थी, जिसमें यूनानी चर्चके दोष वतलाये थे। मेल तो नहीं हो सका, किन्तु इस पुस्तकके कारण अक्विनाका नाम वहुत मशहूर होगया। परिषद्के दो वर्ष वाद (१२७४ ई०) अक्विनाका देहान्त हो गया।

(ख) दार्शनिक विचार—अक्विना अपने समयमें रोश्द-विरोधी दोमिनिकन विचारकोंका अगुआ था। धर्ममें वह कितना कट्टर था, यह तो इसीसे मालूम है, कि ग़ज़ालीकी भाँति विशालहृदयता दिखलाते हुए सारे ईसाई सम्प्रदायोंको मिलानेके काममें पोप ग्रेगरीके प्रयत्नके असफल होनेसे जिसे सवसे खुशी हुई, वह अक्विना था। फ़्रांसिस्कन यद्यपि रोश्दके दर्शनके समर्थक थे, किन्तु इसलिए नहीं कि वह प्रगति-शील विचारोंका वाहक है, वल्कि इसलिए कि वह वस्तुवादसे ज्यादा अद्वैत-विज्ञानवाद[3]का समर्थक है। इसके विरुद्ध रोश्दका विरोधी

---

[1] रोमन कैथलिक (रोमवाले उदारवादी)

[2] ग्रीक अर्थोडक्स (यूनानवाले सनातनी), जिसके अनुयायी पूर्वी यूरोपके स्लाव (रूस आदि) देशोंमें ज्यादा रहे हैं। [3] वहदत्-अक़्ल।

अक्विना अपने गुरु अल्वर्तस्की भाँति वस्तुवादका समर्थक था। अक्विनाका गुरु अल्बर्तस् मग्नस् पहिला आदमी था, जिसने अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। मध्यकालकी गाढ निद्रासे यूरोपको जगानेमे चगेजके हमलेने मदद पहुँचाई। चगेजकी तलवारके साथ बारूद, कागज, कुतुबनुमा आदि व्यवहारकी बडी सहायक चीजोने पहुँचकर भी इस प्रत्यक्ष दुनियाका मूल्य बढा दिया था, इस प्रकार अक्विना का इस ओर झुकाव सिर्फ आकस्मिक घटना न थी।

जान लेविस् अक्विनाके वारेमे लिखता है[1]—"उसने बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विचारोको एकत्रित कर एक सम्बद्ध पूर्ण शरीरके रूपमे सगठित किया, और फिरसे आविष्कृत और प्रतिष्ठापित हुए अरस्तूके बौद्धिक दर्शनसे जोड दिया। (इस प्रकार) उसने जो सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक रचना की, वह चार सौ वर्षो तक युरोपीय सभ्यताका आधार रही, और तीन सौ साल तक यूरोपके अधिक भाग तथा लातीनी अमेरिकामे एक जबर्दस्त—यद्यपि पतनोन्मुख—शक्ति बनी रही।

"(अक्विना द्वारा किया गया) ईसाई दर्शनका नया संस्करण अधिक सजीव, अधिक आशावादी, अधिक दुनियावी, अधिक रचनात्मक था। . . . यह अरस्तूका पुनरुज्जीवन था।"

अक्विना और मग्नस्की नई विचारधाराके प्रवाहित करनेमे कम कठिनाई नही हुई। पुराने ढर्रेके ईसाई विद्वान् अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनका इस प्रकार स्वागत धर्मके लिए खतरेकी चीज समझते थे। लेकिन भौतिक परिस्थिति नये विचारोके अनुकूल थी, इसलिए अक्विनाकी जीत हुई। अक्विनाका प्रधान ग्रथ **सुम्मा थेवलोगी**[2] एक विश्वकोष है। अक्विनाका दर्शन अब भी रोमन कैथलिक सम्प्रदायका सर्वमान्य दर्शन है।

(a) **मन**—अक्विना सारे ज्ञानकी बुनियाद तजर्बे (=अनुभव)को

---

[1] Introduction to Philosophy by John Lewis, p.35.

[2] Summa Theologies=**ब्रह्मविद्या-संक्षेप**।

बतलाता था—"सभी चीजें जो बुद्धिमें है, वह (कभी) इन्द्रियोंमें थी।" मन इन्द्रियोंके पाँच रोगनदानोंसे रोगन है। कोई चीज़ स्वयं बुरी नहीं है, बल्कि चीजोंके आधार बुरे होते है। इस प्रकार अश्विना इंद्रियों, शरीरकी वेदनाओं, और साधारण मनुष्यके अनुभवोंको तुच्छ या हेय नही, बल्कि बड़े महत्त्वकी चीज समझता था।

(b) शरीर—मनुष्यको तभी हम जान सकते है जब कि हम सारे मनुष्यत्वको लेकर विचार करें। बिना शरीरके मनुष्य, मनुष्य नही है, उसी तरह जैसे कि मनके बिना वह मनुष्य नहीं। मनुष्य मनुष्य तभी है, जब मन और शरीरका योग हो।

भौतिक तत्त्व अ-मूर्त्त, कच्चे पदार्थ है जिनसे कि सारी चीजें बनी है। वही भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न वास्तविकताओंके रूपमें संगठित किये जा सकते है, जीवन-चिन्तनवाला मानव इन्ही वास्तविकताओंमेंसे एक है। भौतिक तत्वोंकी विशेषता यह है कि वह नये परिवर्तन, नये संगठन, नये गुणोको अस्तित्वमें ला सकते है। अश्विना यहाँ अनजाने मार्क्सीय भौतिकवादकी ओर बहक गया है। यदि गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है, तो भौतिक तत्व चेतनाको भी पैदा कर सकते है।

मनुष्यको अपना या अपनी चेतनाका ज्ञान पीछे होता है। वह क्या है, इसे भी पीछे जानता है। सबसे पहिले मनुष्य (अपनी इन्द्रियोंसे) वस्तुको देखता है, और वह जानता है कि मै "देख रहा हूँ," जिसका अर्थ है कि वह कोई चीज देख रहा है। यहाँ "है" मौजूद है; और मन बाहरी वस्तुके सिर्फ संस्कारको नहीं बल्कि उसकी सत्ताको पूरी तौरपर जानता है। अपने या अपनी चेतनाके बारेमें मनुष्यका ज्ञान इसके बाद और इसके आधार पर होता है, इसलिए बाहरी वस्तुओंसे इन्कार करना ज्ञानके आधारसे इन्कार करना है।

(c) द्वैतवाद—अश्विनाकी दुनिया दो भागोमें विभक्त है—(१) रोज़-बरोज़ हम जिस जगत्‌को इन्द्रियोंसे देख रहे है; (२) और उसके भीतर बसनेवाला मूलरूप (विज्ञान)। शुद्धतम और सर्वश्रेष्ठ विज्ञान ईश्वर

है—यही अरस्तूका दर्शन है। ईश्वरके अतिरिक्त कितने ही विशेष विज्ञान है, जिन्हे जीव कहा जाता है, और जो देव (=फरिश्ते), मानुष, आदिकी आत्माओंके रूपमे छोटे-बडे दर्जोंमे बँटे हैं। इन विज्ञानोमे देवो, मनुष्योके अतिरिक्त वह आत्माये भी शामिल है, जो नक्षत्रोका सचालन करती है।

अक्विनाकी सबसे बडी कोशिश थी, धर्म और दर्शनके समन्वय करनेकी। उसका कहना था, दर्शन और धर्म दोनोके लिए अपना-अपना अलग कार्यक्षेत्र है, उन्हे एक दूसरेके काममे बाधा नही डालनी चाहिए। अगस्तिन् (रोश्द भी) सारे ज्ञानको भगवानके प्रकाशकी देन मानता था, किन्तु अक्विना इन्द्रिय-प्रत्यक्षके महत्त्वको स्वीकार करता था।

अक्विना नवीन अरस्तू-दर्शनके हिमायती दोमिनिकन साधु-सम्प्रदायसे संबध रखता था। फ्रासिस्कन साधु उसका विरोध करते थे। उनके विद्वान् दन स्कातस् (१२६५-१३०८) और ओकम्‌वासी विलियम (मृ० १३४९ ई०) इस बातके विरोधी थे कि धर्म और दर्शनमे समन्वय किया जाये। दर्शन और पदार्थ ज्ञानके लिए एक बात सच्ची हो सकती है, किन्तु वही बात धर्मके अनुसार असत्य हो सकती है। सत्यका साक्षात्कार इन्द्रियों और अनुभवसे नही, बल्कि आत्मासे होता है। शिव (=अच्छा) सत्यसे ऊपर है, और शिव वही है, जिसके लिए भगवान्‌का वैसा आदेश है। मनुष्यका कर्तव्य है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना। बुरे समझे जानेवाले कर्म भी अच्छे हो जाते है, यदि वह भगवान्‌की सेवाके लिए हों। चर्च या धर्म-सम्प्रदायके द्वारा ही हमे भगवान्‌का आदेश मिलता है, इसलिए धर्मके हिमायतियोका कहना था, कि चर्च और उसका अध्यक्ष पोप पृथ्वीपर वही अधिकार रखते है, जो कि भगवान् ईसामसीह विश्वपर।

(३) रेमोंद मार्तिनी—अक्विनाके बाद रेमोद मार्तिनी दोमिनिकनोकी ओरसे विज्ञवाद और रोश्दके विरोधका आरभ हुआ। इसने अपने काममे गजालीकी पुस्तकोसे मदद ली, यद्यपि गजाली स्वयं सूफी अद्वैतवादी था, किन्तु उसके चूँचूँके मुरब्बेमे क्या नही था? मार्तिनी इस अन्दाज़में सचके बहुत करीब था, कि रोश्दने अपने अद्वैत विज्ञान

(वहदत्-अक्ल)-वादको अरस्तूसे नही अफलातूँसे लिया है।

(४) रेमोंद लिली—(१२२४-१३१५ ई०)—इस्लामी जहादोके जवावमें प्रारंभ हुई ईसाई जहादोकी वात हम कह चुके है। वारहवी-तेरहवी सदियोमे जहाँ वाहरी दुनियामे ये जहाद चल रहे थे, वहाँ भीतरी दुनियामे भी विचारात्मक जहाद चल रहे थे, जिसे कि लाखो स्त्री-पुरुषोको नास्तिक और जादूगर होनेके इल्जाममे जलाये जानेके रूपमे देखते है। [हमें इसके लिए युरोपवालोको ताना देनेका हक नही है, क्योकि वाण (६०० ई०) की तीव्र आलोचनासे लेकर वेंटिक (१८३५ ई०)के सती कानून तकमे धर्मके नामपर पागल करके जिन्दा जलाई जानेवाली स्त्रियोकी तादाद गिनी जाये तो वह उससे कई गुना ज्यादा होती है]—कही रॉजर वैकनकी पुस्तकोंके जलाये जानेके रूपमे और कही दोमिनिकन और फ्रासिस्कनके वाद-विवादके रूपमे। रेमोंद लिली ऐसे ही समयमे इतालीके एक समृद्ध परिवारमे पैदा हुआ था। पहिले तो उसका जीवन वहुत विलासितापूर्ण रहा, किन्तु यकायक उसने अपनेको सुधारा, और उसे धुन सवार हो गई, कि इस्लामको दुनियासे नेस्तनावूद करना चाहिए। वह युरोपके सारे ईसाइयोको सलीवी लडाइयोमे शामिल देखना चाहता था। इसके लिए उसने १२८७ ई०मे पोप होनोरियस्के दरवारमें पहुँचकर अपने विचार रखे—इस्लामको खतम करनेके लिए एक भारी सेना तैयार की जाये, इस्लामी देशोमे काम करने लायक विद्वानोको तैयार करनेके लिए विश्वविद्यालय कायम किये जाये, और रोश्दकी पुस्तकोको धर्म-विरोधी घोषित कर दिया जाये। वहाँ सफल न होनेपर उसने फ्रास, इताली, स्विटजर्लैंड आदिमे इसके लिए दौरा किया। १३११ ई०में ईसाइयोकी एक वडी सभा वीना (आस्ट्रिया)में हुई, वहाँ भी वह पहुँचा, किन्तु वहाँ भी असफल रहा। इसी निराशामे वह १३१५ ई०में मर भी गया। रेमोद विद्वान् था, उसने रोश्द और दूसरे दार्शनिकोकी पुस्तकोको पढा था, और कुछ लिखा भी था, इसलिए उसके इस्लाम-विरोधी विचार-वीज धरतीमें पडे हुए समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

§ ३–इस्लामिक दर्शन और विश्वविद्यालय

१. पेरिस और सोरबोन्

फ्रासिस्कन सम्प्रदायका कार्यक्षेत्र अपने गढ आक्सफोर्डसे इंग्लैड भर हीमे सीमित था। पश्चिमी यूरोपमे इस्लामिक दर्शनका प्रचारकेन्द्र पेरिस था। पेरिसमे एक बडा सुभीता यह भी था, कि यहाँ स्पेनसे प्रवासित उन यहूदियोकी एक काफी सख्या रहती थी, जिन्होने रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोके ग्रथोको अरबीसे अनुवाद करनेमे बहुत काम किया था। रोश्द-दर्शनके समर्थको और विरोधियोके यहाँ भी दो गिरोह थे। सोरबोन् विश्वविद्यालय रोश्द-विरोधियोका गढ था, और पास ही पेरिस-विश्वविद्यालय समर्थकोका। पेरिसके कला (आर्ट)-विभागका प्रधानाध्यापक सीजर ब्राबॅत (मृ० १२८४ ई०) रोश्दका जबर्दस्त हामी था। अपने इन विचारोके लिए धर्म-विरोधी होनेके अपराधमे उसे जेल भेज दिया गया, और ओर्बीतो[१]के जेलमे उसकी मृत्यु हुई। अब भी पेरिसमे उसकी दी हुई अरबीकी दार्शनिक पुस्तकोकी काफी सख्या है।

पेरिस विश्वविद्यालयके विरुद्ध सोरबोन् धर्मवादियोका गढ था—और शायद इसीलिए आज भी वह भाग (जो कि अब पेरिस नगरके भीतर आगया है) लातीनी मुहल्ला कहा जाता है। सोरबोन्पर पोपकी विशेष कृपा होनी ही चाहिए, और उसी परिमाणमे पेरिस पर कोप। सोरबोन्-वालोकी कोशिशसे पोपने पेरिस विश्वविद्यालयके नाम १२१७ ई० मे फर्मान निकाला कि ऐसे शास्त्रार्थ न किये जाये, जिनमे फसादका डर हो। वस्तुत यह फर्मान अरबी दर्शन सबधी वाद-विवादको रोकनेका एक बहाना मात्र था। पीछेके पोपोने भी इस तरहके फर्मान जारी करके अरबी दर्शनके अध्ययन-नाध्यापनको ही धर्म-विरुद्ध ठहरा दिया। १२६९ ई० मे सोरबोन्वालोकी

---

[१] Orbieto

कोगिगसे एक धर्म-परिषद् बुलाई गई, जिसने निम्न सिद्धान्तोके मानने-वालोंपर नास्तिकताका फतवा दे दिया—

(१) सभी आदमियोंमें एक ही विज्ञान है;
(२) जगत् अनादि है;
(३) मनुष्यका वंश किसी बाबा आदम तक खतम नहीं हो जाता,
(४) जीव शरीरके साथ नष्ट हो जाता है;
(५) ईश्वर व्यक्तियोंका ज्ञान नही रखता;
(६) बंदो (=आदमियो)के कर्मपर ईश्वरका कोई अधिकार नही;
(७) ईश्वर नश्वर वस्तुको नित्य नही बना सकता।

यह सब कुछ होनेपर भी पेरिस-विश्वविद्यालयमे इस्लामिक दर्शनका अध्ययन बंद नही हुआ।

२. पेदुआ विश्वविद्यालय

यूरोपमें सिसली द्वीप और स्पेन इस्लामिक शासन-केन्द्र थे, इसलिए इनके ही रास्ते इस्लामिक विचारो (दर्शन)का भी यूरोपमें पहुँचना स्वाभाविक था। सिसली द्वीप इतालीके दक्षिणमें है, यहाँसे ही वे विचार इतालीमे पहुँचे, उनके स्पेनसे फ़ांस जानेकी बात हो चुकी है। इतालीमें भी पेदुआके विद्यापीठने इस्लामिक दर्शनके अध्ययन द्वारा अपनी कीर्तिको सारे यूरोपमें फैला दिया।—खासकर रोश्दके दर्शनके अध्ययनकेलिए तो यह विश्व-विद्यालय सदियो तक प्रसिद्ध रहा। यहाँ रोश्दपर कितने ही विवरण और टीकायें लिखी गईं। तेरहवी सदीसे रोश्दके दर्शनके अन्तिम आचार्य दे-क्रिमोनी (मृत्यु १६३१ ई०) तक यहाँ इस्लामिक दर्शन पढाया जाता रहा। यहाँके इस्लामिक दर्शनके प्रोफेसरोमे निम्नका नाम बहुत प्रसिद्ध है—

पीतर-द-बानो
जीन दे-जाँदन
फ़्रा अरबानो

पाल दी-वेनिस्—(मृत्यु १४२६ ई०)
गाइतनो—(मृत्यु १४६५ ई०)
इलियास् मदीजू—(१४७७ ई०)
वेरोना
ज्याबीला—(१५६४-८६ ई०)
पंदेसियो
सीज़र क्रिमोनी—(मृ० १६३१ ई०)

सोलहवी सदीमे इब्न-रोश्दकी पुस्तकोंके नये लातीनी अनुवाद हुए, इस काममें पेदुआका खास हाथ रहा। इन अनुवादकोमे पेदुआका प्रोफेसर वेरोना भी था, जिसने कुछ पुस्तकोका अनुवाद सीधे यूनानीसे किया था। पदेसियोके व्याख्यानोके कितने ही पुराने नोट अब भी पेदुआके पुस्तकालयमे मौजूद है।

[क्रिमोनी]—ज्याबीलाका शागिर्द सीज़र क्रिमोनी इस्लामिक दर्शन-का अन्तिम ही नही, बल्कि वह बहुत योग्य प्रोफेसर भी था। इसके लेक्चरोके भी कितने ही नोट उत्तरी इतालीके अनेक पुस्तकालयोमे मिलते है। ज्याबीलाकी भाँति इसका भी मत था, कि ग्रह नक्षत्रोकी गतिके सिवा ईश्वरके अस्तित्वका कोई सबूत नही। रोश्दकी भाँति यह भी मानता था, कि ईश्वरको सिर्फ अपना ज्ञान है, उसे व्यक्तियोंका ज्ञान नही है। मनुष्यमें सोचनेकी शक्ति कर्त्ता-विज्ञानसे आती है। यह ऐसे विचार थे, जिन्हे ईसाई-धर्म नास्तिकता कहता था। क्रिमोनी उनसे बचनेकी कोशिश कैसे करता था, इसका उदाहरण लीजिए—[1] "इस पुस्तकमे मै यह कहना नही चाहता, कि जीवके बारेमें हमारा क्या विश्वास होना चाहिए। यहाँ मै सिर्फ यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवके बारेमें अरस्तूके क्या विचार थे। यह स्मरण रहे कि दर्शनकी आलोचना मेरा काम नही है, इस कामको सन्त तामस् आदिने अच्छी तरह पूरा किया है।" लेकिन इसपर भी

---

[1] रोश्दके "किताबुन्'नफ्स"की व्याख्याकी भूमिका।

३ जूलाई १६१६ ई० को उसके नाम पेदुआके सरकारी अफसरका हुक्म-नामा आया—"लेतरन कौंसिल सारे प्रोफेसरोको सजग करती है, कि दर्शनके जो सिद्धान्त धर्मके खिलाफ है, (पढ़ाते वक्त) उनका खडन भी वह करते जायें, और जब किसी विषयका उद्धरण देने लगे तो इस बातका ख्याल रखे, कि विद्यार्थियोपर उसका बुरा असर न पडे। चूँकि आप इस आज्ञाका ख्याल नही रखते, इसलिए मेरा फर्ज है, कि मै बार-बार आपका ध्यान इधर आकर्षित कराता रहूँ।" क्रिमोनीने इसके उत्तरमे एक लबा पत्र लिखा—"मुझे विश्वविद्यालयकी ओरसे सिर्फ इसलिए वेतन मिलता है, कि मै अरस्तूके दर्शनकी शिक्षा दूँ। यदि विश्वविद्यालय इस कामकी जगह कोई दूसरा काम लेना चाहता है, तो मै त्यागपत्र देनेके लिए तैयार हूँ, वह स्वतत्र है किसी दूसरेको उस कामपर लगाले। मै तो जबतक प्रोफेसरके पदपर रहूँगा, अपने पद-कर्त्तव्यके विरुद्ध कोई काम नही कर सकता।"

क्रिमोनीकी मृत्यु (१६३१ ई०) के साथ इस्लामिक दर्शनका ही पठन-पाठन खतम नही होता, बल्कि पुरानी दुनिया ही बदल जाती है। क्रिमोनीके बाद लसीतो (मृत्यु १६५६ ई०) प्रोफेसर हुआ, जिसपर नवीन दर्शनका प्रभाव दिखाई देने लगता है। उसके बाद ब्रेगार्द प्राचीन यूनानी दर्शनकी पढाई करता है। १७०० ई० मे फार्देलाके साथ पेदुआमें पुराना सिल-सिला टूट जाता है, और वहाँ प्राचीन दर्शनकी जगह दे-कार्तका दर्शन पाठ्य-पुस्तकोमें दाखिल होता है।

§४. इस्लामिक दर्शनका यूरोपमें अन्त

दन स्कातसूने किस तरह रोश्दकी शिक्षाको मनुष्यतासे गिरी हुई बत-लाया, यह हम कह चुके है। इसकी वजहसे रोश्द जहाँ धार्मिक क्षेत्रमे बद-नाम हुआ, वहाँ हर तरहकी स्वतत्रताके चाहनेवाले लोग—खासकर बुद्धि-स्वातंत्र्यवादी—रोश्दके झडेके नीचे खडे होने लगे, और रोश्दके नामपर जगह-जगह दल बनने लगे। इन्ही दलोमेंसे एक उन लोगोका था,

जिन्होने अपना नाम "स्वतत्रताके पुत्र" रखा था। ये लोग विश्वको ही ईश्वर मानते थे, और विश्वकी चीजोको उसका अश। ईसाई चर्चके न्यायालयोंसे इनको आगमे जलानेकी सजा होती थी और ये लोग खुशी-खुशी आगमे गिरकर जान दे देते थे। "स्वतंत्रताके पुत्रों" मे बहुत सी स्त्रियाँ भी शामिल थी, उन्होने भी अग्निपरीक्षा पास की।

पादरी लोग इस अधार्मिकताके जिम्मेवार फ्रेडरिक और इब्नरोश्दको ठहराते थे। तो भी इस विरोधसे रोश्दके दर्शन—अथवा पुराने दर्शन—का कुछ नही बिगडा।

चौदहवी सदीमे तुर्कोंने बेजन्तीनके ईसाई राज्यपर आक्रमण कर अधिकार जमाना शुरू किया। हर ऐसे युद्ध—राजनीतिक अशाति—मे लोगोका तितर-बितर होना जरूरी है। कुस्तुन्तुनिया (आजका इस्तांबूल) का नाम उस वक्त बेजन्तीन था, और प्राचीन रोमन सल्तनतके उत्तराधिकारी होनेसे उसका जहाँ सम्मान ज्यादा था, वहाँ वह विद्या और सस्कृतिका एक बडा केन्द्र भी था। ईसाई धर्मके दो सम्प्रदायो—उदार (=कैथलिक) और सनातनी (=आर्थोडाक्स)—मे सनातनी चर्चका पेत्रियार्क (=महापितर या धर्मराज) यही रहता था। जिस तरह कैथलिक चर्चकी धर्मभाषा लातीनी थी, उसी तरह पूर्वी सनातनी चर्चकी धर्मभाषा यूनानी थी। तुर्कोंके इस आक्रमणके समय वहाँसे भागनेवालोमे कितने ही यूनानी साहित्यके पडित भी थे। वे बहुमूल्य प्राचीन यूनानी पुस्तकोंके साथ पूर्वसे भागकर इतालीमे आ बसे। इन पुस्तकोंको देखकर वहाँके पडितोंकी आँखे खुल गईं, यदि जैसे मानो तिब्बती चीनी अनुवादों-दर-अनुवादोके सहारे पढते रहनेवाले भारतीय विद्वानोंके हाथमे असगकी "योगचर्या भूमि"[1], वसुबधुकी "वादविधि", दिग्नागका "प्रमाणसमुच्चय", धर्मकीर्तिका "प्रमाणवार्त्तिक"[2] और "प्रमाणविनिश्चय" मूल सस्कृतमे मिल

[1] मूल संस्कृत पुस्तक मुझे तिब्बतमें मिली है।

[2] तिब्बत और नेपालमें मिली, और इसे मैंने सम्पादित भी कर दिया है।

जावें। अब लोगोंको क्या जरूरत थी, कि वे मूल यूनानी पुस्तकको छोड यूनानी न जाननेवाले लेखकोकी टीकाओ और सक्षेपोकी मददसे उन्हें पढ़नेकी कोशिश करे।

पिदारक (१३०४-७४ ई०)—रेमोंद लिली (१२२४-१३१५)ने इस्लामको उखाड फेकनेकी बहुत कोशिश की थी, किन्तु वह उसमे सफल नही हुआ, तो भी उसकी वसीयतके एक हिस्से—यूरोपसे इस्लामिक दर्शनके अध्ययनाध्यापनको खतम करने—की पूर्तिकेलिए तस्केनीमे पिदारकका जन्म हुआ। बापने उसे वकील बनाना चाहा था, किन्तु उसका उसमे दिल नही लगा, और अन्तमे वह पेदुआमे आगया। पिदारक लातीनी और यूनानी भाषाओका पडित था, दर्शन और आचार-शास्त्रपर उसकी पुस्तकें आज भी मौजूद है। "जहादवाद"ने युरोपके दिमागपर कितना ज़हरीला असर किया था, यह पिदारकके इस विचारसे मालूम होगा : अरबोने कला और विद्याकी कोई सेवा न की, उन्होने यूनानी सस्कृति और कलाकी कुछ बातोको कायम जरूर रखा। पिदारक कहता था कि जब यूनानी सस्कृति और विद्याकी मूल वस्तुए हमे प्राप्त हो गई है, तो हमे अरबोकी जूठी पत्तल चाटनेसे क्या मतलब। अरबोसे उसे कितनी चिढ थी, यह उसके एक पत्रसे पता लगेगा, जिसे उसने अपने एक मित्रको लिखा था—"मै तुमसे इस कृपा-की आशा रखता हूँ, कि तुम अरबोको इस तरह भुला दोगे, जैसे ससारमे उनका अस्तित्व कभी था ही नही। मुझे इस जातिकी जातिसे घृणा है। यह भलीभाँति याद रखे, कि यूनानने दार्शनिक, वैद्य, कवि और वक्ता पैदा किये। दुनियाकी वह कौनसी विद्या है, जिसपर यूनानी विद्वानोकी पुस्तकें न मौजूद हो। लेकिन अरबोके पास क्या है ?—सिर्फ दूसरोकी बची-खुँची पूँजी। मै उनके यहाँके वैद्यों, दार्शनिको, कवियोंसे भली प्रकार परिचित हूँ, और यह मेरा विश्वास है, कि अरब कौमसे कभी भलाईकी उम्मीद नही की जा सकती।...... .तुम ही बताओ, यूनानी भाषाके वक्ता देमस्थनीजके बाद सिसरो, यूनानी कवि होमरके बाद वर्जिल, यूनानी ऐतिहासिक हेरोदोतस्के बाद तीतस् लेवीका जन्म दुनियामें कहाँ

हुआ? ....हमारी जातिके काम बाज़ बातोंमें दुनियाकी सभी जातियोंके कारनामोंसे बढ़-चढ़कर हैं। यह क्या बेवकूफी है, कि अपनेको अरबोंसे भी हीन समझते हो। यह क्या पागलपन है, कि अपने कारनामोंको भुलाकर अरबोंकी स्तुति—प्रशंसा—के नशेमे डूब गये हो। इतालीकी बुद्धि और प्रतिभा! क्या तू कभी गाढ निद्रासे नही जागेगी?"

पिदारकके बाद "इतालीकी प्रतिभा" जगी, और यूनानी दर्शनके विद्वानोंने—जो कि पूरबसे भाग-भागकर आये थे—जगह-जगह ऐसे विद्यालय स्थापित किये, जिनमे यूनानी साहित्य और दर्शनकी शिक्षा सीधे यूनानी पुस्तकोंसे दी जाती थी। आरम्भके यूनानी अध्यापकोमें गाज़ा (मृ० १४७८ ई०) जार्ज दे-त्रेपरविंद (मृत्यु १४८४ ई०) जार्ज स्कोलारियस् ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

४ नवम्बर सन् १४९७ ई० की तारीख पेदुआ और इतालीके इतिहासमें अपना "ख़ास" महत्त्व रखती है। इसी दिन प्रोफेसर ल्युनियस्ने पेदुआके विश्वविद्यालय-भवनमे अरस्तूके दर्शनको उस भाषा द्वारा पढ़ाया, जिसमें नौ सौ साल पहिले खुद अरस्तू अथेन्समें पढ़ाया करता था। प्राचीनता-पथियोको गर्व हुआ कि उन्होंने कालकी सुईको पीछे लौटा दिया, किन्तु वह उनके बसकी बात नहीं थी, इसे इतिहासने आगे साबित किया।

४ नवम्बर १४९७ ई०के बाद भी रोश्दका पठन-पाठन पेदुआमे भी जारी रहा यह बतला चुके हैं। सत्रहवी सदीमें जेसुइत-पंथियोने रोश्दपर भी हमला शुरू किया, किन्तु सबसे ज़बर्दस्त हमला जो चुपचाप हो रहा था; वह था साइंसकी ओरसे, गेलेलियोकी दुरबीन, न्यूटनके गुरुत्वाकर्षण और भापके इंजनके रूपमे।

---

३. यूरोपीय दर्शन

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

सत्रहवीं सदीके दार्शनिक

(विचार-स्वातन्त्र्यका प्रवाह)

[ल्योनार्दो दा-विन्ची (१४५१-१५१९)]—नवीन यूरोपके स्वतंत्र-विचारक और कलाकारका एक नमूना था दा-विन्ची; जिसकी कला (चित्र) में ही नही, लेखोमे भी नवयुगकी ध्वनि थी, किन्तु वह अपने ग्रंथोंको उस वक्त प्रकाशित कर पोप और धर्माचार्योंके कोपका भाजन नही बनना चाहता था, इसलिए उसके वैज्ञानिक ग्रन्थ उस वक्त प्रकाशमे नही आये।

१४५५ ई०में छापेका आविष्कार ज्ञानके प्रचारमे बडा सहायक साबित हुआ, निश्चय ही छापेके बिना पुस्तको द्वारा ज्ञानका प्रचार उतनी शीघ्रतासे न होता, जितना कि वह हुआ। पोप-पुरोहित परिश्रमसे देरमे लिखी दो-चार कापियोको जलवा सकते, किन्तु छापेने सैकडो हजारों कापियोको तैयार कर उनके प्रयत्नको बहुत हद तक असफल कर दिया।

पन्द्रहवी-सोलहवी सदियाँ हमारे यहाँ सन्तों और सूफियोको पैदा कर दुनियाकी तुच्छता—अतएव दुनियाकी समस्याओंके भुलाने—का प्रचार कर रही थी, लेकिन इसी समय यूरोपमे बुद्धिको धर्म और रूढियोसे स्वतंत्र करनेका प्रयत्न बहुत जोखिम उठाकर हो रहा था। लारेजो वाला (१४०८-५७ ई०) ने खुलकर शब्दोंके धनी धर्म-रूढिके हिमायती दार्शनिकोंपर प्रहार किया। उसका कहना था, शब्दोके दिमागी तर्कको छोड़ो और सत्यकी खोजकेलिए वस्तुओंके पास जाओ। कोलम्बस (१४४७-१५०६),

वास्को-दा-गामा (१४६९-१५२४) ने अमेरिका और भारतके रास्ते खोले। परासेल्सस् (१४९३-१५४१) और फान् हेल्मोन्ट (१५७७-१६४४) ने पुस्तक पत्रेकी गुलामीको छोड़ प्रकृतिके अध्ययनपर जोर दिया। उस वक्तके विश्वविद्यालय धर्मकी मुट्ठीमे थे, और साइंस-संबंधी गवेषणाकेलिए वहाँ कोई स्थान न था, इसीलिए साइंसकी खोजोंकेलिए स्वतंत्र संस्थाएँ स्थापित करनी पड़ी। लेलेसिओ (१५७७-१६४४) ने ऐसी गवेषणाओंकेलिए नेपल्समे पहिली रसायनशाला खोली। १५४३ में वेसालियस् (१५१५-६४ ई०)ने शरीरशास्त्रपर साइंस सम्मत ढंगसे पहिली पुस्तक लिखी, इसमें उसने कल्पनाकी जगह हर वातको शरीर देखकर लिखनेकी कोशिश की। धर्म बहुत परेशानीमे पडा हुआ था, वह मृत्युके डरसे साइंसकी प्रगतिको रोकना चाहता था। १५३३ ई०मे सर्वेतस् और १६०० ई०में ग्योर्दिनो वूनो आगमे जलाकर साइंसके शहीद बनाये गये। यह वह समय था, जब कि भारतमे अकबर उदारतापूर्वक साइंसवेत्ताओंके खूनके प्यासे इन ईसाई पुरोहितो और दूसरे धर्मियोंके साथ सनानताका वर्ताव करते हुए सबकी धार्मिक शिक्षाओको सुनता तथा एक नये धर्म द्वारा उनके समन्वय करनेके प्रयत्नमे लगा हुआ था। सोलहवी सदीके पोथी-विरोधी प्रयोग-हिमायती विद्वानोमे "मोताब्"[1] (१५६१-१६२६), तायचो वाहे (१५४६-१६०१) के, साशेज[2] (१५६२-१६३२)के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है।

पन्द्रहवी सदीके विचार-स्वातंत्र्य और सोलहवी सदीके भौगोलिक, खगोलिक आविष्कारोंने कूप-मडूकताके दूर करनेमे वहुत मदद की, और इस प्रकार सत्रहवी सदीके युरोपमे कुछ खुली हवा सी आने लगी थी। इस वक्तके दार्शनिकोकी विचारधारा दो प्रकारकी देखी जाती है। (१) कुछका कहना था, कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और तजर्बा (प्रयोग)ही ज्ञानका एक-मात्र आधार है, इन्हे **प्रयोगवादी** कहते है। बैकन, हाव्स, लॉक, वर्कले, ह्यूम, प्रयोगवादी दार्शनिक थे; (२) दूसरे दार्शनिक ज्ञानको इन्द्रिय या

---

[1] Montaigne. [2] Sanchez.

प्रयोग-गम्य नही बुद्धिगम्य मानते थे। इन्हें **बुद्धिवादी** कहा जाता है, द-कार्त, स्पिनोजा, लाइप्निट्ज इस प्रकारके दार्शनिक थे।

§ १–प्रयोगवाद[1]

प्रयोगवाद प्रयोग या तजर्बेको ज्ञानका साधन बतलाता है, किन्तु प्रयोगके जरिये जिस सच्चाईको वह सिद्ध करता है, वह केवल भौतिक तत्त्व, केवल विज्ञानतत्त्व—अर्थात् अद्वैत भी हो सकता है—अथवा भौतिक और विज्ञान दोनो तत्त्वोको माननेवाला द्वैतवाद भी। हॉब्स, टोलैण्ड, अद्वैती-भौतिकवादी थे, स्पिनोज़ा अद्वैती-विज्ञानवादी, और बैकन, द-कार्त, लीप्नित्ज़ द्वैतवादी थे।

१. अद्वैत-भौतिकवाद

(१) हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०)—टामस हॉब्सने अध्ययन आक्सफोर्डमे किया। पेरिसमे उसका परिचय देकार्तसे हुआ। जो देश उद्योग-धंधे और पूँजीवादका बानी बनने जा रहा था, यह जरूरी था, कि उसका नबर स्वतन्त्र-विचारकोमें भी पहिला हो, इसलिए सत्रहवी सदीके आरभमे बैकन (१५६१-१६२६) का विचार-स्वातन्त्र्यका प्रचार और मध्ययुगीनताका विरोध करना, तथा हॉब्स, लॉक जैसे दार्शनिकोका उसे आगे बढाना, कोई आकस्मिक घटना न थी। बैकन दार्शनिक विचारोमे प्रगतिशील था, किन्तु यह ज़रूरी नही है, कि दार्शनिक प्रगतिशीलता राजनीतिमे भी वही स्थान रखे। जब इगलैडमे सामन्तवादके खिलाफ क्रामवेलके नेतृत्वमें जनताने क्रान्तिका झडा उठाया, तो हॉब्स क्रान्ति-विरोधियोके दलमे था। ३० जनवरी १६४९ को शाहजहाँके समकालीन राजा चार्लस्का शिरश्छेदकर जनताने सामन्तवादियोपर विजय पाई। हॉब्स जैसे कितने ही व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नही हुए। नवम्बर १६५१ में हॉब्स फ्रास भाग गया, लेकिन उसे यह समझनेमें देर न लगी, कि

[1] Empiricism

गुजरा ज़माना नही लौट सकता, और उसी साल लौटकर उसने अधिनायक ओलिवर क्रामवेल (१५९९-१६५८) से समझौता कर लिया।

हॉब्स लोकोत्तरवादका विरोधी था। उसके अनुसार दर्शन कारणोंसे कार्य और कार्योंसे कारणके ज्ञानको वतलाता है। हम इन्द्रियोंके साक्षात्कार द्वारा वस्तुका ज्ञान (-सिद्धान्त) प्राप्त कर सकते है; या इस प्रकारके सिद्धान्तसे वस्तुके ज्ञानको भी पा सकते है।

दर्शन गति और क्रियाका विज्ञान है, ये गति-ज्ञान प्राकृतिक पिंडोंके भी हो सकते है, राजनीतिक पिंडोंके भी। मनुष्यका स्वभाव, मानसिक जगत्, राज्य, प्राकृतिक घटनाएं उन्ही गतियोंके परिणाम है।

ज्ञानका उद्गम इन्द्रियोकी वेदना (=प्रत्यक्ष) है, और वेदना मस्तिष्क या किसी इसी तरहके आभ्यान्तरिक तत्त्वमें गतिके सिवा और कुछ नही है। जिसे हम मन कहते है, वह मस्तिष्क या सिरके भीतर मौजूद इसी तरहके किसी प्रकारके भौतिक पदार्थकी गतिमात्र है। विचार या प्रतिविंव, मस्तिष्क और हृदयकी गतियाँ—अर्थात् भौतिक पदार्थोकी गतियाँ—है। भौतिक तत्त्व और गति ये मूलतत्त्व है, वे जगत्की हर एक वस्तु—जड़, चेतन सभी—की व्याख्या करनेके लिए पर्याप्त है।

हॉब्सने ईश्वरके अस्तित्वका साफ तौरसे इन्कार नही किया, उसका कहना था कि मनुष्य "ईश्वरके वारेमे कुछ नही जान सकता।"

अच्छा, वुरा—पाप, पुण्य—हॉब्सके लिए सापेक्ष वातें है, कोई परमार्थत न अच्छा है न परमार्थत. वुरा।

हॉब्स अरस्तूकी भाँति मनुष्यको सामाजिक प्राणी नही, वल्कि "मानव भेड़िया" कहता था। मनुष्य हमेशा धन, मान, प्रभुता, या शक्तिकी प्रतियोगितामे रहता है; उसका झुकाव अधिकके लोभ तथा द्वेष और युद्धकी ओर होता है। जब उसके रास्तेमें दूसरा प्रतियोगी आता है, तो फिर उसे मार डालने, अधीन वना लेने, या भगा देनेकी कोशिश करता है।

(२) **टोलैंड** (१६७०-१७२१ ई०)—हॉब्सकी भाँति उसका देशभाई टोलैंड भी भौतिकवादका हामी, तथा वर्कलेके विज्ञानवादका विरोधी

था। भौतिक तत्त्व गतिशून्य नही वल्कि सक्रिय द्रव्य या शक्ति है। भौतिक तत्त्व शक्ति है, और गति, जीवन, मन, सव इसी शक्तिकी क्रियाए है। चिन्तन उसी तरह मस्तिष्ककी क्रिया है, जिस तरह स्वाद जिह्वाका।

२—अद्वैत विज्ञानवाद

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०)—वारुच दे-स्पिनोज़ा हालेडमे एक धनी यहूदी परिवारमे पैदा हुआ था। उसने पहिले इब्रानी साहित्यका अध्ययन किया, पीछे फ्रेंच दार्शनिक द-कार्तके ग्रंथोको पढकर उसकी प्रवृति स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तनकी ओर हुई। उसके धर्मविरोधी विचारोंसे उसके सधर्मी नाराज़ हो गये और उन्होंने १६३६ ई० मे उसे अपने धर्म-मन्दिरसे निकाल वाहर किया, जिससे स्पिनोजाको अम्स्टर्डम् छोड़नेपर वाध्य होना पड़ा। जहाँ-तहाँ धक्के खाते अन्तमे १६६६ मे (औरंगजेबके शासनारंभ कालमे) वह हागमे जाकर वस गया, जहाँ उसकी जीविकाका ज़रिया चश्मेके पत्थरोको घिसना था। शताब्दियो तक स्पिनोज़ाको नास्तिक समझा जाता था, और ईसाई, यहूदी दोनो उससे घृणा करनेमे होड लगाये हुए थे।

स्पिनोजा पहिला दार्शनिक था, जिसने मध्यकालीन लोकोत्तरवाद तथा धर्म-रूढिवादको साफ शब्दोमे खंडन करते हुए बुद्धिवाद और प्रकृतिवादका ज़वर्दस्त समर्थन किया: हर तरहके शास्त्र या धर्मग्रंथके प्रमाणसे बुद्धि ज्यादा विश्वसनीय प्रमाण है। धर्मग्रंथोको भी सच्चा सावित होनेके लिए उसी तरह बुद्धिकी कसौटीपर ठीक उतरना होगा, जिस तरह कि दूसरे ऐतिहासिक लेखो या ग्रथोंको करना पडता है। बुद्धिका काम है यह जानना कि, भिन्न-भिन्न वस्तुओमे आपसका क्या संवंध है। प्राकृतिक घटनाएं परस्पर सवद्ध है। यदि उनकी व्याख्याकेलिए प्रकृतिसे परेकी किसी लोकोत्तर चीज़को लाते है, तो वस्तुओका वह आन्तरिक सवध विच्छिन्न हो जाता है, और सत्य तक पहुँचनेकेलिए जो एक जरिया हमारे पास था, उसे ही हम खो देते है। इस तरह वुद्धिवाद और प्रकृतिवाद (=भौतिकवादी प्रयोगवाद) दोनोंका हम स्पिनोज़ाके दर्शनमे समिश्रण पाते है।

लेकिन स्पिनोजाके प्रकृति (=भौतिक)-वाद और हॉब्सके भौतिकवादमें अन्तर है। हॉब्स शुद्ध भौतिकवादी था। वह सबकी व्याख्या भौतिक तत्वो और उसकी शक्ति या गतिसे करता था, किन्तु इसके विरुद्ध स्पिनोजा स्तोइको या ब्रह्म-जगत्-अद्वैतवादी वेदान्तियोकी भाँति "यह सब ईश्वर (=ब्रह्म) है, और ईश्वर (=ब्रह्म) यह है।". इस तरह उसका जोर भौतिकतत्त्व पर नही बल्कि आत्मतत्त्वपर था।

(परमतत्त्व)—एक सान्त वस्तु अपनी सत्ताके लिए दूसरे अनगिनित तत्त्वोपर निर्भर है, और इन आधारभूत तत्त्वोमेसे भी प्रत्येक दूसरे अनगिनित तत्त्वोपर निर्भर है। इस तरह एकका आधार दूसरा, दूसरेका आधार तीसरा मानते जानेपर हम किसी निश्चयपर नही पहुँच सकते। कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए, जो स्वयसिद्ध, स्वय अपना आधार हो, जो सभी आधेयो, घटनाओको अवलम्ब दे। लेकिन, ऐसे स्वत सिद्ध तत्त्वके ढूँढनेकेलिए हमे प्रकृतिसे परे किसी स्रष्टाकी जरूरत नही। प्रकृति या सृष्टि स्वय इस काम तथा ईश्वरकी आवश्यकताको पूरी करती है। इस तरह प्रकृति या ईश्वर स्वय सर्वमय, अनन्त और पूर्ण है, इससे परे कुछ नही है, न कोई लोकोत्तर तत्त्व है। प्रकृति भी गतिशून्य नही बल्कि सक्रिय परिवर्तनशील है—सभी तरहकी शक्तियाँ वही है। हर एक अतिम शक्ति, ईश्वरका गुण है। मनुष्य इन गुणोमेंसे सिर्फ दो गुणोको जानता है—विस्तार (=परिमाण) और चिन्तन, और यही दोनो है भौतिक और मानसिक शक्तियाँ। सभी भौतिक पिंड और भौतिक घटनाए विस्तार-गुणकी भिन्न-भिन्न अवस्थाए है, और सभी मन तथा मानसिक अनुभव चिन्तन गुणकी। चूँकि, विस्तार और चिन्तन दोनो एक परमतत्त्वके गुण है—इसलिए भौतिक मानसिक पदार्थोके सबधमे कोई कठिनाई नही है। जितनी सान्त स्थितियाँ हमे दृष्टिगोचर होती है, वह भ्रम या माया नही बल्कि वास्तविक है—उस वक्त जब कि वह घटित हो रही है, और उस वक्त भी जब कि वह लुप्त होती है, तब भी उनका अत्यंताभाव नही होता, क्योकि वह एक परमतत्त्व मौजूद रहता है, जिसमें कि अनेक बदलते और फिर बदलते रहते है।

३. द्वैतवाद

लॉक (१६३२-१७०४ ई०)—जॉन लॉकने आक्सफोर्डमे दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्साका अध्ययन किया था। बहुत सालों तक (१६६६-८३ ई०) इगलैंडके एक रईस (अर्ल शाफ्ट्सबरी) का सेक्रेटरी रहा।

प्रयोग या अनुभवसे परे कोई स्वत सिद्ध वस्तु है, लॉक इससे इन्कारी था। हमारा ज्ञान हमारे विचारोसे परे नही पहुँच सकता। ज्ञान तभी सच हो सकता है, जब कि हमारे विचारोको वस्तुओकी सत्यता स्वीकार करती हो—अर्थात् विचार प्रयोगके विरुद्ध न जाते हो।

(१) तत्त्व—मानसिक और भौतिक तत्त्व—प्रत्यक्ष-सिद्ध और अप्रत्यक्ष-सिद्ध—दो पादर्थ तो है ही, इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्त्व ईश्वर है। अपनी प्राकृतिक योग्यताका ठीक तौरसे उपयोग करके हमे ईश्वर का ज्ञान हो सकता है।

अपने कामोके बुरे होनेके बारेमे हमारी जो राय है—जो कि हमारे सीखे आचारज्ञानसे तैयार होती है—इसीको आत्माकी पुकार कहा जाता है, वह इससे अधिक कुछ नही है। आचार-नियम स्वयभू[1] (=स्वत उत्पन्न) नही कहे जा सकते, क्योकि उन्हे न स्वयभू देखा जाता है, और न सर्वत्र एक समान पाया जाता है। ईश्वर-सबधी विचार भी स्वयभू नही है। यदि ऐसा होता तो कितनी ही जातियोको ईश्वरके ज्ञानसे वचित अथवा उसके जाननेके लिए उत्सुक न देखा जाता। इसी प्रकार आग, सूर्य, गर्मीके ज्ञान भी सीखनेसे आते है, स्वयभू नही है।

(२) मन—मन पहिले-पहिल साफ सलेट जैसा होता है, उसमे न कोई विचार होते है, न कोई छाप या प्रतिबिंब (=वासना)। ज्ञानकी सामग्री हमे अनुभव (=प्रयोग) द्वारा प्राप्त होती है, अनुभवके ऊपर हमारे ज्ञानकी इमारत खडी है।

---

[1] Innate

लॉक कहता है कारण वह चीज है, जो किसी दूसरी चीजको बनाता है; और कार्य वह है जिसका आरम्भ किसी दूसरी चीजसे है।

इन्द्रियोंसे प्राप्त वेदना या उसपर होनेवाला विचार ही हमें देश-काल-विस्तार, भेद-अभेद, आचार तथा दूसरी बातोंके संबंधका ज्ञान देते हैं; यही हमारे ज्ञानकी सामग्रीको प्रस्तुत करते हैं।

लॉक चाहता था, कि दर्शनको कोरी दिमागी उड़ानसे बचाकर प्रकृतिके अध्ययनमें लगाया जाये। जिज्ञासा करने, प्रश्नोंके हल ढूँढ़नेसे पहिले हमें अपनी योग्यताका निरीक्षण करना चाहिए, और देखना चाहिए किस और कितने विषयको हमारी बुद्धि समझ सकती है। "अपनी योग्यतासे परेकी जिज्ञासाएं अनेक नये प्रश्न, कितने ही विवाद खड़े कर देती हैं, जिससे....हमारे सन्देह ही बढ़ते हैं।

§ २–बुद्धिवाद (द्वैतवाद)

वैसे तो स्पिनोज़ाके अद्वैती विज्ञानवादको भी बुद्धिवादमें गिना जा सकता है, क्योंकि विज्ञानवाद भौतिक जगत्‌की सत्ताको महत्त्व नहीं देता, किन्तु स्पिनोज़ाके दर्शनमें विज्ञानवाद और भौतिकवादका कुछ इतना सम्मिश्रण है, तथा प्रकृतिकी वास्तविकतापर उसका इतना जोर है, कि उसे केवल विज्ञानवादमें नहीं गिना जा सकता। बाकी सत्रहवीं सदीके प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक द-कार्त और लाइपनिट्ज़ है, जो दोनों ही द्वैतवादी भी हैं।

१–द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)

रेने द-कार्तका जन्म फ़्रांसके एक रईस परिवारमें हुआ था। दार्शनिकके अतिरिक्त वह कितनी ही पुरानी भाषाओंका पंडित तथा प्रथम श्रेणीका गणितज्ञ था, उसकी ज्यामिति आज भी कार्तेसीय ज्यामितिके नामसे मशहूर है।

यूरोपके पुनर्जागरण कालके कितने ही और विद्वानोंकी भाँति द-कार्त भी अपने समयके ज्ञानकी अवस्थासे असन्तुष्ट था। सिर्फ़ गणित एक विद्या

थी, जिसकी अवस्थाको वह सन्तोषजनक समझता था, और उसका कारण उसका श्रेय वह नपी-तुली नियमबद्ध प्रक्रियाको देता था। उसने गणितके ढगको दर्शनमे भी इस्तेमाल करना चाहा। सन्त अगस्तिनकी भाँति उसने भी "बाकायदा सदेह"से सोचना आरभ किया—मै दुनियाकी हर चीजको सदिग्ध समझ सकता हूँ, लेकिन अपने 'होने'के बारेमे सन्देह नही कर सकता, "मै सोचता हूँ, इसलिए मै हूँ।" इसे सच इसलिए मानना पड़ता है, क्योकि यह "स्पष्ट और असदिग्ध" है। इस तरह हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते है, "जिसे हम अत्यन्त स्पष्ट और असदिग्ध पाते है, वह सच है।" इस तरहके स्पष्ट और असदिग्ध अतएव सच विचार है—ईश्वर, रेखागणितके स्वयंसिद्ध, और "नहीसे कुछ नही पैदा हो सकता"की तरहके अनादि सत्य। यद्यपि द-कार्तने स्पष्ट और असदिग्ध विचार होनेसे ईश्वरको स्वयसिद्ध मान लिया था, किन्तु हवाका रुख इतना प्रतिकूल था, कि ईश्वरकी सिद्धिकेलिए अलग भी उसे प्रयत्न करना पड़ा। दृश्य जगत्के भी "स्पष्ट और असदिग्ध" अशको उसने सत्य कहा। जगत् ईश्वरने बनाया है, और अपनी स्थितिको जारी रखनेकेलिए वह बिलकुल ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वरनिर्मित जगत्के दो भाग है—काया या विस्तारयुक्त पदार्थ और मन या सोचनेवाला पदार्थ। आत्मा और शरीरको वह अक्विना की भाँति अभिन्न नही, बल्कि अगस्तिन्की भाँति सर्वथा भिन्न—एक दूसरेसे बिलकुल अलग-थलग—कहता था। यह भगवान्की दिव्य सहायता है, जिससे कि आत्मा शरीरकी गतिको उत्पन्न नही, बल्कि सचालित कर सकता है। द-कार्त इस प्रकार लोकोत्तरवादी तथा अगस्तिन्की भाँति ईसाई धर्मका एक जबर्दस्त सहायक था। शरीर और आत्मामे आपसका कोई सबध नही, इस धारणाने द-कार्तको यह माननेके लिए भी मजबूर किया, कि जब दोनोमेंसे किसी एकमे कोई परिवर्तन होता है, तो भगवान् बीचमे दखल देकर दूसरेमे भी वही परिवर्तन पैदा कर देता है।

अग्रेज दार्शनिक हॉब्स द-कार्तका समकालीन तथा परिचित था, किन्तु दोनोंके विचारोमे हम जमीन-आसमानका अंतर देखते है। द-कार्त पूरा

लोकोत्तरवादी, ईश्वरके इशारेपर जड-चेतनको नाचनेवाला मानता था, किन्तु हॉब्स लोकोत्तरवादके बिलकुल खिलाफ, हर समस्याके हलको प्रकृति मे ढूँढनेका पक्षपाती था। स्पिनोज़ाने द-कार्तके ग्रथोसे बहुत फायदा उठाया, 'विस्तार' और 'चिन्तन' काया और आत्माके स्वरूपोको भी उसने द-कार्तसे लिया, किन्तु द-कार्तके दर्शनके 'ईश्वरीय यंत्रवाद'की कमजोरियोको वह समझता था, इसीलिए द-कार्तके द्वैतवादको छोड उसने प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत या विज्ञानवादको हॉब्सके नजदीकतर लानेकी कोशिश की।

द-कार्तके अनुसार दर्शन कहते है मनुष्य जितना जान सकता है, वह ज्ञान तथा अपने जीवनके आचरण, अपने स्वास्थ्यकी रक्षा, और सभी कलाओ (=विद्याओ) के आविष्कारके पूर्ण ज्ञानको। इस तरह द-कार्तकी परिभाषामे दर्शनमे लौकिक लोकोत्तर सारे ही "स्पष्ट और असदिग्ध (=अविसवादि) ज्ञान शामिल है।

ईश्वरके कामके बारेमे द-कार्तका कहना है—भगवान्ने शुरूमे गति और विश्रामके साथ भौतिक तत्त्वो (=प्रकृति)को पैदा किया। प्रकृतिमे जो गति उसने उस वक्त पैदा की, उसे उसी मात्रामे जारी रखनेकेलिए उसकी सहायताकी अब भी जरूरत है, इस प्रकार ईश्वरको सदा सक्रिय रहना पडता है।

आत्मा या सोचनेवाली वस्तु, उसे कहते है, जो सदेह करने, समझने, ग्रहण-समर्थन-अस्वीकार-इच्छा-प्रतिषेध करनेकी क्षमता रखती है।

गभीर विचारक होते हुए भी दे-कार्त मध्ययुगीन मानसिक बधनोसे अपनेको आजाद नही कर सका था, और अपने दर्शनको सर्वप्रिय रखनेके लिए भी वह धर्मवादियोका कोपभाजन नही बनना चाहता था। स्वयं द-कार्तके अपने वर्गका भी स्वार्थ इसीमे था कि धर्म और उसके साथ प्राचीन समाजकी व्यवस्थाको न छेडा जाये।

२. लाइप्निट्ज़ (१६४६-१७१६ ई०)

गोट्फ्रीड् विल्हेल्म लाइप्निट्ज लीपज़िग् (जर्मनी)मे एक मध्यवित्तक परिवारमे पैदा हुआ था। विश्वविद्यालयमे वह कानून, दर्शन, और गणित

का विद्यार्थी रहा।

दर्शन—लाइप्निट्ज आत्म-कणवाद[1]का प्रवर्त्तक था। उसके दर्शनमें भौतिक पदार्थ—और अवकाश भी—वस्तु सत्य[2] नही है, मन जिन्हे अनुभव करता है, उसके ये सिर्फ दिखावे मात्र है। आत्मकण (=मन, विज्ञान) ही एकमात्र वस्तु सत्य है। सभी **आत्मकण** विकासमे एकसे नही है। कुछका विकास अत्यन्त अल्प है, वह सुप्तसे है। कुछका विकास इनसे कुछ ऊँचा है, वह स्वप्न अवस्थाकी चेतना जैसे है। कुछका विकास बहुत ऊँचा है, वह पूरी जागृत चेतना जैसे है। और इन सबसे ऊँचा चरम विकास ईश्वरका है। उसकी चेतना अत्यत गभीर अत्यत पूर्ण, और अत्यत सक्रिय है। आत्मकणोकी सख्या अनन्त और उनके विकासके दर्जे भी अनन्त है—उनमे इतनी भिन्नता है, कि कोई दो आत्मकण एकसे नही है। इस प्रकार लाइप्निट्ज द्वैती विज्ञानवादको मानता है।

प्रत्येक आत्मकण अपनी सत्ता और गुणके लिए दूसरे आत्मकणका मुहताज नही है, एक आत्मकण दूसरेको प्रभावित नही कर सकता। लेकिन सर्वोच्च आत्मकण ईश्वर इस नियमका अपवाद है—उसने एक तरह अपनेमेंसे इन आत्मकणोंको पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओके सबधमे जो आपसमे सहयोग करते दीख पड़ते है, वह 'पहिलेसे स्थापित समन्वय[3]-के' कारण है— भगवान्ने उन्हे इस तरह बनाया है, जिसमे वह एक दूसरेसे सहयोग करे।

द-कार्तका यह विचार कि ईश्वरने भौतिक तत्त्वोंमे गति एक निश्चित मात्रा मे—घडीकी कुजीकी भाँति—भर रखी है, लाइप्निट्जको पसद न था, यद्यपि धर्म, ईश्वर, द्वैतवाद आदिका जहाँ तक सबध था, वह उससे सहमत था। लाइप्निट्जका कहना था—पिंड चलते है, पिड विश्राम करते है—जिसका अर्थ है गति आती है, और नष्ट भी होती है। यह (ससार-) **प्रवाहका सिद्धान्त**—अर्थात् प्रकृतिमें मेढक-कुदान नही सम-प्रवाह है—के

---

[1] Monadism. [2] Objective reality. [3] Harmony.

खिलाफ जाता है। ससारमे कोई ऐसा पदार्थ नही है, जो क्रिया नही करता। जो क्रिया नही करता वह है ही नही, लाइप्निट्जने इस कथन द्वारा अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिकी बातको दुहराया। "अर्थ क्रियामे जो समर्थ है वही ठीक सच है।"[1]

लाइप्निट्ज विस्तारको नही, बल्कि शक्तिको शरीरका वास्तविक गुण कहता है, बिना शक्तिके विस्तार नही हो सकता, अतएव शक्ति मुख्य गुण है।

अवकाश या देश[2] सापेक्ष पदार्थ है, उसकी परमार्थ सत्ता नही है। वस्तुएं जिसमे स्थित है वह देश है, और वह वस्तुओंके नाशके साथ नाश हो जाता है। शक्तियाँ देशपर निर्भर नही है, किन्तु देश अपनी सत्ताकेलिए शक्तियोपर अवश्य-निर्भर है। इसलिए वस्तुओ (=आत्मकणो)के बीचमें तथा उनसे परे देश नही हो सकता, जहाँ शक्तियाँ खतम होती है, वहाँ देश भी खतम होता है। देशकी यह कल्पना आइन्स्टाइनके सापेक्षतावाद के बहुत समीप है।

(१) ईश्वर—लाइप्निट्जके अनुसार दर्शन भगवान् तक पहुँचाता है, क्योकि दर्शन भौतिक और यान्त्रिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना चाहता है, उसकी उस व्याख्याके बिना चरम कारण भगवान्‌को हम मान ही नही सकते। भगवान् स्वनिर्मित गौण या उपादान-कारणो द्वारा सभी चीजोको बनाता है। भगवान्‌ने दुनिया कोई अच्छी तो नही बनाई है—इसका जवाब लाइप्निट्ज देता है—भई ! दुनियाको भगवान्‌ने उतना अच्छा बनाया है, जितनी अच्छी कि वह बनाई जा सकती थी—इसमे जितना सभव हो सकता है, उतने वैचित्र्य और पारस्परिक समन्वय है। यह ठीक है कि यह पूर्ण नही है, इसमें दोष है। किन्तु, भगवान् सीमित रूपमे कैसे अपने स्वभावको व्यक्त कर सकता था? दोष (=बुराइयाँ) भी अनावश्यक नही है। चित्रमें जैसे काली

---

[1] "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्"—प्रमाणवार्त्तिक।

[2] Space. [3] देखो "विश्वकी रूपरेखा" में सापेक्षतावाद

जमीनकी आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छाइयों (=शिव)को व्यक्त करनेकेलिए बुराइयोकी भी ज़रूरत है। यहाँ समाजके अत्याचार उत्पीडनके समर्थनकेलिए लाइप्निट्ज कैसी कायरतापूर्ण युक्ति दे रहा है !! यदि अपनी अच्छाइयोको दिखलानेकेलिए ईश्वरने चद व्यक्तियोको अपना कृपापात्र और ९० सैकडाको पीडित, दुखी, नारकीय बना रखा है, तो ऐसे भगवान्से "त्राहि माम्।"

(२) **जीवात्मा**—जीव अगणित आत्मकणोमे एक है—यह बतला चुके है। आत्माको लाइप्निट्ज अचल एकरस मानता है।—"आत्मा मोम नही है, जो कि उसपर ठप्पा (=वासना) मारा जा सके। जो आत्मा को ऐसा मानते है, वह आत्माको भौतिक पदार्थ बना देते है।" आत्माके भीतर भाव (सत्ता), द्रव्य, एकता, समानता, कारण, प्रत्यक्ष, कार्यकारण, ज्ञान, परिमाण—यह सारे ज्ञान मौजूद है। इनकेलिए आत्मा इन्द्रियोका मुहताज नही है।

(३) **ज्ञान**—बुद्धिसगत ज्ञान तभी सभव है, जब हम कुछ सिद्धान्तोको स्वयभू सिद्ध मान ले, जिसमे कि उनके आधारपर अपनी युक्तियोको इस्तेमाल किया जा सके। समानता (=सादृश्य) और विरोध इन्ही स्वयभू सिद्धान्तोमे है। शुद्ध चिन्तनके क्षेत्रमे सच्चाईकी कसौटी यही समानता और विरोध है। प्रयोग (=तजर्बे)के क्षेत्रमे सच्चाईकी कसौटी पर्याप्त युक्ति ही स्वयंभू सिद्धान्त है। **दर्शन**का मुख्य काम ज्ञानके मौलिक सिद्धान्तो—जोकि साथ ही सत्यताके भी मौलिक सिद्धान्त या पूर्वनिश्चय है—का आविष्कार करना है।

हॉब्स और द-कार्त दोनो बिलकुल एक दूसरेके विरोधीवादों—प्रकृति-वाद और लोकोत्तरवाद—को मानते थे। स्पिनोजाका दिल द-कार्तके साथ था, दिमाग हॉब्सके साथ, जिससे वह द-कार्तको मदद नही कर सका, और उसका दर्शन नास्तिकता और भौतिकवादकेलिए रास्ता साफ करनेका काम देने लगा। लाइप्निट्ज चाहता था, कि दर्शनको बुद्धिसगत बनानेके लिए मध्य-युगीनतासे कुछ आगे जरूर बढना चाहिए, किन्तु इतना नही

कि स्पिनोजाकी भाँति लोग उसे भौतिकवादी कहने लगे। साथ ही ईश्वर, आत्मा, सृष्टि आदिके धार्मिक विचारोंको भी वह अपने दर्शनमें जगह देना चाहता जिसमे कि सभ्य समाज उसे एक प्रतिष्ठित दार्शनिक समझे। इन्ही विचारोंसे प्रेरित हो स्पिनोज़ाके समन्वय—प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत तत्त्व—को न मान, उसने आत्मकण सिद्धान्त निकाला, जिसमे स्पिनोजाका विज्ञानवाद भी था और द-कार्तका द्वैतवादी, ईश्वरवाद भी।

एकादश अध्याय

अठारहवीं सदीके दार्शनिक

न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०) के सत्रहवी सदीके आविष्कार गुरुत्वाकर्षण (१६५७ ई०) और विश्वकी यात्रिक व्याख्याने सत्रहवी सदी और आगेकी दार्शनिक विचार-धारापर प्रभाव डाला। अठारहवी सदीमे हर्शल (१७३८-१८२२ ई०) ने न्यूटनके यात्रिक सिद्धान्तके अनुसार शनिकी कक्षासे और परे वरुण[1] ग्रह तथा शनिके दो उपग्रहोंका (१७८९ ई०) आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उसने एक दूसरेके गिर्द घूमनेवाले ८०० युग्म (=जुडवे) तारे खोज निकाले, जिससे यह भी सिद्ध हो गया कि न्यूटनका यात्रिक सिद्धान्त सौरमडलके आगे भी लागू है। शताब्दीके अन्त (१७९९ ई०) मे लाप्लासने अपनी पुस्तक **खगोलीय यंत्र**[2] लिखकर उक्त सिद्धान्तकी और पुष्टि की। इधर भौतिक साइस[3]ने भी ताप, ध्वनि, चुम्बक, बिजलीकी खोजोमे नई बातोका आविष्कार किया। रम्फोर्डने सिद्ध किया कि ताप भी गतिका एक भेद है। हॉक्सबीने १७०५ ई० मे प्रयोग करके पहिले-पहिल बतलाया, कि ध्वनि हवापर निर्भर है, हवा न होनेपर ध्वनि नही पैदा हो सकती।

रसायन-शास्त्रमे प्रीस्टली (१७३३-१८०४ ई०) और शीले (१७४२-८६ ई०)ने एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपेण आक्सीजनका आविष्कार किया। कवेन्डिश (१७३१-१८१०)ने आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर साबित किया कि पानी दो गैसोसे मिलकर बना है।

---

[1] Uranus. [2] Celestial Mechanics. [3] Physics.

इसी शताब्दीमे हटन (१७२६-९७ ई०) ने अपनी पुस्तक **पृथिवी-सिद्धान्त**[1] लिखकर भूगर्भ साइसकी नीव डाली, और जेनेर (१७४९-१८९३ ई०) ने चेचकके टीकेका आविष्कारकर बीमारियोकी पहिलेसे रोकथामका नया तरीका चिकित्साशास्त्रमे प्रारम्भ किया।

अठारहवी सदीमे साइंसकी जो प्रगति अभी हम देख चुके है, हो नही सकता था, कि उसका प्रभाव दर्शनपर न पडता। इसीलिए हम अठारहवी सदीके दार्शनिकोको सिर्फ हवामे उडते नही देखते, बल्कि सन्देहवादी ह्यूम् ही नही विज्ञानवादी बर्कले और कान्टको भी प्रयोगकी पूरी सहायता लेते हुए अपने काल्पनिकवादका समर्थन करना चाहते है।

§ १. विज्ञानवाद

अठारहवी सदीके प्रमुख विज्ञानवादी दार्शनिक बर्कले और कान्ट है।

१—बर्कले (१६८५-१७५३ ई०)

जार्ज बर्कलेका जन्म आयरलैडमे हुआ था, और शिक्षा डब्लिनके ट्रिनिटी कालेजमे। १७३४ ई०मे वह कोलोन्का लाट-पादरी बना।

बर्कलेके दर्शनका मुख्य प्रयोजन किसी नये तत्त्वका अन्वेषण नही था। उसकी मुख्य मशा थी, भौतिकवाद और अनीश्वरवादसे ईसाई-धर्मकी रक्षा करना। इस प्रकार वह अठारहवी सदीका अगस्तिन् और सीमित अर्थमे ईसाईयोका ऑक्विना था। हाव्सका भौतिकवादी दर्शन तथा विचार-स्वातन्त्र्य सबध दूसरी शिक्षाए धीरे-धीरे शिक्षित बुद्धिवादी दिमागोपर असर कर ईसाइयतकेलिए खतरा पैदा कर रही थी। सत्रहवी और अठारहवी सदीमे भी जिस तरहकी प्रगति साइसमे देखी जा रही थी, उससे धर्मका पक्ष और निर्बल होता जा रहा था, तथा यह साबित हो रहा था कि प्रकृति और उसके अपने नियम हर बौद्धिक समस्याके हलके

---

[1] Theory of the Earth.

लिए पर्याप्त है। यद्यपि इस लहरको रोकनेकेलिए द-कार्त, स्पिनोज़ा और लाइप्निट्जके दर्शन भी सहायक हो सकते थे, किन्तु भौतिक-तत्त्वोंके अस्तित्वको वे किसी न किसी रूपमे स्वीकार करते थे। बिशप् (=लाट-पादरी) बर्कलेने भौतिकतत्त्वोके अस्तित्वको ही अपने दर्शन-द्वारा मिटा देना चाहा—न भौतिकतत्त्व रहेगे, न भौतिकवादी सर उठायेगे।

बर्कलेका कहना था: मुख्य या गौण गुणोके सबधमे जो हमारे विचार या वेदनाए है, वह किन्ही वास्तविक बाह्यतत्त्वोंकी प्रतिकृति या प्रतिबिब नही है, वह सिर्फ मानसिक वेदनाए है, और इनसे अधिक कुछ नही है। विचार विचारोंसे ही सादृश्य रख सकते है, भौतिक पदार्थो और उनके गुणो—गोल, पीला, कडवा आदि—से इन अभौतिक विचारो या मानस प्रतिबिबोंका कोई सादृश्य नही हो सकता। इसलिए भौतिक पिडोके अस्तित्वको माननेकेलिए कोई प्रमाण नही। ज्ञानका विषय हमारे विचार है, उनसे परे या बाहर कोई भौतिकतत्त्व ज्ञानका वास्तविक विषय नही है। "मनसे बाहर चाहे वह स्वर्गकी सगीत मडली हो, अथवा पृथिवीके सामान हों, मन (=विज्ञान)को छोड वहाँ कोई दूसरा द्रव्य नही, (मानसिक) ग्रहण ही उनकी सत्ताको बतलाता है। जब उन्हे कोई मनुष्य नही जान रहा है, तो या तो वे है ही नही, अथवा वे किसी **अविनाशी आत्माके** मनमे है।" भौतिक पिड अपने गुणानुसार नियमित प्रभाव (आग, ठडक) पैदा करते है, यदि भौतिक तत्त्व नही है, तो सिर्फ विचारसे यह कैसे होता है?—बर्कलेका उत्तर था कि यह "प्रकृतिके विधाताके द्वारा स्वेच्छासे बनाए उस सबध"का यह परिणाम है, जिसे उसने भिन्न-भिन्न विचारोके बीच कायम किया है। बर्कले के अनुसार सत्यके तत्त्व है भगवान्, उसके बनाए आत्मा, और भिन्न-भिन्न विचार जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओमे पैदा होते है।

२. कान्ट (१७२४-१८०४ ई०)

इम्मानुयेल कान्ट कोइनिक्सबर्ग (जर्मनी)मे एक साधारण कारीगरके घर पैदा हुआ था। उसका बाल्य धार्मिक वातावरणमे बीता था।

प्रायः सारा जीवन उसने अपने जन्मनगर और उसके पड़ोस हीमें बिताया और इस प्रकार देशभ्रमणके संबंधमे वह एक पूरा कूपमंडूक था।

हॉब्स, स्पिनोज़ा, द-कार्त, लाइप्निट्ज़के, बर्कले दर्शनोंमे या तो भौतिक तत्त्वोंको ही मूल तत्त्व होनेपर जोर दिया गया था, अथवा प्रकृतिकी उपेक्षा करके विज्ञान (=चेतना)को ही एकमात्र परमतत्त्व कहा गया। कान्टके समय तक विज्ञानका विकास और उसके प्रति शिक्षितोंका सम्मान इतना बढ़ गया था, कि वह उसकी अवहेलना करके सिर्फ विज्ञानवादपर सारा जोर नही खर्च कर सकता था—यद्यपि घूमफिरकर उसे भी वहीं पहुँचना था—, और भौतिकवादका तो वह पूर्ण विरोधी था ही। ह्यूमकी भाँति इन दोनो वादोंपर सन्देह करनेको ही वह अपना वाद बनाना पसन्द नहीं करता था। उसके दर्शनका मुख्य लक्ष्य था—ह्यूमके सन्देहवाद, और पुरानी दार्शनिक रूढिको सीमित करना, तथा सबसे बढकर वह भौतिकवाद, अनीश्वरवादको नष्ट करना चाहता था। अपनेको बुद्धिवादी साबित करनेकेलिए वह भाग्यवाद, भावुकतावाद, मिथ्या-विश्वासका भी विरोधी था। कान्टके वक्त यूरोपका विचारशील समाज मध्ययुगीन मानस-बंधनोंसे ही मुक्त नही हो गया था, बल्कि उसने मध्ययुगके आर्थिक ढाँचे—सामन्तवाद—को भी दो प्रमुख देशो, इंग्लैंड (१४९५-१६००) और फ़ास (१७८९)से विदा कर पूँजीवादकी ओर ज़ोरसे क़दम उठाया था। इंग्लैंडमे अंग्रेजी सामन्तवादकी निरंकुशता चार्लस प्रथमके साथ ही १६४९ मे खतम कर दी गई थी। वहाँ सवाल सिर्फ एक मुकुटके धूलमें लोटनेका नही था, बल्कि मुकुटके साथ ही सनातन मर्यादाओंके प्रति लोगोंकी आस्था उठने लगी थी। अठारहवी सदीमे अब फ्रांसकी बारी थी। सामन्तवाद और उसके पिट्ठू धर्मसे दबते-दबते लोग ऊब गए थे। उनके इस भावको व्यक्त करनेकेलिए फ़्रांसने वोल्तेर(१६९४-१७७८), और रूसो (१७१२-७८ ई०) जैसे जबर्दस्त लेखक पैदा किये। वोल्तेर धर्मको अज्ञान और धोखेकी उपज कहता था। उसके मतसे मजहब होशियार पुरोहितोका जाल है, जिन्होंने कि मनुष्यकी मूर्खता और पक्षपातको इस्तेमालकर इस तरह उनपर शासनका एक नया तरीका निकाला

है। रूसो, वोल्तेरसे भी आगे गया, और उसने कला और विज्ञानको भी शौकीनी और कामचोरपनकी उपज बतलाया, और कहा कि आचारिक पतनके यही कारण हैं। "स्वभावसे सभी मनुष्य समान हैं। यह हमारा समाज है, जिसने वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा चला उन्हे अ-समान बना दिया—और आज हम उसमे स्वामी-दास, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, पा रहे हैं। एक बडा रईस बैरन् दो'लूबाश (१७१२-७८ ई०) कह रहा था—"आत्मा कोई चीज नही है, चिन्तन मस्तिष्ककी क्रिया है, भौतिकतत्त्व ही एकमात्र अमर वस्तु है।"

ऐसी परिस्थितिमे कान्ट समझता था, कि यूरोपके मुक्त होते विचारोको ईसाइयतकी तग चहारदीवारीके अन्दर बद नही किया जा सकता, इसलिए चहारदीवारीको कुछ बढाना चाहिए, और ईश्वर, कर्मस्वातंत्र्य तथा आत्माके अमरत्व—धर्मके इन मौलिक सिद्धान्तोकी रक्षा करनेकी कोशिश करनी चाहिए। इन्हीको लेकर कान्टने अपने प्रखर तर्कके ताने-बाने बुनकर एक जबर्दस्त जाल तैयार किया। उसने कहा . तजर्बेपर निर्भर मानव-बुद्धि बहुत दूर तक जा सकती है, इसमे शक नही, किन्तु उसकी गति अनन्त तक नही हो सकती। उसकी दौडकी भी सीमा है। ईश्वर, परलोक या परजीवन मानवके तजर्बेकी सीमासे बाहरकी—सीमापारीय—चीजे है, इसलिए उनके बारेमे कोई तर्क-वितर्क नही किया जा सकता, तर्कसे न उनका खडन ही किया जा सकता है, न उन्हे सिद्ध ही किया जा सकता है। उन्हे श्रद्धावश माना जा सकता है—सैद्धान्तिक तौरसे यह श्रद्धा भले ही कमज़ोर मालूम होती है, मगर व्यवहारमूलक होनेसे वह काफी प्रबल है।—अर्थात् ईश्वर, तथा परजन्मके विश्वास समाज और व्यक्तिमे शान्ति और सयमका प्रचार करते है, जो कि इनके माननेकेलिए काफी कारण है।

(१) **ज्ञान**—वास्तविक ज्ञान वह है, जो कि सार्वदैशिक, तथा आवश्यक हो। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञानके लिए मसाला जमा करती है, और मन अपने स्वभावके अनुकूल तरीकोसे उन्हे क्रमबद्ध करता है। इसीलिए जो ज्ञान हमें मिलता है वह वस्तुए—अपने—भीतर जैसी है, वैसा नही होता,

बल्कि विचारोके क्रम-सबधी सार्वदेशिक और आवश्यक ज्ञानके तौरपर होता है। गोया वस्तुएं-अपने-भीतर क्या है, इसे हम नही जान सकते—यह है कान्टका **सन्देहवाद**। साथ ही, हमारे ज्ञानमे जो कुछ आता है वह तजर्बे या प्रयोगसे आता है—यहाँ वह **प्रयोगवादी** सा मालूम होता है। लेकिन, मन बाहरी बातोकी कोई पर्वाह न करके, **अपने** तजर्बोंपर **चिन्तन** करता है, और उन्हे अपने स्वभावके अनुसार **ग्रहण** करता है—यह बाह्यार्थसे असबद्ध मनका अपना निर्णय बुद्धिवाद है। प्रयोगवाद, सन्देहवाद, और बुद्धिवाद तीनोको सिर्फ अपने मतलबके लिए कान्टने इस्तेमाल किया है, और इसका मतलब विचारको बडी सीमाबदीके परे जानेसे रोकना है।

(२) **निश्चय**—ज्ञान सदा निश्चयके रूपमे प्रकट होता है—हम ज्ञानमे चाहे किसी बातकी स्वीकृति (=विधि) करते है, या निषेध करते है। तो भी प्रत्येक निश्चय ज्ञान नही है। जो निश्चय "सार्वदेशिक और आवश्यक" नही है, वह साइस-सम्मत नही हो सकता। यदि उस निश्चयका कोई अपवाद भी है, तो वह सार्वदेशिक नही रहेगा, यदि कोई विरोधी भी आ सकता है तो वह आवश्यक नही।

(३) **प्रत्यक्ष**—किसी वस्तुके प्रत्यक्ष करनेकेलिए जरूरी है कि वहाँ भौतिक तत्त्व या उसके भीतर जो कुछ भरा (वेदना), और आकार (=रग, शब्द, भार) हो। इन्हे बुद्धि एक ढाँचे—या देश-कालके चौकठे—मे क्रम-बद्ध करती है, तब हमे किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। आत्मा (=मन) सिर्फ वेदनाओको प्राप्त करता है, वह सीधे पदार्थों (=विषयो) तक नही पहुँच सकता, और न विषय सीधे मन (=आत्मा) तक पहुँच सकते। फिर अपनी एक विशेष शक्ति—आत्मानुभूति[1]—द्वारा उन्हे वह प्रत्यक्ष करता है। तब वह अपनेसे बाहर देश और कालमे रगको देखता है, शब्दको सुनता है।

---

[1] Intuition

देश, काल—मनकी बनावट ही ऐसी है, कि वहाँ कोई वैसी वस्तु न होने पर भी देश और कालका प्रत्यक्ष करता है—वह वस्तुओको ही देश और कालमे (अर्थात् देश-कालके साथ) प्रत्यक्ष नही करता, बल्कि खुद देश-कालको स्वतंत्र वस्तु के तौर पर प्रत्यक्ष करता है। हमारी आन्तरिक मानस-क्रिया कालकी सीमाके भीतर अर्थात् एकके बाद दूसरा करके होती है, और बाहरी इन्द्रिय-ज्ञान देशकी सीमाके भीतर होता है, अर्थात् हम उन्ही चीजोका प्रत्यक्ष कर सकते है, जिनका कि हमारी इन्द्रियोंसे सबंध है। देश और काल वस्तु-सत्य अर्थात् बिना दूसरेकी सहायताके खुद अपनी सत्ताके धनी नही है, और नही वस्तुओके गुण या सबध ही है। वे तरीके या प्रकार जिनसे कि हमारी इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती है, इन्द्रियोंके स्वरूप या क्रियाए है। देश और काल आत्मानुभूतिसे ही जाने जाते है, वे बाहरी इन्द्रियोके विषय नही है—इसका मतलब है, कि यदि आत्मानुभूति या देश-कालके प्रत्यक्षीकरणकी शक्ति रखनेवाले सत्त्व जगत्मे न होते तो निश्चय ही जगत् हमारे लिए देशकालवाला न रह जाता। बिना **देशके** हम वस्तुका ख्याल भी नही कर सकते, और न बिना वस्तुके हम देशका ख्याल कर सकते, इसलिए वस्तुओ या बाहरी दुनिया-सबंधी विचारके लिए देशका होना जरूरी है। कालके बारेमे भी यही बात है।

(४) **सीमापारी**—इस प्रकार देश-काल इन्द्रियोसे संबंध नही रखते, वह अनुभव (=तजर्बे) की चीजे नही है, बल्कि उनकी सीमासे परे—**सीमापारी**[1]—चीजे है। सीमापारी होते इन्द्रिय-अगोचर होते भी वस्तुओंके ज्ञानसे वह चीजे कितना नित्य सबध रखती है, यह बतला आए है।

(५) **वस्तु-अपने-भीतर**[2]—बाहरी जगतका संबध—सन्निकर्ष—इन्द्रियोसे होता है, इन्द्रियाँ उनकी सूचना मनको देती है, मन उनकी व्याख्या स्वेच्छापूर्वक खुद करता है। इन्द्रियोका सन्निकर्ष वस्तुओंके बाहरी दिखावेसे होता है। फिर मन वस्तुके बारेमे जो व्याख्या करता है

---

[1] Transcental. [2] Thing-in-itself, Ding-an-sich.

वह इसी दिखावेकी सूचनाके बलपर होता है। इसलिए **वस्तु-अपने-भीतर** क्या है, यह ज्ञान इन्द्रिय या तजर्वेका विषय नही है, वह इन्द्रिय-की सीमासे परेकी—इन्द्रिय-सीमा-पारी—है। प्रत्यक्षसे या तो वस्तुओकी आभा हमे मिलती है, या उनके सबधका ज्ञान होता है, लेकिन वस्तु-अपने-भीतर क्या है, इसे न वह आभा बतला सकती है; न सम्बन्ध। वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तु-सार) अज्ञेय है, उसे इन्द्रियाँ नही जान सकती। हाँ, उसके होनेका पता दूसरी तरहसे लग सकता है, वह है आन्तरिक आत्मानुभूति, जो इन्द्रियोसे यह कहती है—'तुम्हारे आनेकी सीमा यही तक है, इसमे आगे जानेका तुम्हे अधिकार नही।'

(आत्मा)—हम आत्माका ज्ञान—साक्षात्कार नही कर सकते, किन्तु उसके अस्तित्वपर मनन किया जा सकता है। हम इसपर चिन्तन कर सकते है—ज्ञान सम्भव ही नही है, जबतक कि एक स्वयचेतन, विचारो को स्मृतिके रूपमे जोडनेवाला तत्त्व आत्मा न हो। किन्तु इस आत्माको सीधे इन्द्रियोकी सहायतासे हम नही जान सकते, क्योकि वह **सीमा-पारी,** इन्द्रिय-अगोचर है।

इस तरह सीमापारी वस्तुओका होना भी सभव है। वस्तु-अपने-भीतर या **वस्तुसार**[1] भी इसी तरह अज्ञेय है, किन्तु वह है जरूर, अन्यथा इन्द्रिय तथा विपयके सबधसे जो वेदना होती है, वह निराधार होगी—आखिर बाहरी जगत् या वस्तुकी जिस आभाका ज्ञान हमे होता है, उसके पीछे कोई वस्तुसार जरूर है, जो कि मनसे परेकी चीज है, जो हमारी इन्द्रियोको प्रभावित करता है, और हमारे ज्ञानके लिए **विषय** प्रस्तुत करता है। इस आधार वस्तु-अपने-भीतर (वस्तुसार)के विना वह झाँकी ही नही मिलती, जिसकी बुनियादपर कि हमारा सारा ज्ञान खडा है।

कान्ट बुद्धि और समझके बीच फरक करता है।—समझ वह है जो कि इन्द्रिय द्वारा लाई सामग्री—वेदना—पर आधारित है। लेकिन

---

[1] Nomena.

बुद्धि समझसे परे जाती है, और इन्द्रिय-अगोचर ज्ञान—जिस ज्ञानका कि कोई प्रत्यक्ष विषय नही है जो शुद्ध बोध रूप है—को उपलब्ध करना चाहती है। मन या बुद्धिकी साधारण क्रियाको समझ कहते है। वह हमारे तजर्बे—विषय-साक्षात्कारो—को समान रूपसे तथा नियमो और सिद्धान्तों के अनुसार एक दूसरेके साथ सबध कराती है, और इस प्रकार हमे निश्चय प्रदान करती है।

निश्चय—समझ जिन निश्चयोको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, कान्टने उनके बारह भेद गिनाये है—

(१) **सामान्य निश्चय**—जैसे सारी धातुए तत्त्व है।

(२) **विशेष निश्चय**—जैसे कुछ वृक्ष आम है।

(३) **एकत्व निश्चय**—जैसे अकबर भारतका सम्राट् था। इन तीन निश्चयोमे चीजे गुण-विभाग-योग, बहुत्व, एकत्व—के रूपमे देखी जाती है।

(४) **स्वीकारात्मक निश्चय**—जैसे गर्मी एक प्रकारकी गति है।

(५) **नकारात्मक निश्चय**—जैसे मनमे विस्तार परिमाण नही है।

(६) **असीम निश्चय**—जैसे मन अ-विस्तृत है। इन तीन निश्चयोंमे वास्तविकता (भाव), अभाव, और सीमाके रूपमे गुण-विभाग दिखाई देते है।

(७) **स्पष्ट निश्चय**—जैसे देह भारी है।

(८) **आशंसात्मक निश्चय**—जैसे यदि हवा गर्म रही तो तापमान बढेगा।

(९) **विकल्पात्मक०**—जैसे द्रव्य या तो ठोस होते है या तरल, या गेसीय। ये तीनो निश्चय सबधो—नित्य (समवाय या अयुतसिद्ध)-सबध, आधार (और सयोग)-सबध, कार्यकारण-सबध, समुदाय (सक्रिय निष्क्रियके आपसी)-सबध—को बतलाते है।

(१०) **सन्देहात्मक निश्चय**—जैसे 'हो सकता है यह जहर हो।'

(११) **आग्रहात्मक निश्चय**—'यह जहर है।'

(१२) **सुपरीक्षित निश्चय**—'हर एक कार्यका कोई कारण होता है।

ये तीनों निश्चय संभव-असंभव, सत्ता-असत्ता, आवश्यकता-संयोग—इन स्थितियोंको बतलाते हैं।

ये गुण-संबंध, स्थिति, इन्द्रिय-गोचर विषयोंमें ही हैं, इन्द्रिय-अगोचर (सीमापारी)में नहीं।

वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर), अमर आत्मा, कर्मस्वातंत्र्य, ईश्वर यदि हमारी **समझके** विषय नहीं हैं, तो उससे उनका न होना साबित नहीं होता। उनके अस्तित्वको हमें बुद्धि नहीं बतलाती है, क्योंकि वह **सीमापारी** पदार्थ हैं। तो भी आचारिक कानून भी हमें बाध्य करते हैं, कि हम ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करें, नहीं तो अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी-न-करना, आदि आचारोंके पालन करनेमें नियंत्रण नहीं रह जायेगा।

इस प्रकार कान्टने भी वही काम करना चाहा जो कि विशप बर्कलेने किया था। हाँ, जहाँ बर्कलेने "समझ" का आश्रय ले भौतिकतत्वोंके अस्तित्वका खंडन तथा विज्ञानका समर्थन किया; वहाँ कान्टने भौतिक तत्वोंके ज्ञानकी सच्चाईपर सन्देह पैदाकर उनके अस्तित्वको खतरेमें डाल दिया और ईश्वर-आत्मा-मनके चूँचूँके मुरब्बे—वस्तु-अपने-भीतर या वस्तुसार—को इन्द्रियोंसे परे—सीमा-पारी—बना, ईश्वर-आत्मा-धर्म-आचार (और समाजके वर्तमान ढाँचे)को शुद्ध बुद्धिसे "सिद्ध" करनेकी कोशिश की।

किन्तु क्या बुद्धि और भौतिक प्रयोगके अस्त्रको कुंठित कर कान्ट अपने अभिप्रायमें सफल हुआ? मुमकिन है बुद्धि और भौतिक तजर्बेसे जिन्हें सरोकार नहीं, वह ऐसा समझनेकी गलती करें; किन्तु कान्टके तीक्ष्ण तर्कका क्या परिणाम हुआ, इसे मार्क्सके समकालीन जर्मन विचारक हेनरिख़ **हाइने**के शब्दोंमें सुनिए—

"तब (कान्टके बाद)से सोचनेवाली बुद्धिके क्षेत्रसे ईश्वर निर्वासित हो गया। शायद कुछ शताब्दियाँ लगें जब कि उसकी मृत्यु-सूचना सर्व-साधारण तक पहुँचे; लेकिन हम तो यहाँ देरसे इस संबंधमें शोक कर रहेहैं। आप शायद सोच रहे हैं, कि अब (शोक करनेकेलिए कुछ नहीं है), सिवाय इसके कि (अपने-अपने) घर जायें?

"अभी नही, अपनी कसम ! अभी एक पीछे आनेवाली चीजका अभिनय करना है। दु खान्त नाटकके बाद प्रहसन आ रहा है।"

"अब तक इम्मानुयेल कान्ट एक गभीर निठुर दार्शनिकके तौरपर सामने आया था। उसने स्वर्ग(-दुर्ग)को तोडकर सारी सेनाको तलवारके घाट उतार दिया। विश्वका शासक (ईश्वर) बेहोश अपने खूनमे ही तैर रहा है। वहाँ दयाका नाम नही रहा। वही हालत पितृतुल्य शिवता, और आजके कष्टोकेलिए भविष्यमे मिलनेवाले सुफलकी है। आत्माकी अमरता अपनी आखिरी साँस गिन रही है ! उसके कठमे मृत्युकी यत्रणा ध्वनित हो रही है ! और बूढा भगवानदास पास खडा है, उसका छत्ता उसकी बाँह मे है। वह एक शोकपूर्ण दर्शक है—व्यथा जनित पसीनेसे उसकी भौए भीगी है, उसके गालोंपर अश्रुबिन्दु टपक रहे है।

"तब इम्मानुयेल कान्टका दिल पसीजता है; और अपनेको दार्शनिकोमे महान् दार्शनिक ही नही बल्कि मनुष्योमे भलामानुष प्रकट करनेकेलिए वह आधी भलमनसाहतसे और आधा व्यगके तौरपर सोचता है—

"बूढे भगवानदासकेलिए एक देवताकी जरूरत है, नही तो बेचारा सुखी नही रह सकेगा; और वस्तुत. लोगोको इस दुनियामे सुखी रहना चाहिए। व्यावहारिक साधारण बुद्धिका यह तकाजा है।

"अच्छी बात, ऐसा ही हो क्या पर्वाह ! व्यावहारिक बुद्धिको किसी ईश्वर या और किसीके अस्तित्वकी स्वीकृति देने दो।"

"परिणामस्वरूप कान्ट सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बुद्धिके भेदपर तर्क-वितर्क करता है, और व्यावहारिक बुद्धिकी सहायतासे उसी देवता (=ईश्वर)को फिर जिला देता है, जिसे कि सैद्धान्तिक बुद्धिने लाशके रूपमें परिणत कर दिया था।[१]

"शुद्ध बुद्धि"के लिखनेके बाद "व्यावहारिक बुद्धि" लिखकर कान्टने जो लीपापोती करनी चाही, हाइनने यहाँ उसका सुन्दर खाका खीचा है।

---

[१] (Germany, Heine; works, Vol. V.)

§ २. सन्देहवाद

ह्यूम (१७११-७६ ई०)—डेविड ह्यूम् एडिनबर्ग (स्काटलैंड)मे, कान्टसे १३ साल पहिले पैदा हुआ था। इसने कानूनका अध्ययन किया था। पहिले जेनरल सेन्टक्लेर फिर लार्ड हर्टफोर्डका सेक्रेटरी रहा, और अन्तमे १७६७-९मे इगलेंडका अण्डर-सेक्रेटरी (=उपमत्री) रहा। इस प्रकार ह्यूम् शासक वर्गका सदस्य ही नही, खुद एक शासक तथा सम्पत्तिवाली श्रेणीसे सबध रखता था। मध्यम तथा उच्चवर्गीय शिक्षित लेखक सदा यह दिखलाना चाहते है, कि वह वर्ग और वर्गस्वार्थसे बहुत ऊपर उठे हुए है, लेकिन कोई भी आँख रखनेवाला इस धोकेमे नही आ सकता। अक्सर जान-बूझकर—कभी-कभी अनजाने भी—लेखक अपनी चेष्टाओसे उस स्वार्थकी पुष्टि करते है, जिससे उनकी "दाल-रोटी" चलती है। हम बिशप् बर्कलेको देख चुके है, कि किस तरह बुद्धिकी आँखमे धूल झोक, प्रत्यक्ष—अनुमानगम्य—बुद्धिगम्य—भौतिक तत्त्वोसे इन्कारकर उसने लबें-चौडे आकर्षक विज्ञानतत्त्वका समर्थन किया। और जब लोग वस्तु-सत्यको छोड इस ख्याली विज्ञानको एक मात्र तत्त्व मानकर आँख मूँद झूमने लगे, तो फिर ईश्वर, धर्म, आत्मा, फिरिश्तोको चुपकेसे सामने ला बैठाया। कान्टको बर्कलेकी यह चेष्टा कुछ बोदी तथा गँवारूपन लिये हुए मालूम हुई। उसने उसे और ऊपरी तलपर उठाया। भौतिक तत्व साधारण बुद्धि (=समझ) गम्य है, उनकी सत्ता भी आशिक सत्त्य हो सकती है, किन्तु असली तत्त्व वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तुसार) है, जिसकी सत्ता शुद्ध-बुद्धिसे सिद्ध होती है। समझ द्वारा ज्ञेय वस्तुओसे कही अधिक सत्त्य है, शुद्ध-बुद्धिगम्य वस्तुसार। तर्क, तजर्बे, समझ, साधारण बुद्धिके क्षेत्रकी सीमा निर्धारित कर उनकी गतिको रोक कान्टने समझसे परे एक सुरक्षित क्षेत्र तैयार किया, और इस प्रशान्त, झगडे-झझट-रहित स्थानमे लेजाकर ईश्वर, आत्मा, धर्म, आचार (वैयक्तिक सम्पत्ति, सडी सामाजिक व्यवस्था) को बैठा दिया। यह था कान्टकी अप्रतिम प्रतिभाका चमत्कार।

आइये अब हम इंगलैण्डके टोरी शासक (अन्डर-सेक्रेटरी) ह्यूमको भी देखे। कान्टसे पहिलेके साइंसजन्य विचार-स्वातन्त्र्यके प्रवाहसे पुरानी नीवकी रक्षा करनेके लिए पहिलेके दार्शनिकोके प्रयत्नको उसने देखा था, और यह भी देखा था, कि वस्तु-जगत् और उससे प्राप्त सच्चाइयाँ इतनी प्रबल है, कि उनका सामना उन हथियारोसे नही किया जा सकता, जिनसे द-कार्त, लाइप्-निट्ज, बर्कलेने किया था। भौतिक तत्त्वोको गलत साबित करनेसे ह्यूम् सहमत था, किन्तु इसे वह फजूलकी जवाबदेही समझता था, कि सामने देखी जानेवाली वस्तुको तो इन्कार कर दिया जाये, और इन्द्रिय अनुभवसे परे किसी चीज—विज्ञान—को सिद्ध करनेकी जिम्मेवारी ली जाये। ह्यूम पूँजीवादी युगके राजनीतिज्ञोका एक अच्छा पथप्रदर्शक था। उसने कहा—भौतिकतत्त्वोको सिद्ध मत होने दो; विज्ञानको सिद्ध करके जिस ईश्वर या धर्मको लाना चाहते हो, वह समाजके ढाँचेको क्रान्तिकी लपटसे बचानेके लिए जरूरी है, किन्तु उनका नाम लेते ही लोग हमारी नेकनीयतीपर शक करने लगेगे, इसलिए अपनेको और सच्चा साबित करनेके लिए उनपर भी दो चोट लगा देनी चाहिए और इस प्रकार अपनेको दोनोंसे ऊपर रखकर मध्यस्थ बना देना चाहिए। यदि एक बार हम भौतिक तत्वोके अस्तित्वमे सन्देह पैदा कर देंगे और बाहरी प्रकाशको रोक देगे, तो फिर अँधेरेमे पडा जनसमुद्र किस्मतपर बैठ रहेगा। और फिर इस सन्देहवादसे हमारी हानि ही क्या है—उससे न हमारे क्लाइव झूठे हो सकते है और न माखन-रोटी या शम्पेन ही।

अब जरा इस मध्यस्थ, दूधका दूध पानीका पानी करनेवाले राज-मत्रीकी दार्शनिक उड़ानको देखिए।

(१) **दर्शन**—हम जो कुछ जान सकते है, वह है हमारी अपनी मानसिक छाप—संस्कार। हमे यह अधिकार नही है कि भौतिक या अभौतिक तत्त्वोकी वास्तविकता सिद्ध करे। हम उतनेहीको जान सकते है, जितनोको कि इन्द्रियाँ और मन ग्रहण करते है, और इस क्षेत्रमे भी सम्भावनामात्रके बारेमे हम कह सकते है। इस अनुभव (=प्रत्यक्ष, अनुमान) से बढकर ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नही है।

(२) स्पर्श—हमारे ज्ञानकी सारी सामग्री बाहरी (वस्तु द्वारा प्राप्त) और भीतरी वस्तुओंके स्पर्शों[1]—छापों—से प्राप्त होती है। जब हम देखते, अनुभव, प्यार, शत्रुता, इच्छा या संकल्प करते है, यानी हमारी सभी वेदनाएं, आसक्तियाँ और मनोभाव जब आत्मामें पहिले-पहिल प्रकट होते है, तो हमारे सामने सजीव साक्षात्कार स्पर्श ही है। बाहरी स्पर्श या वेदनाएं आत्माके भीतर अज्ञात कारणोंसे उत्पन्न होती है। भीतरी स्पर्श अधिकतर हमारे विचारोंसे आते हैं, अर्थात् एक स्पर्श हमारी इन्द्रियो-पर चोट करता है, और हम सर्दी-गर्मी, सुख-दुख अनुभव करते हैं।

(३) विचार—स्पर्शोंके बाद ज्ञानसे संबंध रखनेवाली दूसरी महत्त्व-पूर्ण चीज विचार[2] है। हमारे विचार बिलकुल ही भिन्न-भिन्न असंबद्ध संयोग-वश मिले पदार्थ नही हैं। एक दूसरेसे मिलते वक्त उनमे एक खास दर्जे तक नियम और व्यवस्थाकी पाबन्दी देखी जाती है। वह एक तरहकी एकताके सूत्रमें बद्ध दीख पड़ते हैं, जिन्हे कि हम **विचार-संबंध** कहते हैं।

(४) कार्य-कारण—कार्य कारणसे एक बिलकुल ही अलग चीज है, कारणको हम कार्यमें हर्गिज नही पा सकते। कार्य-कारणके संबंधका ज्ञान हमें निरीक्षण और अनुभवसे होता है। कार्य-कारणका संबंध यही है, कि एकके बाद दूसरा आता है—कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति कारण, कारण-नियत-पश्चाद्-वृत्ति कार्य—हम यहाँ एक घटनाके बाद दूसरीको होते देखते है।

(५) ज्ञान—हम सिर्फ प्रत्यक्ष (साक्षात्) मात्र करते है, हम इससे अधिक किसी चीजका पूर्ण ज्ञान रखते हैं, यह गलत है। जो प्रत्यक्ष है, वही वह वस्तु नही है, जिसकी कि एक तेज झाँकी हमे उस रूपमें मिलती है। वस्तुकी सिर्फ बाहरी सतह और उससे भी एक भाग मात्रका प्रत्यक्ष होता है। दार्शनिक विचार या आत्मानुभूतिसे और अधिक जान सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं, क्योंकि दार्शनिक निर्णय और कुछ नहीं, सिर्फ नियमित तथा शोधित साधारण जीवनका प्रतिबिंब मात्र है। इस तरह

---

[1] Impressions. [2] Ideas.

हमारा ज्ञान सतही—ऊपर-ऊपरका है, और उससे किसी चीजकी वास्तविकता स्थापित नही की जा सकती।

(६) **आत्मा**—"जब मै खूब नजदीकसे उस चीजपर विचार करता हूँ, जिसे कि मै **अपनी आत्मा** कहता हूँ, तो वहाँ सदा एक या दूसरी तरहका प्रत्यक्ष (=अनुभव) सामने आता है। वहाँ कभी मै **अपनी आत्मा**को नही पकड पाता।" आत्मापर भीतरसे चिन्तन करनेपर वहाँ मिलता है—गर्मी-सर्दी, प्रकाश-अन्धकार, राग-द्वेष, सुख-पीडाका अनुभव। इन्हें छोड वहाँ शुद्ध अनुभव कभी नही मिलता। इस प्रकार **आत्मा**को साबित नही किया जा सकता।

(७) **ईश्वर**—जब ईश्वर प्रत्यक्ष नही देखा जा सकता, तो उसके होनेका प्रमाण क्या है? उसके गुण आदि। किन्तु ईश्वरके स्वभाव, गुण, आज्ञा और भविष्य योजनाके संबंधमे कुछ भी कहनेके लिए हमारे पास कोई भी साधन नही है। घडेसे कुम्हार—अर्थात् कार्यसे कारण—के अनुमानसे हम ईश्वरको सिद्ध नही कर सकते। जब हम एक घरको देखते है, तो पक्की तौरसे इस निश्चयपर पहुँचते है, कि इसका कोई बनानेवाला मिस्त्री या कारीगर था। क्योकि हमने सदा मकान-जातिके कार्योंको कारीगर-जातिके कारणो द्वारा बनाये जाते देखा है। किन्तु विश्व-जातिके कार्योंको ईश्वर-जातिके कारणों द्वारा बनते हमने कभी नही देखा, इसलिए यहाँ घर और कारीगरके दृष्टान्तसे ईश्वरको नही सिद्ध कर सकते। आखिर अनुमानमे, जिस जातीय कार्यको जिस जातीय कारणसे उत्पन्न होता देखा गया, उसी जातिके भीतर ही रहना पड़ता है। ईश्वर पूर्ण, अचल, अनन्त है, ये ऐसे गुण है, जिन्हे निरन्तर परिवर्त्तनशील—क्षण-क्षण पैदा होने तथा मरनेवाला—मन नही जान सकता; जब एक मन दूसरे क्षण रहता ही नही, तो नया आनेवाला मन कैसे जान सकता है, कि ईश्वरका अमुक गुण पहिले भी मौजूद था। मनुष्य अपने परिमित ज्ञानसे ईश्वरका अनुमान कर ही नही सकता, यदि उसके अज्ञानसे, अनुमान करनेका आग्रह किया जाये, तो फिर यह *दर्शन* नही हुआ।

विश्वके स्वभावसे ईश्वरके स्वभावका अनुमान वहुत घाटेका सौदा रहेगा। कार्यके गुणके अनुसार ही हम कारणके गुणका अनुमान कर सकते हैं। कार्य-जगत् अनन्त नही सान्त, अनादि नही सादि है, इसलिए ईश्वरको भी सान्त और सादि मानना पड़ेगा। जगत् पूर्ण नही अपूर्ण, क्रूरता, संघर्ष, विषमतासे भरा हुआ है; और यह भी तब जब कि ईश्वरको अनन्तकालसे अभ्यास करते हुए बेहतर जगत्के बनानेका मौक़ा मिला था। ऐसे जगत्का कारण ईश्वर तो और अपूर्ण, क्रूर, संघर्ष-विषमता-प्रेमी होगा।

मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक सीमित अवस्थाओंके कारण सदाचार, दुराचारका भी उसपर दोष उतना नही आ सकता, आखिर वह ईश्वर हीकी देन है।

(८) धर्म—अटकलबाज़ी, कुतूहल, या सत्यताका शुद्ध प्रेम भी धर्म और ईश्वर-विश्वासको पैदा करता है, किंतु इनके मुख्य आधार हैं—सुखके लिए भारी चिन्ता, भविष्यकी तकलीफोंका भय, वदला लेनेकी जबर्दस्त इच्छा, पान-भोजन और दूसरी आवश्यक चीजोकी भूख।

ह्यूम्‌ने यद्यपि वर्कले, कान्ट जैसोके तर्कोंपर भी काफी प्रहार किया है, और दर्शनको धर्मका चाकर वननेसे रोकना चाहा; किन्तु दूसरी तरफ़ ज्ञानको असभव मानकर उसने कोई भावात्मक दर्शन नही पेश किया। दर्शनका प्रयोजन सन्देह मात्र पैदा करना नही होना चाहिए, क्योंकि जीवनके होनेमे सन्देहकी गुंजाइश नही है।[1]

§ ३–भौतिकवाद

अठारहवी सदीमे भौतिकवादी विचारों, तथा सामाजिक परिवर्तन संबधी ख्याल जोर पकड़ रहे थे, इसे हम कह चुके हैं। इस शताब्दीमे

---

[1] साधु शान्तिनाथ भी अपने "Critical Examination of the philosophy of Religion" (2 vols) में ह्यूम्‌का ही अनुसरण करते हैं।

भौतिकवादी दार्शनिक भी काफी हुए थे, जिनमे प्रमुख थे—हर्टली (१७०४-५७ ई०), ला मेत्री (१७०६-५१), हल्वेशियो (१७१५-७१), दा-अलेम्बर (१७१७-८३), द्'ोल्बाश् (१७२३-८६), दीदेरो (१७३१-८४), प्रीस्टली (१७३३-१८०४), कबानी (१७५७-१८०८)।

भौतिकवादका समर्थन सिर्फ दार्शनिकोके प्रयत्नपर ही निर्भर नही था, बल्कि सारा साइंस—साइंसदानोके वैयक्तिक विचार चाहे कुछ भी हों—भौतिकवादी प्रवृत्ति रखता था, इसीलिए यह अकेला अस्त्र दार्शनिकोके हजारो दिमागी तर्कोको काटनेके लिए पर्याप्त था। इसीलिए अठारहवी सदीकी भौतिकवादी प्रगति इसपर निर्भर नही है कि उसके दार्शनिकोकी सख्या कितनी है, या वह कितने शिक्षितोको प्रिय हुआ।

हर्टली मनोविज्ञानको शरीरका एक अश मानता था। दे-कार्त यद्यपि द्वैतवादी ईश्वर-विश्वासी कट्टर कैथलिक ईसाई था, लेकिन उसके दर्शनने अनजाने फ्रासमे भौतिकवादी विचारोके फैलानेमें सहायता की। दे-कार्तका मत था कि निम्न श्रेणीके प्राणी चलते-फिरते यंत्र भर हैं, यदि प्राणीके सभी अग ठीक जगहपर लगे हो, तो बिना आत्माके सिर्फ इन्द्रियों द्वारा उत्पादित उत्तेजनासे भी शरीर चलने फिरने लगेगा। इसीको लेकर ला-मेत्री और दूसरे फ्रेच भौतिकवादियोने आत्माको अनावश्यक साबित किया, और कहा कि सभी सजीव वस्तुए भौतिक तत्वोसे बने चलते-फिरते स्वयं वह यत्र है। ला मेत्रीने कहा—जब दूसरे प्राणी, दार्शनिक दे-कार्तके मतसे, बिना आत्माके भी चल-फिर, सोच-समझ सकते हैं, तो मनुष्यमे ही आत्माकी क्यों जरूरत है ? सभी प्राणी एक ही विकासके नियमोका अनुसरण करते हैं, अन्तर है तो उनके विकासके दर्जेमे। कबानीके ग्रन्थ फ्रासमे भौतिकवादके प्रचारमे सहायक हुए थे। उसकी कितनीही कहावते बहुत मशहूर है। "शरीर और आत्मा एक ही चीज है।" "मनुष्य ज्ञानततुओका गट्ठा है।" "पित्ता जिस तरह रस-प्रस्राव करता है, वैसे ही दिमाग विचारोका प्रस्राव करता है।" "भौतिक तत्त्वोके नियम मानसिक आचारिक घटनाओपर भी लागू है।"

भौतिकवादपर एक आक्षेप किया जाता था, कि उसके अनुसार ईश्वर, परलोकका न डर होनेसे दुनियामे दुराचार फैलने लगेगा, लोग स्वार्थान्ध हो दूसरेकी धन-सम्पत्तिको लूटनेमे नही हिचकिचायेगे। किन्तु, अठारहवी सदीने इसका जवाब भौतिकवादियोके आचार-विचारसे दे दिया। ये भौतिकवादी सबसे ज्यादा वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक असमानताके विरोधी थे, व्यक्ति नही सारे समाजके कल्याणपर जोर देते थे। हेल्वेशियो ने कहा था—प्रबोधपूर्ण आत्म-स्वार्थ, आचारकी सबसे अधिक दृढ बुनियाद बन सकता है।

द्वादश अध्याय

उन्नीसवीं सदीके दार्शनिक

अठारहवी सदी साइसका प्रारंभिक काल था, लेकिन उन्नीसवी सदी उसके विकासके विस्तार और गति दोनोंमे ही पहिलेसे तुलना न रखती थी। अब साइस पर्वतका आरंभिक चश्मा नही बल्कि एक महानदी बन गया था। अब उसे दर्शनकी पर्वाह नही थी, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए दर्शनको साइंसकी सहायता आवश्यक थी, और इस सहायताको बिना उसकी मर्जीके लेनेमे दर्शनने परहेज नही किया।

उन्नीसवी सदीमे ज्योतिष-शास्त्रने ग्रहों-उपग्रहोंकी छान-बीन ही नही पूरी की, बल्कि सूर्यकी दूरी ज्यादा शुद्धतासे मालूम की। स्पेक्ट्रस्कोप (वर्ण-रश्मि-दर्शक-यत्र)की मददसे सूर्य, तारोंके भीतर मौजूद भौतिक तत्त्वों, उनके ताप, घनता आदि तथा दूरी मालूम हुई और तारोके बारेमे चले आते कितने ही भ्रम और मिथ्याविश्वास दूर हो गए।

गणितके क्षेत्रमे लोबाचेस्की, रीमान आदिने ओकलेदिससे अलग तथा अधिक शुद्ध ज्यामितिका आविष्कार किया।

भौतिक साइंसमे यूल, हेल्महोल्ट्ज, केल्विन्, एडिंग्टनने नये आविष्कार किये। वैज्ञानिकोने सिर्फ परमाणुओकी ही छानबीन नही की बल्कि टाम्सन परमाणुओको भी तोडकर एलेक्ट्रनपर पहुँच गया।[1] बिजलीसे परिचय ही नही बल्कि शताब्दीके अन्त तक सडको और घरोको बिजली प्रकाशित करने लगी।

रसायन-शास्त्रमे परमाणुओकी नाप-तोल होने लगी, और हाइड्रोजन-

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

को बटखरा बना परमाणु-तत्त्वोके भार आदिका पता लगाया गया। १८२८ ई०मे वोलरने सिर्फ प्राणियोमें मिलनेवाले तत्त्व ऊरियाको रसायनशालामे कृत्रिम रूपसे बनाकर सिद्ध कर दिया, कि भौतिक नियम प्राणि-अप्राणि दोनो जगतमे एकसे लागू है। शताब्दीके आरभमे ३० के करीब मूल रसायन तत्त्व ज्ञात थे, किन्तु अन्तमे उनकी संख्या ८० तक पहुँच गई।

प्राणिशास्त्रमे अनुवीक्षणसे देखे जानेवाले बेक्टीरिया और दूसरे कीटाणुओकी खोज उनके गुण आदिने विज्ञानके ज्ञान-क्षेत्रको ही नही बढाया, बल्कि पास्तोरकी इन खोजोने घाव आदिकी चिकित्सा तथा, टीनबद खाद्यपदार्थोकी तैयारीमे बडी सहायता पहुँचाई। डेवीने बेहोशीकी दवा निकालकर चिकित्सकोके लिए आपरेशन आसान बना दिया। शताब्दीके मध्यमे डार्विनके **जीवन-विकासके** सिद्धान्तने विचारोमे भारी क्रान्ति पैदा की, और जड-चेतनकी सीमाओको बहुत नजदीक कर दिया।

इस तरह उन्नीसवी सदीने विश्व-सबधी मनुष्यके ज्ञानमे भारी परिवर्त्तन किया, जिससे भौतिकवादको जहाँ एक ओर भारी सहायता मिली, वहाँ "दार्शनिको"की दिक्कते बहुत बढ गई। इसी तरह फिख़्टे, हेगेल्, शोपनहार जैसे विज्ञानवादियोने भौतिकतत्त्वोसे भी परे विज्ञानतत्त्वपर पहुँचनेकी कोशिश की। शेलिङ्, नीट्शेने द्वैतवादी बुद्धिवादका आश्रय ले भौतिकवाद-की बाढको रोकना चाहा। स्पेन्सरने ह्यूम्के मिशनको सँभाला और अपने अज्ञेयतावाद द्वारा समाजके आर्थिक-सास्कृतिक ढाँचेको बरकरार रखनेकी कोशिश की। लेकिन इसी शताब्दीको मार्क्स जैसे प्रखर दार्शनिकको पैदा करनेका सौभाग्य है, जिसने साइससे अपने दर्शनको सुव्यवस्थित किया, और उसके द्वारा दर्शनको समाजके बदलनेका साधन बनाया।

§ १—विज्ञानवाद

१—फिख़्टे (१७६५-१८१४ ई०)

योहन गॉटलीप् फिख़्टे सेक्सनी (जर्मनी)मे एक गरीब जुलाहेके घर पैदा हुआ था।

परमतत्त्व—कान्टने बहुत प्रयत्नसे **वस्तुसार** (वस्तु-अपने-भीतर)को समझकी सीमाके पार **बुद्धि-अगम्य** वस्तु साबित किया था। फिख़्टेने कहा, कि वस्तुसार भी मनसे परेकी चीज नही, बल्कि मन हीकी उपज है। सारे तजर्बे तथा मनके सिर्फ आकार ही नही "परम-आत्मा"[1]से उत्पन्न हुए है, बल्कि उत्पत्तिमे वैयक्तिक मनोने भी भाग लिया है।" "परम-आत्माने अपनेको ज्ञाता (=आत्मा) और ज्ञेय (=विषय)के रूपमे विभक्त किया, क्योकि आत्माके आचारिक विकासके लिए ऐसे बाधा डालनेवाले पदार्थोकी जरूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्नसे पार करे। इन्ही कारणोंसे परम-आत्माको अनेक आत्माओमे भी विभक्त होना पडता है, यदि ऐसा न हो तो उन्हे अपने-अपने कर्त्तव्योको पूरा करनेका अवसर नही मिलेगा। आत्माओंके अनेक होनेपर भी वह उस एक **आचारिक विधान**के प्रकाश है, जिसे कि परम-आत्मा या ईश्वर कहते है। फिख़्टेका परमतत्त्व स्थिर नही, बल्कि सजीव, प्रवाह है।

ईश्वरको ठोक-पीटकर, हर एक दार्शनिक, अपने मनका बनाना चाहता है, लेकिन सबका प्रयत्न है, इस बेचारेको खतरेसे बचाना।

(१) श्रद्धातत्त्व—कान्टने **आचारिक विधि**—यह आचार तुम्हे जरूर करना होगा—के बारेमे कहा, कि उसपर विश्वास करनेसे हम सन्देहवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद[2]से बँचते है। चूँकि हम आचारिक विधानपर विश्वास रखते है, इसलिए हम उसे जानते है। यह आचारिक सच्चाई है, जो हमको आजाद बनाती है, और हमारे स्वातन्त्र्यको सिद्ध करती है। कान्ट और फिख़्टेके इस दर्शनके अनुसार हम ज्ञानकी पर्वाह न कर विश्वासपर दृढ हो अपनी स्वतत्रता पाते है—विश्वास करने न करनेमें जो हमे आजादी है! यदि हम दो तीन हजार वर्ष पहिले चद आदमियो द्वारा अपने स्वार्थ और स्वार्थरक्षाके लिए बनाये गये आचारिक नियमोको नही मानते, तो अपनी आजादी खो डालते है!!

---

[1] Absolute Self. [2] Determinism.

और हमारी आजादीके सबसे बडे दुश्मन सन्देहवाद, भौतिकवाद है, जो कि आजादीके एकमात्र नुस्खे विश्वास (=श्रद्धा) पर कुठाराघात करते हुये बुद्धि और तजर्बेके बतलाये रास्तेपर चलनेके लिए जोर देते है !!! अक़्लको घबरानेकी जरूरत नही, "दर्शन"का मतलब उसे सहारा देना नही बल्कि उसे भूल-भुलैयामे डाल थकाकर बैठा देना है। और जहाँ अक़्लने ठोस पृथिवी और उसके तजर्बेको छोडा कि दार्शनिक अपने मतलबमे काम-याब हुए।

(२) **बुद्धिवाद**—साइंस-युगमे फिख़्टे साइंस, और प्रयोग (=तजर्बे) को इन्कारकर अपने दर्शनको सिर्फ उपहासकी चीज बना सकता था; इलीलिए दर्शन फिख़्टेकी परिभाषामे, सार्वदैशिक साइस, साइसोका साइस, (=विजेन्शाफ्ट लेरे) है। प्रयोग और बुद्धिवादको पहिले मारकर फिख़्टे कहने चला है—यदि दर्शन तजर्बेसे सामजस्य नही रखता, तो वह अवश्य भूठा है; क्योकि दर्शनका काम है अनुभवके पूर्ण (रूप)को निकाल कर रखना, और बुद्धिकी आवश्यक क्रिया द्वारा उसकी व्याख्या करना। जो परम-आत्माको एकमात्र परमार्थ तत्त्व माने और "आचारिक" विश्वास (=श्रद्धा)को आजादीको एकमात्र पन्थ समझे, उसके मुँहसे तजर्बे और अकलकी यह हिमायत दिखावेसे बढकर नही है।

(३) **आत्मा**—आत्मा परम-आत्मासे निकला है, यह बतला आये है। आत्मा परम-आत्माकी क्रियाका प्राकट्य है। आत्माकी सीमाए है। विचारमे वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और मननसे परे नही जा सकता, और व्यव-हारमें वह (परम-आत्माके) विश्व-प्रयोजनसे परे नही जा सकता।

(४) **ईश्वर**—ईश्वर, एकमात्र परम-तत्त्व या परम-आत्मा है यह बतला आये है। आचारिक विधानपर कान्टकी भाँति फिख़्टेका कितना जोर था यह भी कहा जा चुका है। आचारिक विधानके ढाँचेको कायम रखनेकेलिए एक विश्व-प्रयोजन या ईश्वरकी ज़रूरत है। सच-मुच ही आचारिक विधान—जो कि सत्ताधारी वर्गके स्वार्थके यत्र है—का समर्थन बुद्धि और प्रयोगसे नही हो सकता, उसके लिए ईश्वरका अवलंब

चाहिए। फिख्टे और स्पष्ट करते हुए यह भी कहता है कि आचारिक विधानके लिए धार्मिक विश्वासकी भी जरूरत है। संसार भरमे विद्यमान आचारिक विधान (=धर्म-नियम) और उसके विधानके विपाकपर विश्वास-के बिना आचारिक विधान ठहर नही सकते। अन्तरात्माकी आवाज सभी विश्वासो और सच्चाइयोकी कसौटी है। वह अभ्रान्त है। अन्तरात्माकी आवाज हमारे भीतर भगवान्‌की आवाज़ है। आध्यात्मिक जगत् और हमारे बीच ईश्वर बिचवई है, और वह अन्तरात्माकी आवाज़के रूपमे अपना सन्देश भेजता है।

२—हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)

जार्ज विल्हेल्म फ्रीड्रिख् हेगेल् स्टट्गार्ट (जर्मनी)मे पैदा हुआ था। टुबिंगन् विश्वविद्यालयमें उसने धर्मशास्त्र और दर्शनका अध्ययन किया। पहिले जेनामे दर्शनका प्रोफेसर हुआ, फिर १८०६-८ ई० तक बम्बेर्गमे एक समाचारपत्रका सम्पादक रहा। उसके बाद फिर अध्यापनका काम शुरू किया, और पहिले हाइडेल्बेर्ग फिर बेर्लिनमे प्रोफेसर रहा। ६१ वर्षकी उम्रमे हैजेसे उसकी मृत्यु हुई।

[**विकास**]—आधुनिक युगमे जो अभौतिकवादी दर्शनका नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल्‌के दर्शनके रूपमे वह चरमसीमाको पहुँचा। उसके दर्शनके विकासमे अफलातूँ, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्टका खास हाथ है। कान्टसे उसने लिया कि मन (=विज्ञान) सारे विश्वका निर्माता है। हमारे वैयक्तिक मन (=विज्ञान)विश्व-मनके अंश है। वही विश्व-मन हमारे द्वारा विश्वको अस्तित्वमे लानेके लिए मनन (=अभिध्यान) करता है। स्पिनोजासे उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्त्व उसी एक अनादि तत्त्वके दो रूप है। अफलातूँके दर्शनसे लिया—(१) विज्ञान, सामान्य विज्ञान, (आचारिक) मूल्य और यह कि पूर्णताका जगत् ही एक मात्र वास्तविक जगत् है। इन्द्रियोका जगत् उसी **सीमा-पारी** आत्मिक जगत्‌की उपज है, (२) भौतिक जगत् आत्मिक जगत् (=परमतत्त्व)के स्वेच्छापूर्वक सीमित करनेका परिणाम है,

अर्थात् वह आत्मिक तत्त्वके उच्च स्थानसे नीचे पतन है। लेकिन इस विज्ञान-वादी पतनके साथ-साथ हेगेल्ने अरस्तूके आत्मिक विकासको भी लेना चाहा, यानी विश्वका हर एक कदम और ऊँचे विकासकी ओर उसे ले जा रहा है। हेगेल्की अपनी सबसे बडी देन है, यही द्वन्दात्मक[1] विकास।

(१) दर्शन और उसका प्रयोजन—हेगेल्के अनुसार दर्शनका काम है, प्रकृति और तजर्बेके द्वारा सारे जगत्को जैसा वह है, वैसा जानना, उसके भीतरके हेतुका अध्ययन करना और समझना—सिर्फ बाहरी चलायमान तथा संयोगसे उत्पन्न रूपोंका ही नही, बल्कि प्रकृतिके भीतर जो अनादि सार, समन्वयी व्यवस्था है, उसका भी। जगत्की वस्तुओका कुछ अर्थ है, ससारकी घटनाए बुद्धिपूर्वक है, ग्रह-उपग्रह-सौरमंडल बुद्धिसंगत नियमके अन्दर है, प्राणिशरीर सप्रयोजन, अर्थपूर्ण और बुद्धिसगत है। चूँकि वास्तविकता अपने गर्भके भीतर बुद्धिसगत है, इसीलिए अपने चिन्तन या ज्ञानकी प्रक्रियाको भी हम बुद्धिसगत घटनाके रूपमे पाते है। चूँकि दर्शनका सबध प्रकृतिका गभीरतासे अध्ययन करना है, इसीलिए प्रकृतिके साथ दर्शनका विकास उच्च-से-उच्चतर होता जा रहा है।

(२) परमतत्त्व—हेगेल्ने कान्टके अज्ञात वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर) या परमात्मतत्त्वको माननेसे इन्कार कर दिया, और उसकी जगह बतलाया, कि मन (=विज्ञान) और भौतिक प्रकृति ही परमतत्त्व है, प्रकृति किसी अज्ञात परम (-आत्म) तत्त्वका बाहरी आभास या दिखलावा नही, बल्कि वह स्वय परमतत्त्व है। मन और भौतिक तत्त्व दो अलग-अलग चीजे नही, बल्कि परमतत्त्वके आत्मप्रकाशके एक ही प्रवाहके दो अभिन्न अग है। मनके लिए एक भौतिक जगत्की ज़रूरत है, जिसपर कि वह अपना प्रभाव डाल सके, किन्तु भौतिक जगत् भी मनोमय है। "वास्तविक मनोमय[2] है, और मनोमय वास्तविक है।"

(३) द्वन्दात्मक परमतत्त्व—परमतत्त्व भौतिक और मानस जगत्से

---

[1] Dialectical evolution. [2] Rational

अभिन्न है, इसे हेगेल् बहुत व्यापक अर्थमे इस्तेमाल करता है। परमतत्त्व स्थिर नही गतिशील, चल है।—जगत् क्षण-क्षण बदल रहा है, विचार, बुद्धि, समझ या सच्चा ज्ञान सक्रिय, प्रवाहित घटना, विकासकी धारा है। विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है; कोई चीज—सजीव या निर्जीव, निम्न दर्जे या ऊँचे दर्जेके जन्तु—अभी अविकसित, विशेषताशून्य, सम-स्वरूप रहती है, वह उस अवस्थासे विकसित, विशेषतायुक्त, हो विभक्त होती है, और कितने ही भिन्न-भिन्न आकारोको ग्रहण करती है। गर्भ, अणुगुच्छक आदिके विकासमे इसे हम देख चुके है।[1] ये भिन्न-भिन्न आकार जहाँ पहिली अविकसित अवस्थामे अभिन्न=विशेषता-रहित थे, अब वह एक दूसरेसे स्वरूप और स्थितिमे ही भेद नही रखते, बल्कि वह एक दूसरेके विरोधी है। इन विरोधियोका अपने विरोधी गुणो और क्रियाओके कारण आपसमे द्वन्द चल रहा है, तो भी उस पूर्णमे वह एक है, जिसके कि वह अवयव है।—अर्थात् वास्तविकता अपने भीतर द्वन्द्व या विरोधी अवयवोका स्वागत करती है। ऊपरकी ओर विकास करना वस्तुओकी अपनी आन्तरिक "रुचि"का परिणाम है। इस तरह विकास निम्न स्थितिका प्रयोजन, अर्थ और सत्य है। निम्नमे जो छिपा, अस्पष्ट होता है, उच्च अवस्थामे वह प्रकट, स्पष्ट हो जाता है। विकासकी धारा अपनी हर एक अवस्थामे पहिलेकी अपनी सारी अवस्थाओंको लिये रहती है, तथा सभी आनेवाली अवस्थाओंकी झाँकी देती है। जगत् अपनी प्रत्येक स्थितिमे पहिलेकी उपज तथा भविष्य-द्वाणी भी है। उच्च अवस्थामे पहुँचनेपर निचली अवस्था अभावप्राप्त[2] (=प्रतिषिद्ध) बन जाती है—अर्थात् इस वक्त वह वही नही रहती, जो कि पहिले थी; तो भी पिछली अवस्था उच्च अवस्थाके रूपमे सुरक्षित है, वह ऊपर पहुँचाई गई है। यह पहुँचाना—निम्नसे ऊपरकी ओर बढना, एक दूसरी विरोधी अवस्थामे पहुँचा देता है। दो रास्ते एक जगहसे फूटते है, किन्तु आगे चलकर उनकी दिशा एक दूसरेसे विरोधी बन जाती

---

[1] देखो मेरी "विश्वकी रूपरेखा"। [2] Negated.

है। पानीकी गति उसे बर्फ बना गतिसे उलटे (कठोर, स्थिर, ज्यादा विस्तृत) रूपमे बदल देती है। पहिली अवस्थासे उसकी बिलकुल विरोधी अवस्थामे बदल जाना इसे हेगेल् **द्वन्दात्मक घटना** कहता है।

[द्वन्दात्मकता]—द्वन्द, विरोध सभी तरहके जीवन और गतिकी जड़ है। हर एक वस्तु द्वन्द है। द्वन्द या विरोधका सिद्धान्त ससारपर शासन कर रहा है। हरएक वस्तु बदलती और बदलकर पहिलेसे विरुद्ध अवस्थामे परिणत होना चाहती है। बीजोके भीतर कुछ और बनने, अपनेपनसे लडने तथा बदलनेकी 'चाह' भरी है। द्वन्द (=विरोध) यदि न होता, तो जगत्मे न जीवन होता, न गति, न वृद्धि, और सभी चीजें मुर्दा और स्थिर होती। लेकिन, प्रकृतिका काम विरोध (=द्वन्द) तक ही खतम नही हो जाता, प्रकृति उसपर काबू पाना चाहती है; वस्तु अपने विरोधी रूपमे परिणत जरूर हो जाती है, लेकिन गति वही रुक नही जाती; वह आगे जारी रहती है, और आगे भी विरोधोंको दबाया और उनका समन्वय किया जाता है, इस प्रकार विरोधी एक पूर्ण शरीरके अवयव बन जाते है। विरोधी, एक दूसरेसे जहाँ तक सबंध है, आपसमे विरोधी है; किन्तु जहाँ तक उस अपने एक पूर्ण शरीरसे संबध है, वे परस्पर-विरोधी नही है। वहाँ तो यही परस्परविरोधी मिलकर एक पूर्ण शरीर-को बनाते है।

विश्व निरन्तर होते विकासोंका प्रवाह है, यही उसके लक्ष्य या प्रयोजन है, वही विश्व-बुद्धिके प्रयोजन है। परमात्मतत्त्व[1] वस्तुत विश्वके विकास-का परिणाम है। लेकिन यह परिणाम जितना है, उतना सम्पूर्ण नही है। सच्चा **सम्पूर्ण** है, परिणाम (परमात्मतत्त्व) और उसके साथ विकासका सारा प्रवाह—वस्तुए अपने प्रयोजनके साथ खतम नही होती, बल्कि वह जो बन जाती है, उसीमे समाप्त होती है। इसीलिए दर्शनका लक्ष्य परिणाम नहीं, बल्कि उसका लक्ष्य यह दिखलाना है कि कैसे एक परिणाम दूसरे

[1] Absolute.

परिणामसे पैदा होता है, कैसे उसका दूसरेसे प्रकट होना अवश्यभावी है।

वास्तविकता (परमतत्त्व) मनसे कल्पित एक निराकार ख्याल नही, बल्कि चलता बहता प्रवाह, एक द्वन्दात्मक सन्तान है। उसे हमारे निराकार ख्याल पूरी तौरसे नही व्यक्त कर सकते। निराकार ख्याल एक अंश और उत्पन्न छोटे अशके ही बारेमे बतलाते है। वास्तविकता इस.क्षण यह है, दूसरे क्षण वह है; इस अर्थमे वह अभावों, विरोधों, द्वन्द्वोंसे भरी हुई है; पौधा अकुरित होता है, फूलता है, सूखता और फिर मर जाता है; मनुष्य बच्चा होता फिर तरुण, जीर्ण, वृद्ध हो मर जाता है।

(४) **द्वन्द्ववाद्**—वस्तु आगे बढते-बढते अपनेसे उलटे विरोधी रूपमे बदल जाती है। **संपूर्ण** (=अवयवी) परस्पर विरोधी अवयवोंका योग है, यह हम कह चुके। दो विरोधियोंका समागम कैसे होता है, इसे हेगेल्ने इस प्रकार समझाया है।—हमारे सामने एक चीज़ आती है, फिर उसकी विरोधी दूसरी चीज आ मौजूद होती है। इन दोनोका द्वन्द चलता है, फिर दोनोंका समन्वय हम एक तीसरी चीजसे करते है। इनमे पहिली बात वाद है, दूसरी प्रतिवाद और तीसरी संवाद। उदाहरणार्थ—पर्मेनिदने कहा मूल तत्त्व स्थिर, नित्य है, यह हुआ वाद। हेराक्लितुने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तन-शील है, यह हुआ प्रतिवाद। परमाणुवादियोंने कहा, यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनो है; यह हुआ सवाद।

(५) **ईश्वर**—हेगेल्का दर्शन स्पिनोजासे अधिक क्रान्तिकारी है, किन्तु ईश्वरका मोह उसे स्पिनोजासे ज्यादा है। ईश्वर सिद्ध करनेके लिए बडी भूमिका बाँधते हुए वह कहता है—विश्व एक पागल प्रवाह, बिल्कुल ही अर्थहीन बे-लगामसी घटना नही है, बल्कि इसमे नियमबद्ध विकास और प्रगति देखी जाती है। हम वास्तविकताको आभास और सार, बाह्य और अन्तर, द्रव्य और गुण, शक्ति और उसके प्राकटच, सान्त और अनन्त, मन (=विज्ञान) और भौतिक तत्व, लोक और ईश्वरमे विभक्त करना चाहते है; किन्तु इससे हमे झूठे भेद और मनमानी दिमागी कल्पनाके सिवाय कुछ

हाथ नही आता[1] "सार ही आभास है, अन्तर ही बाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही विश्व है।"

हेगेल् ईश्वरको विज्ञान (=विचार) कहकर पुकारता है। विश्व जो कुछ हो सकता है, वह है, अनन्तकालमे विकासकी जितनी सभावनाए है, यह उनका योग है। मन वह विज्ञान है, जो कि अब तक तैयार हो चुका है।

जगत् सदा बनाया जा रहा है। विकास सामयिक नही निरन्तर प्रवाहित है। ऐसा कोई समय नही था, जब कि विकासका प्रवाह जारी न रहा हो। परमात्मतत्त्व वह सनातन है, जिसकी ओर सारा विकास जा रहा है। विकास असत्से सत्की ओर कभी नही हुआ। भिन्न-भिन्न वस्तुओका विकास क्रमश जरूर हुआ है, उनमे कुछ दूसरोके कारण या पूर्ववर्त्ती रही।

(६) **आत्मा**—विश्व-बुद्धि या विश्व-विज्ञान[2] प्राणिशरीरमे आत्मा बन जाता है। वह अपनेको शरीरमे बन्द करता है, अपने लिए एक शरीर बनाता, एक विशेष व्यक्ति बन जाता है। यह उत्पादन अनजाने होता है। किन्तु आत्मा, जिसने अपने लिए एक प्राणिशरीर बनाया, उससे वह हो जाता है, और अपनेको शरीरसे भिन्न समझने लगता है। चेतना उसी तत्त्वका विकास है, जिसका कि शरीर भी एक प्राकट्य है। वस्तुत. हम (=आत्मा) सिर्फ उसे ही जानते है, जिसे कि **हम** बनाते या पैदा करते है। हमारे ज्ञानका विषय हमारी अपनी ही उपज है, इसीलिए वह ज्ञानमय है।

(७) **सत्य और भ्रम**—सत्य और भ्रमके सबधमे हेगेल्के विचार बडे विचित्र-से है। उसके अनुसार भ्रम परमसत्यके प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। यदि ऐसा न होता, तो जिसे हम गलतीसे उस समय सत्य कहते है, उससे आगे नही बढ सकते। सपूर्ण सत्य हर तरहके सभव भ्रमपूर्ण दृष्टिविन्दुओसे मिलकर बना है। भ्रमकी यह क्रमागत अवस्थाए जरूरी है,

---

[1] "Natur hat weder kern noch schale" [2] Idea

आगे पाये जानेवाले सत्यका यह सार है, कि पीछे पार किये सारे भ्रमोंका सत्य—वह लक्ष्य जिसकी कि खोजमे वह भ्रममे फिर रहा था—होवे। इसीलिए **परमतत्त्व**—निम्न और सापेक्ष सत्यके रूपमे ही मौजूद है। अनन्त सिर्फ सान्तके सत्यके तौरपर ही पाया जाता है। सत्य पूर्ण तभी हो सकता है, जब कि अपूर्ण द्वारा की जानेवाली खोजको पूरा करता हो।

(८) हेगेल्के दर्शनकी कमज़ोरियाँ—(१) हेगेल्का दर्शन विश्वको परमविज्ञान[1]के रूपमे मानता है। इस तरह बर्कलेका विज्ञानवाद और हेगेल्के दर्शनका भाव एक ही है। दोनो मन, शुद्ध-चेतनाको भौतिक, तत्त्वोंसे पहिले मानते है।

(२) हेगेल् यद्यपि विश्वमे परिवर्त्तन, प्रवाहकी बात करता है; किन्तु वास्तविक परिवर्त्तनको वह एक तरहसे इन्कार करता है। जो भविष्यमें होनेवाला है, वह पहिले हीसे मौजूद है, यह इसी बात को प्रकट करता है; और विश्वको भाग्यचक्रमे बँधा एक निरीह वस्तु बना देता है। परमतत्त्वकी एकतामें विश्वकी विचित्रताओंको वह खपा देना चाहता है, और इस तरह भिन्न-भिन्न वस्तुओंवाले जगत्के व्यक्तित्वको एक मूलतत्त्वसे बढकर "कुछ नही" कह, परिवर्त्तन तथा विकासके सारे महत्त्वको खतम कर देता है।

(३) हेगेल् कहता है, कि सभी सत्ताओकी एकताए, सभी बुराईसी जान पड़ती बाते वस्तुत. अच्छी (=शिव) है। ऊँचे दृष्टिकोणसे वह बुराइयोंको उचित ठहराना चाहता है, और बुराइयोंको भ्रम कहकर उनसे ऊपर उठना चाहता है। दर्शनमे उसका यह औचित्य व्यवहारमे बहुत खतरनाक है, इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक अत्याचार, वैषम्य सभीको उचित ठहराया जा सकता है।

३—शोपन्हार (१७८८-१८६० ई०)—अर्थर शोपन्हार डेन्ज़िग्में एक धनी बैंकरके घरमे पैदा हुआ था। उसकी माँ एक प्रसिद्ध उपन्यास-

---

[1] Idea.

लेखिका थी। गोर्टिगेन (१८०६-११ ई०) और बर्लिन (१८११-१३ ई०)के विश्वविद्यालयोमे उसने दर्शन, विज्ञान, और संस्कृत-साहित्यका अध्ययन किया। कितने ही सालो तक जहाँ-तहाँ ठोकरें खानेके बाद बर्लिन विश्व-विद्यालयमें उसे अध्यापकी मिली, जहाँसे १८३१मे उसने अवकाश ग्रहण किया, और फिर माइन-तटवर्ती फ्राकफोर्त शहरमे बस गया।

[तृष्णावाद[1]]—कान्टका दर्शन वस्तु-अपने-भीतर (वस्तु-सार)के गिर्द घूमता है, शोपन्हारका दर्शन तृष्णा—सबके—भीतर (सर्वव्यापी तृष्णा)-के गिर्द घूमता है। वस्तुए या इच्छाएं कोई वैयक्तिक नही है, व्यक्ति केवल भ्रम है। तृष्णासे परे कोई वस्तु-अपने-भीतर नही है। तृष्णा ही कालातीत, देशातीत, मूलतत्त्व और कारण-विहीन क्रिया है। वही मेरे भीतर उत्तेजना, पशुबुद्धि, उद्यम, इच्छा, भूखके रूपमे प्रकट होती है। प्रकृतिके एक अंगके तौरपर, उसके आभासके तौरपर मै अपनेपनसे आगाह हो जाता हूँ, मै अपनेको विस्तारयुक्त प्राणिशरीर समझने लगता हूँ। वस्तुत. यही तृष्णा मेरी आत्मा है, शरीर भी उसी तृष्णाका आभास है।

जब मै अपने भीतरकी ओर देखता हूँ, तो मुझे वहाँ तृष्णा (मानकी तृष्णा, खानेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, न जीनेकी तृष्णा) दिखाई पडती है। जब मै बाहरकी ओर देखता हूँ, तो उसी अपनी तृष्णाको शरीरके तौरपर देखता हूँ। दूसरे शरीर भी मेरे शरीरकी ही भाँति तृष्णाके प्राकट्य है। पत्थरमे तृष्णा अंधी शक्तिके तौरपर प्रकट होती है, मनुष्यमें वह चेतनायुक्त बन जाती है। चुम्बककी सुई सदा उत्तरकी ओर घूमती है; पिंड गिरनेपर सीधे नीचेकी ओर लंबाकार गिरता है। एक तत्त्वको जब दूसरेसे प्रभावित किया जाता है, तो स्फटिक बनते है। यह सब बतलाते हैं, कि प्रकृतिमे सर्वत्र तृष्णाकी जातिकी ही शक्तियाँ काम कर रही है। वनस्पति-जगत्में भी अनजाने इसी तरहकी उत्तेजना या प्रयत्न दीखते है—वृक्ष प्रकाश-की तृष्णा रखता है, और ऊपरकी ओर जानेका प्रयत्न करता है। वह नमीकी

[1] Will. देखो पृष्ठ ५०३-४

भी तृष्णा रखता है, जिसके लिए अपनी जडोंको धरतीकी ओर फैलाता है। तृष्णा या आन्तरिक उत्तेजना प्राणियोंकी वृद्धि और सभी क्रियाओंको सचालित करती है। हिंस्र पशु अपने शिकारको निगलनेकी चाह (=तृष्णा) रखता है, जिससे तदुपयोगी दाँत, नख और नस-पेशियाँ उसके शरीरमें निकल आती है। तृष्णा अपनी जरूरतको पूरा करने लायक शरीरको बनाती है; प्रहार करनेकी चाह सीग जमाती है। जीवनकी तृष्णा ही जीवनका मूल आधार है।

जड-चेतन, धातु-मनुष्यमे प्रकट होनेवाली यह आधारभूत तृष्णा न मनुष्य है और न कोई ज्ञानी ईश्वर। वह एक अधी चेतनारहित शक्ति है, जो कि अस्तित्वकी चाह (=तृष्णा) रखती है। वह न देशसे सीमित है, न कालसे, किन्तु व्यक्तियोंमे देश-कालसे परिसीमित हो प्रकट होती है।

होनेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, दुनियाके सारे संघर्षों, दुःख और बुराइयों की जड है। तृष्णा स्वभावसे ही बुरी है, उसको कभी तृप्त नही किया जा सकता। निरन्तर युद्ध और सघर्षकी यह दुनिया है, जिसमे भिन्न-भिन्न प्रकारकी बने रहनेकी अन्धी तृष्णाए एक दूसरेके साथ लड़ रही है; यह दुनिया जिसमे छोटी मछलियाँ बडी मछलियों द्वारा खाई जा रही हैं। यह अच्छी नही, बुरी दुनिया, बल्कि जितना संभव हो सकता है, उतनी बुरी दुनिया है। जीवन अंधी चाहसे अधिक और कुछ नही है। जबतक उसकी तृप्ति नही होती, तबतक पीडा होती है, और जब उसकी तृप्ति कर दी जाती है, तो दूसरी पीडाकारक तृष्णा पैदा हो जाती है। तृष्णाओको कभी सदाके लिए सन्तुष्ट नही किया जा सकता। हर एक फूलमे काँटे है। इस दुखसे बचनेका एक ही रास्ता है, वह है तृष्णाका पूर्णतया त्याग (प्रहाण), और इसके लिए त्याग और तपस्याका जीवन चाहिए।

शोपन्हारके दर्शनपर बौद्ध दर्शन[1]का बहुत प्रभाव पड़ा है। उसके दर्शनमे तृष्णाकी व्याख्या, और प्राधान्य उसी तरहसे पाया जाता है, जैसा

---

[1] देखो आगे "बुद्ध-दर्शन" पृष्ठ ५१५, ५१७

कि बुद्धके दर्शनमे। बुद्धने भी तृष्णा-निरोधपर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।

§ २–द्वैतवाद

निट्ज़्शे (१८४४-१९०० ई०)—फ़्रीडरिख् निट्ज़्शे जर्मन दार्शनिक था। निट्ज़्शेने कान्टसे ज्ञानकी असम्भवनीयता ली, शोपन्हारसे तृष्णा ली; किन्तु निट्ज़्शेकी तृष्णा जीनेके लिए नही प्रभुताके लिए है। शोपन्हार तृष्णाको त्याज्य बतलाता है, किन्तु निट्ज़्शे उसे ग्राह्य, अपने उद्देश्य—शक्तिके पानेका साधन मानता है। डार्विनसे "योग्यतम ही बँच रहते है" इस सिद्धान्तको लेकर उसने महान् पुरुषो हीको मानवताका उद्देश्य बतलाया।

(१) **दर्शन**—सोचना वस्तुत अ-स्पष्ट साक्षात्कार है। सोचनेमे हम सिर्फ समानतापर नजर डालते है, और असमानताओपर ख्याल नही करते; इसका परिणाम होता है, वास्तविकताका एक गलत चित्रण। कोई भी वस्तु नित्य स्थिर नही है—नही, काल, नही **सामान्य**, नही कारण-सबध। न प्रकृतिमे कोई प्रयोजन है। न कोई निश्चित लक्ष्य है। विश्व हमारे सुखकी कोई पर्वाह नही करता, नही हमारे आचारकी। प्रकृतिसे परे कोई दैवी शक्ति नही है, जो हमारी सहायता करेगी। ज्ञान, शक्ति, प्रभुता पानेका हथियार है। ज्ञानके साधनोका विकास इस अभिप्रायसे हुआ है कि उसे अपनी रक्षाके लिए हम इस्तेमाल कर सके। दार्शनिकोंने जगत्को वास्तविक और दिखलावेके दो जगतोमे बाँटा। जिस जगत्मे मानवको जीना है, जिसके भीतर कि मानवने अपनी बुद्धिका आविष्कार किया (परिवर्त्तन, है नहीका होना, द्वैत, द्वंन्द, विरोध युद्धकी दुनिया) उसी दुनियासे वह इन्कारी हो गया। वास्तविक जगत्को दिखलावेकी दुनिया, मायाका ससार, झूठा लोक कहा गया। और दार्शनिकोने अपने दिमागसे जिस कल्पित दुनियाका आविष्कार किया, वही हो गई, नित्य, अपरिवर्त्तनशील, इन्द्रिय-सीमा-पारी। सच्ची वास्तविक

दुनियाको हटाकर झूठी दुनियाको गद्दीपर बिठाया गया। सच्चाईको खोजकर प्राप्त किया जाता है, उसे गढा-बनाया नही जाता। किन्तु, दार्शनिकोंने अपना कर्त्तव्य—सत्यको ढूँढना-छोड, उसे गढना शुरू किया।

(२) **महान् पुरुषोंकी जाति**—निट्ज़्शे कान्ट, हेगेल् आदिके दर्शनको कितना गलत बतलाता था, यह मालूम हो चुका। वह वास्तविकतावादी था, किन्तु इस दर्शनका बहुत ही खतरनाक उपयोग करता था। प्रभुता पानेके लिए ज्ञान एक हथियार है, जिसे प्रभुता पानेकी तृष्णा इस्तेमाल करती है। तृष्णा या सकल्प विश्वासपर आश्रित होता है। विश्वास झूठा है या सच्चा, इसे हमें नही देखना चाहिए, हमें देखना है कि वह सार्थक है या निरर्थक, उपयोगी है या अनुपयोगी। प्रभुताका प्रेम निट्ज़्शेके लिए सर्वोच्च उद्देश्य है, और महान् पुरुष पैदा करना सर्वोच्च आदर्श है—एक महान् पुरुष नही महान् पुरुषोकी जाति, एक ऊँचे दर्जेकी जाति, वीरोकी जाति। निट्ज़्शेके इसी दर्शनके अनुसार आज हिटलर जर्मनोको "महान् पुरुषोंकी जाति" बना रहा है; ऐसी जाति बना रहा है, जो दुनियाको विजय करे, दुनियापर शासन करे, और विश्वास रखे, कि वह शासन तथा विजय करनेके लिए पैदा हुई है। इसके लिए जो भी किया जाये, निट्ज़्शे उसे उचित ठहराता है। युद्ध, पीडा, आफत, निर्बलोपर प्रहार करना अनुचित नही है। इसीलिए शान्तिसे युद्ध बेहतर है—बल्कि शान्तिको तो मृत्युका पूर्वलक्षण समझना चाहिए। हम इस दुनियामे अपने सुख और हर्षके लिए नही है। हमारे जीवनका और कोई अर्थ नही, सिवाय इसके कि हम एक अगुल भी पीछे न हटे, या तो अपनेको ऊपर उठाये या खतम हो जाये। दया बहुत बुरी चीज है, यह उस आदमीके लिए भी बुरी है जो इसे करके अपने लक्ष्यसे विचलित होता है, और उसके लिए भी, जो कि दूसरेकी दया लेकर अपनेको दूसरोकी नजरोमे गिराता है। दया निर्बल और बलवान् दोनोको कमजोर करती है, यह जातिके जीवन-रसको चूस लेती है।

जन्मजात रईस व्यक्तियोको अधिक सुभीता होना चाहिए, क्योंकि साधारण निम्न श्रेणीके आदमियोंसे उनके कर्त्तव्य ज्यादा और भारी है।

सर्वश्रेष्ठ आदमियोको ही शासनका अधिकार होना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ आदमी वही हैं, जो दया-मयासे परे हैं, खुद खतरेमे पड़ने तथा दूसरोंपर उसे डालनेके लिए हर वक़्त तैयार हैं। आजके हिटलर्, गोयरिंग, आदि इसी तरहके सर्वश्रेष्ठ आदमी है।

निट्ज्शे जनतन्त्रता, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद सबको फजूल और असम्भव बतलाता है। वह कहता है, कि यह जीवन जिस सिद्धान्त—योग्यतमका बँच रहना—पर कायम है। जो उसके वरखिलाफ है, वे आदर्शके विरोधी है। वे सवल व्यक्तियोंके विकासमे बाधा डालते है। "आज हमारे लिए सबसे बडा खतरा है यही समानताकी हवा—शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत्से घृणा, जनानापन, अ-विरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन और साइंस सभी जीवन-सिद्धान्तके विरोधी है, इसलिए उनसे कोई सबध नही रखना चाहिए।"

निट्ज्शे कहता है, महान् पुरुष उसी तरह दूसरोको परास्त कर आगे बढ जायेंगे, जैसे कि मानुषने वनमानुषको।

§ ३–अज्ञेयतावाद

स्पेन्सर (१८२०-१९०३ ई०)—हर्वर्ट स्पेन्सर डर्वी (इगलैण्ड)मे एक मध्यमश्रेणीके परिवारमें पैदा हुआ था।

दर्शन—स्पेन्सर मानवज्ञानको इन्द्रियोंकी दुनिया तक ही सीमित रखना चाहता है, किन्तु इस दुनियाके पीछे एक अज्ञेय दुनिया है, इसे वह स्वीकार करता है। उसका कहना है—हम शान्त और सीमित वस्तुको ही जान सकते है; **परमतत्त्व, आदिकारण, अनन्त**का जानना हमारी शक्तिसे बाहर है। ज्ञान सापेक्ष होता है, और **परमतत्त्व**को किसीसे तुलना या भेद करके बतलाया नही जा सकता। चूँकि हम **परमतत्त्व**के बारेमें कोई ज्ञान नही पैदा कर सकते, इसलिए उसकी सत्तासे इन्कार करना भी ठीक नही है। विज्ञान और धर्म दोनो इस बातपर एकमत हो सकते हैं, कि सभी दृश्य जगत्के पीछे एक सत्ता, परमतत्त्व है। शक्तियाँ दो प्रकारकी होती है—वह शक्ति

जिससे प्रकृति हमे अपनी सत्ताका परिचय देती है; वह शक्ति जिससे वह काम करता हुआ दिखाई पडता है—अर्थात् सत्ता और क्रियाकी परिचायक शक्तियाँ।

(१) **परमतत्त्व** या **अज्ञेय** अपनेको दो परस्पर विरोधी बड़े समुदायोंमे प्रकाशित करता है, वह है अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व।

(२) **विकासवाद**—हमारा ज्ञान, परमतत्त्वके भीतरी (मन) और बाहरी (जड) प्रदर्शनतक ही सीमित है। दार्शनिकोका काम है, कि उनमे जो साधारण प्रवृत्ति है, सभी चीजोंका जो सार्वदैशिक नियम है, उसे ढूँढ निकाले। यही नियम है विकासका नियम। विकासके प्रवाहमे हम भिन्न-भिन्न रूप देखते है—(१) **एकीकरण**[1], जैसे कि बादलों, बालुओंके टीले, शरीर या समाजके निर्माणमें देखते है, (२) **विभाजन**[2] या पिंडका उसकी परिस्थितिसे अलग कर, एक अलग भाग बनाना, तथा उसे एक सगठित पिंडका इस तरह अवयव बनाना, जिसमे अवयव अलग होते भी एक दूसरेसे संबद्ध हों। विकास और विनाशमे अन्तर है। विनाशमे विभाजन होता है, किन्तु संबद्धता नही। विकास भौतिक तत्त्वोका एकीकरण और गतिका वितरण है; इसके विरुद्ध विनाश गतिको हजम करता और भौतिक तत्त्वोंको तितर-बितर करता है।

जीवन है, बाहरी संबधके साथ भीतरी संबंधका बराबर समन्वय स्थापित करते रहना। अत्यन्त पूर्ण जीवन वह है, जिसमे बाहरी संबंधोके साथ भीतरी संबधोंका पूर्ण समन्वय हो।

(३) **सामाजिक विचार**—स्पेन्सरके अनुसार बडे ही निम्न श्रेणीकी सामाजिक अवस्थामे ही सर्वशक्तिमान् समाजवादी राज्य स्वीकार किया जा सकता है। जब समाजका अधिक ऊँचा विकास हो जाता है, तो इस तरहके राज्यकी जरूरत नही रहती, बल्कि वह प्रगतिमें बाधा

---

[1] Concentration [2] Differentiation.

डालता है। राजका काम है भीतर शान्ति रखना, और बाहरके आक्रमणसे बचाना। जब समाजवादी राज्य इससे आगे बढ़ता, तथा मनुष्यके आर्थिक सामाजिक बातोंमें दखल देता है, तो वह न्यायका खून करता है, और विकासमें आगे बढे व्यक्तियोंकी स्वतंत्रतापर प्रहार करता है! स्पेन्सर समाजवादके सख्त खिलाफ था, वह कहता था—वह आ रहा है, किन्तु जातिके लिए यह भारी दुर्भाग्यकी बात होगी, और बहुत दिन टिकेगा भी नही।

§ ४–भौतिकवाद

उन्नीसवी सदीके दर्शनमें विज्ञानवादियोंका बड़ा जोर रहा, किन्तु मेयू, यूल, हेल्महोल्ट्ज़, श्वान आदि वैज्ञानिकोंकी खोजोंने भौतिकवादको अप्रत्यक्ष रूपसे बहुत प्रोत्साहित किया।

१—बुख़नेर् (१८२४-९९)का ग्रंथ "शक्ति और **भौतिक तत्व**" भौतिकवादका एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसने लिखा है कि सभी शक्तियाँ गति हैं, और सभी चीजें गति और भौतिक तत्वोंके योगसे बनती हैं। गति और भौतिकतत्वोंको हम अलग समझ सकते हैं, किन्तु अलग कर नही सकते। आत्मा या मन कोई चीज नही। जीवन विशेष परिस्थितिमें भौतिक-तत्त्वोंसे ही पैदा हो जाता है। मनकी क्रिया "बाहरसे आई उत्तेजनासे मस्तिष्ककी पीली मज्जाके **सेलों** की गति है।"

मोल्शोट् (१८२२-९३ ई०), फोग्ट (१८१७-९५ ई०), कज़ोल्बे (१८१९-७३ ई०), इस सदीके भौतिकवादी दार्शनिक थे। विरोधी भी इस बातको कबूल करते हैं, कि इस सदीके सभी भौतिकवादी दार्शनिक और साइंसवेत्ता मानवता और मानव प्रगतिके जबर्दस्त हामी थे।

२–लुड्विग् फ़्वेरबाख़ (१८०४–७२ ई०)

काण्टने अपनी "शुद्ध बुद्धि" या सैद्धान्तिक तर्कसे किस प्रकार धर्म, रूढ़ि, ईश्वरके चीथड़े-चीथड़े उड़ा दिये, किन्तु अन्तमें "भलेमानुष" बननेके

ख्यालने—अथवा भले दार्शनिकोंकी पंक्तिसे बहिष्कृत न होनेके डरने, उसे थूकेको चाटनेके लिए मजबूर किया, यह हम बतला आये है। हेगेल्ने शुद्ध बुद्धि भौतिक तजर्बे (=प्रयोग)के सहारे अपने दर्शन—द्वन्दात्मक विज्ञानवाद—का विकास किया, यद्यपि भौतिक तत्त्वोंको **विज्ञान**का विकार बतला वह उल्टे स्थानपर उल्टे परिणामपर पहुँचा। हेगेल्के बाद उसके दार्शनिक अनुयायी दो भागोमे बँट गये, एक तो डूरिंग जैसे लोग जो भौतिकवादके सख्त दुश्मन थे और हेगेल्के विज्ञानवादको—आगे विकसित करनेकी तो बात ही क्या उसे रोककर—प्रतिगामिताकी ओर ले जा रहे थे; और दूसरा भाग था प्रगतिगामियोका, जो कि हेगेल्के दर्शनको रहस्यवाद और विज्ञानवादसे छुडा उसके वास्तविक लक्ष्य **द्वन्दात्मक** (=क्षणिक) **भौतिकवाद**पर ले जा रहे थे। फ़्वेरबाख़ इस प्रगतिगामी हेगलीय दलका अगुआ था। इसी दलमे आगे मार्क्स् और एन्गेल्स शामिल हुए।

सत्ताधारी—धनिक और धर्मानुयायी—भौतिकवादको अपना परम शत्रु समझते है क्योकि वह समझते है कि परलोककी आशा और ईश्वरके न्यायपरसे विश्वास यदि हट गया, तो मेहनत करते-करते भूखी मरनेवाली जनता उन्हे खा जायेगी, और भौतिकवादी विचारकोंके मतानुसार भूतलपर स्वर्ग और मानव-न्याय स्थापित करने लगेगी। इसीलिए पुरोहितोंने कहना शुरू किया, कि भौतिकवादी गदे, इन्द्रिय-लोलुप, "अधर्म"-परायण, झूठे, अविश्वासी, "ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्"-वादी है, उनके विरुद्ध विज्ञानवादी सयमी, धर्मात्मा, स्वार्थत्यागी, विरागी, आदर्शवादी होते हैं।

फ़्वेरबाख़का मुख्य ग्रंथ है "ईसाइयतसार"।[1] इसमे लेखकने ईसाई धर्मकी शवपरीक्षा द्वारा सारे धर्मोकी वास्तविकता दिखलाई है। "ईसाइयत-सार"के दो भाग है, पहिले भागका प्रतिपाद्य विषय है "धर्मका सच्चा या मानव शास्त्रीय सार।" दूसरे भागमे "धर्मका झूठा या मज़हबी

---

[1] The Essence of Christianity

सार" बतलाया गया है। भूमिकामें मनुष्य और धर्मके मुख्य स्वभावोंकी विवेचना की गई है। मनुष्यका मुख्य स्वभाव उसकी अपनी जातिकी चेतना मानव-स्वभाव है। यह चेतना कितनी है, इसका पता उसके भावुक भावों और संवेदनामे लगता है।

"तो जिसके बारेमें वह महसूस करता है, वह मानव स्वभाव क्या है, अथवा मनुष्यकी खास मानवता, उसकी विशेषता क्या है ? बुद्धि, इच्छा, स्नेह।.....

"मनुष्यके अस्तित्वके आधार, उसके मनुष्य होनेके तौरपर उसकी सर्वोच्च शक्तियाँ हैं—समझना (बुद्धिकी क्रिया), इच्छा करना और प्रेम। मनुष्य है समझने, प्रेम करने और इच्छा करनेकेलिए।...

"सिर्फ वही सच्चा, पूर्ण और दिव्य है, जो कि अपने लिए अस्तित्व रखता है। किन्तु ऐसा ही तो प्रेम है, ऐसी ही तो बुद्धि है, ऐसी ही तो इच्छा है। वैयक्तिक मानवमें मनुष्यके भीतर यह दिव्यत्रयी—बुद्धि, प्रेम, इच्छा—का समागम है। बुद्धि, प्रेम, इच्छा ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं जिनपर मनुष्यका अधिकार है। उनके बिना मनुष्य कुछ नहीं है। वह जो कुछ है वह उनकी ही वजहसे है। यही उसके स्वभावकी बुनियादी ईंटें हैं। वह न उन्हें (स्वामीके तौरपर) रखता है, न उन्हें ऐसी सजीव, निर्णायक, नियामक शक्तियाँ—दिव्य परम शक्तियाँ—बनाता है, जिनके कि प्रतिरोधके वह खिलाफ जा सके।'

फ्वेरबाखने बतलाया—"मनुष्यके लिए **परमतत्त्व** (श्रेष्ठतम वस्तु) उसका अपना स्वभाव है"। "मनोभावसे जिस दिव्य स्वभावका पता लगता है, वह वस्तुत: और कुछ नहीं। वह है खुद अपने प्रति आनन्दविभोर हो प्रसन्नताकी भावना, अपने ही भीतरकी आनन्दमयता।" उसने धर्मके सारके बारेमें कहा—जहाँ "इन्द्रियोंके प्रत्यक्षमें विषय (=वस्तु)-संबंधी चेतनाको अपनी ('आत्मा'की) चेतनासे फर्क किया जा सकता है; धर्ममें

The Essence of Christianity, p. 32

विषय-चेतना और आत्मचेतना एक बना दी जाती है।" वस्तुत. मनुष्यकी आत्मचेतनाको एक स्वतंत्र अस्तित्वके तौरपर आसमानपर चढ़ाना, धर्म है। इसी तरह उसे पूजाकी वस्तु बनाया जाता है। फ्वेरबाख़ने इसे साफ करते हुए कहा—

"किसी मनुष्यके जैसे विचार, जैसी प्रवृत्तियाँ होती है, वैसा ही उसका ईश्वर होता है, जितने मूल्यका मनुष्य होता है, उतना ही उसका ईश्वर होता है, उससे अधिक नही। ईश्वर-सबधी चेतना (=चिन्तन) आत्म (अपनी)-चेतना है, ईश्वर-संबधी ज्ञान (उसका) आत्म (=अपना)-ज्ञान है। उसके ईश्वरसे तू उस मनुष्यको जानता है, और उस मनुष्यसे उसके ईश्वरको; दोनो (मनुष्य और उसका ईश्वर) एक है।"[1]

दिव्यतत्त्व मानवीय है, इसकी आलोचना करनेके बाद वह फिर कहता है—

"धर्म (=मजहब)-संबधी विकास ' ' ' विशेषकर इस तरह पाया जाता है, कि मनुष्य ईश्वरको अधिकाधिक कल्पित करता है, और अधिकाधिक अपनेपर लगाता है। ईश्वरीय वाणीके सबधमे यह बात खास तौरसे स्पष्ट है। पीछेके युग या संस्कृत जनोके लिए जो बात प्रकृति या बुद्धिसे मिली होती है, वही बात पहिलेके युग या अ-सस्कृत जनोको ईश्वर-प्रदत्त (मालूम होती) थी।

"इस्राइलियो (=यहूदी धर्मानुयायियो)के अनुसार ईसाई स्वतंत्र विचारवाला (=धर्मकी पाबदीसे मुक्त) है। बातोंमे इस तरह परिवर्तन होता है। जो कल तक धर्म (=मजहब) था, आज वह वैसा नही रह गया है; जो आज नास्तिकवाद[2] है, कल वही धर्म होगा।"[3]

धर्मका वास्तविक सार क्या है, इसके बारेमें उसका कहना है—

"धर्म मनुष्यको अपने आपसे अलग कराता है; (इसके कारण) वह (मनुष्य) अपने सामने तथा अपने प्रतिवादीके तौरपर ईश्वरको ला रखता

---

[1] Ibid, p. 12 [2] Atheism. [3] वहीं, pp. 31-32.

है। ईश्वर वह है, जो कि मनुष्य नही है—मनुष्य वह है, जो कि ईश्वर नही है।...

"ईश्वर और मनुष्य दो विरोधी छोर है; ईश्वर पूर्णतया भावरूप, वास्तविकताओंका योग है, मनुष्य पूर्णतया अभावरूप, सभी अभावोंका योग है।...

"परन्तु धर्ममें मनुष्य अपने निजी अन्तर्हित स्वभावपर ध्यान करता है। इसलिए यह दिखलाना होगा, कि यह प्रतिवाद, यह ईश्वर और मनुष्य-का विभाजन—जिसे लेकर कि धर्म (अपना काम) शुरू करता है—मनुष्यका उसके अपने स्वभावसे विभाजन करता है।"[1]

अपने ग्रंथके दूसरे भागमे फ्वेरबाखने धर्मके झूठे (अर्थात् मज़हबी) सारपर विवेचन करते हुए कहा है—

"धर्मके लिए संपूर्ण वास्तविक मनुष्य, प्रकृतिका वह भाग है, जोकि व्यावहारिक है, जोकि निश्चय करता है, जो कि समझ-बूझकर (स्वीकार किये) लक्ष्योके अनुसार काम करता है....जो कि जगत्को उसके अपने भीतर नही सोचता, बल्कि सोचता है उन्ही लक्ष्यो या आकाक्षाओंके सबंधसे। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ व्यावहारिक चेतनाके पीछे छिपा रखा गया है, तो भी जो सिद्धान्तका आवश्यक विषय है, उसे मनुष्य और प्रकृतिके बाहर एक खास वैयक्तिक सत्ताके भीतर ले जाता है।—यहाँ सिद्धान्त बहुत मौलिक और व्यापक अर्थमे लिया गया है, जिसमें वास्तविक (जगत्-सबधी) चिन्तन और अनुभव (=प्रयोग)के सिद्धान्त, तथा बुद्धि (=तर्क) और साइसके (सिद्धान्त) शामिल है।"[2]

इसी कारणसे फ़्वेरबाख जोर देता है, कि हम ईसाइयत (=धर्म)से ऊपर उठे। धर्म झूठे तौरसे मनुष्य और उसकी आवश्यक सत्ताके बीचके संबधको उलट देता है, और मनुष्यको खुद मानवीय स्वभावके सारको पूजने उसपर विश्वास करनेके लिए परामर्श देता है। ऐसी प्रवृतिका विरोध

---

[1] वहीं, p. 33.   [2] वहीं, p. 187

करते हुए फ़्वेरबाख़ बतलाता है कि "मनुष्यकी उच्चतम सत्ता, उसका ईश्वर वह स्वयं है।" "धर्मका आदि, मध्य और अन्त मानव है।" यहाँ फ्वेर-बाख़ धर्मको एक खास अर्थमे प्रयुक्त करता है—मानवता-धर्म। वह फिर कहता है—

"धर्म आत्म-चेतनाका प्रथम स्वरूप है। धर्म पवित्र (चीज) है, क्योकि वह प्राथमिक चेतनाकी कथाए है। किन्तु जो चीज धर्ममे प्रथम स्थान रखता है—अर्थात् ईश्वर—....वह खुद और सत्यके अनुसार दूसरे (दर्जेका) है क्योकि वह वस्तुरूपेण सोचा गया मनुष्यका स्वभाव मात्र है, और जो चीज धर्मके लिए दूसरे दर्जेकी है—अर्थात् मानव—उसे प्रथम **बनाना** और **घोषित** करना होगा। **मानव**के लिए प्रेम शाखा-स्थानीय प्रेम नही होना चाहिए, उसे मूलस्थानीय होना चाहिए। यदि मानवीय स्वभाव **मानव**के लिए श्रेष्ठतम स्वभाव है, तो, व्यवहारत, **मनुष्यके प्रति मनुष्यके प्रेम**को भी उच्चतम और प्रथम नियम बनाना चाहिए। **मनुष्य मनुष्यके लिए ईश्वर है,** यह महान् व्यावहारिक सिद्धान्त है, यह धुरी है, जिसपर कि जगत्का इतिहास चक्कर काटता है।"[1]

इस उद्धरणसे मालूम होता है, कि फ्वेरबाख़ यद्यपि धर्मकी कडी दार्शनिक आलोचना करता है, किन्तु साथ ही आजके नास्तिकवादको कलका धर्म भी देखना चाहता है। वह भौतिकवादको धर्मके सिहासनपर बैठाना चाहता था।—"मानव और पशुके बीचका वास्तविक भेद धर्मका आधार है। पशुओमे धर्म नही है।"[2]—यह भी इसी बातको बतलाता है।

[1] फ्वेरबाख़ यद्यपि धर्म शब्दको खारिज नही करना चाहता था, किन्तु उसके विचार धर्म-विरोधी तथा भौतिकवादके समर्थक थे—खासकर धर्मके दुर्गके भीतर पहुँचकर वह वैसा ही काम करना चाहते थे। भला यह धर्म तथा सत्ताधारियोके पिट्ठुओको कब पसन्द आ सकता था? प्रोफेसर

[1] वहीं, pp. 270-71 [2] वहीं, p. 1

डूरिगने फ्वेरबाखके खिलाफ कलम चलाई थी, जिसका कि उत्तर १८८८ ई० मे एन्गेल्सने अपने ग्रंथ "लुड्विग फ्वेरबाख"मे दिया।

३—मार्क्स् (१८१८-८३ ई०)

कार्ल मार्क्स्का जन्म राइनलैण्डके ट्रेवेज़ नगरमे हुआ था। उसने बोन, बर्लिन और जेनाके विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पाई। जेनामे उसने "देमोक्रितु और एपीकुरुके प्राकृतिक दर्शन" पर निबंध लिखा था, जिसपर उसे पी-एच० डी० (दर्शनाचार्य)की उपाधि मिली। मार्क्स् भौतिकवादी बननेसे पहिले हेगेल्के दर्शनका अनुयायी था। राजनीतिक, सामाजिक विचार उसके शुरू हीसे उग्र थे, इसलिए जर्मनीका कोई विश्वविद्यालय उसे अध्यापक क्यों रखने लगा। मार्क्स्ने पत्रकारकलाको अपनाया और २४ सालकी उम्रमे "राइनिश् ज़ाइटुङ" पत्रका सपादक बना। किन्तु, प्रुशियन सरकार उसे बहुत खतरनाक समझती थी, जिसके कारण देश छोड़कर मार्क्स्को विदेशोंमे मारा-मारा फिरना पड़ा। पहिले वह पेरिसमे रहा, फिर बुशेल्स (बेल्जियम)मे। वहाँकी सरकारोंने भी प्रुशियाके नाराज़ होनेके डरसे मार्क्स्को चले जानेको कहा और अन्तमे मार्क्स् १८४६ मे लंदन चला गया। उसने बाकी जीवन वही बिताया।[1]

मार्क्स् दर्शनका विद्यार्थी विश्वविद्यालय हीसे था, और खुद भी एक प्रथम श्रेणीका दार्शनिक था; किन्तु उसके सामाजिक और राजनीतिक विचार इतने उग्र, अद्वितीय और दृढ थे, कि उसका नाम जितना एक समाजशास्त्र, अर्थनीति और राजनीतिके महान् विचारकके तौरपर मशहूर है, उतना दार्शनिकके तौरपर नही। इसने एक कारण और भी हैं। कलाकी भाँति दर्शन भी बैठे-ठाले सम्पत्ति-शालियोके मनोरंजनका विषय है। वह जिस तरहका दर्शन चाहते है, मार्क्स्का दर्शन वैसा नहीं है; फिर मार्क्स्को वह क्यो दार्शनिकोमे गिनने लगे?

---

[1] विशेषके लिए देखो मेरा "मानव समाज।" ४०६-१०

मार्क्सके दर्शनके बारेमे हम खास तौरसे "वैज्ञानिक भौतिकवाद" लिखने जा रहे है, इसलिए यहाँ दुहरानेकी जरूरत नही है।

(१) मार्क्सीय दर्शनका विकास—आधुनिक युगके अभौतिकवादी यूरोपीय दर्शनोका चरम विकास हेगेल्के दर्शनके रूपमे हुआ, और सारे मानव इतिहासके भौतिकवादी, वस्तुवादी दर्शनोका चरम विकास मार्क्सके दर्शनमे।

प्राचीन यूनानके युनिक दार्शनिक भौतिक तत्त्वको सभी वस्तुओका मूल, और चेतनाके लिए भी पर्याप्त समझते थे, इसीलिए उन्हे भूतात्मवादी[1] कहा जाता था। स्तोइक भी भौतिक तत्त्वसे इन्कार नही करते थे, किन्तु भौतिकवादका ज्यादा विकास देमोक्रितु और एपीकुरुने किया, जिनपर कि मार्क्सने विश्वविद्यालयके लिए अपना निबध लिखा था। रोमके लुक्रेशियस्ने अपने समयमे भौतिकवादका झडा नीचे गिरने नही दिया। मध्ययुगमे विचार-स्वातन्त्र्यके लिए जैसे गुजाइश नही थी, उसी तरह भौतिकवादके लिए भी अवकाश नही था। मध्ययुगसे बाहर निकलते ही हम युरोपमे बारुच स्पिनोजाको देखते है, जो है तो विज्ञानवादी, किन्तु उसके विचार ज्यादातर यूनानी भूतात्मवादियोंकी तरहके है। इंगलैण्डमे टामस् हॉब्स (१५८८-१६७९)ने भौतिकवादको जगाया। अठारहवी सदीमे फ्रेंच क्रान्ति (१७९२ ई०)के पहिले जो विचार-स्वातंत्र्यकी बाढ आई थी, उसने दीदेरो, हेल्वेशियो, दोलबाश्,[2] लामेत्री, जैसे भौतिकवादी दार्शनिक पैदा किये। उन्नीसवी सदीमे लुड्विग् फ्वेरबाख्ने भौतिकवादपर कलम उठाई थी। फ्वेरबाख्का प्रभाव मार्क्सपर भी पडा था। मार्क्सने हेगेल्की द्वन्दात्मक प्रक्रियासे मिलाकर भौतिकवादी दर्शनका पूर्णरूप हमारे सामने पेश किया, और साथ ही दर्शनको कल्पनाक्षेत्रमें बौद्धिक व्यायाम करनेवाला न बना उसका प्रयोग समाजशास्त्रमें किया।

---

[1] Hylozoist हुलो=हेवला, भूल, जोए=जीवन, आत्मा।

[2] इसका मुख्य ग्रंथ Systems de la Nature १७७० में प्रकाशित हुआ।

विज्ञानवादी धारा समाजशास्त्रमें धुंध और रहस्यवाद छोड़ और कुछ नहीं पैदा करती। वह समाजकी व्यवस्थामें किसी तरहका दखल देनेकी जगह ईश्वर, परमतत्त्व, अज्ञेयपर विश्वास, श्रद्धा रखनेकी शिक्षामात्र दे सकती है। लेकिन मार्क्सीय दर्शनके विचार इससे बिल्कुल उलटे हैं। मानव-जातिकी भाँति ही मानव समाज—उसकी आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था—प्रकृतिकी उपज है। वह प्रकृतिके अधीन है, और तभी तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है, जबतक प्रकृति उसकी आवश्यकताओंको पूरा करती है। भौतिक उपज—खाना, कपड़ा आदि—तथा उस उपजके साधनोंपर ही मानव-समाज कायम है।

"महान् मानसिक संस्कृति," "भव्य विचार," "दिव्य चिन्तन"—चाहे कैसे ही बड़े-बड़े शब्दोंको इस्तेमाल कीजिए; है वह सभी भौतिक उपजकी करतूतें।

"ना कुछ देखा भाव-भजनमें ना कुछ देखा पोथी में।
कहै कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी में॥"

अथवा—

"भूखे भजन न होय गोपाला। लेले अपनी कंठी माला॥"

दर्शनके लिए अवसर कब आया? जब कि प्रकृतिपर मनुष्यकी शक्ति ज्यादा बढ़ी, मनुष्यके श्रमकी उपजमें वृद्धि हुई; उसका सारा समय खाने-पहननेकी चीजोंके संपादनमें ही नहीं लगकर कुछ बचने लगा, तथा बैठे-ठाले व्यक्तिके लिए दूसरे भी काम करनेको तैयार हुए। जब इस तरह आदमी कामसे मुक्त रहता है, उसी समय वह सोचने, तर्क-वितर्क करने, योजना बनाने, "भव्य संस्कृति," "ब्रह्म-ज्ञान" पैदा करनेमें समर्थ हो सकता है। और जगहोंकी भाँति समाजमें भी भौतिक तत्व या प्रकृतिही मनकी माँ है, मन प्रकृतिका जनक नहीं।

भौतिकवाद "मानस-जीवन"की विशेषताओंकी व्याख्या जितना अच्छी तरह कर सकता है, विज्ञानवाद वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि विज्ञानवाद समझता है, कि विचार या विज्ञानका पृथिवी और उसकी वस्तुओंसे कोई

सबध नही है, वह अपने भीतरसे उत्पन्न होता है। हेगेल् अपने "दर्शन-इतिहास"मे कैसी ऊल-जलूल व्याख्या करता है—"यह अच्छा (=शिव), यह वोध....ईश्वर है। ईश्वर जगत्पर शासन करता है। उसके सस्कारका स्वरूप, उसकी योजनाकी पूर्ति विश्व इतिहास है।" बूढे ईश्वरने एक ही साथ बाबा आदम, बीबी हौआ, अथवा ऋषि-मुनि, वेश्याए, हत्यारे, कोढ़ी, पैदा किये; साथ ही भूख और दरिद्रता, आतशक और ताडीको पापियो-के दंडके लिए पैदा किया। उन्हे खुद उस तरहका पैदा किया गया हो, कि वह उन पापोको करे, और फिर न्यायका नाटय किया जाये और उन्हे दड दिया जाये, क्या मजाक है !! और वह भी एक दिनका नही, अनादिसे अनन्त कालतक यह प्रहसन-लीला चलती रहेगी। यह है ईश्वर, जिसे कि विज्ञानवादी दार्शनिक फाटकसे नही खिड़कीके रास्ते द्रविड-प्राणायाम द्वारा हमारे सामने रखना चाहते है।

यूनानी दार्शनिक पर्मेनिद—इलियातिकोके नेता—की शिक्षा थी, कि हर एक चीज अचल-अनादि, अनन्त, एकरस, अपरिवर्तनशील, अविभाज्य, अविनाशी है। जेनो (३३६-२४६ ई० पू०)ने वाणके दृष्टान्तको देकर सिद्ध करना चाहा, कि वाण हर क्षण किसी न किसी स्थानपर स्थित है, इसलिए उसकी गति भ्रमके सिवा कुछ नही है। इस प्रकार जिसके चलनेको लोग आँखोसे सार्फ देखते है, उसने उससे भी इन्कार कर स्थिरवादको दृढ करना चाहा। इसके विरुद्ध हेराक्लितुको हम यह कहते देख चुके है, कि संसारमे कोई ऐसा पदार्थ नही जो गतिशील न हो। 'हर एक चीज बह रही है, कोई चीज खडी नही है ("पान्त रेह")। उसी नदीमे हम दो बार नही उतर सकते, क्योकि दूसरी बार उतरते वक्त वह दूसरी ही नदी होगी। उसके साथी क्रातिलोने कहा, "उसी नदीमे दो बार उतरना असभव है, क्योंकि नदी लगातार बदल रही है।" परमाणुवादी देमोक्रितुने गति—खासकर परमाणुओंकी गति—को सभी वस्तुओका आधार बत-लाया। हेगेल्ने गति तथा भवति (=अ-वर्तमानका वर्त्तमान होना)का समर्थन किया।

(२) दर्शन—गति, परिवर्तनवाद हेगेल्के दर्शनका आधार है हेगेल्के इस गतिवादका और संस्कार करके मार्क्स्ने अपने दर्शनकी स्थापना की। विश्व और उसके सजीव—निर्जीव वस्तुओं और समाजको भी दो दृष्टियोंसे देखा जाता है, एक तो पर्मेनिद या जेनोकी भाँति उन्हे स्थिर अचल मानना—स्थिरवाद; दूसरे हेराक्लितु और हेगेल्का गतिवाद (क्षणिक वाद(=क्षण-क्षण परिवर्तनवाद)। प्रकृति स्थिरवादके विरुद्ध है, इसे जैसे राहका सीधा सादा बटोही कह सकता है, वैसे ही आइन्स्टाइन भी बतलाता है। जिन तारोंको किसी समय अचल और स्थिर समझा जाता था, आज उनके बारेमे हम जानते है, कि वह कई हजार मील प्रति घंटेकी चालसे दौड रहे है। पिंडोके अत्यंत सूक्ष्म अंश परमाणु दौड़ रहे है, और उनके भी सबसे छोटे अवयव एलेक्ट्रन परमाणुके भीतर चक्कर काटते तथा कक्षासे दूसरी कक्षाकी ओर भागते देखे जाते है।[1] वृक्ष, पशु आज वही नही है, जैसा कि उन्हे "ईश्वरने" कभी बनाया था। आजके प्राणी वनस्पति बिल्कुल दूसरे है, इसे आप भूगर्भशास्त्रसे जानते है। आज कहाँ पता है, उन महान् सरीसृपोका जो तिमहले मकानके बराबर ऊँचे तथा एक पूरी मालगाडी-ट्रेनके बराबर लम्बे होते थे[1]। करोड़ों वर्ष पहिले यह पृथिवी जिनकी थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नही रह गया। उस समय न आमका पता था, न देवदारका, न उस वक्तके जंगलोंमे हिरन, भेड़, बकरी, गाय, या नीलगायका पता था। वानर, नर-वानर और नर तो बहुत पीछे आये। सर्वशक्तिमान् खुदा बेचारा सृष्टि बनाते वक्त इन्हे बनानेमे असमर्थ था। आज मनुष्य प्रयोग करके इस लायक हो गया है, कि वह यार्कशायरके सूअरों, अनरस-स्ट्राबरी, काले गुलाबको पैदा कर उनकी नसलको जारी रख सकता है।

इस प्रकार इसमे कोई शक नही है, कि विश्वमे कोई स्थिर वस्तु नही है। मै जिस चीडके बक्सको चौकी बनाकर इस वक्त लिख रहा हूँ, वह भी क्षण-

---

[1]देखो "विश्वकी रूपरेखा।"

क्षण बदल रही है, किन्तु बदलना जिन परमाणुओ, एलेक्ट्रनोके रूपमे हो रहा है, उन्हे हम आँखोसे देख नही सकते। यदि हमारी आँखोंकी ताकत करोडगुना होती है, तो हम अपनी इस छोटीसी "चौकी"को उडते हुए सूक्ष्म कणोका समूह मात्र देखते। ये कण बहुत धीरे-धीरे, और अलग-अलग समय "चौकी"की सीमा पार करते है, इसीलिए चौकीको जीर्ण-शीर्ण होकर टूटने-मे अभी देर लगेगी, शायद तबतक यहाँ देवलीमे रहकर लिखनेकी मुझे जरूरत नही रहेगी।

निरन्तर गतिशील भौतिकतत्त्व इस विश्वके मूल उपादान है। किसी बाह्य दृश्यको देखते वक्त हमको बाहरी दिखलावटी स्थिरताको नही लेना चाहिए, हमे उसे उसके भीतरकी अवस्थामे देखना चाहिए। फिर हमे पता लग जायेगा, कि गतिवाद विश्वका अपना दर्शन है। गतिवादको ही द्वन्दवाद भी कहते है।

(क) **द्वन्द्वाद**[1]—हेराक्लितु और हेगेल्—और बुद्धको भी ले लीजिये—गतिवाद, अनित्यतावाद, क्षणिकवादके आचार्य थे, दर्शनकी व्याख्या करते वक्त वे द्वन्दवादपर पहुँचे। हेराक्लितुने कहा—"विरोधिता (=द्वद्व) सभी सुखोकी माँ है।" हेगेल्ने कहा "विरोध वह शक्ति है, जो कि चीजोको चालित करती है।" विरोध क्या है? पहिलीकी स्थितिमे गडबडी पैदा करना। इसे द्वद्ववाद इसलिए कहा जाता है, क्योकि इस वादमे परिवर्तनका कारण वस्तुओं, सामाजिक संस्थाओमे पारस्परिक विरोध या द्वन्द्वको मानते है। हेगेल्ने द्वन्द्ववादको सिर्फ विचारोंके क्षेत्र तक ही सीमित रखा, किन्तु मार्क्स्ने इसे समाज और, उसकी संस्थाओं तथा दूसरी जगहोमे भी एकसा लागू बतलाया। वाद, प्रतिवाद, संवादका दृष्टान्त हम दे चुके है।[2] द्वन्द्व-वादके इन अवयवोका उपयोग प्राणिविकासमे देखिए : लकाशायरमे सफेद रगके तेलचट्टे जैसे फतिंगे थे। वहाँ मिले खडी हो जाती है, जिनके धुएँसे धरती, वृक्ष, मकान सभी काले रंगके हो जाते है। जितने तेलचट्टे अब भी

---

[1] Dialectic. [2] देखो "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ १४

सफेद है, उन्हें उस काली जमीनमे दूरसे ही देखकर पक्षी तथा दूसरे कृमि-भक्षी प्राणी खा रहे है, डर है, कि कुछ ही समयमें "तेलचट्टे" नामशेष रह जायेंगे। उसी समय उसी धुएँका एक ऐसा रासायनिक प्रभाव पडता है, कि उनमे जाति-परिवर्तन होकर स्थायी पुश्तोके लिए काले तेलचट्टे पैदा हो जाते है। धीरे-धीरे उनकी औलाद बढ चलती है। इस बीचमे सफेद तेलचट्टे बडी तेजीके साथ भक्षक प्राणियोके पेटमे चले जाते है। दस वर्ष बाद लोग प्रश्न करते है—"पहिले यहाँ सफेद तेलचट्टे बहुत थे, कहाँ गये वह ? और ये काले फतिंगे कहाँसे चले आये ?" यहाँ भी द्वन्द्ववाद हमारे काम आता है।—(१) सफेद "तेलचट्टा" था, (२) फिर प्रतिकूल परिस्थिति—सभी चीजोका काला होना—उपस्थिति हुई और परिस्थिति-का उनमे द्वन्द्व चला, (३) अन्तमे जाति-परिवर्तनसे काले तेलचट्टे पैदा हुए, जिनका रग काली परिस्थितिमें छिप जाता है, और भक्षकोंको उनके ढूँढनेमें काफी श्रम और समय लगाना पडता है। इसलिए वह वचकर बढने लगते है। पहिली अवस्था **वाद**, दूसरी विरोधी अवस्था **प्रतिवाद** है, दोनोंके द्वन्द्वसे तीसरी नई चीज जो पैदा हुई, वह **संवाद** है। सवादकी अवस्थामे जो काला फतिगा हमारे सामने आया है, वह वही सफेद फतिगा नही है—उसकी अगली पीढियाँ सभी काले फतिंगोकी है। वह एक नई चीज, नई जाति है। यह ऊपरी चमडेका परिवर्तन नही बल्कि अन्तस्तमका परिवर्तन, आनुवशिकताका परिवर्तन (=जाति-परिवर्तन) है। इस परिवर्तनको "**द्वन्द्वात्मक परिवर्तन**"[1] कहते है।

हमने देखा कि गति या क्षणिकवादको मानते ही हम द्वन्द्व या विरोधपर पहुँच जाते है। ऊपरके फतिंगेवाले दृष्टान्तमें हमने फतिंगे और परिस्थिति-को एक समय देखा, उस वक्त इन दो विरोधियोका समागम द्वन्द्वके रूपमे हुआ। गोया द्वन्द्ववाद इस प्रकार हमें विरोधियोके समागम[2] पर पहुँचाता है। वाद, प्रतिवादका झगडा मिटा संवादमे, जिसे कि द्वन्द्वात्मक परिवर्तन

---

[1] Dialectical change. [2] Union of opposits.

हमने बतलाया। यह परिवर्त्तन मौलिक परिवर्त्तन है। यहाँ वस्तु ऊपरसे ही नही बल्कि अपने गुणोमे परिवर्त्तन हो जाती है—जैसे कि अगली सन्तानो तकके लिए भी बदल गये लकाशायरके तेलचट्टोने दिखलाया। इसे **गुणात्मक-परिवर्त्तन** कहते है। वादको मिटाना चाहता है प्रतिवाद, प्रतिवादका प्रतिकार फिर सवाद करता है। इस प्रकार वादका अभाव प्रतिवादसे होता है, और प्रतिवादका अभाव सवादसे अर्थात् सवाद अभावका अभाव या **प्रतिषेधका प्रतिषेध**[1] है। बिच्छूका बच्चा माँको खाकर बाहर निकलता है, यह कहावत गलत है, किन्तु "प्रतिषेधका प्रतिषेध"को समझने-केलिए यह एक अच्छा उदाहरण है। पहिले दादी बिच्छू थी, उसको खतम (=प्रतिषेध) कर माँ बिच्छू पैदा हुई, फिर उसे भी खतमकर बेटी बिच्छू पैदा हुई। पहिली पीढीका प्रतिषेध दूसरी पीढी है, और दूसरीका तीसरी पीढी प्रतिषेधका प्रतिषेध है। चाहे विचारोका विकास हो चाहे प्राणीका विकास, सभी जगह यह प्रतिषेधका प्रतिषेध देखा जाता है।

विरोधि-समागम, गुणात्मक-परिवर्त्तन, तथा प्रतिषेधका प्रतिषेधके बारेमे हम अपनी दूसरी पुस्तक[2]मे लिखनेवाले है, इसलिए यहाँ इसे इतने पर ही समाप्त करते है।

(ख) विज्ञानवादकी आलोचना—विज्ञानवादियोमे चाहे कान्टको लीजिए या बर्कलेको, सबका जोर इसपर है, कि साइसवेत्ता जिस दुनिया पर प्रयोग करते है, वह गलत है। साइसवेत्ताकी वास्तविक दुनिया क्या है, इसे जानते ही नही, वास्तविक दुनिया (=विज्ञान जगत्)का जो आभास मन उत्पन्न करता है, वह तो सिर्फ उसीको जान सकते है। वह कार्य-कारणको साबित नही कर सकते। लोहासे आपको दागा जा रहा है। आप यहाँ क्या जानते है? लोहेका लाल रंग, और बदनमे आँच। रग और आँचके अतिरिक्त आप कुछ नही जानते और यह दोनो मनकी कल्पना है। इस प्रकार साइसके नियम या सभावनाए मनकी आदत मात्र है।

---

[1] Negation of negation [2] "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ ७३

मार्क्स्वादका कहना है: आप किसी चीजको जानते है, तो उसमे विचार जरूर शामिल रहता है, लेकिन इसका मतलब यह नही कि आप लाल और आँच मात्र ही जानते है। ज्ञानका होना ही असभव हो जायगा, यदि वस्तुकी सत्तासे आप इन्कार करते है। जिस वक्त आप ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करते है, उसी वक्त ज्ञाता और ज्ञेयको भी स्वीकार कर लेते है, बिना जानने-वाले और जानी जानेवाली चीजके जानना कैसा? बिना उसके सबधके हम ख्यालमात्रसे विश्वके अस्तित्वके जानकार नही होते; फिर यह अर्थ कैसे होता है, कि आप सिर्फ अपने विचारोके ही जानकार है। इन्द्रिय और विषयका जब सन्निकर्ष (=योग) होता है, तो पहिले-पहिल हमे वस्तुका अस्तित्वमात्र ज्ञात होता है—प्रत्यक्षको दिग्नाग और धर्मकीर्तिने भी कल्पना-अपोढ (=कल्पनासे रहित) माना है। लाल रग, और आँच तो पीछेकी कल्पना है, जिसे वस्तुत. प्रत्यक्षमे गिनना ही नही चाहिए, प्रत्यक्ष—सारे ज्ञानोका जनक—हमे पहिले-पहिल वस्तुके अस्तित्वका ज्ञान कराता है। यह ठीक है कि हम विषयको पूर्णतया नही जानते, उसके बारेमे सब कुछ नही जानते, लेकिन उसके अस्तित्वको अच्छी तरह जानते है, इसमे तो शककी गुजाइश नही। इन्द्रिय-साक्षात्कार हमे थोडासा वस्तुके बारेमे बतलाता है, और जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है। विज्ञानवादमे यदि कोई सचाई हो सकती है, तो यही **सापेक्षता** है, जो कि सभी ज्ञानोपर लागू है।

प्रकृति बाह्य पदार्थके तौरपर मौजूद है, यह निश्चित है। लेकिन वह पूर्णरूपेण क्या है, यह उसका रहस्य है, जिसका खोलना उसके स्वभावमे नही है। हमे वह परिस्थितियोको बतलाती है, उन परिस्थितियोके रूपमे हम प्रकृतिको देखते है। सभी प्रत्यक्ष विशेष या वैयक्तिक प्रत्यक्ष है, जो कि खास परिस्थितियोंमे होता है। शुद्ध प्रत्यक्ष—विशेप विषय और परिस्थिति से रहित—कभी नही होता। हम सदा वस्तुओके विशेष रूपको ही प्रत्यक्ष करते है। हम सीधी छडीको पानीमे खडा करनेपर वक्र (टेढी मेढी), छोटी या लाल प्रकाशसे प्रकाशित देखते है। यह वक्रता, छोटापन

और लाली सिर्फ छडीका रूप नही है, बल्कि उस परिस्थितिमे देखी गई छडीके रूप है।

अतएव ज्ञान वास्तविकताका आभास है, किन्तु आभासमात्र नही है। वह दृष्टिकोण और ज्ञाताके प्रयोजन—इसीलिए ऐतिहासिक विकासकी खास अवस्था—से बिल्कुल सापेक्ष है; देश-कालकी परिस्थितिको हटा कर वस्तुका ज्ञान नही हो सकता। "प्रकृतिका ज्ञान होता ही नही", और "वह सदा सापेक्ष ही होता है" इसमे उतना ही अन्तर है, जितना "हाँ" और "नही" मे। मार्क्स्वाद सापेक्ष ज्ञानको बिल्कुल सभव मानता है, जिससे साइंसकी गवेषणाओंका समर्थन होता है; विज्ञानवाद वस्तुकी सत्तासे ही इन्कार करके ज्ञानको असंभव बना देता है, जिससे साइसको भी वह त्याज्य ठहराता है।

(ग) भौतिक वाद और मन—जब हम विज्ञानवादके गंधर्व-नगरसे नीचे उतरकर जरा वास्तविक जगत्मे आते है, तो फिर क्या देखते है—भौतिक तत्त्व, प्राकृतिक जगत् मनकी उपज नही है, बल्कि भौतिक तत्त्वकी उपज मन है। पृथिवी प्राय. दो अरब वर्ष पुरानी है। जीव कुछ करोड वर्ष पुराने, लेकिन उन जीवोके पास "जगत् बनानेवाला" मन नही था। मनुष्यकी उत्पत्ति ज्यादासे ज्यादा १० लाख वर्ष तक ले जाई जा सकती है, किन्तु जावा, चीन या नेअन्डर्थल मानवके पास भी ऐसा मन नही था, जो "विश्व"को बनाता। विश्व "बनानेवाला" मन सिर्फ पिछले ढाई हजार वर्षसे दार्शनिकोकी पिनक मे पैदा हुआ। गोया दो अरब वर्षसे कुछ लाख वर्ष पहिले तक किसी तरहके मनका पता नही था, और इस सारे समयमे भौतिक तत्व मौजूद थे। फिर इस हालके बच्चे मनको भौतिक तत्वोंका जनक कहना क्या बेटेको बापका बाप बनाना नही है? मूल भौतिकतत्त्वोसे परमाणु, अणु, अणु-गुच्छक, फिर आरभिक निर्जीव क्षुद्र पिड, तथा जीव-अजीवके बीचके विरस[1] और बेक्टीरिया जैसे एक सेलवाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्त्व बने। एक सेलवाले

---

[1] Virus.

प्राणियोसे क्रमश विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव, यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहिले मनुष्य आ मौजूद हुआ। यह सारा सिलसिला यह नही वतलाता, कि आरम्भमे मन था, उसने सोचा कि जगत् हो जाये, और उसकी कल्पना जगत् रूपमे देखी जाने लगी। सारा साइस तथा भूगर्भशास्त्र एवं विकास सिद्धान्त हमे यही वतलाते है, कि भौतिक तत्त्व प्राणीसे पहिले मौजूद थे, प्राणी वादकी परिस्थितिकी उपज है। मन प्राणीकी भी पिछली अवस्थामे उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार साफ है कि मन भौतिक तत्त्वोकी उपज है।

उपज होनेका यह अर्थ नही समझना चाहिए, कि मन भौतिक तत्त्व है। भौतिक तत्त्व सदा वदल रहे है, जिससे परिस्थितिमें गडबडी, विरोध (=द्वन्द्व) शुरू होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन—गुणात्मक-परिवर्त्तन—होता है। गुणात्मक-परिवर्त्तन हो जानेके बाद हम उसे "वही चीज" नही कह सकते, क्योकि गुणात्मक-परिवर्त्तन एक विल्कुल नई वस्तु हमारे सामने उपस्थित करता है। मन इसी तरहका भौतिकतत्त्वोसे गुणात्मक-परिवर्तन है। वह भौतिक तत्त्वोसे पैदा हुआ है, किन्तु भौतिक तत्त्व नही है।

त्रयोदश अध्याय

बीसवीं सदीके दार्शनिक

बीसवी सदीमे साइसकी प्रगति और भी तेज हुई। मनुष्य हवामे उसी तरह बेधडक उडने लगा है, जिस तरह अबतक वह समुद्रमे "तैर" रहा था। उसके कानकी शक्ति इतनी बढ गई है, कि वह हजारो मीलो दूरके शब्दो—खबरों, गानो—को सुनता है। उसकी आँखकी ज्योति इतनी बढ रही है, कि हजारो मील दूरके दृश्य भी उसके सामने आने लगे है, यद्यपि इसमे अभी और विकासकी जरूरत है। पिछली शताब्दीने जिन शकलो और स्वरोको अचल पत्थरकी मूर्ति तथा गुफाकी प्रतिध्वनिकी भाँति हमारे पास पहुँचाया था, अब हम उन्हे अपने सामने सजीव-सा चलते-फिरते, बोलते-गाते देखते है। अभी हम इसे प्रतिचित्र और प्रतिध्वनिके रूपमे देख रहे है, लेकिन उस समयका भी आरभ हो गया है, जिसमे आमतौरसे रक्त-मासके रूपको सीधे अपने सामने सजीवता प्रदर्शन करते देखेगे। यह सभी बाते कुछ शताब्दियाँ पहिले दैवी चमत्कार, अमानुषिक सिद्धियाँ समझी जाती थी।

मनुष्यका एक ज्ञान-क्षेत्र है, और एक अज्ञान-क्षेत्र। उसका अज्ञानक्षेत्र जब बहुत ज्यादा था, तब ईश्वर, धर्मकी बहुत गुजाइश थी। अज्ञान-क्षेत्रके खडोको जब ज्ञानने छीनकर अपना क्षेत्र बनाना चाहा, तो अज्ञान-क्षेत्रके वासियो—धर्म और ईश्वरकी स्थिति खतरेमे पड गई। उस वक्त अज्ञान-राज्य की हिमायतकेलिए "दर्शन"का खास तौरसे जन्म हुआ। उसका मुख्य काम था, खुली आँखोमे धूल झोकना—नामसे बिल्कुल उल्टा जो बात दर्शनने ईसा-पूर्व सातवी-छठी सदीमे अपने जन्मके समयकी थी, वही उसने अब

भी उठा रखा है। इसमें शक नहीं, दर्शनने कभी-कभी धर्म और ईश्वरका विरोध किया है, किन्तु वह विरोध नामका था, वह बदली हुई परिस्थितिके अनुसार "अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाता" की नीतिका अनुसरण करनेकेलिए था।

बीसवी सदीने सापेक्षता, क्वन्तम्के सिद्धान्त, एलेक्ट्रन, न्यूट्रन, एक्स-रे, आदि कितने ही साइंसके क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किये है, इसका वर्णन हम "विश्वकी रूपरेखा" मे कर चुके है। इन सबने ईश्वर, धर्म, परमात्म-तत्त्व, वस्तु-अपने-भीतर, विज्ञानवाद सभीकेलिए खतरा उपस्थित कर दिया है, किन्तु ऐसे संकटके समय दार्शनिक चुप नही है। उसके जिस रूपका पर्दा खुल गया है, उससे तो लोगोको भरमाया नही जा सकता; इसलिए धर्म, ईश्वर, चिरस्थापित आचारका पोषण, उनके जरिये नही हो सकता। कान्टको हम देख चुके है, कैसे बुद्धि-सीमा-पारी वस्तु-अपने-भीतरको मनवाकर उसने धर्म, ईश्वर, आचार सबको हमारे मत्थे थोपना चाहा। यही बात फिख्टे, हेगेल्, स्पेन्सरने भी हम देख चुके है।

बीसवी सदीके दार्शनिकोमे कही राधा कृष्णन्के "लौटो उपनिषदोकी ओर" की भाँति, "लौटो कान्टकी ओर" कहते हुए जर्मनीमे कोहेन, विन्डेल्-वान्ट, हुस्सेर्लको देख रहे है; कही यूकेन और बर्गसाँको अध्यात्म-जीवन-वाद और सृजनात्मक जीवनवादका प्रचार करते देखते है। कही विलियम् जेम्सको "प्रभाव (मनुष्यमाप) वाद"[1], बर्टरेंड रसलको भूत और विज्ञान दोनोंसे भिन्न अनुभयवादको पुष्ट करते पा रहे है। ये सभी दार्शनिक अतीतके मोहमे पडे है।—'ते हि नो दिवसा गता.'[2] बड़ी बुरी बीमारी है। किन्तु यह सभी बाते दिमागी बुनियादपर नही हो रही है। मानव समाजके प्रभुओके वर्गस्वार्थका यह तकाजा है, कि वह अतीत न होने पाये, नही तो वर्तमानकी मौज उनके हाथसे जाती रहेगी।

यहाँ हम बीसवी सदीके शरीरवाद[3], विज्ञानवाद, द्वैतवाद, अनुभयवाद-का कुछ परिचय देना चाहते है।

---

[1]Pragmatism. [2]"हाय! वे हमारे दिन चले गये"। [3]Organism.

§१–ईश्वरवाद

१–ह्वाइटहेड् (जन्म १८६१ ई०)

ए० एन्० ह्वाइटहेड् इंगलैंडके मध्यम श्रेणीके एक धर्म-विश्वासी गणितज्ञ हैं।

दर्शन—ह्वाइटहेड्को इस बातका बहुत क्षोभ है, कि प्रत्यक्ष करनेमें इतनी समृद्ध प्रकृति "शब्दहीन, गंधहीन, वर्णहीन, व्यर्थ ही निरन्तर दौड़ते रहनेवाला भौतिकतत्त्व" बना दी गई। ह्वाइटहेड् अपने दर्शन—शरीरवाद—द्वारा प्रकृतिको इस अधःपतनसे बचाना चाहता है। उसका दर्शन कार्य-गुणों—शब्द, गंध, वर्ण आदि—को ही नहीं, बल्कि मनुष्यके कला, आचार, धर्म संबंधी जीवनसे संबंध रखनेवाली बातोंका समर्थन करना चाहता है, साथ ही अपनेको विज्ञानका समर्थक भी जतलाना चाहता है। हमारे तजर्बे (=अनुभव) सदा साकार घटनाओंके होते हैं। यह घटनाएं अलग-अलग नहीं, बल्कि एक शरीरके अनेक अवयवोंकी भाँति हैं। शरीर अपने स्वभावसे सारे अवयव, तत्त्व या घटनाओंको प्रभावित करता है। ह्वाइटहेड् यहाँ शरीरको जिस अर्थमें प्रयुक्त करता है, वह सारे वस्तु-सत्य—वास्तविकता—का बोधक है, और वह सिर्फ चेतन प्राणी शरीर तक ही सीमित नहीं है। सारी प्रकृतिका यही मूल स्वरूप है। ह्वाइटहेड्के अनुसार भौतिकशास्त्र अतिसूक्ष्म "शरीर" (एलेक्ट्रन, परमाणु आदि)का अध्ययन करता है, और प्राणिशास्त्र बड़े "शरीर"का। ह्वाइटहेड् प्राणी-अप्राणीके ही नहीं मन और कायाके भेदको भी नहीं मानता। मन शरीरका ही एक खास घटना-प्रबंध है, और उसका प्रयोजन है उच्च क्रियाओंका संपादन करना। भौतिकशास्त्रकी आधुनिक प्रगतिको लेते हुए ह्वाइटहेड् मन या कायाको वस्तु नहीं घटनाओं—बदलती हुई वास्तविकता—को विश्वका सूक्ष्मतम अवयव या इकाई मानता है। इकाइयों और उनके पारस्परिक संबंधका योग विश्व है। बड़ी घटनाएं छोटी घटनाओंकी अवयवी

(=अवयव वाले) है, और अन्तमे सबके नीचे मूल आधार या इकाई परमाणुवाली **घटनाएं** है। इस प्रकार ह्वाइटहेड् वास्तविकताको प्रवाह या दीपकलिकाकी भाँति निरन्तर परिवर्त्तनशील मानता है, किन्तु साथ ही आकृति[1]को स्थायी मानकर एक नित्य पदार्थ या अफलातूँके **सामान्यको** साबित करना चाहता है, "न बचनेवाले प्रवाहमे एक चीज है, जो बनी रहती है, नित्यताको नष्ट करनेमे एक तत्त्व है जो कि प्रवाहके रूपमे बँच रहता है।"

जिसे एक वस्तु या व्यक्ति कहा जाता है, वह वस्तुत घटनाओंका समाज, या व्यवस्थित प्रवाह है, और उसमे कार्यकारण-धारा जारी रहती है। सूक्ष्मतम इकाई, परमाणु आदिकी घटना, विश्वमे सारी दूसरी प्राथमिक—परमाणवीय—घटनाओंसे अलग-थलग नही, बल्कि परस्पर-सबद्ध घटनाओका सगठित परिवार है। और इस पारस्परिक संबध और सगठनके कारण यह कहा जा सकता है, कि "हर एक चीज हर समय हर जगह है।"[2] प्रत्येक प्राथमिक (=परमाणवीय) **घटना**, अपनेसे पहिलेकी प्राथमिक घटनाकी उपज है, और उसी तरह आनेवाली **घटना**की पूर्वगामिनी है। इस प्रकार प्रत्येक प्राथमिक घटना, प्रवाहरूप होनेपर भी "पदार्थरूपेण अविनाशी" है।

ईश्वर—विश्वका "साथ होना", संबद्ध होना ही ईश्वर है। अलग-अलग वस्तुमे ईश्वर नही है, बल्कि वह उनका आधार "शरीर" है। "विश्व पूर्ण एकताके लानेमे तत्पर सान्तोका बहुत्व है।" ईश्वर "भौतिक वहुत्वकी खोजमे तत्पर दृष्टिकी एकता है, वह वेदना (=एहसास) केलिए वसी या अंकुशी, तथा इच्छाकी अनन्त भूख है।"

अपने सारे "साइस-सम्मत" दर्शनका अन्त, ह्वाइटहेड, ईश्वर धर्म और आचारके समर्थनमे करता है। यह क्यो ?

---

[1] Form.

[2] मिलाओ जैन-दर्शन पृष्ठ४६६-७

२. युकेन् (१८४६-१९२६)

यह जर्मन दार्शनिक था।

युकेनके अनुसार सर्वोच्च वास्तविकता **आत्मिक जीवन**[1], या **सजीव आत्मा** है। यह आत्मिक जीवन प्रकृति (=विश्व)से ऊपर है, किन्तु वह उसमे इस तरह व्याप्त है, कि उसकेलिए सीढीका काम दे सकता है। यह **आत्मिक जीवन** कूटस्थ एकरस नही, बल्कि अधिक ऊँची अधिक गभीर आत्मिकताकी ओर वढ रहा है। ऐसी चमत्कारिक (योग जैसी) प्रक्रियाए है, जिनकी सहायतासे मनुष्य **आत्मिक जीवन**का ज्ञान प्राप्तकर सकता है, मनुष्य स्वय इस **आत्मिक जीवन**की प्रगतिमे सहायक हो सकता है। साइस, कला, धर्म, दर्शन आदिको अन्त.प्रेरणा इसी **आत्मिक जीवन**की तरफसे मिलती है, और वह उसकी प्रगतिमे भाग लेता है। सत्य मनुष्यकी कृति नही है, वह **आत्मिक लोक**मे मौजूद है, जिसका मनुष्यको पता भर लगाना है। ऐसे स्वयसिद्ध, स्वयभू सत्यकी जरूरत है, क्योकि उसके बिना श्रद्धा संभव नही है। सत्य मनुष्यकी नाप है, मनुष्य सत्यकी नाप नही है। सत्य बाध्य करके अपने अस्तित्वको मनवाता है। सत्य आत्मिक जीवनके अस्तित्वका प्रमाण है। उसका दूसरा प्रमाण यह है, जो कि कष्टके वक्त लोग आत्मिक लोक या स्वर्गिक राज्यकी शरण लेते है।

प्रकृति भी उपेक्षणीय नही है। इसके भीतर भी काफी बोध है। मनुष्यका मन स्वय प्रकृतिकी उपज है। तो भी प्रकृति मन (=आत्मा)से नीचे है, अधिक-से-अधिक यही कह सकते है कि प्रकृति **आत्मिक जीवन**के मार्गकी पहिली मजिल है। **आत्मिक जीवन** प्रकृतिकी उपज नही, बल्कि उसका मौलिक आधार तथा अन्तिम लक्ष्य है।

आत्मिक जीवनका ज्ञान साइस या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नही हो सकता, इसके लिए आत्मिक अनुभव—उस **आत्मिक जीवन**की अपने भीतर

---

[1] Spiritual Life.

सर्वत्र उपस्थितिके अनुभव—की जरूरत है।

यही आत्मिक जीवन ईश्वर है। धर्म मानव जीवनको आत्मिक जीवनके उच्च शिखरपर ले जाता है, उसके बिना मनुष्यका अस्तित्व खोखला सारहीन है। यूकेन्ने इस प्रकार भौतिकवादके प्रभावको हटाकर दम तोड़ते ईश्वर और धर्मको हस्तावलब देना चाहा।

§ २–अन्-उभयवाद

१. बेर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०)

फ्रेंच दार्शनिक था। हाल (१९४० ई०) में जर्मनी द्वारा फ्रांसके पराजित होनेके बाद उसकी मृत्यु हुई।

बेर्गसाँकी कोशिश है, कि प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंको इन्कार किये बिना विश्वकी आध्यात्मिकताको सिद्ध किया जाये। इसके दर्शनकी विशेषता है परिवर्त्तन (=क्षणिकता), क्रिया, स्वतन्त्रता, सृजनात्मक विकास[1], स्थिति,[2] आत्मानुभूति। बेर्गसाँके दर्शनको आमतौरसे "परिवर्तनका दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहते हैं।

(१) तत्त्व—बेर्गसाँके अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है, न मन (=विज्ञान), बल्कि इन दोनोंसे भिन्न=अन्-उभय तत्त्व है, जिससे ही भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उपजते हैं। यह मूल तत्त्व सदा परिवर्त्तन-शील, घटना-प्रवाह, लहराता जीवन, सदा नये रूपकी ओर बढ़ रहा जीवन है।

(२) स्थिति—बेर्गसाँ स्थितिको मानता है, किन्तु स्थिरताकी स्थिति को नहीं बल्कि प्रवाहकी स्थितिको। "स्थिति अतीतकी लगातार प्रगति है, जो कि भविष्यके रूपमें बदल रही है, और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ रही है वैसे-ही-वैसे उसका आकार विशाल होता जा रहा है।" इस प्रकार बेर्गसाँ

---

[1] Creative evolution. [2] Duration.

यहाँ खामखाह "स्थिति" शब्दको घसीट रहा है, क्योकि स्थिति परिवर्तनसे बिल्कुल उलटी चीज है। वह और कहता है—"हमने अपने अत्यन्त बाल्यसे जो कुछ अनुभव किया है, सोचा और चाहा है; वह यहाँ हमारे वर्त्तमान के ऊपर झुक रहा है, और वर्त्तमान जिससे तुरन्त मिलनेवाला है।... जन्मसे लेकर—नही, बल्कि जन्मसे भी पहिलेसे क्योकि अनुवशिकता भी हमारे साथ है—जो कुछ जीवनमे हमने किया है, उस इतिहासके सारके अतिरिक्त हम और हमारा स्वभाव और है ही क्या? इसमे सन्देह नही कि हम अपने भूतके बहुत छोटेसे भागको सोच सकते है, किन्तु....हमारी चाह, सकल्प, क्रिया अपने सारे भूतको लेकर होती है।" बेर्गसाँ इसे स्थिति कहता है। यह सारे अतीतका वर्तमानमे साराकर्षण है। स्थितिके कारण सिर्फ वास्तविक और निरन्तर परिवर्तन ही नही होता, बल्कि प्रत्येक नया परिवर्त्तन, कुछ ताजगी कुछ नवीनता लिए होता है। इसीलिए इसे सृजनात्मक विकास कहते है। आध्यात्मिकता (=आत्मतत्त्व) इसी प्रकारकी स्मृतिको कहते है; वह इस प्रकारकी निरन्तर क्रिया है, जिसमे कि अतीत वर्तमानमे व्याप्त है। कभी-कभी इस क्रियामे शिथिलता हो जाती है, जिससे भौतिक तत्त्व या प्रकृति पैदा होती है। चेतना (=विज्ञान) बाह्यता की अपेक्षाके बिना व्यापनको कहते है, और प्रकृति बिना व्यापककी बाह्यताको कहते है।

जीवनके विकासकी तीन भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र दिशाये है—वानस्पतिक, पशुबुद्धिक, बुद्धिक, जो कि क्रमश वनस्पति, पशु और मनुष्यमे पाई जाती है।

(३) **चेतना**—चेतना या आत्मिकताको, बेर्गसाँ स्मृतिसे सबद्ध मानता है, प्रत्यक्षीकरणसे नही। चेतना मस्तिष्ककी क्रिया नही, बल्कि मस्तिष्कका वह औजारके तौरपर इस्तेमाल करता है। "कोट और खूँटी, जिसपर कि वह टँगा है, दोनोंका घनिष्ट संबध है, क्योकि यदि खूँटीको उखाड दे, तो कोट गिर जायेगा, किन्तु, इससे क्या यह हम कह सकते है कि खूँटीकी शकल जैसी होती है, वैसी ही कोटकी शकल होती है?"

(४) भौतिकतत्त्व—बेर्गसाँके अनुसार भौतिकतत्त्वोंका काम है जीवन-समुद्रको अलग-अलग व्यक्तियोंमें बाँटना, जिसमें कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वको विकसित कर सकें। प्रकृति इस विकासमें बाधा नहीं डालती, बल्कि अपनी रुकावट द्वारा उन्हें और उत्तेजितकर कार्यक्षम बनाती है। प्रकृति एक ही साथ "बाधा, साधन और उत्तेजना" है। जीवन सिर्फ समाजमें ही पहुँच सन्तुष्ट होता है। सर्वोच्च और अत्यन्त सजीव मनुष्य वह है "जिसका काम स्वयं जबर्दस्त तो है ही, साथ ही दूसरे मनुष्यके कामको भी जो जबर्दस्त बनाता है, जो स्वयं उदार है, और उदारताकी अँगीठीको जलाता है।"

(५) ईश्वर—जीवनका केन्द्रीय प्रकाश-प्रसरण ईश्वर है। ईश्वर "निरन्तर जीवन-क्रिया, स्वतंत्रता है।"

(६) दर्शन—दर्शन, बेर्गसाँके अनुसार, सदासे वास्तविकताका प्रत्यक्षदर्शन—आत्मानुभूति—रहा और रहेगा।—यह बात बिल्कुल अक्षरशः ठीक है। आत्मानुभूति[1] द्वारा ही हम "स्थिति", "जीवन", "चेतना" का साक्षात्कार कर सकते हैं। परमतत्त्व[2] तभी अपने आपको हमारे सामने प्रकट करेगा, जब कि हम कर्म करनेके लिए नहीं बल्कि उसके साक्षात्कार करने ही के लिए साक्षात्कार करना चाहेंगे।

इस प्रकार बेर्गसाँके दर्शनका भी अवसान आत्म-दर्शन, और ईश्वर-समर्थनके साथ होता है।

२. बर्ट्रेंड रसल् (जन्म १८७२ ई०)

बर्ट रसल एक अंग्रेज लार्ड तथा गणितके विद्वान् विचारक है।

रसलका दर्शन "अन्-उभयवाद" कहा जाता है—अर्थात् न प्रकृति मूलतत्त्व है, न विज्ञान, मूलतत्त्व यह दोनों नहीं है। यदि दार्शनिक गोलमोल न लिखकर स्पष्ट भाषामें लिखें, तो उन्हें दार्शनिक ही कौन

[1] Intuition. [2] Absolute.

कहेगा। दार्शनिककेलिए जरूरी है, कि वह सन्ध्या-भाषामे अपने विचार प्रकट करे, जिसमे उसकी गिनती रात-दिन दोनोमे हो सके। रसलके दर्शनको, वह खुद "तार्किक परमाणुवाद", "अनुभयवादी अद्वैतवाद" "द्वैतवाद", "वस्तुवाद" कहता है।

रसल कही-कही हमारे सारे अनुभवोका विश्लेषण प्रकृतिके मूलतत्त्व परमाणुओंके रूपमे करता है। दर्शन साइंसका अनुयायी हो सकता है, साइंस-की जगह लेनेका उसका अधिकार नही है। वस्तुओ, घटनाओंका बहुत्व विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि दोनोसे सिद्ध है, इसलिए दर्शनको उनसे इन्कारी नही होना चाहिए। किन्तु इसका मूल क्या है, इसपर विचार करते हुए रसल कहता है—विज्ञानवादका सारे बाहरी बहुत्वोको मानसिक कहना ठीक नही, क्योंकि यह साइसका अपलाप है। साथही भौतिकवादके भी वह विरुद्ध है। मूलतत्त्व तरग—शक्ति या केवल किरण प्रसरण[1] नही है। मूलतत्त्व न विज्ञान है, न भौतिक तत्व, वह दोनोसे अलग "अन्-उभय-तत्त्व" है, लेकिन "अनुभयतत्व" एक नही **घटनाओंकी** एक किस्म है। या तत्वोकी एक जाति है। "जगत् अनेक शायद परिसंख्यात, या असख्य तत्त्वोका समूह है। ये तत्त्व एक दूसरेके साथ विभिन्न संबध रखते है, और शायद उनके गुणोमे भी भेद है। इन तत्त्वोमेसे प्रत्येकको 'घटना' कहा जा सकता है।"

रसलके अनुसार "दर्शन जीवनके लक्ष्यको निश्चित नही कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहो, संकीर्ण दृष्टिके अनर्थोंसे हमे बचा सकता है।"

§ ३. भौतिकवाद

बीसवी सदीका समाजवाद जैसे मार्क्सका समाजवाद है, वैसे ही बीसवी सदीका भौतिकवाद मार्क्सीय भौतिकवाद है। मार्क्सवादके कहनेसे यह नही समझना चाहिए, कि वह स्थिर और अचल एकरस

[1] Radiation.

हैं। विकास मार्क्स्वादका मूल सूत्र है, इसलिए मार्क्सवादीय भौतिक दर्शन का भी विकास हुआ है। मार्क्स्वाद भौतिक दर्शनके बारेमें हम आगे अपने "वैज्ञानिक भौतिकवाद"मे सविस्तर लिखने जा रहे है। इसलिए उसे यहाँ दुहरानेकी ज़रूरत नही।

§४–द्वैतवाद

बीसवी सदीमे नई-नई खोजोने साइसकी प्रतिष्ठा और प्रभावको और बढा दिया, इसीलिए केवल बुद्धिवादी दार्शनिकोंकी जगह आज प्रयोग-वादियोकी प्रधानता ज्यादा है।

विलियम् जेम्स (१८४२-१९१० ई०)—विलियम् जेम्सका जन्म अमेरिकाके मध्यमवर्गीय परिवारमे हुआ था। दर्शन और मनोविज्ञानका वह प्रोफेसर रहा। जिस तरह बुद्धके तृष्णावाद(=क्षय)वादने शोपनहारके दर्शनको प्रभावित किया, उसी तरह बुद्धके अनात्मवादी मनोविज्ञानने जेम्स पर प्रभाव डाला था।

जेम्सको भौतिकवादी तथा विज्ञानवादी दोनों प्रकारके अद्वैतवाद पसन्द न थे। भौतिक अद्वैतवादके विरुद्ध उसका कहना था कि यदि सभी चजे— मनुष्य भी—आदिम नीहारिकाओ या अतिसूक्ष्म तत्त्वोंकी उपज मात्र है, तो मनुष्यकी आचारिक जिम्मेवारी(=दायित्व), कर्म-स्वातंत्र्य, वैयक्तिक प्रयत्न और महत्त्वाकाक्षाए बेकार है। यह स्पष्ट है कि भौतिकवादका विरोध करते वक्त उसके सामने सिर्फ यात्रिक भौतिकवाद था। वैज्ञानिक भौतिक-वाद जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन द्वारा बिल्कुल नवीन वस्तुके उत्पादनको मानता है, और परिस्थितिके अनुसार बदलती किन्तु और भी बढती जिम्मे-वारियोको अज्ञान और भयके आधारपर नही बल्कि और भी ऊँचे तलपर— ज्ञानके प्रकाशमे—मनुष्य होनेका नाता मानता है, और उसकेलिए बड़ीसे बडी कुर्बानी करनेकेलिए आदमीको तैयार करता है इससे स्पष्ट है, कि वह "आचारिक जिम्मेवारियो"की उपेक्षा नही करता; किन्तु "आचा-रिक जिम्मेवारियों"से यदि जेम्सका अभिप्राय पुराने आर्थिक स्वार्थों और

उसपर आश्रित समाजके ढॉचेको कायम रखनेसे मतलब है, तो निश्चय ही वह इस तरहकी जिम्मेवारीको उठानेकेलिए तैयार नही है। शायद, जेम्सको यदि पिछला महायुद्ध—और खासकर वर्त्तमान युद्ध—देखनेका मौका मिला होता, तो वह अच्छी तरह समझ लेता कि सामाजिक स्वार्थकी अवहेलना करते अन्धी वैयक्तिक लिप्सा—जिसे कर्म-स्वातन्त्र्य, प्रयत्न, महत्त्वाकाक्षा आदि जो भी नाम दिया जावे—मानवको कितना नीचे ले जा सकती है।

(१) **प्रभाववाद**[1]—जेम्सके दिलमे साइसके प्रयत्नों, उसकी गवेषणाओ और सच्चाइयोके प्रति बहुत सम्मान था, इसलिए वह कोरे मस्तिष्ककी कल्पनाओ या विज्ञानवादको महत्त्व नही दे सकता था। उसका कहना था, किसी वाद, विश्वास या सिद्धान्तकी सच्चाईकी कसौटी वह **प्रभाव** या व्यावहारिक परिणाम जो हमपर या जगत्पर पड़ता दिखाई पड़ता है। **प्रभावपर** जोर देनेके ही कारण जेम्सके दर्शनको **प्रभाववाद**[1] भी कहते है।

(२) **ज्ञान**—ज्ञान एक साधन है, वह जीवनकेलिए है, जीवन ज्ञानकेलिए नही है। सच्चा ज्ञान या विचार वह है, जिसे हम हजम कर सके, यथार्थ साबित कर सके, और जिसकी परीक्षा कर सके।

यह कहना ठीक नही है, कि जो कुछ बुद्धिपूर्वक है, वह वस्तु-सत् है। जो कुछ **प्रयोग या अनुभवमे सिद्ध** है, वह वस्तु-सत् है। अनुभवसे हमे सिर्फ उसी अनुभवको लेना चाहिए, जो कि कल्पनासे मिश्रित नही किया[2] गया, जो शुद्धता और मौलिक निर्दोषितासे युक्त है। वस्तु-सत् वह शुद्ध अनुभव है, जो मनुष्यकी कल्पनासे बिल्कुल स्वतन्त्र है, उसकी व्याख्या बहुत मुश्किल है। यह वह वस्तु है, जो कि अभी-अभी अनुभवमे घुस रही है, किन्तु अभी उसका नामकरण नही हुआ है; अथवा, यह अनुभवमे कल्पनारहित[2] ऐसी आदिम उपस्थिति है, जिसके बारेमे अभी कोई श्रद्धा

---

[1] Pragmatism.

[2] "कल्पना-अपोढ"—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति।

या विश्वास उत्पन्न नही हो पाया है; जिसपर कोई मानवी कल्पना चिप-काई नही गई है।

(३) **आत्मा नहीं**—मानसी वृत्तियो और कायाको मिलानेवाले माध्यम—आत्मा—का मानना बेकार है, क्योकि वहाँ ऐसे स्वतत्र तत्त्व नही है, जिनको मिलानेकेलिए किसी तीसरे पदार्थकी जरूरत हो। **वास्तविकता**, एक अंशमे हमारी वेदनाओं[1]का निरन्तर चला आता प्रवाह है, जो आते और विलीन होते जरूर है, किन्तु आते कहाँसे है, इसे हम नही जानते; दूसरे अंशमे वह वे संबध है, जो कि हमारी वेदनाओ या मनमे उनके प्रतिबिंबोके बीच पाये जाते है; और एक अंशमे वह पहिलेकी सच्चाइयाँ है।

(४) **सृष्टिकर्त्ता नहीं**—प्रकट घटनाओके पीछे कोई छिपी हुई **वस्तु नहीं है**, **वस्तु-अपने-भीतर** (वस्तुसार), **परमतत्व**, **अज्ञेय** कल्पनाके सिवा कोई हस्ती नही रखते। यह बिल्कुल फजूल बात है, कि हम मौजूद स्पष्ट वास्तविकताकी व्याख्या करनेकेलिए एक ऐसी कल्पित वास्तविकताका सहारा ले, जिसको हम ख्यालमे भी नही ला सकते, यदि हम खुद अपने अनुभवसे ही निकले कल्पित चित्रोका सहारा न ले। मनसे परे भी सत्ता है, इसे जेम्स इन्कार नही करता था लेकिन साथ ही; शुद्ध आदिम अनुभवको वह मन प्रसूत नही बल्कि वस्तु-सत् मानता था—आदि-कालीन तत्त्व ही विकसित हो चेतनाके रूपमें परिणत होते है।

(५) **द्वैतवाद**—जेम्सका उग्र प्रभाववाद द्वैतवादके पक्षमे था—अनुभव हमारे सामने बहुता, भिन्नता, विरोधको उपस्थित करता है। वहाँ न हमे कही पता मिलता है कूटस्थ विश्वका, नही परमतत्त्व (=ब्रह्म)-वादियों अद्वैतियोके उस पूर्णतया सगठित परस्पर स्नेहबद्ध जगत्-प्रबधका, जिसमे कि सभी भेद और विरोध एक मत हो जाये। अद्वैतवाद, हो सकता है, हमारी ललित भावनाओ और चमत्कार-प्रिय भावुकताओंको अच्छा मालूम हो; किन्तु

---

[1]Sensations.

वह हमारी चेतना-सबधी गुत्थियोको सुलझा नही सकता, बल्कि बुराइयो (=पाप)के संबंधकी एक नई समस्या ला खडा करता है—अद्वैत शुद्धतत्त्वमे आखिर जीवनकी अशुद्धताए, शुद्ध अद्वैत विश्वमे विषमताए—क्रूरताए कहाँसे आ पडी ? अद्वैतवाद इस प्रश्नके हल करनेमे असमर्थ है, कि कूटस्थ एकरस अद्वैत तत्त्वमे परिवर्त्तन क्यो होता है। सबसे भारी दोष अद्वैत-वादमे है, उसका भाग्यवादी (=नियतिवादी) होना—वह एक है, उसकी एक इच्छा है, वह एकरस है, इसलिए उसकी इच्छा—भविष्य—नियत है। इसके विरुद्ध द्वैतवाद प्रत्यक्षसिद्ध घटनाके प्रवाहकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसकी तथता (=जैसा-है-वैसेपन)का समर्थक है, और, कार्य-कारण सबध (=परिवर्त्तन) या इच्छा-स्वातत्र्य (=कर्म-स्वातत्र्य)की पूर्णतया संगत व्याख्या करता है—द्वैतवादमे परिवर्त्तन, नवीनताकेलिए स्थान है।

(६) **ईश्वर**—जेम्स भी उन्नीसवी सदीके कितने ही उन दब्बू, अधि-कारारूढ-वर्गसे भयभीत दार्शनिकोमे है, जो एक वक्त सत्यसे प्रेरित होकर बहुत आगे बढ जाते है, फिर पीछे छूट गये अपने सहकर्मियोकी उठती अँगु-लियोको देखकर "किन्तु, परन्तु" करने लगते है। जेम्सने कान्टके वस्तु-अपने-भीतर, स्पेन्सरके अज्ञेय, हेगेल्के तत्त्वको इन्कार करनेमे तो पहिले साहस दिखलाया; किन्तु फिर भय खाने लगा कि कही "सभ्य" समाज उसे नास्तिक, अनीश्वरवादी न समझ ले। इसलिए उसने कहना शुरू किया—**ईश्वर** विश्वका एक अग है, वह सहानुभूति रखनेवाला शक्तिशाली मददगार है, तथा महान् सहचर है। वह हमारे ही स्वभावका एक चेतन, आचार-परायण व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है, उसके साथ हमारा समागम हो सकता है, जैसा कि कुछ अनुभव (यकायक भगवानसे वार्तालाप, या श्रद्धासे रोगमुक्ति) सिद्ध करते है।—तो भी यह ईश्वरवादी मान्यताएं पूर्णतया सिद्ध नही की जा सकती, लेकिन यही बात किसी दर्शनके बारेमे भी कही जा सकती है।—किसी दर्शनको पूर्णतया सिद्ध नही किया जा सकता, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करनेकी चाहपर निर्भर है। श्रद्धाका सार

या समझ महसूस करना नहीं है, बल्कि वह है चाह—उस बातके विश्वास करनेकी चाह, जिसे हम साइंसके प्रयोगों द्वारा न सिद्ध कर सकते और न खंडित कर सकते हैं।

उत्तरार्ध

४–भारतीय दर्शन

४. भारतीय दर्शन

चतुर्दश अध्याय

प्राचीन ब्राह्मण-दर्शन (१०००–६०० ई० पू०)

हम बतला चुके है कि दर्शन मानव मस्तिष्कके बहुत पीछेकी उपज है। यूरोपमे दर्शनका आरभ छठी सदी ईसा पूर्वमे होता है। भारतीय दर्शनका आरभ-समय भी करीब-करीब यही है, यद्यपि उसकी स्वप्न चेतना वेदके सबसे पिछले मंत्रोमे मिलती है, जो ईसा पूर्व दसवी सदीके के आस-पास बनते रहे।

प्राकृतिक मानव जब अपने अज्ञान एव भयका कारण तथा सहारा ढूंढने लगा, तो वह देवताओ और धर्म तक पहुँचा। जब सीधे-सादे धर्म-देवता-सबंधी विश्वास उसकी विकसित बुद्धिको सन्तुष्ट करनेमे असमर्थ होने लगे, तो उसकी उडान दर्शनकी ओर हुई। प्राकृतिक मानवको यात्राके आरभसे धर्म तक पहुँचनेमे भी लाखो वर्ष लगे थे, जिससे मालूम होता है कि मनुष्यकी सहज बुद्धि प्रकृतिके साथ-साथ रहना ज्यादा पसन्द करती है। शायद धर्म और दर्शनको उतनी सफलता न हुई होती, यदि मानव समाज अपने स्वार्थोके कारण वर्गोमे विभक्त न हुआ होता। वर्ग-स्वार्थको जगत्की परिवर्त्तनशीलता द्वारा परिचालित सामाजिक परिवर्तनसे जबर्दस्त खतरा रहता है, इसलिए उसकी कोशिश होती है कि परिवर्तित होते जगत्मे अपने-को अक्षुण्ण रक्खे। इन्ही कारणोसे पितृसत्ताक समाजने धर्मकी स्थायी बुनि-याद रक्खी, और प्राकृतिक शक्तियों एवं मृत-जीवित प्राणियोके आतकसे उठाकर उसे वैयक्तिक देवताओ और भूतोके रूपमे परिणत किया। शोषक

वर्गकी शक्तिके बढनेके साथ अपने समाजके नमूनेपर उसने देवताओ की परम्परा और सामाजिक संस्थाओंकी कल्पना की । यूरोपीय दर्शनोंके इतिहासमे हम देख चुके है, कि कैसे विकासके साथ स्वतत्र होती बुद्धिको घेरा बढाते हुए लगातार रोक रखनेकी कोशिश की गई । लेकिन जब हम दर्शनके उस तरहके स्वार्थपूर्ण उपयोगके बारेमे सोचते है, तो उस वक्त यह भी ध्यानमे रखना चाहिए कि दर्शनकी आडमे वर्ग-स्वार्थको मजबूर करनेका प्रयत्न सभी ही दार्शनिक जान-बूझकर करते है यह बात नही है; कितने ही अच्छी नियत रखते भी आत्म-संमोहके कारण वैसा कर बैठते है ।

§ १. वेद (१५००–१००० ई० पू०)

"मानव-समाज"मे हम बतला आये है, कि किस तरह आर्योंके भारतमे आनेसे पूर्व सिन्धु-उपत्यकामे असीरिया (मसोपोतामिया)की समसामयिक एक सभ्य जाति रहती थी, जिसका सामन्तशाही समाज अफगानिस्तानमे दाखिल होनेवाले आर्योंके जनप्रभावित पितृसत्ताक समाजसे कही अधिक उन्नत अवस्थामे था । असभ्य लडाकू जन-युगीन जर्मनोने जैसे सभ्य संस्कृत रोमनों और उनके विशाल साम्राज्यको ईसाकी चौथी शताब्दीमें परास्त कर दिया, उसी तरह इन आर्योंने सिन्धु-उपत्यकोके नागरिकोंको परास्त कर वहाँ अपना प्रभुत्व १८०० ई० पू०के आसपास जमाया । यह वही समय था, जब कि—थोड़े ही अन्तरसे—पश्चिममे भी हिन्दी-यूरोपीय जातिकी दूसरी शाखा यूनानियोने यूनानको वहाँके भूमध्यजातीय निवासियोंको हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया । यद्यपि एकसे देश या कालमे मानव प्रगतिकी समानताका कोई नियम नही है, तो भी यहाँ कुछ बातोमें हिन्दी-यूरोपीय जातीय दोनो शाखाओ—यूनानियो और हिन्दियो—को हम दर्शन-क्षेत्रमे एक समय प्रगति करते देख रहे है; यद्यपि यह प्रगति आगे विषम गति पकड लेती है । हाँ, एक विशेषता जरूर है, कि समय बीतनेके साथ हिन्दी-आर्योंकी सामाजिक प्रगति रुक गई, जिससे उनके समाज-शरीरको सुखंडी मार गई । इसका यदि कोई महत्त्व है तो यही कि उनका समाज जीवित फोसील बन

गया, आज वह चार हज़ार वर्ष तककी पुरानी बेवकूफियोका एक अच्छा म्यूजियम है, जब कि यूनानी समाज परिस्थितिके अनुसार बदलता रहा—आज जहाँ नव्य शिक्षित भारतीय भी वेद और उपनिषद्के ऋषियोको ही अनन्तकाल तकके लिए दार्शनिक तत्त्वोको सोचकर पहिलेसे रख देनेवाला समझते है; वहाँ आधुनिक यूरोपीय विद्वान अफलातूँ और अरस्तूको दर्शनकी प्रथम और महत्त्वपूर्ण ईटे रखनेवाले समझते हुए भी, आजकी दर्शन विचार-धाराके सामने उनकी विचारधाराको आरभिक ही समझता है।

प्राचीन सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका परिचय वर्त्तमान शताब्दीके द्वितीयपादके आरम्भसे होने लगा है, जब कि मोहेनजो-डरो, और हडप्पाकी खुदाइयोंमे उस समयके नगरो और नागरिक जीवनके अवशेष हमारे सामने आये। लेकिन जो सामग्री हमे वहाँ मिली है, उससे यही मालूम होता है, कि मेसोपोतामियाकी पुरानी सभ्य जातियोकी भाँति सिन्धुवासी भी सामन्तशाही समाजके नागरिक जीवनको बिता रहे थे। वह कृषि, शिल्प, वाणिज्यके अभ्यस्त व्यवसायी थे। ताम्र और पित्तलयुगमें रहते भी उन्होंने काफी उन्नति की थी। उनका एक सागोपाँग धर्म था, एक तरहकी चित्र-लिपि थी। यद्यपि चित्र-लिपिमे जो मुद्राए और दूसरी लेख-सामग्री मिली है, अभी वह पढी नही जा चुकी है; लेकिन दूसरी परी-क्षाओसे मालूम होता है कि सिन्धु-सभ्यता असुर और काल्दी सभ्यताकी समसामयिक ही नही, बल्कि उनकी भगिनी-सभ्यता थी, और उसी तरहके धर्मका ख्याल उसमे था। वहाँ लिग तथा दूसरे देव-चिह्न या देव-मूर्तियाँ पूजी जाती थी, किन्तु जहाँतक दर्शनका संबध है, इसके बारेमे इतना ही कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यतामें उसका पता नही मिलता। यदि वह होता तो आर्योंको दर्शनका विकास शुरूसे करनेकी जरूरत न होती।

१. आर्योंका साहित्य और काल

आर्योंका प्राचीन साहित्य वेद, जैमिनि (३०० ई०)के अनुसार मत्र और ब्राह्मण दो भागोमे विभक्त है। मंत्रोके सग्रहको संहिता कहते है।

ऋग्, यजु, साम, अथर्वकी अपनी-अपनी मन्त्रसंहिताए है, जो शाखाओ के अनुसार एकसे अधिक अब भी मिलती है। बहुत काल तक—बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)के पीछे तक—ब्राह्मण (और दूसरे धर्मवाले भी) अपने ग्रंथोंको लिखकर नही कठस्थ करके रखते थे; और इसमे शक नही, उन्होने जितने परिश्रमसे वेदके छन्द, व्याकरण, उच्चारण और स्वर तकको कंठस्थ करके सुरक्षित रखा, वह असाधारण बात है। तो भी इसका मतलब यह नही कि आज भी मंत्र उसी रूपमे, शुद्धसे-शुद्ध छपी पोथीमे भी, मौजूद है। यदि ऐसा होता तो एक ही शुक्ल यजुर्वेद सहिताके माध्यन्दिन और काण्व शाखाके मंत्रोमे पाठभेद न होता। आर्योके विचारो, सामाजिक व्यवस्थाओ तथा आरंभिक अवस्थाकेलिए जो लिखित सामग्री मिलती है, वह मंत्र (=संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तीन भागोमे विभक्त है। वैदिक साहित्य तथा कर्मकाण्डके सरक्षक ब्राह्मणोंके तत् तत् मतभेदोंके कारण अलग-अलग सम्प्रदाय हो गये थे, इन्हीको शाखा कहा जाता है। हर एक शाखाकी अपनी-अपनी अलग सहिता, ब्राह्मण और आरण्यक थे; जैसे (कृष्ण) यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाकी तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक। आज बहुतसी शाखाओंके सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक लुप्त हो चुके है।

वेदोंमें सबसे पुरानी ऋग्वेद मन्त्र-सहिता है। ऋग्वेदके मंत्रकर्ता ऋषियो मे सबसे पुराने विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, गोतम (=दीर्घतमा), अत्रि आदि है। इनमे कितने ही विश्वामित्र, वशिष्ठकी भाँति है समसामयिक परस्पर, और कुछमे एक दो पीढियोका अतर है। अंगिराके पौत्र तथा बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजका समय[1] १५०० ई० पू० है। भारद्वाज उत्तर-पचाल (=वर्त्तमान रुहेलखड)के राजा दिवोदास्के पुरोहित थे। विश्वामित्र दक्षिण-पचाल (=आगरा कमिश्नरीका अधिक भाग)से सबद्ध थे। वशिष्ठका सबध कुरु (=मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियोके अधिक भाग)-राजके

---

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायन-वंश।"

पुरोहित थे। सारा ऋग्वेद छै सात पीढियोंके ऋषियोंकी कृति है, जैसा कि बृहस्पतिके इस वंशसे पता लगेगा—
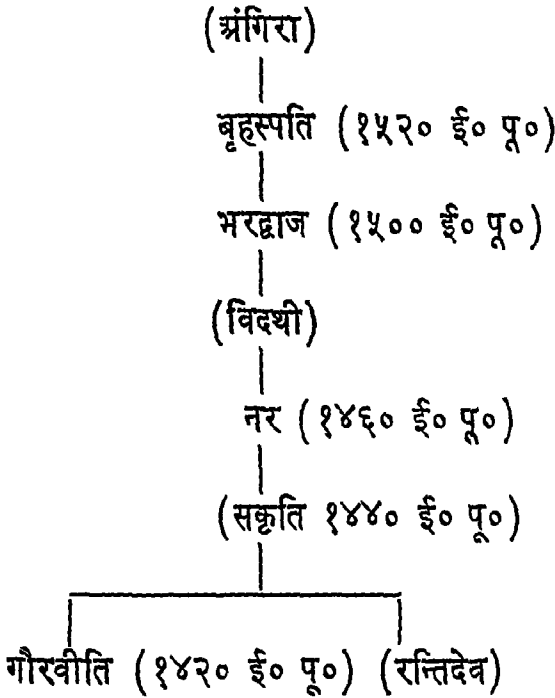
इनमे बृहस्पति, भारद्वाज, नर और गौरवीति ऋग्वेदके ऋषि हैं। बृहस्पतिसे गौरवीति (=साँकृत्यायनोके एक प्रवर पुरुष) तक छै पीढियाँ होती हैं। मैंने अन्यत्र[1] भारद्वाजका काल १५०० ई० पू० दिखलाया है, और पीढीके लिए २० वर्षका औसत लेनेपर बृहस्पति (१५२० ई० पू०) से गौरवीति के समय (१४२० ई० पू०) के अदर ही ऋषियोंने अपनी रचनाएं की। ऋषियोकी परम्पराओंपर नजर करनेपर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदका सबसे अधिक भाग इसी समय बना है। ब्राह्मणो और आरण्यकोंके बननेका समय इससे पीछे सातवी और छठी सदी ईसा पूर्व तक चला आता है। प्राचीन उपनिषदोमे सिर्फ एक (ईश) मंत्र-सहिता (शुक्ल यजुर्वेद) का भाग (अन्तिम चालीसवाँ) अध्याय है; बाकी सातो ब्राह्मणोके भाग है, या आरण्यकोंके।

---

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायनवंश।"

ऋग्वेद प्रधानतया कुरु, उत्तर-दक्षिण-पचाल देशो अर्थात् आजकलके पश्चिमी युक्त-प्रान्तमे बना, जो कि आर्योंके भारतमे आगमनके बाद तीसरा बसेरा है—पहिला बसेरा मजिल काबुल और स्वात नदियोकी उपत्यकाओं (अफगानिस्तान)मे था, दूसरा सप्त-सिन्धु (पजाब)मे, और यह तीसरा बसेरा पश्चिमी युक्त-प्रान्त या यमुना-गगा-रामगगाकी मैदानी उर्वर उपत्यकाओमे। इतना कहनेसे यह भी मालूम हो जायगा कि क्यो प्रयाग और सरस्वती (घाघर)के बीचके प्रदेशको पीछे बहुत पुनीत, अधिकाश तीर्थोंका क्षेत्र तथा आर्यावर्त्त कहा गया।

वेदसे आर्योंके समाजके विकासके बारेमे जो कुछ मिलता है, उससे जान पडता है कि "आर्यावर्त्त"मे बस जानेके समय तक आर्योंमे कुरु, पाँचाल जैसे प्रभुताशाली सामन्तवादी राज्य कायम हो चुके थे, कृषि, ऊनी वस्त्र, तथा व्यापार खूब चल रहा था। तो भी पशुपालन—विशेषकर गोपालन, जो कि मास, दूध, हल चलाना तीनोकेलिए बहुत उपयोगी था—उनकी आर्थिक उपजका सबसे बडा जरिया था। चाहे सुवास्तु और सप्तसिधुके समय—जो कि इससे तीन-चार सदी पहिले बीत चुका था—की ध्वनियाँ वहाँ कही-कही भले ही मिल जाये, किन्तु उनपर ऋग्वेद ज्यादा रोशनी नही डालता। इस समयके साहित्यसे यही पता लगता है, कि आर्यावर्त्तमे बसनेकी आरभिक अवस्थामे उनके भीतर "वर्ण" या जातियाँ बनने जरूर लगी थी, किन्तु अभी वह तरल या अस्थिर अवस्थामे थी। अधिक शुद्ध रक्तवाले आर्य ब्राह्मण या क्षत्रिय थे। केवल विश्वामित्र ही राज-पुत्र (=क्षत्रिय) होते ऋषि नही हो गए, बल्कि ब्राह्मण भरद्वाजके पौत्रों सुहोत्र और शुनहोत्रकी अगली सारी सन्ताने क्रमश कुरु और पचालके क्षत्रिय शासक थी। भरद्वाजके प्रपौत्र सकृतिका पुत्र रन्तिदेव भी राजा और क्षत्रिय था। इस प्रकार इस समय (=कुरु-पचालकालमे) जहाँ तक ब्राह्मण क्षत्रियों—शासकों तथा पुरोहितो—का संबध है, वर्ण-व्यवस्था कर्म पर निर्भर थी। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता था। आगे जिस वक्त राजाओंकी संरक्षकतामे पुश्तैनी पुरोहित—ब्राह्मण—तथा

ब्राह्मणोके विधानके अनुसार क्षत्रिय आनुवंशिक योद्धा और शासक बनते जा रहे थे, उस वक्त भी सप्तसिन्धु तथा काबुल-स्वातमे ब्राह्मणादि भेद नही कायम हुआ। पूरबमे भी मल्ल-वज्जी आदि प्रजातन्त्रोमे भी यही हालत थी, यह हम अन्यत्र[1] बतला चुके है। इसी पुरोहित-शाहीके कारण इन देशोके आर्योको—जो रक्तमे "आर्यावर्त्त"के ब्राह्मण-क्षत्रियो (=आर्यो)से कही अधिक शुद्ध थे—व्रात्य (=पतित) कहा जाता था। किन्तु यह "क्रियाके लोप" या "ब्राह्मणके अदर्शनसे नही" था, बल्कि वहाँ वह अपने साथ लाई पुरानी व्यवस्थापर ज्यादा आरूढ रहना चाहते थे। आर्योंके सामन्तवादके चरम विकासकी उपज ब्राह्मणादि भेदको मानना नही चाहते थे।

ऋग्वेदके आर्यावर्त्त (१५००-१००० ई० पू०)मे, जैसा कि मै अभी कह चुका, कृषि और गोपालन जीविकार्जनके प्रधान साधन थे। युक्त-प्रान्त अभी घने जगलोसे ढँका था, इसलिए उसके वास्ते वहाँ बहुत सुभीता भी था। उस वक्तके आर्योका खाद्य रोटी, चावल, दूध, घी, दही, मास—जिसमे गोमास (बछडेका मास, प्रियतम)—बहुप्रचलित खाद्य थे; मास पकाया और भुना दोनो तरहका होता था। अभी मसाले और छौक-बघाड़का बहुत जोर न था। गर्मागर्म सूप (मासका रस) जो कि हिन्दी-युरोपीय जातिके एक जगह रहनेके समयका प्रधान पेय था, वह अब भी वैसा ही था।[2] सोम(=भाँग)का रस हिन्दी-ईरानी कालसे उनके प्रिय पानोमे था, वह अब भी मौजूद था। पानके साथ नृत्य उनके मनोरजनका एक प्रिय विषय था। देशवासी लोहार(=ताम्रकार), बढई(=रथकार), कुम्हार अपने व्यवसायको करते थे। सूत (ऊनी) कातना और बुनना

---

[1] "वोल्गासे गंगा" पृष्ठ २१६-१८।

[2] संकृतिके पुत्र दानी रन्तिदेवके दो सौ रसोइये, प्रतिदिन दो हजारसे अधिक गायोके मांसको पकाकर भी, अतिथियोंसे विनयपूर्वक कहते थे—"सूपं भूयिष्टमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" महाभारत, द्रोण-पर्व ६७।१७,१८। शान्ति-पर्व २९।२८

प्राय. हर आर्यगृहमें होता था। ऊनी कपडोंके अतिरिक्त चमडेकी पोशाक भी पहनी जाती थी।

सिन्धुकी पुरानी सभ्यतामें मेसोपोतामिया और मिश्रकी भाँति वैयक्तिक देवता तथा उनकी प्रतिमाएं या सकेत भी बनते थे किन्तु आर्योंको वह पसन्द न थे—खासकर अपने प्रतियोगी सिन्धुवासियोकी लिंगपूजाको घृणाकी दृष्टिसे देखते हुए, वह उन्हे "शिश्नदेवा." कहते थे। आर्यावर्त्तीय आर्योंके देवता इन्द्र, वरुण, सोम, पर्जन्य आदि अधिकतर प्राकृतिक शक्तियाँ थे। उनके लिए बनी स्तुतियोमे कभी-कभी हमे कवित्व-कलाका चमत्कार दिखाई पडता है, किन्तु वह सिर्फ कविताए ही नही बल्कि भक्तकी भावपूर्ण स्तुतियाँ है। वायुकी स्तुति करते हुए ऋषि कहता है[1]—

"वह कहाँ पैदा हुआ और कहाँसे आता है ?
वह देवताओंका जीवनप्राण, जगत्की सबसे बड़ी सन्तान है।
वह देव जो इच्छापूर्वक सर्वत्र घूम सकता है।
उसके चलनेकी आवाज़को हम सुनते है, किन्तु उसके रूपको नही।"

२. दार्शनिक विचार

(१) **ईश्वर**—ऋग्वेदके पुराने मत्रोंमे यद्यपि इद्र, सोम, वरुणकी महिमा ज्यादा गाई गई है, किन्तु उस वक्त किसी एक देवताको सर्वेसर्वा माननेका ख्याल नही था। ऋषि जब भी किसी देवताकी स्तुति करने लगता तन्मय होकर उसीको सब कुछ सभी गुणोंका आकर कहने लगता। किन्तु जब हम ऋग्वेदके सबसे पीछेके मत्रो (दशम मंडल) पर पहुँचते है, तो वहाँ बहुदेववादसे एकदेववादकी ओर प्रगति देखते है। सभी जातियोके देव-लोकमे उनके अपने समाजका प्रतिबिब होता है। जहाँ आरभकालमे देवता, पितृसत्ताक समाजके नेता पितरोकी भाँति छोटे-बडे शासक थे; वहाँ आगे नियत्रित सामन्त या राजा बनते हुए, अन्तमें

[1] ऋग्वेद १०।१६८।३,४

वह निरकुश राजा बन जाते है—निरकुश जहाँ तक कि दूसरे देवव्यक्ति-योका संबध है; धार्मिक, सामाजिक, नियमोसे भी उन्हे निरकुश कर देना तो न ब्राह्मणोको पसन्द होता, न प्रभु वर्गको। प्रजाके अधिकार जब बहुत कम रह गए, और राजा सर्वेसर्वा बन गया, उसी समय (६००-५०० ई० पू०) "देव" राजाका पर्यायवाची शब्द बना।

देवावलीकी ओर अग्रसर होनेपर एक तो हम इस ख्यालको फैलते देखते है, कि ब्राह्मण एकही (उस देवताको) अग्नि, यम, सूर्य कहते है।[1] दूसरी ओर एकाधिकारको प्रकट करनेवाले प्रजापति, वरुण जैसे देवताओंको आगे आते देखते है। ब्रह्म (नपुसकलिग) व्यापार-प्रधान कालके उपनिषदोंमे चलकर यद्यपि देवताओका देवता, एक अद्वितीय निराकार शक्ति बन जाता है; किन्तु जहाँ ऋग्वेदका ब्रह्मा (पुलिग) एक साधारण सा देवता है, वहाँ ब्रह्म (नपुसक)का अर्थ भोजन, भोजनदान, सामगीत, अद्भुत शक्तिवाला मंत्र, यज्ञपूर्ति, गान-दक्षिणा, होता (पुरोहित)का मत्रपाठ, महान् आदि मिलता है। प्रजापति ऋग्वेदके अन्तिमकालमें पहुँचकर महान् एकदेवता सर्वेश्वर बन जाता है; उसके क्रम विकास पर भी यदि हम गौर करे, तो वह पहिले प्रजाओंका स्वामी, एक विशेषण मात्र है। ऋग्वेदकी अन्तिम रचना दशम मडलमे प्रजापतिके बारेमे कहा गया है[2]—

"हिरण्य-गर्भ (सुनहरे गर्भवाला) पहिले था, वह भूतका अकेला स्वामी मौजूद था।"

"वह पृथिवी और इस आकाशको धारण करता था, उस (प्रजा-पति) देवको हम हवि प्रदान करते है।"

वरुण तो भूतलके शक्तिशाली सामन्त राजाका एक पूरा प्रतीक था। और उसकेलिए यहाँ तक कहा गया—

---

[1] "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"
ऋ० १।१६४।४६

[2] ऋग् १०।१२

"दो (आदमी) बैठकर जो आपसमे मंत्रणा करते है, उसे तीसरा राजा वरुण जानता है।"

(२) आत्मा—वैदिक ऋषि विश्वास रखते थे कि आत्मा (=मन) शरीरसे अलग भी अपना अस्तित्व रखता है। ऋग्वेदके एक मत्र[1]मे कहा गया है कि वह वृक्ष, वनस्पति, आन्तरिक्ष सूर्य आदिसे हमारे पास चली आये। वेदके ऋषि विश्वास करते थे कि इस लोकसे परे भी दूसरा लोक है, जहाँ मरनेके बाद सुकर्मा पुरुष जाता है, और आनन्द भोगता है। नीचे पातालमे नर्कका अन्धकारमय लोक है, जहाँ अधर्मी जातें है। ऋग्वेदमे मन, आत्मा और असु जीवके वाचक शब्द है, लेकिन आत्मा वहाँ आम-तौरसे प्राणवायु या शरीरकेलिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक कालके ऋषि पुनर्जन्मसे परिचित न थे। शायद उनकी सामाजिक विषमताओके इतने जबर्दस्त समालोचक नही पैदा हुए थे, जो कहते कि दुनियाकी यह विष-मता—गरीबी-अमीरी, दासता-स्वामिता, जिससे चदको छोडकर बाकी सभी दु खकी चक्कीमे पिस रहे है—सख्त सामाजिक अन्याय है, और उसका समाधान कभी न दिखाईदेनेवाले परलोकसे नही किया जा सकता। जब इस तरहके समालोचक पैदा हो गए, तब उपनिषत्-कालके धार्मिक नेताओको पुनर्जन्मकी कल्पना करनी पडी—यहाँकी सामाजिक विषमता भी वस्तुत उन्ही जीवोको लौटकर अपने कियेको भोगनेकेलिए है। जिस सामाजिक विषमताको लेकर समाजके प्रभुओ और शोषकोके बारेमे यह प्रश्न उठा था; पुनर्जन्मसे उसी विषमताके द्वारा उसका समाधान—बडे ही चतुर दिमागका आविष्कार था, इसमे सन्देह नही।

ऋग्वेदके बारेमें जो यहाँ कहा गया, वह बहुत कुछ साम और यजुर्वेद पर भी लागू है। ७५ मन्त्रोको छोड़ सामके सभी मत्र ऋग्वेदसे लेकर यज्ञोंमें गानेकेलिए एकत्रित कर दिये गए है। (शुक्ल-) यजुर्वेद सहिताके भी बहुतसे मत्र ऋग्वेदसे लिये गए है; और कितने ही नये मंत्र भी है।

---

[1] ऋग्वेद १०।५८

यजुर्वेद यज्ञ या कर्मकाडका मत्र है, और इसीलिए इसके मत्रोको भिन्न-भिन्न यज्ञोमे उनके प्रयोगके क्रमसे सगृहीत किया गया है। अथर्ववेद सबसे पीछेका वेद है। बुद्धके वक्त (५६३-४८३ ई०) तक वेद तीन ही माने जाते थे। सुपठित पडित ब्राह्मणको उस वक्त "तीनो वेदोका पारगत"[1] कहा जाता था। अथर्ववेद "मारन-मोहन-उच्चाटन" जैसे तंत्र-मत्रका वेद है।

(३) दर्शन—इस प्रकार जिसे हम दर्शन कहते है, वह वैदिक कालमें दिखलाई नही पडता। वैदिक ऋषि धर्म और देववादमे विश्वास रखते है। यज्ञो-दान द्वारा अब और मरनेके बाद भी, वह सुखी रहना चाहते थे। इस विश्वकी तहमे क्या है? इस चलके पीछे क्या कोई अचल शक्ति है? यह विश्व प्रारंभमे कैसा था? इन विचारोका धुँधला सा आभास मात्र हमे ऋग्वेदके नासदीय सूक्त[2] और यजुर्वेदके अन्तिम अध्याय[3]में मिलता है। नासदीय सूक्तमे है—

"उस समय न सत् (=होना) था न अ-सत्।
न अन्तरिक्ष था न उसके परे व्योम था।
किसने सबको ढाँका था? और कहाँ? और किसके द्वारा रक्षित?
क्या वहाँ पानी अथाह था? ॥१॥
तब न मृत्यु था न अमर मौजूद;
रात और दिनमे वहाँ भेद न था।
वहाँ वह एकाकी स्वावलबी शक्तिसे श्वसित था,
उसके अतिरिक्त न कोई था उसके ऊपर ॥२॥
अधकार वहाँ आदिमे अँधेरेमे छिपा था;
विश्व भेदशून्य जल था।
वह जो शून्य और खालीमें छिपा बैठा है।

---

[1] "तिन्नं वेदानं पारगू"। [2] ऋग् १०।१२९
[3] यजुः अध्याय ४० (ईश-उपनिषद्)।

वही एक (अपनी) शक्तिसे विकसित था ॥३॥
तव सवसे पहिली वार कामना उत्पन्न हुई;
जो कि अपने भीतर मनका प्रारंभिक वीज थी।
और ऋषियोंने अपने हृदयमें खोजते हुए,
अ-सत्में सत्के योजक संवंधको खोज पाया ॥४॥

× × ×

वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ,
और क्या वह वनाया गया या अकृत था,
(इसे) वही जानता या नही जानता है, जो कि उच्चतम द्यौलोकसे
शासन करता है, जो सर्वदर्शी स्वामी है।" ॥७॥

यहाँ हम उन प्रश्नोंको उठते हुए, देखते है जिनके उत्तर आगे चलकर दर्शनकी वुनियाद कायम करते है। विश्व पहिले क्या था?—इसका उत्तर किसीने सत् अर्थात् वह सदासे ऐसा ही मौजूद रहा—दिया। किसीने कहा कि वह अ-सत्—नही मौजूद अर्थात् सृष्टिसे पहिले कुछ नही था। इस सूक्तके ऋषिने पहिले वादके प्रतिवादका प्रतिवाद (प्रतिषेध) करके—"नही सत् था, नही असत्"—द्वारा अपने संवादको पेश किया। उसने उस विश्वसे पहिलेकी शून्य अवस्थामे भी एक सत्ताकी कल्पनाकी, जो कि उस मृत-शून्य जगत्मे भी सजीव थी। आरंभमें "विश्व भेद-शून्य जल था", यह उपनिषद्के "यह जल ही पहिले था"[1] का मूल है। ऋषिकी इस जिज्ञासा और उत्तरसे पता लगता है, कि विश्वका मूल ढूँढते हुए, वह कभी तो प्रकृतिके साथ चलना चाहता है, और थेल्की भाँति, किन्तु उससे कुछ सदियो पूर्व, जलको सवका मूल मानता है। दूसरी ओर प्रकृतिका तट छोड़ वह शून्यमें छलाँग मार एक रहस्यमयी शक्तिकी कल्पना करता है, जो कि उस "शून्य और खालीमे वैठी" है। अन्तमे रहस्यको और गूढ वनाते हुए, विश्वके सर्वदर्शी शासकके ऊपर विश्वके कृत या अकृत होने तथा उसके

---

[1] "आप एव इदमग्र आसुः" वृहदारण्यक ५।५।१

बारेमे जानने न जाननेका भार रखकर चुप हो जाता है। इस लंबी छलाँगमे साहस भी है, साथ ही कुछ दूरकी उडानके बाद थकावटसे फिर घोसलेकी ओर लौटना भी देखा जाता है। जो यही बतलाते हैं कि कवि (=ऋषि) अभी ठोस पृथ्वीको बिल्कुल छोडनेकी हिम्मत नही रखता।

ईश-उपनिषद् यद्यपि संहिता (यजुर्वेद)का भाग है, तो भी वह काल और विचार दोनोसे उपनिषद्-युगका भाग है, इसलिए उसके बारेमे हम आगे लिखेंगे।

§ २-उपनिषद् (७००-१०० ई० पू०)

क—काल

वैसे तो निर्णयसागर-प्रेस (बबई)ने ११२ उपनिषदे छापी है, किन्तु यह बढती सख्या पीछेके हिन्दू धार्मिक पथोके अपनेको वेदोक्त साबित करनेकी धुनकी उपज है। इनमे निम्न तेरहको हम असली उपनिषदोमे गिन सकते है, और उन्हे कालक्रमसे निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है—१ प्राचीनतम उपनिषदे (७०० ई० पू०)—

(१) ईश, (२) छदोग्य, (३) बृहदारण्यक।

२ द्वितीयकालकी उपनिषदे (६००-५०० ई० पू०)—

(१) ऐतरेय, (२) तैत्तिरीय।

३ तृतीयकालकी उपनिषदे (५००-४०० ई० पू०)—

(१) प्रश्न, (२) केन, (३) कठ, (४) मुडक, (५) माडूक्य।

४. चतुर्थकालकी उपनिषदे (२००-१०० ई० पू०)—

(१) कौषीतकि, (२) मैत्री, (३) श्वेताश्वतर।

जैमिनिने वेदके मत्र और ब्राह्मण दो भाग बतलाये है, यह हम कह चुके है। मत्र सबसे प्राचीन भाग है, यह भी बतलाया जा चुका है। ब्राह्मणोका मुख्य काम है, मत्रोकी व्याख्या करना, उनमे निहित या उनके पोषक आख्यानोका वर्णन करना, यज्ञके विधि-विधान तथा उसमे मंत्रोके प्रयोगको बतलाना। ब्राह्मणोंके ही परिशिष्ट आरण्यक है, जैसे (शुक्ल-)

यजुर्वेदके शतपथ (=सौ रास्तोंवाले) ब्राह्मणका अन्तिम भाग वृहदारण्यक-उपनिषद्, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। लेकिन सभी आरण्यक-उपनिषद् नही है; हाँ, किन्ही-किन्ही आरण्यकोके अन्तिम भागमें उपनिषद् मिलती है—जैसे ऐतरेय-उपनिषद् ऐतरेय-आरण्यकका और तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय-आरण्यकके अन्तिम भाग है। ईश-उपनिषद्, यजुर्वेद-सहिता (मत्र)के अन्तमे आती है, दूसरी उपनिषदे प्राय. किसी न किसी ब्राह्मण या आरण्यकके अन्तमे आती है, और ब्राह्मण खुद जैमिनिके अनुसार वेदके अन्तमे आते है, आरण्यक ब्राह्मणके अन्तमें आते है, यह बतला चुके है। इन्ही कारणोंसे उपनिषदोको पीछे वेदान्त (=वेदका अन्त, अन्तिम भाग) कहा जाने लगा।

वैसे उपनिषद् शब्दका अर्थ है पास बैठकर गुरुद्वारा अधिकारी शिष्यको बतलाया जानेवाला रहस्य। ईशको छोड देनेपर सबसे पुरानी उपनिषदे छादोग्य और वृहदारण्यक गद्यमे है, पीछेकी उपनिषदें केवल पद्य या गद्यमिश्रित पद्यमे है।

ख—उपनिषद्-संक्षेप

उपनिषद्के ज्ञात और अज्ञात दार्शनिकोंके आपसमें विचार भिन्नता रखते है। उनमें कुछ आरुणि और उसके शिष्य याज्ञवल्क्यकी भाँति एक तरहके अद्वैती विज्ञानवादपर जोर देते है, दूसरे द्वैतवादपर जोर देते है, तीसरे शरीरके रूपमे ब्रह्म और जगत्‌की अद्वैतताको स्वीकार करते है। उपनिषद् इन दार्शनिकोके विचारोके उनकी शिष्य-परंपरा और शाखा-परपरा द्वारा अपूर्ण रूपसे याद करके रखे गये संग्रह है; किन्तु, इस सग्रहमे न दार्शनिककी प्रधानता है, न द्वैत या अद्वैतकी; बल्कि किसी वेदकी शाखामें जो अच्छे-अच्छे दार्शनिक हुए, उनके विचारोको वहाँ एक जगह जमाकर दिया गया। ऐसा होना जरूरी भी था, क्योकि प्रत्येक ब्राह्मणको अपनी शाखाके मत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् (, कल्प, व्याकरण)का पढना (=स्वाध्याय) परम कर्त्तव्य माना जाता था।

उपनिषद्के मुख्य विषय है, लोक, ब्रह्म, आत्मा (=जीव,) पुनर्जन्म, मुक्ति—जिनके बारेमे हम आगे कहेगे। यहाँ हम मुख्य उपनिषदोंका संक्षेपमे परिचय देना चाहते है।

१. प्राचीनतम उपनिषदें (७०० ई० पू०)

(१) ईश-उपनिषद्—ईश-उपनिषद् यजुर्वेद-सहिताका अन्तिम (चालीसवाँ) अध्याय है, यह बतला आये है। यह अठारह पद्योका एक छोटा सा सग्रह है। चूँकि इसका प्रथम पद्य (मंत्र) शुरू होता है "ईशावास्य"से इसलिए इसका नाम ही ईश या **ईशावास्य** उपनिषद् पड गया। इसमें वर्णित विषय है, ईश्वरकी सर्वव्यापकता, कार्य करनेकी अनिवार्यता, व्यवहार-ज्ञान (अविद्या)से परमार्थ ज्ञान (=ब्रह्म-विद्या)की प्रधानता, ज्ञान और कर्मका समन्वय। प्रथम मंत्र बतलाता है—

"यह सब जो कुछ जगतीमे जगत् है, वह ईशसे व्याप्त है; अतः त्यागके साथ भोग करना चाहिए। दूसरेके धनका लोभ मत करो।"

वैयक्तिक सम्पत्तिका ख्याल उस वक्त तक इतना पवित्र और दृढ हो चुका था, साथ ही धनी-गरीब, कमकर-कामचोरकी विषमता, इतनी बढ चुकी थी, कि उपनिषद्-कर्ता अपने पाठकके मनमें तीन बातोको बैठा देना चाहता है—(१) ईश सब जगह बसा हुआ है, इसलिए किसी "बुरे" कामके करते वक्त तुम्हे इसका ध्यान और ईशसे भय खाना चाहिए; (२) भोग करो, यह कहना बतलाता है कि अभी वैराग्य बिना नकेलके ऊँटकी भाँति नही छूट पडा था; जीवनकी वास्तविकता और उसके लिए जरूरी भोग-सामग्री अभी हेय नही समझी गई थी। हाँ, वैयक्तिक सम्पत्तिके ख्यालसे भी यह जरूरी था कि निर्धन कमकर वर्ग "भोग करो" का अर्थ स्वच्छन्द-भोगवाद न समझ ले, इसलिए उनपर नियत्रण करनेके लिए त्यागपर भी जोर दिया गया। और (३) अतमे मंत्रकर्तानि वैयक्तिक सम्पत्तिकी पवित्रताकी रक्षाके लिए कहा—"दूसरेके धनका लोभ मत करो।" उस कालके वर्ग-युक्त (शोषक-शोषित, निठल्ले-कमकर) समाजकेलिए इस

मन्त्रका यही अर्थ था; यद्यपि व्यक्तियोंमेंसे कुछकेलिए इसका अर्थ कुछ बेहतर भी हो सकता था, क्योंकि यहाँ त्यागके साथ भोगकी बात उठाई गई थी। लेकिन उसकेलिए बहुत दूर तक खीच-तान करनेकी गुजाइश नही है। ईशके व्याप्त होने तथा दूसरेके धनको न छूनेकी शिक्षा समर्थ है, वहाँ भय पैदा करनेकेलिए जहाँ राजदड भी असमर्थ है। आजके वर्ग-समाजकी भाँति उस कालके वर्गसमाजके शासन- यत्र (= राज्य)का प्रधान कर्तव्य था, वर्ग-स्वार्थ—शोषण और वैयक्तिक सम्पत्ति—की रक्षा करना। मत्रकर्त्ताने अपनी प्रथम और अन्तिम शिक्षाओसे राज्यके हाथोको मजबूत करना चाहा। यदि ऐसा न होता, तो आजसे भी अत्यन्त दयनीय दशावाले दास-दासियो (जिन्हे बाजारोमे ले जाकर सौदेकी तरह बेचा-खरीदा जाता था) और काम करते-करते मरते रहते भी खाने-कपडेको मुहताज कम्मियोकी ओर भी ध्यान देना चाहिए था। ऐसा होनेपर कहना होता—"जगतीमे जो कुछ है, वह ईशकी देन, सबके लिए समान है, इसलिए मिलकर भोग करो, ईशके उस धनमें लोभ मत करो।"[1]

उपनिषद्-कालके आरभ तक आर्योंके ऊपरी वर्ग—शासक, पुरोहित वर्ग—मे भोग और विलास-प्रधान जीवन उस सीमा तक पहुँच गया था; जहाँ समाजकी भीतरी विषमता, अन्दर-अन्दर कुढते उत्पीडित वर्गके मूक रोष, और शोषकोकी अपने-अपने लोभकी पूर्तिकेलिए निरन्तर होते पारस्परिक कलह, शोषक धनिक वर्गको भी सुखकी नीद सोने नही देते, और हर जगह शंका एवं भय उठते रहते है। इन सबका परिणाम होता है, निराशावाद और अकर्मण्यता। राज्य और धर्म द्वारा शासन करनेवाले वर्गको अकर्मण्यतासे हटानेकेलिए दूसरे मत्रमे कहा गया है—

"यहाँ काम करते ही हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रक्खो।

---

[1] ईशदत्तं इदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन समाना भुंजीथा मा गृधः तस्य तद्धनम्॥

(बस) यही और दूसरा (रास्ता) तुम्हारे लिए नही, नरमे कर्म नही लिप्त होता।" उपनिषद्कार स्वयं, यज्ञोंके व्यर्थके लम्बे-चौड़े विधिविधानके विरुद्ध एक नई धारा निकालनेवाले थे[1]—"यज्ञके ये कमजोर बेडे है।.. इसे उत्तम मान जो अभिनन्दन करते है, वे मूढ फिर-फिर बुढापे और मृत्युके शिकार बनते है। अविद्याके भीतर स्वय वर्त्तमान (अपनेको) धीर और पडित माननेवाले.. .मूढ (उसी तरह) भटकते है, जैसे अधे द्वारा लिये जाये जाते अधे। इष्ट (=यज्ञ) और पूर्त्त (=परार्थ किए जानेवाले कूप, तालाब) निर्माण आदि कर्मको सर्वोत्तम मानते हुए (उससे) दूसरेको (जो) अ-मूढ अच्छा नही समझते, वे स्वर्गके ऊपर सुकर्मको अनुभव कर इस हीनतर लोकमे प्रवेश करते है।"

उपनिषद्की प्रतिक्रियासे कर्मकाडके त्यागकी जो हवा उठी, उसके कारण नेतृवर्ग कही हाथ-पैर ढीला कर मैदान न छोड भागे, इसीलिए कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीते रहनेकी इच्छा करनेका उपदेश दिया गया।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् (७०० ई० पू०); (क) संक्षेप—छान्दोग्य और वृहदारण्यक न सिर्फ आकार हीमे बडी उपनिषदे है, बल्कि काल और प्रथम प्रयासमे भी बहुत महत्त्व रखती है। छान्दोग्यके प्रधान दार्शनिक उद्दालक आरुणि (गौतम)का स्थान यदि सुक्रातका है, तो उनके शिष्य याज्ञवल्क वाजसेनय उपनिषद्का अफलातूँ है। हम इन दोनो उपनिषदोके इन दोनो दार्शनिको तथा कुछ दूसरोपर भी आगे लिखेगे, तो भी इन उपनिषदोके बारेमे यहाँ कुछ सक्षेपमे कह देना जरूरी है।

वृहदारण्यककी भाँति छादोग्य पुरानी और सधिकालीन उपनिषद् है, इसीलिए कर्मकाड-प्रशसाको इसने छोडा नही है। बल्कि पहिले दूसरे अध्याय तो उपनिषद् नही ब्राह्मणका भाग होने लायक है। उपनिषद्के सामवेदी होनेसे सामगान और ओम्की महिमा इन अध्यायोमे गाई गई है।

---

[1] मुंडक० १।२।७-११

हाँ, प्रथम अध्यायके अंतमें दाल रोटीके लिए "हावुं" "हावु" (=सामगान-का अलाप) करनेवाले पुरोहितोका एक दिलचस्प मजाक किया गया है। बक दाल्भ्य—जिसका दूसरा नाम ग्लाव मैत्रेय भी था—कोई ऋषि था। वह वेदपाठकेलिए किसी एकात स्थानमे रह रहा था। उस समय एक सफेद कुत्ता वहाँ प्रकट हुआ। फिर कुछ और कुत्ते आगये और उन्होने सफेद कुत्तेसे कहा कि हम भूखे है, तुम साम गाओ, शायद इससे हमे कुछ भोजन मिल जाये। सफेद कुत्तेने दूसरे दिन आनेकेलिए कहा। दाल्भ्यने कुत्तोंकी बात सुनी थी। वह भी सफेद कुत्तेके सामगानको सुननेकेलिए उत्सुक था। दूसरे दिन उसने देखा कि कुत्ते आगे-पीछे एक की पूँछ दूसरेके मुँहमें लिए बैठकर गा रहे थे—'हिं! ओम्, खावे, ओम्, पीये, ओम्, देव हमे भोजन दें। हे अन्न देव! हमारे लिए अन्न लाओ, हमारे लिए इसे लाओ, ओम्।" इस मजाकमें सामगायक पेटके लिए यज्ञके वक्त एकके पीछे एक दूसरे अगलोका वस्त्र पकडे हुए पुरोहितोंके साम-गायनकी नकल उतारी गई है।

तीसरे अध्यायमे आदित्य (=सूर्य)को देव-मधु बतलाया गया है। **चौथे** अध्यायमे रैक्व, सत्यकाम जाबाल और सत्यकामके शिष्य उपकोसल-की कथा और उपदेश है। **पाँचवें** अध्यायमें जैवलि और अश्वपति कैकेय (राजा)के दर्शन है। **छठे** अध्यायमे उपनिषद्के प्रधान ऋषि आरुणिकी शिक्षा है, और यह अध्याय सारे छादोग्यका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। शतपथ ब्राह्मणसे पता लगता है कि आरुणि बहुत प्रसिद्ध ऋषि तथा याज्ञवल्क्यके गुरु थे। **सातवें** अध्यायमे सनत्कुमारके पास जाकर नारदके ब्रह्मज्ञान सीखनेकी बात है। **आठवें** तथा अतिम अध्यायमें आत्माके साक्षात्कारकी युक्ति बतलाई गई है।

(ख) ज्ञान—छादोग्य कर्मकाडसे नाता तोडनेकी बात नही करता, बल्कि उसे ज्ञानकाडसे पुष्ट करना चाहता है; जैसा कि इस उद्धरणसे मालूम होगा[1]—

---

[1] छांदोग्य ५।१९-२४

"प्राणके लिए स्वाहा। व्यान, अपान, समान, उदानके लिए स्वाहा। जो इसके ज्ञानके बिना अग्नि होम करता है, वह अंगारोंको छोड मानो भस्ममें ही होम करता है। जो इसे ऐसा जानकर अग्निहोत्र करता है, उसके सभी पाप (=बुराइयाँ) उसी तरह दूर हो जाते है, जैसे सरकडेका घूआ आगमें डालनेपर। इसलिए ऐसे ज्ञानवाला चाहे चाँडालको जूठ ही क्यों न दे, वह वैश्वानर-आत्मा (=ब्रह्म)मे आहुति देना होता है।"

"विद्या और अविद्या तो भिन्न-भिन्न है। (किन्तु) जिस (कर्म)को (आदमी) विद्या (=ज्ञान)के साथ श्रद्धा और उपनिषद्के साथ करता है, वह ज्यादा मजबूत होता है।"[1]

मनुष्यकी प्रतिभा एक नये क्षेत्रमे उड रही थी, जिसके चमत्कारको देखकर लोग आश्चर्य करने लगे थे। लोगोंको आश्चर्य-चकित होनेको ये दार्शनिक कम नही होने देना चाहते थे। इसलिए चाहते थे कि इसका ज्ञान कमसे कम आदमियों तक सीमित रहे। इसीलिए कहा गया है—

"इस ब्रह्मको पिता या तो ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश करे या प्रिय शिष्यको। किसी दूसरेको (हर्गिज) नही, चाहे (वह) इसे जल-सहित धनसे पूर्ण इस (पृथ्वी)को ही क्यो न दे देवे, 'यही उससे बढकर है, यही उससे बढकर है।'

(ग) धर्माचार—छादोग्यके समयमे दुराचार किसे कहते थे, इसका पता निम्न पद्यसे लगता है—

"सोनेका चोर, शराब पीने वाला, गुरु-पत्नीके साथ व्यभिचार करने वाला और ब्रह्महत्या करनेवाला, ये चार और इनके साथ (ससर्ग या) आचरण करनेवाले पतित होते है।"[2]

सदाचार तीन प्रकारके बतलाये गये है—[3]

"धर्मके तीन स्कन्ध (=वर्ग) है—यज्ञ, अध्ययन (=वेदपाठ) और दान। यह पहिला तप ही दूसरा (स्कन्ध है), ब्रह्मचर्य (रख) आचार्य-

---

[1] छांदोग्य १।१।१० [2] वहीं ५।१०।९ [3] वहीं, २।२३।१

कुलमे बसना—आचार्यके कुलमें अपनेको अत्यन्त छोटा करके (रहना)। ये सभी पुण्य लोक (वाले) होते है। (जो) ब्रह्ममे स्थित है वह अमृतत्व (मुक्ति) को प्राप्त होता है।"

(घ) ब्रह्म—ब्रह्मको ज्ञानमय चिह्नो या प्रतीकोमे उपासना करनेकी बात छादोग्यमें सबसे ज्यादा आई है। इनके बारेमे सन्देह उठ सकते थे कि यह ब्रह्मकी उपासनाए है या जिन प्रतीको—आदित्य, आकाश आदिकी उपासना करने—को कहा गया है। वहाँ अलग-अलग देवता है। और उसी रूपमे उनकी उपासना करनेको कहा गया है। वादरायणने अपने वेदान्त-सूत्रोके काफी भागको इसीकी सफाईमे खर्च किया है, यह हम आगे देखेंगे। इन उपासनाओमेसे कुछ इस प्रकार है—

(a) दहर—हृदयके क्षुद्र (=दहर) आकाशमे ब्रह्मकी उपासना करनेकेलिए कहा गया है—[1]

"इस ब्रह्मपुर (=शरीर)मे जो दहर (=क्षुद्र) पुडरीक (=कमल) गृह है। इसमे भीतर (एक) दहर आकाश है, उसके भीतर जो है, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।.... जितना यह (बाहरी) आकाश है, उतना यह हृदयके भीतरका आकाश है। दोनो द्यु (नक्षत्र)-लोक और पृथ्वी उसीके भीतर एकत्रित है—दोनो अग्नि और वायु, दोनो सूर्य और चद्रमा, दोनो बिजली-तारे और इस विश्वका जो कुछ यहाँ है तथा जो नही, वह सब इसमें एकत्रित है।"

(b) भूमा—सुखकी कामना हर एक मनुष्यमे होती है। ऋषिने सुखको ही प्राप्त करनेका प्रलोभन दे, भारी (भूमा)-सुखकी ओर खीचते हुए कहा—

"जब सुख पाता है तब (उसके लिए प्रयत्न) करता है। अ-सुखको प्राप्तकर नही करता; सुखको ही पाकर करता है। सुखकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।...जो कि भूमा (=बहुत) है वह सुख है, थोडेमे सुख नही होता।

---

[1] छां० ८।१।१-३

भूमाकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए। जहाँ (=ब्रह्ममे) न दूसरेको देखता, न दूसरेको सुनता, न दूसरेका विजानन करता (जानता), वह भूमा है। जहाँ दूसरेको देखता, सुनता, विजानन करता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य (=नाशमान)। 'हे भगवन्! वह (=भूमा) किसमे स्थित है।' 'अपनी महिमामे या (अपनी) महिमामें नही।' गाय-घोडे, हाथी-सोने, दास-भार्या, खेत-घरको यहाँ (लोग) महिमा कहते है। मै ऐसा नही कह रहा हूँ। वही (=भूमा ब्रह्म) नीचे वही ऊपर, वही पश्चिम, वही पूरब, वही दक्षिण, वही उत्तरमे है; वही यह सब है।... वह (=ज्ञानी) इस प्रकार देखते, इस प्रकार मनन करते और इस प्रकार विजानन करते आत्माके साथ रति रखनेवाला, आत्माके साथ क्रीड़ा और आत्माके साथ जोडीदारी रखनेवाला, आत्मानद स्वराड् (=अपना राजा) होता है, वह इच्छानुसार सारे लोकोंमे विचरण कर सकता है।"[1]

इसी भाँति आकाश[2], आदित्य[3], प्राण[4], वैश्वानरआत्मा[5], सेतु[6], ज्योति[7] आदिको भी प्रतीक मानकर ब्रह्मोपासनाकी शिक्षा दी गई है।

(ङ) **सृष्टि**—विश्वके पीछे कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है, और वह अपनेको बिलकुल छिपाए हुए नही है, बल्कि विश्वकी हर एक क्रिया उसीके कारण दृष्टिगोचर हो रही है उसी तरह जैसे कि शरीरमे जीवकी क्रिया देखी जाती है· लेकिन वस्तुओंके बनने-बिगड़नेसे मानवके मनमे यह भी ख्याल पैदा होने लगा कि इस सृष्टिका कोई आरम्भ भी है, और आरम्भ है तो उसके पहिले कुछ था भी या बिलकुल कुछ नही था। इसका उत्तर इस तरह दिया गया है[8]—

"हे सोम्य (प्रिय)! यह पहिले एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था। उसीको कोई कहते है—'यह पहिले एक अद्विती असद् (=अभाव

---

[1] छां० ७।२२-२५ [2] वहीं १।९।१; ७।१२।१
[3] वहीं ३।१९।१-३ [4] वहीं १।११।५; [5] वहीं ५।१८।१;
[6] वहीं ८।४।१-२ [7] वहीं ३।१३ [8] वहीं ६।२।१-४

रूप) ही था। इसलिए अ-सत्से सत् उत्पन्न हुआ।' लेकिन, सोम्य ! कैसे ऐसा हो सकता है—'कैसे अ-सत्से सत् उत्पन्न होगा।' सोम्य ! यह पहिले एक अद्वितीय सद् ही था। उसने ईक्षण (=इच्छा) किया—'मैं बहुत हो प्रकट होऊँ।' उसने तेज (=अग्नि)को सिरजा। उस तेजने ईक्षण किया. .., उसने जलको सिरजा ..उस जलने...अन्नको सिरजा।"

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि (१) यहाँ उपनिषत्कार असत्से सत्की उत्पत्ति नही मानता, अर्थात् वह एक तरहका सत्यकार्यवादी है; (२) भौतिक तत्त्वोमे आदिम या मूलतत्त्व तेज (=अग्नि) है।

(च) मन (a) भौतिक—मन आत्मासे अलग और भौतिक वस्तु है, इसी ख्यालसे यहाँ हम मनको अन्नसे बना सुनते है—[1]

"खाया हुआ अन्न तीन तरहका बनता (=परिणत होता) है। उसका जो स्थूल धातु (=सत्त्व) है, वह पुरीष (=पायखाना) बनता है, जो बिचला वह माँस और जो अतिसूक्ष्म वह मन (बनता है) ।....सोम्य ! मन अन्नमय है।....सोम्य ! दहीको मथनेपर जो सूक्ष्म (अश है) वह ऊपर उठ आता है; वह मक्खन (=सर्पि) बनता है। इसी तरह सोम्य ! खाये जाते अन्नका जो सूक्ष्म अश है, वह ऊपर उठ आता है, वह मन बनता है।

(b) सुप्तावस्था—इन आरभिक विचाकोंके लिए गाढ निद्रा और स्वप्नकी अवस्थाये बहुत बडा रहस्य ही नही रखती थी, बल्कि इनसे उनके आत्मा-परमात्मा संबधी विचारोकी पुष्टि होती जान पडती थी। इसीलिए वृहदारण्यकमे कहा गया—[2]

"जब वह सुषुप्त (=गाढ निद्रामे सोया) होता है तब (पुरुष) कुछ नही महसूस (=वेदना) करता। हृदयसे पुरीतत[3]की ओर जानेवाली

---

[1] छां० ६।५,६ [2] बृह० २।१।१९

[3] पुरीतत हृदयके पास अथवा पृष्ठ-दंडमें अवस्थित किसी चक्र को कहते थे, जहाँ स्वप्न और गाढ़-निद्रामें जीव चला जाता है।

७२ हज़ार हिता नामवाली नाड़ियाँ है। उनके द्वारा (वहाँ) पहुँचकर पुरीततमे वह सोता है, जैसे कुमार (बच्चा) या महाराजा या महा ब्राह्मण आनन्दकी पराकाष्ठाको पहुँच सोये, वैसे ही यह सोता है।"

इसी बातको छादोग्यने इन शब्दोमे कहा है—[1]

"जहाँ यह सुप्त अच्छी तरह प्रसन्न हो स्वप्नको नही जानता, उस वक्त इन्ही (=हिता नाडियो)मे वह सोया होता है।"

इसीके बारेमे[2]—

"उद्दालक आरुणिने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुको कहा—'स्वप्नके भीतर (की बातको) समझो।'. . जैसे सूतसे बँधा पक्षी दिशा दिशामे उडकर दूसरी जगह स्थान न पा, बधन(-स्थान)का ही आश्रय लेता है। इसी तरह सोम्य! वह मन दिशा-दिशामे उड़कर दूसरी जगह स्थान न पा प्राणका ही आश्रय लेता है। सोम्य! मनका बधन प्राण है।"

सुषुप्ति (=गाढ निद्रा)मे आदमी स्वप्न भी नही देखता, इस अवस्थाको आरुणि ब्रह्मके साथ समागम मानते है।[3]

"जब यह पुरुष सोता है (=स्वपिति), उस समय सोम्य! वह सत् (=ब्रह्म)के साथ मिला रहता है। 'स्व-अपीति' (=अपनेको मिला) होता है, इसीलिए इसे 'स्वपिति' कहते है।"

जब हम रोज इस तरह ब्रह्म-मिलन कर रहे है, किन्तु इसका ज्ञान और लाभ(=मुक्ति) हमे क्यो नही मिलती, इसके बारेमे कहा है—[4]

"जैसे क्षेत्रका ज्ञान न रखनेवाले छिपी हुई सुवर्ण निधिके ऊपर ऊपर चलते भी उसे नही पाते, इसी तरह यह सारी प्रजा (=प्राणी) रोज-रोज जाकर भी इस ब्रह्मलोकको नही प्राप्त करती, क्योकि वह अनृत(=अ-सत्य, अज्ञान)से ढँकी हुई है।"

(छ) मुक्ति और परलोक—इन प्रारभिक दार्शनिकोमे जो अद्वैत-वादी भी है, उन्हे भी उन अर्थोमे हम अद्वैती नही ले सकते, जिनमें कि

---

[1] छां० ८।६।३; [2] वही ६।८।१,२ [3] वही ६।८।१ [4] वहीं ८।३।२

बर्कले या शकरको समझते है। क्योकि एक तो वे शकरकी भाँति पृथिवी और पार्थिव भोगोंका सर्वथा अपलाप करनेकेलिए तैयार नही है, दूसरे धर्मके विरुद्ध अभी इतने स्वतंत्र विचार नही उठ खड़े हुए थे कि वह सीधे किसी बातको दो टूक कह देते, अथवा अभी मनुष्यका ज्ञान इतना विकसित नही हुआ था कि रास्तेके झाड-झखाड़ोंको उखाड़ते हुए, वह अपना सीधा रास्ता लेते। निम्न उद्धरणमे मुक्तिको इस प्रकार बतलाया गया है, जैसे वहाँ मुक्त आत्मा और ब्रह्मका भेद बिल्कुल नही रहता—

"जैसे सोम्य! मधुमक्खियाँ मधु बनाती है, नाना प्रकारके वृक्षोके रसोसे सचय कर एक रसको बनाती है। जैसे वहाँ वह (मधु आपसमे) फर्क नही पाती—'मै अमुक वृक्षका रस हूँ, मै अमुक वृक्षका रस हूँ', ऐसे ही सोम्य! यह सारी प्रजा सत्मे प्राप्त हो नही जानती—'हमने सत्को प्राप्त किया'।"[1]

यहाँ सुषुप्तिकी अवस्थाको लेकर मधुके दृष्टान्तसे अभेद बतलानेकी कोशिश की गई है, किन्तु इस अभेदसे ऋषिका अभिप्राय आत्माकी अत्यन्त समानता तथा ब्रह्मका शुद्ध शरीर होना ही अभिप्रेत मालूम होता है। जैसा कि निम्न उद्धरण बतलाता है[2]—

"जो यहाँ आत्माको न जानकर प्रयाण करते (=मरते) है, उनका सारे लोकोमे स्वेच्छापूर्वक विचरण नही होता। जो यहाँ आत्माको जानकर प्रयाण करते है उनका सारे लोकोमे स्वेच्छापूर्वक विचरण होता है।"

मुक्त पुरुषका मरकर स्वेच्छापूर्वक विचरण यही बतलाता है कि यहाँ विचारकको मुक्तिमे अपने अस्तित्वका खोना अभिप्रेत नही है। छान्दोग्यने इसे और साफ करते हुए कहा है[3]—

"जिस जिस बात (=अन्त) की वह कामनावाला होता है, जिस जिसकी कामना करता है, सकल्पमात्रसे ही (वह) उसके पास उपस्थित

---

[1] छां० ६।६।१०; [2] वही ८।१।६ [3] वही ८।२।१०

होता है, वह उसे प्राप्त कर महान् होता है।"

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तकर जीवित रहते मुक्तावस्थामे—

"जैसे कमलके पत्तेमे पानी नही लगता, इसी तरह ऐसे ज्ञानीको पाप-कर्म नही लगता।"

'पापकर्म नही लगता' यह वाक्य सदाचारकेलिए घातक भी हो सकता है, क्योंकि इसका अर्थ 'वह पापकर्म नही कर सकता' नही है।

मुक्तके पाप क्षीण हो जाते है इसके बारेमे और भी कहा है[1]—

"घोडा जैसे रोयेको (झाडे हो), ऐसे ही पापोंको झाडकर, चद्र जैसे राहुके मुखसे छूटा, हो शरीरको झाडकर कृतार्थ (हो), वैसे ही मै ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ।"

(a) **आचार्य**—मुक्तिकी प्राप्तिमे ज्ञानकी अनिवार्यता है, ज्ञानके लिए आचार्य जरूरी है। इसी अभिप्रायको इस वाक्यमे कहा गया है[2]—

"जैसे सोम्य! एक पुरुषको गधार (देश)से आँख बाँधे लाकर उसे जहाँ बहुत जन हों उस स्थानमे छोड दे। जैसे वह वहाँ पूरब पश्चिम ऊपर उत्तर चिल्लाये—'आँख बाँधे लाया आँख बाँधे (मुझे) छोड दिया।' जैसे उसकी पट्टी खोलकर (कोई) कहे—'इस दिशामें गधार है, इस दिशाको जा।' वह (एक) गाँवसे (दूसरे) गाँवको पूछता पडित मेधावी (पुरुष) गधारमे ही पहुँच जाये। उसी तरह यहाँ आचार्यवाला पुरुष (ब्रह्मको) जानता है। उसकी उतनी ही देर है, जब तक विमोक्ष नही होता, फिर तो (वह ब्रह्मको) प्राप्त होगा।"

(b) **पुनर्जन्म**—भारतीय प्राचीन साहित्यमें छादोग्य ही ने सबसे पहिले पुनर्जन्म (=परलोकमे ही नही इस लोकमे भी कर्मानुसार प्राणी जन्म लेता है)की बात कही। शायद उस वक्त प्रथम प्रचारकोंने यह न सोचा हो कि जिस सिद्धान्तका वह प्रचार कर रहे है, वह आगे कितना खतरनाक साबित होगा, और वह परिस्थितिके अनुसार बदलनेकी क्षमता रखनेवाली

---

[1] छां० ८।१३।१ [2] छां० ६।१४।१-२

शक्तियोको कुंठितकर, समाजको प्रवाहशून्य नदीका गँदला पानी बना छोड़ेगा। मरकर किसी दूसरे चंद्र आदि लोकमे जा भोग भोगना, सिर्फ यहाँके कष्ट पीडित जनोको दूरकी आशा देता है। जिसका भी अभिप्राय यही है कि यहाँ सामाजिक विषमताने जो तुम्हारे जीवनको तलख कर रखा है, उसके लिए समाजमे उथल-पुथल लानेकी कोशिश न करो। इसी लोकमें आकर फिर जनमना (=पुनर्जन्म) तो पीडित वर्गकेलिए और खतरनाक चीज है। इसमे यही नही है कि आजके दु.खोको भूल जाओ; बल्कि साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यहाँ की सामाजिक विषमताए न्याय्य है; क्योंकि तुम्हारी ही पिछले जन्मकी तपस्याओ (=दु खो अत्याचारपूर्ण वेदनाओ)के कारण ससार ऐसा बना है। इस विषमताके बिना तुम अपने आजके कष्टोका पारितोषिक नही पा सकते। पुनर्जन्मके सबधमें वह सर्व-पुरातन वाक्य है[1]—

"सो जो यहाँ रमणीय (=अच्छे) आचरण वाले है, यह ज़रूरी है कि वह रमणीय योनि—ब्राह्मण-योनि, या क्षत्रिय-योनि, या वैश्य-योनि—को प्राप्त हो। और जो बुरे (=आचार वाले) है, यह ज़रूरी है कि वह बुरी योनि—कुत्ता-योनि, सूकर-योनि, या चाडाल-योनिको प्राप्त हो।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको यहाँ मनुष्य-योनिके अन्तर्गत न मानकर उन्हे स्वतत्र योनिका दर्जा दिया है, क्योकि मनुष्य-योनि माननेपर समानता का सवाल उठ सकता था। पुरुष सूक्तके एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अगकी बातको भी यहाँ भुला दिया गया, क्योकि यद्यपि वह कल्पना भी सामाजिक अत्याचारपर पर्दा डालनेकेलिए ही गढी गई थी, तो भी वह उतनी दूर तक नही जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको स्वतत्र योनिका दर्जा इसीलिए दिया गया, जिसमे सम्पत्तिके स्वामी इन तीनों वर्णोंकी वैयक्तिक सम्पत्ति और प्रभुताको धर्म (=कर्म-फल) द्वारा न्याय्य बतलाया जाये, और वैयक्तिक सम्पत्तिके संरक्षक राज्यके हाथको धर्म द्वारा दृढ किया जाये।

---

[1] छां० ५।१०।७

(c) **पितृयान**—मरनेके बाद सुकर्मी जैसे अपने कर्मोका फल भोगने केलिए लोकान्तरमे जाते है, इसे यहाँ पितृयान (=पितरोका मार्ग) कहा गया है। उसपर जानेका तरीका इस प्रकार है—

"जो ये ग्राममे (रहते) इष्ट-आपूर्त्त (=यज्ञ, परोपकारके कर्म), दानका सेवन करते है। वह (मरते वक्त) धूएसे सगत होते है। धूएसे रात, रातसे अपर (=कृष्ण) पक्ष, अपर पक्षसे छै दक्षिणायन मासोको प्राप्त होते है. . । मासोसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चंद्रमाको प्राप्त होते है। वहाँ (=चन्द्रलोकमे) संपात (=मियाद)के अनुसार निवासकर फिर उसी रास्तेसे लौटते है—जैसे कि (चद्रमासे) इस आकाशको, आकाशसे वायुको, वायु हो धूम होता है, धूम हो बादल होता है, बादल हो मेघ होता है, मेघ हो बरसता है। (तब) वे (लौटे जीव) धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल-उडद हो पैदा होते है. . . जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य सेचन करता है, वह फिरसे ही होता है।"[1]

यहाँ चन्द्रलोकमे सुख भोगना, फिर लौटकर पहिले उद्धृत वाक्यके अनुसार "ब्राह्मण-योनि", "क्षत्रिय-योनि"में जन्म लेना पितृयान है।

(d) **देवयान**—मुक्त पुरुष जिस रास्तेसे अंतिम यात्रा करते है, उसे देवयान या देवताओंका पथ कहते है। पुराने वैदिक ऋषियोंको कितना आश्चर्य होता, यदि वह सुनते कि देवयान वह है, जो कि उनको इन्द्र आदि देवताओंकी ओर नही ले जाता। देवयानवाला यात्री[2]—"किरणोंको प्राप्त होते है। किरणसे दिन, दिनसे भरते (=शुक्ल) पक्ष, भरते पक्षसे जो छै उत्तरायणके मास है उन्हे; (उन) मासोसे संवत्सर, संवत्सरसे आदित्य, आदित्यसे चन्द्रमा, चन्द्रमासे विद्युत्को (प्राप्त होते है।) फिर अ-मानव पुरुष इन (देवयान-यात्रियो)को ब्रह्मके पास पहुँचाता है। यही देवपथ[3] ब्रह्मपथ है, इससे जानेवाले इस मानवकी लौटानमे नही लौटते, नही लौटते।"

---

[1] छां० ५।१०।१-६ [2] छां० ४।१५।५-६ [3] आगे (छां० ५।१०।१-२में) इसे देवयान ("एष देवयानः पन्था") कहा है।

(ज) **अद्वैत**—मुक्ति और उसके रास्तेका जो वर्णन यहाँ दिया गया है, उससे स्पष्ट है, कि छांदोग्यके ऋषि जीवात्मा और ब्रह्मके भेदको पूर्णतया मिटानेको तैयार नहीं थे; तो भी वह बहुत दूर तक इस दिशामें जाते थे। यह इससे भी स्पष्ट है, कि शंकरने जिन चार उपनिषद् वाक्योंको अद्वैतका ज़बर्दस्त प्रतिपादक समझा, जिन्हें "महावाक्य" कहा गया, उनमें दो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म[1]" (=यह सब ब्रह्म ही है) और "तत्त्वमसि"[2] (=वह तू है) छान्दोग्य-उपनिषद्के हैं।

(झ) **लोक विश्वास**—वैदिक कर्मकांडसे लोगोंका विश्वास हटता जा रहा था, जब छांदोग्य ऋषि राजा जैवलि, और ब्राह्मण आरुणिने नया रास्ता निकाला। उन्होंने पुनर्जन्म जैसे विश्वासोंको गढ़कर दास, कर्मकर, आदि पीड़ित जनताकी बंधन-शृंखलाकी कड़ियोंको और भी मजबूत किया। भारतके बहुतसे आजकलके विचारक भी जाने या अनजाने उन्हीं कड़ियोंको मजबूत करनेकेलिए जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्यकी दुहाई देते हैं—दर्शनपथके प्रथम पथिककी प्रशंसाके तौरपर नहीं, बल्कि उन्हें सर्वज्ञ जैसा बनाकर। वह कितने सर्वज्ञ थे, यह तो राहुके मुखमें चन्द्रमाके घुसने (=चंद्रग्रहण), तथा सूर्यलोकसे भी परे चन्द्रलोकके होनेकी बात ही से स्पष्ट है। इन विचारकोंकी नजरमें भौतिक साइंसकी यह भद्दी भूलसी मालूम होनेवाली गलतियाँ "सर्वज्ञता" पर कोई असर नहीं डालतीं; कसौटीपर कसकर देखने लायक ज्ञानमें भद्दी गलती कोई भले ही करे, किन्तु ब्रह्मज्ञानपर उसका निशाना अचूक लगेगा, यह तो यही साबित करता है कि ब्रह्मज्ञानके लिए अतिसाधारण बुद्धिसे भी काम चल सकता है।

चोरी या बुरे कर्मकी सजा देनेकेलिए जब गवाही नहीं मिल सकती थी; तो उसके साबित करनेके लिए दिव्य (शपथ) करनेका रवाज बहुतसे मुल्कोंमें अभी बहुत पीछे तक रहा है। आरुणिके वक्तमें यह अतिप्रचलित प्रथा थी, जैसा कि यह वाक्य बतलाता है[3]—

---

[1] छां० ३।१४।१ [2] छां० ६।८।७ [3] छान्दोग्य ६।१६।१-२

"सोम्य ! एक पुरुषको हाथ पकड कर लाते है—'चुराया है, सो इसके लिए परशु(=फरसे)को तपाओ।' अगर वह (पुरुष) उस (चोरी)का कर्त्ता होता है, (तो) उससे ही अपनेको झूठा करता है; वह झूठे दावेवाला झूठसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकडता है, वह जलता है; तब (चोरीके लिए) मारा जाता है। और यदि वह उस (चोरी)का अ-कर्त्ता होता है, तो, उससे ही अपनेको सच कहता है, वह सच्चे दावेवाला सचसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकड़ता है, वह नही जलता; तब छोड दिया जाता है।"

कोई समय था जब कि "दिव्य"के फरेबमें फँसाकर हजारो आदमी निरपराध जानसे मारे जाते थे, किन्तु, आज कोई ईमानदार इसकेलिए तैयार नही होगा। यदि 'दिव्य' सचमुच दिव्य था, तो सबसे जबर्दस्त चोरो—जो यह कामचोर तथा संपत्तिके स्वामी—"ब्राह्मण-, क्षत्रिय-, वैश्य-योनियाँ" है—के परखनेमे उसने क्यो नही करामात दिखलाई ?

छादोग्यके अन्य प्रधान ऋषियोके विचारोंपर हम आगे लिखेंगे।

(३) बृहदारण्यक (६०० ई० पू०)

(क) संक्षेप—बृहदारण्यक शुक्ल-यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग तथा एक आरण्यक है। उपनिषद्के सबसे बड़े दार्शनिक या ज्ञ व ल्क्य के विचार इसीमें मिलते है, इसलिए उपनिषत्-साहित्यमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है। याज्ञवल्क्यके बारेमे हम अलग लिखने-वाले है, तो भी सारे उपनिषद्के परिचयकेलिए संक्षेपमे यहाँ कुछ कहना ज़रूरी है। वृहदारण्यकमे छै अध्याय है, जिनमें द्वितीय तृतीय और चतुर्थ दार्शनिक महत्त्वके है। बाकीमे शतपथ ब्राह्मणकी कर्मकाडी धारा बह रही है। पहिले अध्यायमे यज्ञीय अश्वकी उपमासे सृष्टिपुरुषका वर्णन है, फिर मृत्यु सिद्धान्तका। दूसरे अध्यायमे तत्त्वज्ञानी काशिराज अ जा त श त्रु और अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्यका सवाद है, जिसमे गार्ग्यका अभिमान चूर होता है, और वह क्षत्रियके चरणोमे ब्रह्मज्ञान सीखनेकी इच्छा प्रकट करता है। द ध्य च् आथर्वणके विचार भी इसी अध्यायमे है। तीसरे

अध्यायमें याज्ञवल्क्यके दर्शन होते है। वह जनकके दरबारमे दूसरे दार्शनिकोंसे शास्त्रार्थ कर रहे है। चौथे अध्यायमें याज्ञवल्क्यका ज न कको उपदेश है। पाँचवें अध्यायमे धर्म-आचार तथा दूसरी कितनी ही बातोका जिक्र है। छठे अध्यायमे याज्ञवल्क्यके गुरु (आ रु णि)के गुरु प्र वा ह ण जैवलिके बारेमे कहा गया है। इसी अध्यायमे अच्छी सन्तानकेलिए साँड, बैल आदिके मास खानेकी गर्भिणीको हिदायत दी गई है, जो बतलाता है कि अभी ब्राह्मण-क्षत्रिय गोमासको अपना प्रिय खाद्य मानते थे।

जिस तरह आजके हिन्दू दार्शनिक अपने विचारोकी सच्चाईकेलिए उपनिषद्की दुहाई देते है, उसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् चाहता है, कि वेदोंका झडा ऊँचा रहे। इसीलिए अपनी पुष्टिकेलिए कहता है[1]—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान "इस महान् भूत (=ब्रह्म)का श्वास है, इसीके ये सारे नि श्वसित है।"

इतना होनेपर भी वेद और ब्राह्मणोंके यज्ञादिसे लोगोंकी श्रद्धा उठती जा रही थी, इसमे तो शक ही नही। इस तरहके विचार-स्वातन्त्र्यको खतरनाक न बनने देनेके प्रयत्नमे पुरोहित (=ब्राह्मण) जातिकी अपेक्षा शासक (=क्षत्रिय) जातिका हाथ काफी था, इसीलिए छान्दोग्यने कहा[2]—

"चूँकि तुझसे पहिले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नही गई, इसीलिए सारे लोकोमे (ब्राह्मणका नही बल्कि सिर्फ) क्षत्र (=क्षत्रिय)का ही शासन हुआ।"

इसमें कौन सन्देह कर सकता है, कि राजनीति—खासकर वर्गस्वार्थवाली राजनीति—को चलानेकेलिए पुरोहितीसे ज्यादा पैनी बुद्धि चाहिए। लेकिन समाजमे ब्राह्मणकी सबसे अधिक सम्माननीय अवस्थाको बृहदारण्यक समझता था। इसीलिए विद्याभिमानी ब्राह्मण गा र्ग्य जब उ शी न र

---

[1] बृ० २।४।१० [2] छां० ५।३।७

(=बहावलपुर के आसपासके प्रदेश)से म त्स्य (=जयपुर राज्य), कुरु (=मेरठके जिले), प चा ल (=रुहेलखड आगरा कमिश्नरियॉ), का शी (=बनारसके पासका प्रदेश) वि दे ह (=तिरहुत, बिहार) मे घूमता काशिराज अ जा त श त्रु के पास ब्रह्म उपदेश करने गया; और उसे आदित्य, चद्रमा, विद्युत्, स्तनयित्नु (=बिजलीकी कडक) वायु, आकाश, आग, पानी, दर्पण, छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दाहिनी बाईं आँखोमे पुरुषकी उपासना करनेको कहा, किन्तु अजातशत्रुके प्रश्नोंसे निरुत्तर हो गया;[1] तब भी काशिराजने विधिवत् शिष्य बनाए बिना ही गार्ग्यको उपदेश दिया[2]—

"अजातशत्रुने कहा—'यह उलटा है, जो कि (वह) मुझ ब्राह्मणको ब्रह्म बतलाएगा, इस ख्यालसे (ब्राह्मण) क्षत्रियका शिष्य बनने जाये। तुझे (ऐसे ही) मै विज्ञापन करूँगा (=बतलाऊँगा)।' (फिर) उसे हाथमें ले खडा हो गया। दोनो एक सोये पुरुषके पास गये। उसे इन नामोसे पुकारा—'बडे, पीलेवस्त्रवाले, सोमराजा!' (किन्तु) वह न खड़ा हुआ। उसे हाथसे दबाकर जगाया, वह उठ खडा हुआ। तब अजातशत्रु बोला-'जब यह सोया हुआ था तब यह विज्ञानमय पुरुष (=जीव) कहाँ था? कहाँसे अब यह आया?' गार्ग्य यह नही समझ पाया। तब अजातशत्रुने कहा—'जहाँ यह सोया हुआ था...'... (उस समय यह) विज्ञानमय पुरुष... हृदयके भीतर जो यह आकाश है उसमे सोया था।"

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके बारेमे याज्ञवल्क्यकी उक्ति हम आगे कहेंगे, हाँ द्वितीय अध्यायमे उसके बारेमे इस प्रकार कहा गया है—

"वह यह आत्मा सभी भूतों (प्राणियो)का राजा है, जैसे कि रथ (के चक्र)की नाभि और नेमि (=पुट्ठी)मे सारे अरे समर्पित (=घुसे) होते हैं, इसी तरह इस आत्मा (=ब्रह्म)मे सारे भूत, सारे देव, सारे लोक और सारे ये आत्मा (=जीवात्माएं) समर्पित है।"

---

[1] कौषीतकि ४।१-१९ [2] बृह० २।१५-१७

जगत् ब्रह्मका एक रूप है। पिथागोर और दूसरे जगत्को ब्रह्मका शरीर माननेवाले दार्शनिकोंकी भाँति यहाँ भी जगत्को ब्रह्मका एक रूप कहा गया, और फिर[1]—

"ब्रह्मके दो ही रूप हैं—मूर्त (=साकार) और अ-मूर्त (=निराकार), मर्त्य (=नाशमान) और अमृत (=अविनाशी).... ।"

पुराने धर्म-विश्वासी ईश्वरको संसारमें पाये जानेवाले भले पुरुषोंके गुणों—कृपा, क्षमा आदिसे—युक्त, भावात्मक गुणोंवाला मानते थे; किन्तु, अब श्रद्धासे आगे बढ़कर विकसित बुद्धिके राज्यमें लोग घुस चुके थे; इसलिए उनको समझाने या अपने वादको तर्कसंगत बनाने एवं पकड़में न आनेकेलिए, ब्रह्मको अभावात्मक गुणोंवाला कहना ज्यादा उपयोगी थी। इसीलिए बृहदारण्यकमें हम पाते हैं[2]—

"(वह) न स्थूल, न सूक्ष्म (=अणु), न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न छाया, न तम, न संग-रस-गंधवाला, न आँख-कान-वाणी-मन-प्राण-मुखवाला, न आन्तरिक, न बाहरी, न वह किसीको खाता है, न उसे कोई खाता है।"

ब्रह्मके गुणोंका अन्त नहीं—"नेति नेति"[3] इस तरहका विशेषण भी ब्रह्मकेलिए पहिले-पहिल इसी वक्त दिया गया है।

(ग) सृष्टि—ऋग्वेदके नासदीय सूक्तकी कल्पनाको जारी रखते हुए बृहदारण्यक कहता है[4]—

"यह कुछ भी पहिले न था, मृत्यु (=जीवन-शून्यता), भूखसे यह ढँका हुआ था। भूख (=अशनाया) मृत्यु है। सो उसने मनमें किया—'मैं आत्मावाला (=सशरीर) होऊँ।' उसने अर्चन (=चाह) किया। उसके अर्चनेपर जल पैदा हुआ।....जो जलका शर था, वह बड़ा हुआ। वह पृथिवी हुई। उस (=पृथिवी)में श्रान्त हो (=थक) गया। श्रान्त तप्त उस (ब्रह्म)का जो तेज (-रूपी) रस बना, (वही) अग्नि (हुआ)।"

---

[1] बृह० २।३।१ [2] बृह० ३।८।८ [3] बृह० २।३।६
[4] बृह० १।२।१-२

यूनानी दार्शनिक थेल् (६४०-५५० ई० पू०) की भाँति यहाँ भी भौतिक तत्त्वोमे सबसे प्रथम जलको माना गया है, पृथिवीका नंबर दूसरा और आगका तीसरा है।

दूसरी जगह सृष्टिका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है[1]—

"आत्माही यह पहिले पुरुष जैसा था। उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे भिन्न (किसी) को नही देखा। (उसने) मैं हूँ (सोहं), यह पहिले कहा। इसीलिए 'अहं' नामवाला हुआ। इसीलिए आज भी बुलानेपर (=मैं) अहं पहले कहकर पीछे दूसरा नाम बोला जाता है।....वह डरा। इसीलिए (आज भी) अकेला (आदमी) डरता है।....'उसने दूसरेकी चाह की।' ....उसने (अपने) इसी ही आत्मा (=शरीर) का दो भाग किया, उससे पति और पत्नी हुए.... ।"

और भी[2]—

"ब्रह्महीं यह पहिले था, उसने अपनेको जाना—'मै ब्रह्म हूँ' उससे वह सब हुआ। तब देवताओमेसे जो-जो जागा, वह ही वह हुआ। वैसे ही ऋषियो और मनुष्योमेसे भी जो ऐसा जानता है—'मै ब्रह्म हूँ' (=अहं ब्रह्मास्मि), वह यह सब होता है। और जो दूसरे देवताकी उपासना करता है—'वह दूसरा, मै दूसरा हूँ', वह नही जानता, वह देवताओंके पशु जैसा है।"

आत्मा (=ब्रह्म) से कैसे जगत् होता है, इसकी उपमा देते हुए कहा है[3]—

"जैसे आगसे छोटी चिंगारियाँ (=विस्फुलिंग) निकलती है, इसी तरह इस आत्मा (=विश्वात्मा, ब्रह्म) से सारे प्राण (=जीव), सारे लोक, सारे देव, सारे भूत निकलते है।"

वृहदारण्यकके और दार्शनिक विचारकोंके बारेमे हम आगे याज्ञवल्क्य, आदिके प्रकरणमे कहेगे।

---

[1] बृह० १।४।१-४ [2] बृह० १।४।१० [3] वहीं २।१।२०

२. द्वितीय कालकी उपनिषदें (६००-५०० ई० पू०)

ईश उपनिषद् संहिताका एक भाग है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्राह्मणके भाग है, यही तीन सबसे पुरानी उपनिषदें है, यह हम बतला आए है। आगेकी आरण्यकोवाली ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदोंने एक कदम और आगे बढ़कर संधिकालीन उपनिषदोंसे कुछ और स्पष्ट भाषामे ज्ञानका समर्थन और कर्मकाडकी अवहेलना शुरू की।

(१) ऐतरेय-उपनिषद्

ऐतरेय-उपनिषद् ऋग्वेदके ऐतरेय-आरण्यकका एक भाग है। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक दोनोंके रचयिता महिदास ऐतरेय थे। इस उपनिषद्के तीन भाग है। पहिले भागमे सृष्टिको ब्रह्मने कैसे बनाया, इसे बतलाया गया है। दूसरे भागमे तीन जन्मोंका वर्णन है, जो शायद पुनर्जन्मके प्रतिपादक अति प्राचीनतम वाक्योमे है। अन्तिम भागमे प्रज्ञानवादका प्रतिपादन है।

(क) सृष्टि—विश्वकी सृष्टि कैसे हुई। इसके बारेमे महिदास ऐतरेयका कहना है[1]—

"यह आत्मा अकेला ही पहिले प्राणित (=जीवित) था, और दूसरा कुछ भी नही था। उसने ईक्षण किया (=मनमे किया)—'लोकोंको सिरजूँ।' उसने इन लोको—जल, किरणों....को सिरजा। उसने ईक्षण किया कि 'ये लोकपालोको सिरजे।' उसने पानीसे ही पुरुषको उठाकर कम्पित किया, उसे तपाया। तप्त करनेपर उसका मुख उसी तरह फूट निकला, जैसे कि अडा। (फिर) मुखसे वाणी, वाणीसे आग, नाकसे नथने फूट निकले, नथुनोसे प्राण, प्राणसे वायु। आँखें फूट निकली। आँखोंसे चक्षु (-इन्द्रिय), चक्षुसे आदित्य (=सूर्य)। दोनों कान फूट निकले। कानोंसे श्रोत्र (-इन्द्रिय)। श्रोत्रसे दिशाएं। त्वक्

[1] ऐतरेय १।१-३

(=चमड़ा) फूट निकला। चमड़ेसे रोम, रोमोंसे ओषधि-वनस्पतियाँ। हृदय फूट निकला। हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा। नाभि फूट निकली। नाभिसे अपान(-वायु), अपानसे मृत्यु। शिश्न (=जननेन्द्रिय) फूट निकला। शिश्नसे वीर्य, वीर्यसे जल।.... (फिर) उस (पुरुष)के साथ भूख प्यास लगा दी।"

सृष्टिकी यह एक बहुत पुरानी कल्पना है, जिसे कि वर्णनकी भाषा ही बतला रही है। उपनिषत्कार एक ही वाक्यमें शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ, एवं विश्वके पदार्थोंकी भी रचना बतलाना चाहता है।—पानीसे मानुष शरीर और उसमे क्रमश मुख आदिका फूट निकलना। किन्तु अभी ऋषि भौतिक विश्वसे पूर्णतया इन्कार नही करना चाहता, इसीलिए क्रम-विकासका आश्रय लेता है। उसे "कुन्, फ-यकून" (=होजा, बस होगया) कहनेकी हिम्मत न थी।

(ख) प्रज्ञान (=ब्रह्म)—ज्ञान या चेतनाको ऋषिने यहाँ प्रज्ञान कहा है, जैसा कि उसके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"सं-ज्ञान, अ-आ-ज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति (=धैर्य), मति, मनीषा, जुति, स्मृति, सकल्प, ऋतु, असु (=प्राण), काम (=कामना), वश, ये सभी प्रज्ञानके नाम है।"

फिर चराचर जगत्को प्रज्ञानमय बतलाते हुए कहता है—

"यह (प्रज्ञान ही) ब्रह्मा है। यह इन्द्र.... (यही) ये पाँच महाभूत... अंडज, जारुज, स्वेदज और उद्भिज, घोडे, गाय, पुरुष, हाथी, जो कुछ चलने और उडनेवाले प्राणी है, जो स्थावर है; वह सब प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञानमे प्रतिष्ठित है। लोक (भी) प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञा (सबकी) प्रतिष्ठा (=आधार) है। प्रज्ञान ब्रह्म है।"

प्रज्ञान या चेतनाको ऋषि सर्वत्र उसी तरह देख रहा है, लेकिन जगत्के पदार्थोंसे इन्कार करके प्रज्ञानको इस प्रकार देखना अभी नही हो रहा है;

---

[1] ऐतरेय ३।२

बल्कि जगत्के भीतरकी क्रियाओं और हर्कतोंको देखकर वह अपने समकालीन यूनानी दार्शनिकोकी भाँति विश्वको सजीव समझकर वैसा कह रहा है।

(२) तैत्तिरीय-उपनिषद्

तैत्तिरीय-उपनिषद्, कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय आरण्यकका एक भाग है। इसके तीन अध्याय है, जिनमे ब्रह्म, सृष्टि, आनन्दकी-सीमा, आचार्यका शिष्यकेलिए उपदेश आदिका वर्णन है।

(क) **ब्रह्म**—ब्रह्मके बारेमे सन्देह करनेवालेको तैत्तिरीय कहता है—

"'ब्रह्म अ-सत् है' ऐसा जो समझता है, वह अपने भी असत् ही होता है। 'ब्रह्म सत् है' जो समझता है, उसे सन्त कहते है।"[1]

ब्रह्मकी उपासनाके बारेमे कहता है—

"'वह (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है' ऐसे (जो) उपासना करे, वह प्रतिष्ठावाला होता है। 'वह मह है' ऐसे जो उपासना करे तो महान् होता है। 'वह मन है' ऐसे उपासना करे, तो वह मानवान् होता है....। 'वह....परिमर है' यदि ऐसे उपासना करे तो द्वेष रखनेवाले शत्रु उससे दूर ही मर जाते है।"

इस प्रकार तैत्तिरीयकी ब्रह्म-उपासना अभी राग-द्वेषसे बहुत ऊँचे नही उठी है, और वह शत्रु-सहारका भी साधन हो सकती है। ब्रह्मकी उपासना और उसके फलके बारेमे और भी कहा है—

"वह जो यह हृदयके भीतर आकाश है। उसके अन्दर यह मनोमय अमृत, हिरण्मय (=सुनहला) पुरुष है। तालुके भी भीतरकी ओर जो यह स्तन सा (=क्षुद्र-घटिका) लटक रहा है। वह इन्द्र (=आत्मा)की योनि (=मूल स्थान) है।....(जो ऐसी उपासना करता है) वह स्वराज्य पाता है, मनके पतिको पाता है। उससे (यह) वाक्-पति, चक्षु-पति, श्रोत्र-पति, विज्ञान-पति होता है। ब्रह्म आकाश-शरीरवाला है।"[2]

ब्रह्मको अन्तस्तम तत्त्व आनन्दमय-आत्मा बतलाते हुए कहा है[3]—

---

[1]तै० २।६ [2]तै० १।६।१-२ [3]वहीं २।२-५

"इस अन्न-रसमय आत्मा (शरीर)से भिन्न आन्तरिक आत्मा प्राणमय है, उससे यह (शरीर) पूर्ण है, और वह यह (=प्राणमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस इस प्राणमयसे भिन्न....मनोमय है, उससे यह पूर्ण है। वह यह (=मनोमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस मनोमयसे भिन्न विज्ञानमय(=जीवात्मा) है। उससे यह पूर्ण है ...। उस विज्ञानमयसे भिन्न....**आनन्दमय**(=ब्रह्म) आत्मा है। उससे यह पूर्ण है। वह यह(=विज्ञानमय आत्मा) पुरुष जैसा ही है।"

यहाँ आत्मा शब्द शरीरसे ब्रह्मतकका वाचक है। आत्माका मूल अर्थ शरीर अभी भी चला आता था।—अध्यात्मसे 'शरीरके भीतर" यह अर्थ पुराने उपनिषदोंमें पाया जाता है, किन्तु धीरे-धीरे आत्मा शब्द शरीरका प्रतियोगी, उससे अलग तत्त्वका वाचक, बन जाता है। **आनन्दमय** शब्द ब्रह्मका वाचक है, इसे सिद्ध करनेकेलिए वादरायणने सूत्र लिखा: "आनन्दमयोऽभ्यासात्"[1] (=आनन्दमय ब्रह्मवाचक है, क्योंकि वह जिस तरह दुहराया गया है, उससे वही अर्थ लिया जा सकता है)।

आनन्द ब्रह्मके बारेमें एक कल्पित आख्यायिकाका सहारा ले उपनिषत्कार कहता है—[2]

"भृगु वारुणि(=वरुण-पुत्र) (अपने) पिता वरुणके पास गया (और बोला)—'भगवन्! (मुझे) ब्रह्म सिखलायें।' उसे (वरुणने) यह कहा। ...। 'जिससे यह भूत उत्पन्न होते (=जन्मते) हैं, जिससे उत्पन्न हो जीवित रहते हैं, जिसके पास जाते, (जिसके) भीतर समाते हैं। उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है।'[3] उस(=भृगु)ने तप किया। तप करके 'अन्न ब्रह्म है' यह जाना। 'अन्नसे ही यह भूत जन्मते हैं, जन्म ले अन्नसे जीवित

---

[1] वेदान्त-सूत्र १।१।　　　[2] तैत्तिरीय ३।१-६

[3] अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" (=अब यहाँसे ब्रह्मकी जिज्ञासा आरम्भ करते हैं), "जन्माद्यस्य यतः" (इस विश्वके जन्म आदि जिससे होते हैं), वेदान्तके प्रथम और द्वितीय सूत्र इसी उपनिषद्-वाक्यपर अवलंबित हैं।

रहते हैं, अन्नमें जाते, भीतर घुसते हैं।' इसे जानकर फिर (अपने) पिता वरुणके पास गया—'भगवन्! ब्रह्म सिखायें।' उसको (वरुणने) कहा—'तपसे ब्रह्मकी जिज्ञासा करो, तप ब्रह्म है।'...उसने तप करके 'विज्ञान ब्रह्म है' यह जाना।....तप करके 'आनन्द ब्रह्म है' यह जाना।...."

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अवस्थित होते भी ब्रह्म एक है, इसके बारेमें कहा है—

"वह जो कि यह पुरुषमें, और जो वह आदित्यमें है, वह एक है।"[1]

ब्रह्म, मन वचनका विषय नहीं है—

"(जहाँ) बिना पहुँचे जिससे मनके साथ वचन लौट आते हैं, वही ब्रह्म है।"[2]

(ख) **सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म**—ब्रह्मसे विश्वके जन्मादि होते हैं, इसका एक उद्धरण दे आए हैं। तैत्तिरीयके एक वचनके अनुसार पहिले विश्व अ-सत् (=सत्ताहीन, कुछ नहीं) था, जैसे कि—

"असत् ही यह पहिले था। उससे सत् पैदा हुआ। उसने अपनेको स्वयं बनाया। इसीलिए उसे (=विश्वको) सु-कृत (अच्छा बनाया गया) कहते हैं।"

ब्रह्मने सृष्टि कैसे बनाई?—

"उसने कामना की 'बहुत होऊँ, जन्माऊँ।' उसने तप किया। उसने तप करके यह जो कुछ है, इस सब (जगत्)को सिरजा। उसको सिरजकर फिर उसमें प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रविष्टकर सत् और तत् (=वह) हो गया, व्याख्यात और अव्याख्यात, निलयन (=छिपनेकी जगह) और अ-निलयन, विज्ञान और अ-विज्ञान (अ-चेतन), सत्य और अ-नृत (=अ-सत्य) हो गया।"[3]

(ग) **आचार्य-उपदेश**—आचार्यसे शिष्यकेलिए अन्तिम उपदेश तैत्तिरीयने इन शब्दोंमें दिलवाया है—

---

[1] तै० २।८ [2] वहीं २।७ [3] वहीं २।६

"वेद पढाकर आचार्य अन्तेवासी (=शिष्य)को अनुशासन(=उपदेश) देता है—सत्य बोल, धर्माचरण कर, स्वाध्यायमे प्रमाद न करना। आचार्यके केलिए प्रिय धन (=गुरु दक्षिणाके तौर पर) लाकर प्रजा-तन्तु (=सन्तान परपरा)को न तोड़ना। देवो-पितरोके काममे प्रमाद न करना। माता-को देव मानना, पिताको देव मानना, आचार्यको देव मानना, अतिथिको देव मानना। जो हमारे निर्दोष कर्म है, उन्हीको सेवन करना, दूसरोको नही।"

३–तृतीय कालकी उपनिषदें (५००-४०० ई० पू०)

(१) प्रश्न-उपनिषद्

जैसा कि इसके नामसे ही प्रकट होता है, यह छै ऋषियोके पिप्पलादके पास पूछे प्रश्नोके उत्तरोंका सग्रह है।

प्रश्नमे निम्न बाते बतलाई गई हैं[1]—

(क) मिथुन(=जोड़ा)वाद—"भगवन्! यह प्रजाए कहाँसे पैदा हुईं?"

"उसको (पिप्पलाद)ने उत्तर दिया—प्रजापति 'प्रजा (पैदा करने)की इच्छावाला (हुआ), उसने तप किया। उसने तप करके 'यह मेरे लिए बहुतसी प्रजाओको बनायेंगे,' (इस ख्याल से) मिथुन (=जोडे)को उत्पन्न किया—रयि (=धन, भूत) और प्राण (=जीवन)को। आदित्य प्राण है, चद्रमा रयि ही है . . । सवत्सर प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन है। . .जो पितृयान(के छै मास) है, वही रयि है। . .मास प्रजापति है, उसका कृष्णपक्ष रयि है, शुक्ल (=पक्ष) प्राण है। . . . दिन-रात प्रजापति है, उसका दिन प्राण है, रात रयि है।"

इस प्रकार प्रश्न उपनिषद्का प्रधान ऋषि पिप्पलाद विश्वको दो दो (=मिथुन) तत्त्वोमे विभक्त कर उसे द्वैतमय मानता है, यद्यपि रयि और

---

[1] प्र० १।३-१३

प्राण दोनों मिलकर प्रजापतिके रूपमे एक हो जाते है।

(ख) **सृष्टि**—एक प्रश्न है[1]—

'भगवन् ! प्रजाओ (=सृष्टि)को कितने देव धारण करते है ? कौनसे देव प्रकाशन करते है, कौन उनमे सर्वश्रेष्ठ है ?' 'उसको उस (=पिप्पलाद ऋषि)ने बतलाया—'(प्रजाको धारण करनेवाला) यह आकाश देव है, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र (देव) है। वह प्रकाश करके कहते है 'हम इस वाण (=शरीर) को रोककर धारण करते है।' उनसे सर्वश्रेष्ठ (देव) प्राणने कहा—'मत मूढता करो, मै ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्तकर इस वाणको रोककर धारण करता हूँ।' उन्होंने विश्वास नही किया। वह अभिमानसे निकलने लगा। उस (=प्राण)के निकलते ही दूसरे सारे ही प्राण (=इन्द्रिय) निकल जाते है, उसके ठहरनेपर सभी ठहरते है। जैसे (शहदकी) सारी मक्खियाँ मधुकरराजा (=रानी मक्खी)के निकलने-पर निकलने लगती है, उसके ठहरनेपर सभी ठहरती है। ...वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र ने ...प्राणकी स्तुति की—'यही तप रहा अग्नि है, यह सूर्य पर्जन्य (=वृष्टि-देवता), मघवा (=इद्र) यही वायु है, यही पृथिवी रयि देव है जो कुछ कि सद् असद्, और अमृत है.... । (हे प्राण!) जो तेरे शरीर या वचनमें स्थित है, जो श्रोत्र या नेत्र मे (स्थित है), जो मनमे फैला हुआ है, उसे शान्त कर, (और शरीरसे) मत निकल।"

इस प्रकार पिप्पलादने प्राण (=जीवन, या विज्ञान)को सर्वश्रेष्ठ माना, और रयि (या भौतिक तत्त्व)को द्वितीय या गौण स्थान दिया।

(ग) **स्वप्न**—स्वप्न-अवस्था पिप्पलादकेलिए एक बहुत ही रहस्य पूर्ण अवस्था थी। वह समझता था कि वह परम पुरुष या ब्रह्मके मिलनका समय है। इसके बारेमे गार्ग्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए पिप्पलादने कहा[2]—

---

[1] प्रश्न २।१-१२ [2] प्रश्न ४।२

"जैसे गार्ग्य ! अस्त होते सूर्यके तेजोमंडलमे सारी किरणे एकत्रित होती है, (सूर्यके) उदय होते वक्त वह फिर फैलती है; इसी तरह (स्वप्नमे) वह सब (इन्द्रियाँ) उस परमदेव मनमे एक होती है। इसीलिए तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, (उसकेलिए) 'सो रहा है' इतना ही कहते है।"

"वह जब तेजसे अभिभूत (=मद्धिम पड़ा) होता है, तब यह देव स्वप्नोको नही देखता; तब यह इस शरीरमे सुखी होता है।"[1]

"मन यजमान है, अभीष्ट फल उदान है। यह (उदान) इस यजमानको रोज-रोज (सुप्तावस्थामें) ब्रह्मके पास पहुँचाता है।"[2]

"यहाँ सुप्तावस्थामे यह देव (अपनी) महिमाको अनुभव करता है और देखे-देखेके पीछे देखता है, सुने-सुनेके पीछे सुनता है....देखे और न देखे, सुने और न सुने, अनुभव किये और न अनुभव किये, सत् और अ-सत्, सबको देखता है, सबको देखता है।"

(घ) **मुक्तावस्था**—मुक्तावस्थाके बारेमे इस उपनिषद्का कहना है[3]—

"जैसे कि नदियाँ समुद्रमे जा अस्त हो जाती है, उनका नाम और रूप छूट जाता है, 'समुद्र' बस यही कहा जाता है; इसी तरह पुरुष (ब्रह्म)को प्राप्त हो इस परिद्रष्टाके यह सोलह कला अस्त हो जाती है। उनके नाम-रूप छूट जाते हैं, उसे 'पुरुष' बस यही कहा जाता है। वही यह कला-रहित अमृत है।"

असत्य-भाषणके बारेमे कहा है—"जो झूठ बोलता है, वह जड़से सूख जाता है।"[4]

(२) केन-उपनिषद्

ईशकी भाँति केन-उपनिषद् भी "केन"से शुरू होता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। केनके चार खंडोमे पहिले दो पद्यमे है, और अन्तिम दो

---

[1] प्रश्न ४।६ [2] प्रश्न ४।४ [3] प्रश्न ६।५ [4] प्रश्न ६।१

गद्यमें। पद्य-खडमे आत्माका शरीरसे अलग तथा इन्द्रियोंका प्रेरक होना सिद्ध किया गया है, और वतलाया गया है कि वही चरम सत्य तथा पूजनीय है। उपसंहारमें (रहस्यवादी भाषामे) कहा है[1]: "जो जानते हैं वह वस्तुत. नही जानते, जो नही जानते वही उसे जानते है।" आत्माको सिद्ध करते हुए केनने कहा है—

"जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वचनका वचन और प्राणका प्राण, आँखकी आँख है, (ऐसा समझनेवाले) धीर अत्यन्त मुक्त हो इस लोकसे जाकर अमृत हो जाते है।"

ब्रह्म छोड दूसरेकी उपासना नही करनी चाहिए—

"जो वाणीसे नही बोला जाता, जिससे वाणी बोली जाती है; उसीको तू ब्रह्म जान, उसे नही जिसे कि (लोग) उपासते है।

"जो मनसे मनन नही किया जाता, जिससे मन जाना गया कहते हैं; उसीको तू ब्रह्म जान, ...

"जो प्राणसे प्राणन करता है, जिससे प्राण प्राणित किया जाता है; उसीको तू ब्रह्म जान०[1]।"

केनके गद्य-भागमे जगत्के पीछे छिपी अपरिमेय शक्तिको बतलाया गया है।

(३) कठ-उपनिषद्

(क) नचिकेता-यम-समागम—कठ-शाखाके अन्तर्गत होनेसे इस उपनिषद्का नाम कठ पड़ा है। यह पद्यमय है। भगवद्गीताने इस उपनिषद्से बहुत लिया है, और 'उपनिषद्रूपी गायोंसे कृष्णने अर्जुनके लिए गीतामृत दूधका दोहन किया' यह कहावत कठके संबंधसे है। नचिकेता और यमकी प्रसिद्ध कथा इसी उपनिषद्मे है। नचिकेताका पिता अपनी सारी सम्पत्तिका दान कर रहा था, जिसमें उसकी अत्यन्त बूढी

---

[1] "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥" केन २।३

गाये भी थी। नचिकेता इन गायोंको दानके अयोग्य समझता था, इसलिए उसने सोचा[1]—

"पानी पीना तृण खाना दूध दूहना जिन (गायो)का खतम हो चुका है, उनको देनेवाला (=दाता) आनन्दरहित लोकमे जाता है।"

नचिकेताकी समझमें यह नही आया कि सर्वस्व-दानमे यह निरर्थक वस्तुए भी शामिल हो सकती है। यदि सर्वस्व-दानका अर्थ शब्दश. लिया जाये, तो फिर मै भी उसमे शामिल हूँ। इसपर नचिकेताने पितासे पूछा—"मुझे किसे देते हो?" पुत्रको प्रश्न दुहराते देख गुस्सा हो पिताने कहा—"तुझे मृत्युको देता हूँ।" नचिकेता मृत्युके देवता (=यम)के पास गया। यम कही बाहर दौरेपर गया हुआ था। उसके परिवारने अतिथिको खाने पीनेके लिए बहुत आग्रह किया; किन्तु, नचिकेताने यमसे मिले बिना कुछ भी खानेसे इन्कार कर दिया। तीसरे दिन यमने अतिथिको इस प्रकार भूखे-प्यासे घरपर बैठा देखकर एक सद्गृहस्थकी भाँति खिन्न हुआ, और नचिकेताको तीन वर माँगनेकेलिए कहा। इन वरोंमे तीसरा सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसे नचिकेताने इस प्रकार माँगा था[2]—

"जो यह मरे मनुष्यके बारेमे सन्देह है। कोई कहता है "है" कोई कहता है 'यह (=जीव) नही है।' तुम ऐसा उपदेश दो कि मै इसे जानूँ। वरोंमें यह तीसरा वर है।"

यम—"इस विषयमे देवोने पहिले भी सन्देह किया था। यह सूक्ष्म धर्म (=बात) जाननेमे सुकर नही है। नचिकेता! दूसरा वर माँगो, मत आग्रह करो, इसे छोड़ दो।"

नचिकेता—'देवोंने इसमे सन्देह किया था, हे मृत्यु! जिसे तुम 'जाननेमें सुकर नही' कहते। तुम्हारे जैसा इसका बतलानेवाला दूसरा नही मिल सकता; इसके समान कोई दूसरा वर नही।"

यम—"मर्त्यलोकमें जो जो काम (=भोग) दुर्लभ है, उन सभी

---

[1] कठ १।१।३　　[2] कठ १।१।२०–२९

कामोंको स्वेच्छासे माँगो। रथों, वाद्योंके साथ. . . .मनुष्योके लिए अलभ्य यह रमणियाँ है। नचिकेत! मेरी दी हुई इन (=रमणियों)के साथ मौज करो—मरणके संबधमे मुझसे मत प्रश्न पूछो।"

नचिकेता—"कल इनका अभाव (होनेवाला है)। हे अन्तक! मर्त्य (=मरणधर्मा मनुष्य)की इन्द्रियोंका तेज जीर्ण होता है। बल्कि सारा जीवन ही थोड़ा है। ये घोडे तुम्हारे ही रहे, नृत्य-गीत तुम्हारे ही (पास) रहे। . . .जिस महान् परलोकके विषयमे (लोग) सन्देह करते है, हे मृत्यु! हमे उसीके विषयमे बतलाओ। जो यह अतिगहन वर है, उससे दूसरेको नचिकेता नही माँगता।"

इसपर यमने नचिकेताको उपदेश देना स्वीकार किया।

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मका वर्णन कठ-उपनिषद्में कई जगह आया है। एक जगह उसे पुरुष कहा गया है[1]—

"इन्द्रियोसे परे (=ऊपर) अर्थ (=विषय) है, अर्थोसे परे मन, मनसे परे बुद्धि, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (=महत् तत्त्व) है। महान्से परे परम अव्यक्त (=मूल प्रकृति), अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुषसे परे कुछ नही, वही पराकाष्ठा है, वही (परा) गति है।"

फिर कहा है[2]—

"ऊपर मूल रखनेवाला, नीचे शाखा वाला यह अश्वत्थ (वृक्ष) सनातन है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहा जाता है, उसीमे सारे लोक आश्रित है। उसको कोई अतिक्रमण नही कर सकता। यही वह (ब्रह्म) है।"

और[3]—"अणुसे अत्यन्त अणु, महान्से अत्यन्त महान्, (वह) आत्मा इस जन्तुकी गुहा(=हृदय),मे छिपा हुआ है।"

और भी[4]—

---

[1] कठ १।३।१०-११ [2] कठ २।६।१ [3] कठ १।२।२०
[4] कठ २।५।१५

"वहाँ सूर्य नही प्रकाशता न चाँद तारे, न यह बिजलियाँ प्रकाशती, (फिर) यह आग कहाँसे प्रकाशेगी। उसी(=ब्रह्म)के प्रकाशित होनेपर सब पीछेसे प्रकाशते हैं, उसीकी प्रभासे यह सब प्रकाशता है।

और भी[1]—

"जैसे एक आग भुवनमे प्रविष्ट हो रूप-रूपमे प्रतिरूप होती है, उसी तरह सारे भूतोंका एक अन्तरात्मा है, जो रूप-रूपमे प्रतिरूप तथा बाहर भी है।"

सर्वव्यापक होते भी ब्रह्म निर्लेप रहता है[2]—

"जैसे सारे लोककी आँख(=सूर्य) आँख-सबधी बाहरी दोषोसे लिप्त नही होता : वैसे ही सारे भूतोका एक अन्तरात्मा(=ब्रह्म)लोकके बाहरी दुखोंसे लिप्त नही होता।" ब्रह्मकी रहस्यमयी सत्ताके प्रतिपादनमे रहस्यमयी भाषाका प्रचुर प्रयोग पहिलेपहिल कठ-उपनिषद्मे किया गया है। जैसे[3]—

"जो सुननेकेलिए भी बहुतोको प्राप्य नही है। सुनते हुए भी बहुतेरे जिसे नही जानते। उसका वक्ता आश्चर्य(-मय) है, उसको प्राप्त करनेवाला कुशल(=चतुर) है, कुशल द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता आश्चर्य (पुरुष) है।"

अथवा[4]—

"बैठा हुआ दूर पहुँचता है, लेटा सर्वत्र जाता है। मेरे बिना उस मद-अमद देवको कौन जान सकता है?"

(ग) आत्मा (=जीव)—जीवात्माका वर्णन जिस प्रकार कठ उपनिषद्ने किया है, उससे उसका झुकाव आत्मा और ब्रह्मकी एकता (=अद्वैत)की ओर नही जान पडता। आत्मा शरीरसे भिन्न है, इसे इस श्लोकमे बतलाया गया है जिसे भगवद्गीताने भी अनुवादित किया है[5]—

"(वह) ज्ञानी न जन्मता है न मरता है, न यह कहीसे (आया) न कोई हुआ। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण है। शरीरके हत होनेपर

---

[1] कठ २।५।९ [2] कठ २।५।११ [3] कठ १।२७
[4] कठ १।२।२१ [5] कठ १।२।१८

वही नही हत होता"

"हन्ता यदि हननको मानता है, हत यदि हत (=मारित) मानता है, तो वे दोनो ज्ञान-रहित हैं; न यह मारता है न मारा जाता है।"[1]

कठने रथके दृष्टान्तसे आत्माको सिद्ध करना चाहा[2]—

"आत्माको रथी जानो, और शरीरको रथ मात्र। इन्द्रियोंको घोडा कहते हैं, (और) मनको पकडनेकी रास। बुद्धिको सारथी जानो. . . . ।"

(घ) मुक्ति और उसके साधन—मुक्ति—दुःखसे छूटना और ब्रह्मको प्राप्त करना—उपनिषदोंका लक्ष्य है। कठ मानवको मुक्तिके लिए प्रेरित करते हुए कहता है[3]—

"उठो जागो, वरोंको पाकर जानो। कवि (=ऋषि) लोग उस दुर्गम पथको छुरेकी तीक्ष्ण धार (की तरह) पार होनेमे कठिन बतलाते हैं।"

तर्क, पठन या बुद्धिसे उसे नही पाया जा सकता—

"यह आत्मा प्रवचन (पठन-पाठन)से मिलनेवाला नही है, नही बुद्धि या बहुश्रुत होनेसे।"[4]

"दूसरेके बिना बतलाए यहाँ गति नही है। सूक्ष्माकार होनेसे वह अत्यन्त अणु और तर्कका अ-विषय है। यह मति (=ज्ञान) तर्कसे नही मिलनेवाली है। हे प्रिय! दूसरेके बतलाने ही पर (यह) जाननेमें सुकर है।"[5]

(a) सदाचार—ब्रह्मकी प्राप्तिकेलिए कठ ज्ञान और ध्यानको ही प्रधान साधन मानता है, तो भी सदाचारकी वह अवहेलना नही देखना चाहता। जैसे कि[6]—

"दुराचारसे जो विरत नही, जो शान्त और एकाग्रचित्त नही, अथवा जो शान्त मानस नही, वह प्रज्ञानसे इसे नही, पा सकता।"

तो भी मुक्तिकेलिए कठका बहुत जोर ज्ञानपर है—

---

[1] कठ १।२।१९ [2] कठ [3] कठ १।३।१४
[4] कठ १।२।२२ [5] वहीं १।२।८-९ [6] वहीं १।२।२४

"सारे भूतों (=प्राणियो)के अन्दर छिपा हुआ यह आत्मा नही प्रकाशता। किन्तु वह तो सूक्ष्मदर्शियों द्वारा सूक्ष्म तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है।"[1]

(b) **ध्यान**—ब्रह्म-प्राप्ति या मुक्तिके लिए ज्ञान-दृष्टि आवश्यक है; किन्तु साथ ही ज्ञान-दर्शनकेलिए **ध्यान** या एकाग्रता भी आवश्यक है—

"स्वयभू (=विधाता)ने बाहरकी ओर छिद्र (=इन्द्रियाँ) खोदी है। इसलिए मनुष्य बाहरकी ओर देखते है, शरीरके भीतर(=अन्तरात्मा) नही। कोई-कोई धीर (है जो कि) आँखोको मूँदकर अमृतपदकी इच्छासे भीतर आत्मामे देखते है।"[2]

"(ब्रह्म) न आँखसे ग्रहण किया जाता है, न वचनसे, न दूसरे देवों, तपस्या या कर्मसे। ज्ञानकी शुद्धतासे (जो) मन विशुद्ध (हो गया है वह), ...ध्यान करते हुए, उस निष्कल (ब्रह्म)का दर्शन करता है।"[3]

(४) मुंडक उपनिषद्

मुडकका अर्थ है, मुँडे-शिरवाला यानी गृहत्यागी परिव्राजक, भिक्षु या संन्यासी, जो कि आजकी भाँति उस समय भी मुंडे शिर रहा करते थे। बुद्धके समय ऐसे मुडक बहुत थे, स्वयं बुद्ध और उनके भिक्षु मुडक थे। मुडक उपनिषद्मे पहिली बार हमे बुद्धकालीन घुमन्त परिव्राजकोके विचार मालूम होते है। यहाँ प्राचीन परंपरासे एक नई परंपरा आरम्भ होती दीख पड़ती है।

(क) **कर्मकांड-विरोध**—ब्राह्मणोंके याज्ञिक कर्मकाडसे, मुडकको खास चिढ मालूम होती है, जो कि निम्न उद्धरणसे मालूम होगा[4]—

"यज्ञ-रूपी ये बेडे (या घरनइयाँ) कमजोर है . . । जो मूढ इसे अच्छा (कह) कर अभिनंदन करते है, वे फिर फिर बुढापे और मृत्युको प्राप्त होते है। अविद्या (=अज्ञान)के भीतर वर्त्तमान अपनेको धीर

---

[1]वहीं १।३।१२　[2]वहीं २।४।१　[3]वहीं ३।१।८　[4]मुंड १।२।७-११

(और) पडित समझनेवाले, वे मूढ अधे द्वारा लिवाये जाते अधोंकी भाँति दुःख पाते भटकते है। अविद्याके भीतर बहुतकरके वर्त्तमान 'हम कृतार्थ है' ऐसा अभिमान करते है। (ये) वालक वे कर्मी (=कर्मकाडपरायण) रागके कारण नही समझते है, उसीसे (ये) आतुर लोग (पुण्य-) लोकसे क्षीण हुए (नीचे) गिरते है।. . .तप और श्रद्धाके साथ भिक्षाटन करते हुए, जो शान्त विद्वान् अरण्यमे वास करते है। वह निष्पाप हो सूर्यके रास्ते (वहाँ) जाते है, जहाँ कि वह अमृत, अक्षय-आत्मपुरुष है।"

जिस वेद और वैदिक कर्मकांडी विद्याके लिए पुरोहितोंको अभिमान था, उसे मुंडक निम्न स्थान देता है—

"'दो विद्याएं जाननेकी है' यह ब्रह्मवेत्ता बतलाते है। (वह) है, परा और अपरा (=छोटी)। उनमे अपरा है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।' परा (विद्या) वह है, जिससे उस अक्षर (=अविनाशी) को जाना जाता है।"[1]

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके स्वरूपके बारेमे कहता है—

"वही अमृत ब्रह्म आगे है, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म दक्षिण, और उत्तरमे। ऊपर नीचे यह ब्रह्म ही फैला हुआ है; सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्म ही) यह सब है।"[2]

"यह सब पुरुष ही है।. . . .गुहा (=हृदय)मे छिपे इसे जो जानता है। वह. . . .अविद्याकी ग्रंथिको काटता है।"[3]

"वह बृहद् दिव्य, अचिन्त्य रूप, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर (ब्रह्म) प्रकाशता है। दूरसे (वह) बहुत दूर है, और देखनेवालोको यही गुहा (=हृदय)मे छिपा वह. . .पास ही मे है।"[4]

(ग) मुक्तिके साधन—कर्मकाड—यज्ञ-दान-वेदाध्ययन आदि—को मुडक हीन दृष्टिसे देखता है, यह बतला चुके है, उसकी जगह मुंडक दूसरे साधनोंको बतलाता है।[5]

---

[1] मुंडक १।१।४-५ [2] मुंडक २।२।११ [3] २।१।१०
[4] मुंडक ३।१।७ [5] मुडक ३।१।५

"यह आत्मा सत्य, तप, ब्रह्मचर्यसे सदा प्राप्य है। शरीरके भीतर (वह) शुभ्र ज्योतिर्मय है, जिसको दोषरहित यति देखते है।"

"यह आत्मा बलहीन द्वारा नही प्राप्य है और नही प्रमाद या लिंगहीन तपसे ही (प्राप्य है)।"

शायद लिंगसे यहाँ मुंडकों (=परिव्राजकों)के विशेष शरीरचिह्न अभिप्रेत है। कठ, प्रश्नकी भाँति मुडक भी उन उपनिषदोमे है, जो उस समयमें बनी जब कि ब्राह्मणोंके कर्मकाडपर भारी प्रहार हो चुका था।

(a) **गुरु**—मुडक गुरुकी प्रधानताको भी स्वीकारता है, इससे पहिले दूसरी शिक्षाओंकी तरह ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाला भी आचार्य या उपाध्यायके तौरपर एक आचार्य था। अब गुरुको वह स्थान दिया गया, जो कि तत्कालीन अवैदिक बौद्ध, जैन आदि धर्मोंमे अपने शास्ता और तीर्थंकरको दिया जाता था। मुडक[1]ने कहा—

"कर्मसे चुने गए लोकोकी परीक्षा करनेके बाद ब्राह्मणको निर्वेद (=वैराग्य) होना चाहिए कि अ-कृत (=ब्रह्मत्व) कृत (कर्मों)से नही (प्राप्त होता)। उस (ब्रह्म-) ज्ञानकेलिए समिधा हाथमे ले (शिष्य बननेके वास्ते) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास हीमे जाये।"

(b) **ध्यान**—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए मनकी तन्मयता आवश्यक है[2]—

"उपनिषद्‌के महास्त्र धनुषको लेकर, उपासनासे तेज किये शरको चढाये, तन्मय हुए चित्तसे खीचकर, हे सोम्य! उसी अ-क्षर (=अ-विनाशी)को लक्ष्य समझ। प्रणव (=ओम्) धनुष है, आत्मा शर, ब्रह्म वह लक्ष्य कहा जाता है। (उसे) प्रमाद (=गफलत)-रहित हो वेधना चाहिए, शरकी भाँति तन्मय होना चाहिए।"

(c) **भक्ति**—वैदिक कालके ऋषि, और ज्ञान-युगके आरंभिक ऋषि आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि भी देवताओंकी स्तुति करते थे, उनसे अभिलषित भोग-वस्तुएं भी माँगते थे; किन्तु यह सब होता था आत्म-सम्मानपूर्वक।

---

[1] मुंडक १।२।१२ [2] मुंडक २।२।३-४

यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सामन्तवादमे पहुँच जानेपर भी आर्य अपने जन तथा पितृ-सत्ता-कालीन भावोंको अभी छोड़ नही सके थे, इसलिए देवताओके साथ भी अभी समानता या मित्रताका भाव दिखलाना चाहते थे। किन्तु अब अवस्था बदल गई थी। आर्य जिस तरह खूनमें मिश्रित होते जा रहे थे, उसी तरह उनके विचारोंपर भी बाहरी प्रभाव पड़ते जा रहे थे। इसीलिए अब आत्मसमर्पणका ख्याल राजनीतिक क्षेत्रकी भाँति धार्मिक क्षेत्रमे भी ज्यादा जोर मारने लगा था। मुडककारने ज्ञानको भी काफी नही समझा और कह दिया[१]—

"जिसको ही वह (ब्रह्म) चुनता (=वरण) करता है, उसीको वह प्राप्य हैं, उसीकेलिए यह अपने तनको खोलता है।"

(d) **ज्ञान**—अन्य उपनिषदोकी भाँति यहाँ भी (ब्रह्म-) ज्ञानपर जोर दिया गया है—

"उसी आत्माको जानो, दूसरी बाते छोडो, यह (ही) अमृत (=मुक्ति)का सेतु है।....उसके विज्ञान (=ज्ञान)से धीर (पुरुष), (उसे) चारों ओर देखते हैं, जो कि आनन्दरूप, अमृत, प्रकाशमान है।"[२]

"जब देखनेवाला (जीव) चमकीले रंगवाले कर्त्ता, ईश, ब्रह्मयोनि, पुरुषको देखता है तब वह (विद्वान्) पुण्य पापको फेककर निरंजनकी परम समानताको प्राप्त होता है।"[३]

यहाँ याद रखना चाहिए कि ज्ञानको ब्रह्मप्राप्तिका साधन मानते हुए, मुडक मुक्त जीवकी ब्रह्मसे अभिन्न होनेकी बात नही, बल्कि "परम-समानता"की बात कह रहा है।

(घ) **त्रैतवाद**—ऊपरके उद्धरणसे मालूम हो गया कि मुंडकके मतमे मुक्तिका मतलब ब्रह्मकी परम समानता मात्र है, जिससे यह समझना आसान है, कि वह अद्वैत नही द्वैतका हामी है। इस बातमे सन्देहकी कोई गुजाइश नही रह जाती, जब हम उसके निम्न उद्धरणोंको देखते है[४]—

---

[१]मुंडक ३।२।३ [२]मुंडक २।२।५-७ [३]मुंडक ३।१।३ [४]मुंडक ३।१-२

"दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे है। उनमेंसे एक फल (=कर्मभोग)को चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है। (उस) एक वृक्ष (=प्रकृति)मे निमग्न पुरुष परवश मूढ़ हो शोक करता है। दूसरे ईशको जब वह (अपना) साथी (तथा) उसकी महिमाको देखता है, तो शोक-रहित हो जाता है।"

(ङ) **मुक्ति**—मुडकके त्रैतवाद—प्रकृति (=वृक्ष), जीव, ईश्वर और मुक्तिका आभास तो कुछ ऊपर मिल चुका, यदि उसे और स्पष्ट करना है, तो निम्न उद्धरणोको लीजिए—

"जैसे नदियाँ बहती हुई नाम रूप छोड समुद्रमे अस्त हो जाती है, वैसे ही विद्वान् (=ज्ञानी) नाम-रूपसे मुक्त हो, दिव्य परात्पर (=अति परम) पुरुषको प्राप्त होता है।"[1]

"इस (=ब्रह्म)को प्राप्तकर ऋषि ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, वीतराग, (और) प्रशान्त (हो जाते है)। वे धीर आत्म-सयमी सर्वव्यापी (=ब्रह्म)को चारो ओर पाकर सर्व (=ब्रह्म)मे ही प्रवेश करते है।"[2]

"वेदान्तके विज्ञानसे अर्थ जिन्हें सुनिश्चित हो गया, संन्यास-योगसे जो यति शुद्ध मन वाले है; वे सब सबसे अन्तकालमे ब्रह्म-लोकोंमे पर-अमृत (बन) सब ओरसे मुक्त होते है।"[3]

उपनिषद् या ज्ञानकाडकेलिए यहाँ **वेदान्त** शब्द आ गया, जो इस तरहका पहिला प्रयोग है।

(च) **सृष्टि**—ब्रह्मने किस तरह विश्वकी सृष्टि की, इसके बारेमे मुंडकका कहना है—

"(वह है) दिव्य अ-मूर्त्त (=निराकार) पुरुष, बाहर भीतर (बसने वाला) अ-जन्मा। प्राण-रहित, मन-रहित शुद्ध अ-क्षत (प्रकृति)के परेसे परे है। उससे प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ पैदा होती है। आकाश, वायु, ज्योति

---

[1] मुंडक ३।२।८　　[2] वहीं ३।२।५　　[3] वहीं ३।२।६

(=अग्नि), जल, विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी।.. .उससे बहुत प्रकारके देव पैदा हुए। साध्य (=निम्नकोटिके देव) मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, धान, जौ, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विधि (=कर्मका विधान)।. इससे (ही) समुद्र और गिरि। सब रूपके सिन्धु (=नदियाँ) इसीसे बहते है। इसीसे सारी औषधियाँ, और रस पैदा होते है।"[1]

और—

"जैसे मकडी सृजती है, और समेट लेती है; जैसे पृथिवीमे औषधियाँ (=वनस्पति) पैदा होती है; जैसे विद्यमान पुरुषसे केश रोम (पैदा होते है), उसी तरह अ-क्षर (=अविनाशी)से विश्व पैदा होता है।"[2]

और—

"इसलिए यह सत्य है कि जैसे सुदीप्त अग्निसे समान रूपवाली हजारो शिखाएँ पैदा होती है, उसी तरह अ-क्षर (=अ-विनाशी)से हे सोम्य! नाना प्रकारके भाव (=हस्तियाँ) पैदा होते है।"[3]

इस प्रकार मुडकके अनुसार ब्रह्म (=अ-क्षर) जगत्का निमित्त और उपादान कारण दोनो है; वह ब्रह्म और जगत्मे शरीर शरीरी जैसा संबध मानता है, तभी तो जहाँ सत्ता बतलाते वक्त वह जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनोके अस्तित्वको स्वीकार करता है, वहाँ सृष्टिके उत्पादनमे प्रकृतिको अलग नही बतलाता। मकडी आदिका दृष्टान्त इसी बातको सिद्ध करता है।

बुद्धके समय परिव्राजकोके नामसे प्रसिद्ध धार्मिक सम्प्रदाय इन्ही मुडकोंका था। पाली सूत्रोके अनुसार इनका मत था कि मरनेके बाद "आत्मा, अरोग एकान्त सुखी होता है।"[4]

पोट्ठपाद, वच्छ-गोत्त जैसे अनेको परिव्राजक बुद्धके प्रति श्रद्धा रखते थे और उनके सर्वश्रेष्ठ दो शिष्य सारिपुत्र और मोद्गल्यायन पहिले परिव्राजक

---

[1] मुंडक २।१।२-९ [2] वहीं १।१।७ [3] वहीं ३।१।१

[4] पोट्ठपाद-सुत्त (दीघनिकाय, १।९)

सम्प्रदायके थे। मुडकोंसे ब्राह्मणोकी चिढ थी, यह अम्बष्टके बुद्धके सामने "मुडक, श्रमण,. . . .काले, बंधु (ब्रह्म)के पैरकी सन्तान" कहकर बुरा-भला कहने से भी पता लगता है।[1] सुन्दरिका भारद्वाजका बुद्धको 'मुडक' कहकर तिरस्कार करना भी उसी भावको पुष्ट करता है।[2] मज्झिम-निकायमे परिव्राजकोंके सिद्धान्तके बारेमे कितनी ही और बाते मिलती है, जो इस उपनिषद्के अनुकूल पडती है। परिव्राजक कर्मकाड-विरोधी भी थे।

(५) मांडूक्य-उपनिषद्

इसके प्रतिपाद्य विषयोमे ओम्को खामखाह दार्शनिक तलपर उठाने की कोशिश की गई है; और दूसरी बात है, चेतनाकी चार अवस्थाओ—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय——का विवेचन। इसका एक और महत्व यह है कि "प्रच्छन्न बौद्ध" शंकरके परम गुरु तथा बौद्ध गौडपादने माडूक्यपर कारिका लिखकर पहिले पहिल बौद्ध-विज्ञानवादसे कितनी ही बातोको ले—और कुछको स्पष्ट स्वीकार करते भी—आगे आनेवाले शकरके अद्वैत वेदान्तका वीजारोपण किया।

(क) ओम्—"भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सब ओंकार ही है। जो कुछ त्रिकालसे परे है, वह भी ओंकार ही है।"[3]

(ख) ब्रह्म—ओकारको ब्रह्मसे मिलाते आगे कहा है—[4]

"सब कुछ यह ब्रह्म है। यह आत्मा (=जीव) ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादवाला है। (१) जागरित अवस्थावाला, बाहरका ज्ञान रखने वाला, सात अंगों (=इन्द्रियो), उन्नीस मुखोंवाला, वैश्वानर (नामका) प्रथम पाद है, (जिसका) भोजन स्थूल है। (२) स्वप्न अवस्था वाला

---

[1] वहीं २।१ (देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ २११)।
[2] संयुत्तनिकाय ७।१।६ (बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७६)
[3] मांडूक्य १ [4] मांडूक्य २-१२

भीतरी ज्ञान रखनेवाला, सात अंगो उन्नीस मुखो वाला तैजस (नामका) दूसरा पाद है, जो अति एकान्तभोगी है। (३) जिस (अवस्था)मे सोया, न किसी भोगकी कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है, वह सुपुप्त (की अवस्था) है। सुषुप्तकी अवस्थामे एकमय प्रज्ञान-घन(=ज्ञानमय) ही आनद-मय (नामक) चेतोमुखवाला तीसरा पाद है, जिसका कि आनद ही भोजन है। यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी, यही सबकी योनि (=मूल), भूतो (=प्राणियो)की उत्पत्ति और विनाश है। (४) न भीतरी प्रज्ञावाला, न बाहरी प्रज्ञावाला, न दोनो तरहकी प्रज्ञावाला, न प्रज्ञान-घन, न प्रज्ञ और न अ-प्रज्ञ है। (जो कि वह) अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य, अ-व्यपदेश्य (=बे नामका), एक आत्मा रूपी ज्ञान(=प्रत्यय)के सारवाला, प्रपचोंका उपशमन करनेवाला, शान्त, शिव, अद्वैत है। इसे चौथा पाद मानते है। वह आत्मा है, उसे जानना चाहिए। वह आत्मा अक्षरोके बीच ओंकार है।....”

माडूक्य-उपनिषद्की भाषाको दूसरी पुरानी उपनिषदोंकी भाषासे तुलना करने से मालूम हो जावेगा कि अब हम दर्शन-विकासके काफी समयसे गुजर चुके है। और ब्रह्मवाद-आत्मवादके विरोधियोंका इतना प्राबल्य है कि यह अज्ञात उपनिषत्-कर्त्ता खंडनके भयसे भावात्मक विशेषणोंको न दे, “अदृष्ट”, “अव्यपदेश्य” आदि अभावात्मक विशेषणोंपर जोर देने लगा है। साथ ही वेदसे दूर रहनेसे वेदकी स्थिति निर्बल हो जानेके डरसे ओंकारको भी अपने दर्शनमे घुसानेका प्रयत्न कर रहा है। प्राचीन उपनिषदोंमें उपदेष्टा ऋषिका जिक्र ज़रूर आता है, किन्तु इन जैसी उपनिषदोंमें कर्त्ताका जिक्र न होना, उस युगके आरंभकी सूचना देता है, जब कि धर्मपोषक ग्रंथकारोका प्रारभ होता है। पहिले ऐसे ग्रथकार नामके बिना अपनी कृतियोंको इस अभिप्रायसे लिखते है कि अधिक प्रामाणिक और प्रतिष्ठित किसी ऋषिके नामसे उसे समझ लिया जायेगा। इसमे जब आगे कठिनाई होने लगी, तब मनुस्मृति, भगवद्गीता, पुराण जैसे ग्रंथ खास-खास महर्षियों और महापुरुषोके नामसे बनने लगे।

४. चतुर्थकालकी उपनिषदें (२००–१०० ई० पू०)

बुद्ध और उनके समकालीन दार्शनिकोंके विचारोंसे तुलना करनेपर समझना आसान होगा कि कौषीतकि, मैत्री तथा श्वेताश्वतर उपनिषदे बुद्धके पीछे की है, तो भी वह उन बरसाती मेढको जैसी उपनिषदोमे नही है, जिनकी भरमार हम पीछे ११२, और १५० उपनिषदोके रूपमे देखते है।

(१) कौषीतकि उपनिषद् (२०० ई० पू०)

कौषीतकि उपनिषद्, कौषीतकि ब्राह्मणका एक भाग है। इसके चार अध्याय है। **प्रथम** अध्यायमे छान्दोग्य, बृहदारण्यकमे वर्णित **पितृयान** और देवयानको विस्तारपूर्वक दुहराया गया है। **द्वितीय** अध्यायमे कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्क शृंगारके विचार स्फुट रूपमे उल्लिखित है। साथ ही कितनी ही पुत्र-धन आदिके पानेकी "युक्तियाँ" भी बतलाई गई है। **तृतीय** अध्यायमे ऋग्वेदीय राजा, तथा भरद्वाजके यजमान (वशिष्ठ, विश्वामित्रके यजमान सुदास्के पिता) दिवोदास्के वंशज (?) प्रतर्दनको इंद्रके लोकमे (सदेह) जानेकी बात तथा इद्रके साथ संवादका जिक्र है। इसमे अधिकतर इद्रकी अपनी करतूतोका वर्णन है, इसी वर्णनमे **प्राण** (=ब्रह्म)के बारेमे इन्द्रने बतलाया। **चतुर्थ** अध्यायमे गार्ग्य वालाकिका उशीनरमे घूमते हुए काशिराज अजात-शत्रुको ब्रह्मविद्या सिखानेके प्रयास, फिर अजातशत्रुके प्रश्नोसे निरुत्तर हो, उसके पास शिष्यता ग्रहण करनेकी बात है।

(क) **ब्रह्म**—प्रतर्दन राजाको इन्द्रने वर दिया और जिज्ञासा करने पर उसने आत्मप्रशंसा ('मुझे ही जान, इसीको मै मनुष्योंकेलिए हित-तम समझता हूँ") करके प्राण रूपी ब्रह्मके बारेमे कहा[1]—

"आयु (=जीवन) प्राण है, प्राण आयु है।. . . .प्राणोंकी सर्वश्रेष्ठता तो है ही। जीते (आदमी)मे वाणी न होनेपर गूँगोंको हम देखते है,. . .

---

[1] कौषीतकि ३।२–९

आँख न होनेपर अंधों. . ., कान न होनेपर बहरों . , मन (=बुद्धि) न होनेपर बालों (मूर्खों)को देखते हैं। जो प्राण है वह प्रज्ञा (=बुद्धि) है, जो प्रज्ञा है, वह प्राण है। ये दोनो एक साथ इस शरीरमे बसते है, साथ निकलते है।. . .जैसे जलती आगसे सभी दिशाओमे शिखाए स्थित होती है, उसी तरह इस आत्मासे प्राण अपने-अपने स्थानके अनुसार स्थित होते है, प्राणोसे देव, देवोसे लोक (स्थित होते है)। . . जैसे रथके अरोमे नेमि (=चक्केकी पुट्ठी) अर्पित होती है, नाभिमे अरे अर्पित होते है, इसी तरह यह भूत-मात्राए प्रज्ञा-मात्राओमे अर्पित है। प्रज्ञा-मात्राएं (चेतन तत्व) प्राणमे अर्पित है। सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनद अजर अमृत है। (यह) अच्छे कर्मसे बडा नही होता। बुरेसे छोटा नही होता।"

प्राण और प्रज्ञात्मा कौषीतकिका खास दर्शन है। प्राण की उपासना ज्ञानियोकेलिए सबसे बड़ा अग्निहोत्र है—[1]

"जब तक पुरुष बोलता है, तब तक प्राणन (साँस लेना) नही कर सकता, प्राणको (वह) उस समय वचन (=भाषण क्रिया)मे हवन करता है। जब तक पुरुष प्राणन करता है, तब तक बोल नही सकता, वाणीको उस समय प्राणमे हवन करता है। ये (प्राण और वचन) दोनो अनन्त, अमृत (=अविनाशी) आहुतियाँ है; (जिन्हे) जागते सोते वह सदा निरन्तर हवन करता है। जो दूसरी आहुतियाँ है, वह कर्मवाली अन्तवाली होती है इसीलिए पुराने विद्वान् (=ज्ञानी) अग्निहोत्र नही करते थे।"

(ख) जीव—जीवको कौषीतकिने **प्रज्ञात्मा** कहा है और वह उसे यावद्-शरीर-व्यापी मानता है[2]—

"जैसे छुरा छुरधान (=छुरा रखनेकी थैली)मे रहता है, या विश्वभर (चिड़िया) विश्वंभरके घोंसलोमे, इसी तरह यह प्रज्ञात्मा इस शरीरमे लोमों तक, नखों तक प्रविष्ट है।"

---

[1] कौ० २।५ [2] कौ० ५।२०

(२) मैत्री-उपनिषद्

(२००-१०० ई० पू०) मैत्री-उपनिषद्पर बुद्धकालीन शासक-समाज-के निराशावाद और वैराग्यका पूरा प्रभाव है, यह राजा वृहद्रथ के वचनसे मालूम होगा। और राजाका शाक्यायन राजाके पास जाना भी कुछ खास अर्थ रखता है, क्योकि शाक्यमुनि गौतम बुद्धको शाक्यायन बुद्ध भी कहा जा सकता है। मैत्रीके पहिले चार अध्याय ही दार्शनिक महत्त्वके है। आगेके तीनमे षडग-योग, भौतिकवादी दार्शनिक वृहस्पति और फलित ज्योतिषके शनि, राहु, केतुका जिक्र है। पहिले अध्यायमे वैराग्य ले राजा वृहद्रथ (शायद राजगृह मगधवाले) का शाक्यायनके पास जा अपने उद्धारकी प्रार्थना है। शाक्यायनने जो कुछ अपने गुरु मैत्रीसे सीखा था, उसे अगले तीनो अध्यायोमे बतलाया है। मैत्रीके दर्शनमे दो प्रकारकी आत्माओको माना गया है।—एक शुद्ध आत्मा, जो शरीरमे प्रादुर्भूत हो अपनी महिमासे प्रकाश-मान होती है। दूसरी भूत-आत्मा, जिसपर अच्छे बुरे कर्मोका प्रभाव होता है, और यही आवागमनमे आती है। शुद्धात्मा शरीरको वैसे ही सचालित करता है, जैसे कुम्हार चक्केको।

(क) वैराग्य—मैत्रीने वैराग्यके भाव प्रकट करते हुए कहा[1]—

"वृहद्रथ राजा पुत्रको राज्य दे इस शरीरको अनित्य मानते हुए वैराग्य-वान् हो जगलमे गया। वहाँ परम तपमे स्थित हो आदित्यपर आँख गडाये ऊर्ध्व-बाहु खडा रहा। हजार दिनोके बाद आत्मवेत्ता भगवान् शाक्या-यन आये, और राजासे बोले—"उठ उठ वर माँग।" . 'भगवन्! हड्डी, चमडा-नस-मज्जा-मास-शुक्र-(=वीर्य)-रक्त-कफ-आँसूसे दूषित, विष्टा-मूत्र-वात-पित्त-कफसे युक्त, नि सार और दुर्गंधवाले इस शरीरमें काम-उप-भोगोसे क्या? काम-क्रोध-लोभ-भय-विषाद-ईर्ष्या, प्रिय-वियोग-अप्रिय-सयोग-क्षुधा-प्यास-जरा-मृत्यु-रोग-शोक आदिसे पीडित इस शरीरमे काम-

---

[1] मैत्री १।१-७

उपभोगोसे क्या ? इस सवको मै नागमान देखता हूँ। ये डस, मच्छर ....तृण-वनस्पतियोंकी भाँति (सभी) पैदाहोने-नष्ट होनेवाले है; फिर क्या इनसे (लेना हैं) ?....(जहाँ) महासमुद्रोका सूखना, पहाडोका गिरना, ध्रुवका चलना....पृथिवीका डूवना, देवताओका हटना (होता है) इस तरहके इस संसारमे काम=भोगोसे क्या ?.. राजाने गाथा कही....'मै अवे कुएंमें पड़े मेढककी भाँति इस संसारमे (पडा हूँ); भगवन् तुम्ही हमारे वचानेवाले हो।"

इसे वुद्धके दु ख-वर्णनसे मिलाइये,[1] मालूम होता है उसे देखकर ही यह लिखा गया।

(ख) आत्मा—वालखिल्योने प्रजापतिसे आत्माके वारेमे प्रश्न किया।[2]

"भगवन् ! शकट (=गाडी) की भाँति यह शरीर अचेतन है। . भगवन् ! जिसे इसका प्रेरक जानते है, उसे हमें वतलावे।' उन्होने कहा—'जो (यहाँ) शुद्ध... शान्त... शाश्वत, अजन्मा, स्वतत्र अपनी महिमामे स्थित है, उसके द्वारा यह शरीर चेतनकी भाँति स्थित है।"

उस आत्माका स्वरूप[3]—

"शरीरके एक भागमे अँगूठेके वरावर अणु (=सूक्ष्म) से भी अणु (इस आत्माको) ध्यान कर (पुरुष) परमता (=परमपद) को प्राप्त करता है।"

(३) श्वेताश्वतर (२००-१०० ई० पू०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् तेरह उपनिषदोंमे सवसे पीछेकी ही नही है, वल्कि उसमे पहुँचकर हम भाषा-भाव सभी वातोमे शैव आदि सम्प्रदायोंके जमानेमे चले आते है। रुद्र (=शिव) की महिमा, साख्य-दर्शनके प्रकृति, पुरुष (=जीव) मे ईश्वरको जोड़ त्रैतवाद तथा योग उसके खास विषय है। इसके छोटे-छोटे छै अध्याय हैं जो सभी पद्यमय है। प्रथम अध्यायमे

---

[1] देखिए पृष्ठ ५०२-३ [2] मै० २।३-४ [3] मै० ६।३८

अद्वैत ब्रह्मके स्थानपर त्रैतवाद—जीव, ईश्वर, प्रकृति—का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अध्यायमे योगका वर्णन है। तृतीय अध्यायमे जीवात्मा और परमात्मा तथा साथ ही शैव सम्प्रदाय और द्वैतवादके बारेमे कहा गया है। इसके बहुतसे श्लोकोको शब्दश या भावत पीछे भगवद्गीतामे ले लिया गया है। चतुर्थ अध्यायमे त्रैतवाद और ज्ञानकी प्रधानता है। पंचम अध्यायमे कपिल ऋषि तथा जीवात्माके स्वरूपका वर्णन है। षष्ठ अध्यायमे त्रैतवाद, सृष्टि, ब्रह्म-ज्ञान आदिका जिक्र है।

"जो पहिले (पुराने समयमें) उत्पन्न कपिल ऋषिको ज्ञानोंके साथ धारण करता है।"[1]—इससे मालूम होता है, बुद्धसे कुछ समय बाद पैदा हुए साख्यके सस्थापक कपिलसे बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी। पुरानी उप-निषदो (७००-६०० ई० पू०)से बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी, इसे वह स्वयं उस उद्धरणमे स्वीकार करती है, जिसमे कि छान्दोग्यके ज्येष्ठ पुत्र और प्रिय शिर्ष्यके सिवा दूसरेको उपनिषद्ज्ञानको न बतलानेकी बात[2] को पुराकल्प (=पुराने युग)की बातकहा गया है—

"पुराने युगमें वेदान्तमे (यह) परम गुह्य (ज्ञान) कहा गया था, उसे न अ-प्रशान्त (व्यक्ति)को देना चाहिए, और (न उसे जो कि) न (अपना) पुत्र और शिष्य है।"

(क) जीव-ईश्वर-प्रकृतिवाद—मुडक बुद्धकालीन परिव्राजकोका उपनिषद् है, यह कह चुके है और यह भी कि उसमे त्रैतवादकी स्पष्ट झलक है।[3] नीचे हम **श्वेताश्वतर** (=सफेद-खच्चर)से इस विषयके कितने ही वाक्य उद्धृत करते है। इनकी प्रचुरतासे मालूम होता है, कि इसके गुमनाम लेखककी मुख्य मशा ही त्रैतवाद-प्रतिपादन करना था।

"उस ब्रह्मचक्रमे हंस (=जीव) घूमता है। प्रेरक पृथग्-आत्मा (=ब्रह्म)का ज्ञान करके फिर उस (=ब्रह्म)से युक्त हो अमृतत्व (=मुक्ति)को प्राप्त करता है।"[4]

---

[1] श्वे० ५।२ [2] छां० ३।११।६ [3] मुंडक ३।१।१ [4] श्वे० १।६

"ज्ञ (=ज्ञानी, ब्रह्म) और अज्ञ (=जीव) दोनो अजन्मा है, जिनमेंसे एक ईश, (दूसरा) अनीश (=पराधीन) है। एक अजा (=जन्मरहित प्रकृति है, जो कि) भोक्ता (=जीव)के भोगवाले पदार्थोंसे युक्त है। आत्मा (=ब्रह्म) अनन्त, नानारूप, अकर्त्ता है। तीनोको लेकर यह ब्रह्म है? क्षर (=नाशमान) **प्रधान** (=**प्रकृति**) है; अमृत, अक्षर (=अविनाशी) हर है। क्षर और (जीव-) आत्मा (दोनो) पर एक देव (=ईश्वर) शासन करता है।. . .सदा (जीव-)आत्मामें स्थित वह (=ब्रह्म) जानने योग्य है। इससे परे कुछ भी जानने लायक नही है। भोक्ता (=जीव), भोग्य (=प्रकृति), प्रेरिता (=ब्रह्म)को जानना; यह सारा त्रिविध ब्रह्म कहा गया।"[1]

"लाल-सफेद-काली एक रूपवाली वहुतसी प्रजाओंको सृजन करती एक अ-जा (=प्रकृति)मे एक अज (=जीव) भोग करते हुए आसक्त है, (किन्तु) इस भुक्त भोगो वाली (प्रकृति)को दूसरा (=ब्रह्म) छोडता है। दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीव, ईश्वर) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे हैं। उनमेंसे एक फलको चखता है, दूसरा न खाते हुए चारो ओर प्रकाशता है।. . .मायी (=मायावाला ईश्वर) इस विश्वको सृजता है, उसमे दूसरा मायासे वँधा हुआ है। **प्रकृतिको माया जानो, और महेश्वरको मायी।**"[2]

"नित्यो (वहुतसे जीवों)के बीच (एक) नित्य, चेतनोके बीच एक चेतन जो (कि) वहुतोंकी कामनाओंको (पूरा) करता है। प्रधान और क्षेत्रज्ञ (जीव)का स्वामी गुणोका ईश ससारसे मोक्ष, स्थिति, बंधनका (जो) हेतु है।"[3]

श्वेताश्वतरकी भगवद्गीता[4]से तुलना करनेपर साफ जाहिर होता है, कि गीताके कर्त्ताके सामने यह उपनिषद् मौजूद ही नही थी, बल्कि इस प्रथम प्रयाससे उसने लाभ उठाया, रचनाके ढग को लिया,

---

[1] श्वे० १।९-१२ [2] श्वे० ४।५-१० [3] श्वे० ६।१३-१६

[4] मिलाओ भगवद्गीता, अध्याय १२, १३, १५

तथा बेनाम न रख वासुदेव कृष्णके नाम उसे थोपने द्वारा बडी चतुराई दिखलाई। जान पडता है उसका अभिप्राय था शैवोके मुकाबिलेमे वैष्णवों का भी एक जबरदस्त ग्रथ—गीतोपनिषत्—तैयार करना। यद्यपि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दीके आस-पास समाप्त होनेवाले श्वेताश्वतरसे चार-पाँच सदियाँ पिछडकर आनेसे उसने देरी जरूर की, किंतु गीताकी जन-प्रियता बतलाती है, कि गीताकार अपने उद्देश्यमे सफल जरूर हुआ और उत्तरी भारतमे पुराने वैष्णवोको प्रधानता दिलाने मे सफल हुआ।

(ख) **शैववाद**—श्वेताश्वतरके त्रैतवादमे ईश्वर या ब्रह्मको शिव, रुद्र या महेश्वर—हिन्दुओंके तीन प्रधान देवताओमेसे एक—को लिया गया है।

"एक ही रुद्र है . . .जो कि इन लोकोपर अपनी ईशनी (=प्रभुताओ) से शासन करता है।"[1]

"मायाको प्रकृति जानो, मायीको महेश्वर।"[2]

"सारे भूतो (प्राणियो)मे छिपे शिवको . जानकर (जीव) सारे फदोसे मुक्त होता है।"[3]

(ग) **ब्रह्म**—ब्रह्मसे इस शैव-उपनिषदका अर्थ उसका इष्टदेवता शिव से है। ब्रह्मके रूपके वर्णनमे यहाँ भी पुराने उपनिषदोका आश्रय लिया गया है, यद्यपि वह कितनी ही जगह ज्यादा स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

"जिस (=ब्रह्म)से न परे न उरे कुछ भी है,न जिससे सूक्ष्मतम या महत्तम कोई है। द्युलोकमें वृक्षकी भाँति निश्चल (वह) एक खडा है, उस पुरुषसे यह सब (जगत्) पूर्ण है।"[4]

[5]"जिससे यह सारा (विश्व) नित्य ही ढँका है, जो कालका काल, गुणी और सर्ववेत्ता है, उसीसे संचालित कर्म (=क्रिया) यहाँ पृथिवी, जल, तेज, सारेका उद्‌घाटन (=सृजन) करता है . .। । वह ईश्वरोंका परम-महेश्वर, देवताओंका परम-देवता, पतियो (=पशुपतियो)का परम-

---

[1] श्वे० ३।२ [2] श्वे० ६।१० [3] श्वे० ४।१६
[4] श्वे० ३।६ [5] श्वे० ६।२-१८

(पति) है। पूज्य भुवनेश्वर (उस) देवको हम जाने। उसका कार्य और कारण (कोई) नही है, न कोई उसके समान या अधिक है . . । जो ब्रह्मको पहिले बनाता है और जो उसे वेदोंको देता है ।. . . ."

(घ) जीवात्मा—जीवात्माका वर्णन त्रैतवादमे कर चुके है। लेकिन श्वेताश्वतर जीवात्माको ईश्वरसे अलग करनेपर तुला हुआ है। तो भी पुरानी उपनिषदोके ब्रह्म-अद्वैतवादको वह इन्कार करनेकी हिम्मत नही कर सकता था, इसीलिए "त्रयं. . ब्रह्ममेतत्"[1] (=तीन. यह ब्रह्म है), "त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"[2] मे जीव, ईश्वर, प्रकृति—तीनोको—ब्रह्म कहकर संगति करनी चाही है। जीवमें कोई लिंग-भेद नही—

"न वह स्त्री है न. . .पुरुष, और न वह नपुंसक ही है। जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है, उसी-उसीके साथ जोड़ा जाता है।"[3]

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, और उसका परिमाण है—

"बालकी नोकके सौवे हिस्सेका और सौ (हिस्सा) किया जावे, तो इस भागको जीव(के समान) जानना चाहिए।"[4]

(ङ) सृष्टि—सृष्टिकेलिए श्वेताश्वतरने भी मकडीका दृष्टान्त दिया, किन्तु और उपनिषदोकी भाँति ब्रह्मके उपादान-कारण होनेका सन्देह न हो, इसे साफ करते हुए—

"जिसे एक देव मकडीकी भाँति प्रधान (=प्रकृति)से उत्पन्न तंतुओ द्वारा स्वभावसे (विश्वको) आच्छादित करता है।"[5]

(च) मुक्ति—मुक्तिके लिए श्वेताश्वतरका जोर ज्ञानपर है; यद्यपि "मै मुमुक्षु उस देवकी शरण.. .लेता हूँ।"[6]—वाक्यमे भगवद्गीताके लिए शरणागति-धर्म (=प्रपत्ति)का रास्ता भी खोल रखा है। शरणागति जो भागवतो (=वैष्णवो)के पंचरात्र-आगमकी भाँति शायद तत्कालीन शैव-आगमोमे भी रही है। वैसे भी भेदवादी ईश्वरवाद शरणागति-धर्मकी

[1] श्वेता० १।९ [2] श्वे० १।१२. [3] श्वे० ५।१०
[4] श्वे० ५।९। [5] श्वे० ६।१० [6] श्वे० ६।१८

ही ओर ले जाता है। तो भी अभी "मत शोचकर सारे धर्मोको छोड़ अकेले मेरी शरणमे आ, मै तुझे सारे पापोसे मुक्त कराऊँगा।"[1] बहुत दूर था, इसीलिए—

"देवको जानकर सारे फदोसे छूट जाता है।"[2]

"जब मनुष्य चमडेकी भाँति आकाशको लपेट सकेगे, तभी देवको बिना जाने दुखका अन्त होगा।"[3]

(ख) योग—योगका वेदमे नाम नही है। पुरानी उपनिषदोमे भी योगसे जो अर्थ आज हम लेते है, उसका पता नही है। श्वेताश्वतरमे हम स्पष्ट योगका वर्णन पाते है। उसके पहिले इसका वर्णन बुद्धके उपदेशोमे भी मिलता है। जिस साख्य योगका समन्वय पीछे भगवद्‌गीतामे किया गया, उसकी नीव पहिले-पहिल श्वेताश्वतर ही ने डाली थी। पुरुष, प्रकृति ही नही कपिल ऋषि तकका उसने जिक्र किया, हाँ, निरीश्वर साख्यको सेश्वर बना कर। इस बातका इस्तेमाल भगवद्‌गीताने भी बहुत सफाईके साथ किया, और सेश्वर साख्य तथा योग को एक कहकर घोषित किया—
"मूर्ख ही साख्य और योग को अलग-अलग बतलाते है।"[4]

श्वेताश्वतरकी योग-विधिको गीताने भी लिया है।—

"तीन जगहसे शरीरको समान उन्नत स्थापित कर हृदयमे मनसे इन्द्रियोको रोककर, ब्रह्मरूपी नाव से विद्वान् (=ज्ञानी) सभी भयावह धारोको पार करे। चेष्टामे तत्पर हो प्राणोको रोक, उनके क्षीण होनेपर नासिकासे श्वास ले। दुष्ट घोडेवाले यानकी भाँति इस मनको विद्वान् बिना गाफिल हुए धारण करे। समतल, पवित्र, कंकडी-आग-वालुका-रहित, शब्द-जलाश्रय आदि द्वारा मनको अनुकूल—किन्तु आँखको न खीचनेवाले गुहा-सुन-सान स्थानमे (योगका) प्रयोग करे। योगमे ब्रह्मकी अभिव्यक्ति करानेवाले ये रूप पहिले आते है—'कुहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू,

---

[1] भगवद्‌गीता [2] श्वे० १।८; २।१५; ४।१६ [3] श्वे० ६।२०
[4] भगवद्‌गीता—"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।"

बिजली, बिल्लोर और चन्द्रमा ।'....योग-गुणोंके चालित हो जानेपर उस योगाग्निमय शरीरवाले योगीको न रोग, न बुढापा, न मृत्यु होती है। (शरीरमे) हलकापन, आरोग्य, निर्लोभता, रंगमे स्वच्छता, स्वरमे मधुरता, अच्छी गंध, मल-मूत्र कम, योगकी पहिली अवस्थामे (दीखते)। ....दीपकी भाँति (योग-) युक्त हो जब आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको देखता है; (तब) सारे तत्त्वोसे विशुद्ध अजन्मा ध्रुव (=नित्य) देवको जान सारे फंदोसे मुक्त हो जाता है।"[1]

(ब) गुरुवाद्—मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए ज्ञान और योग जैसे आवश्यक है, वैसे ही गुरु भी अनिवार्य है—पुराने उपनिषदो और वेदके आचार्योकी भाँति अध्यापनशिक्षण करनेवाले गुरु नही, बल्कि ऐसे गुरु जो कि ईश्वरसे दूसरे नंबरपर है—

"जिसकी देवमे परम भक्ति है, जैसी देवमे वैसी ही गुरुमें (भी भक्ति है), उसी महात्माके कहनेपर ये अर्थ (=परमार्थतत्त्व) प्रकाशित होते है।"[2]

ग. उपनिषद्के प्रमुख दार्शनिक

जिन उपनिषदोका हम जिक्र कर आए है, इनमे छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, मैत्रीमे ही ऐतिहासिक नाम मिलते है। इनमे भी जिन ऋषियोंके नाम आते है, उनमे और प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल ही वह व्यक्ति है, जिनके बारेमे कहा जा सकता है कि उपनिषद्के दर्शनकी मौलिक कल्पनामे इनका विशेष हाथ था। ऋग्वेदकालमें भी कुरु-पचाल (=मेरठ-आगरा-रुहेलखंडकी कमिश्नरियाँ) वैदिक आर्यो-का प्रधान कर्मक्षेत्र था। यही भरद्वाजके यजमान राजा दिवोदास्का समृद्धशाली शासन था। यही उसके पुत्र सुदास्ने पहिले वशिष्ठ और पीछे विश्वामित्रको पुरोहित बना अनेक याग कराये, और पश्चिमके दश राज्योको पराजित कर् पजाबमे भी सतलज-व्यास तक अपना राज्य

---

[1] श्वे० २।८-१५ [2] श्वे० ६।२३

फैलाया। उपनिषद्कालमे वेदकी इसी भूमिको हम फिर नये विचारक पैदा करते देखते हैं। उद्दालक आरुणि कुरु पंचालका ब्राह्मण था, यह शतपथ ब्राह्मणसे[1] मालूम होता है। जनककी जिस परिषद्मे विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करके याज्ञवल्क्यने विजय प्राप्त की थी, उसमे मुख्यत कुरु-पचालके विद्वान् मौजूद थे।[2] याज्ञवल्क्यके समयसे दो शताब्दी बाद बुद्धके समयमे भी इसी भूमिमे उन्होने "महासत्तिपट्ठानसुत्त" और "महानिदानसुत्त"[3] जैसे दार्शनिक उपदेश दिये थे, जिसका कारण बतलाते हुए अट्ठकथाकार कहते हैं—"कुरु देश-वासी . देशके अनुकूल ऋतुआदि-युक्त होनेसे हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं। चित्त और शरीरके स्वस्थ होनेसे प्रज्ञा-बलयुक्त हो गभीर कथाके ग्रहण करनेमे समर्थ होते है। . भगवान् (=बुद्ध)ने कुरु-देश-वासी परिषद्को पा गभीर देशनाका उपदेश किया। . . (इस देशमे) दास और कर्मकर, नौकर-चाकर भी स्मृति-प्रस्थान (=ध्यानयोग)-संबधी कथाहीको कहते हैं। पनघट और सूत कातनेके स्थान आदिमे भी व्यर्थकी बात नही होती। यदि कोई स्त्री—'अम्म! तू किस स्मृति-प्रस्थानकी भावना करती है?' पूछनेपर 'कोई नही', बोलती है; तो उसको धिक्कारती है'—'धिक्कार है तेरी जिन्दगीको, तू जीती भी मुर्देके समान है।"[4]

त्रिपिटककी यह अट्ठकथाए ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीमे भारतसे सिंहल गई परंपराके आधारपर ईसवी चौथी सदीमे लेखबद्ध हुई थी।

उपनिषद्के दार्शनिक विकासको दिखलानेकेलिए यहाँ हम उपनिषद्के कुछ प्रधान दार्शनिकोके विचारोको देते हैं।

---

[1] शत० १।४।१२

[2] बृह० ३।१।१ "तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः।"

[3] दीघनिकाय २।१; २।२२

[4] दीघनिकाय-अट्ठकथा—"महासतिपट्ठानसुत्त" (देखो मेरी "बुद्ध-चर्या", पृष्ठ ११८)

१. प्रवाहण जैवलि (७००—६५० ई० पू०)

आरुणिका समय अपने शिष्य याज्ञवल्क्य (६५० ई०)से थोडा पहिले होगा और आरुणिका गुरु होनेसे प्रवाहण जैवलिको हम उससे कुछ और पहिले ले जा सकते है। वह पचालके राजा थे, और सामवेदके उद्गीथ (-गान)मे अपने समयके तीन मशहूर गवैयो[1]—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्म्य, और प्रवाहण जैवलि—मे एक थे। प्रवाहण क्षत्रिय थे यह अपने दो समकक्षोके कहनेपर उनकी इस बातसे मालूम होता है—"आप (दोनो) भगवान् बोले, बोलते (दोनो) ब्राह्मणोकी बचनको मै सुनूँगा।"[2] जैवलिके प्रश्नोका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुका अपने पिता आरुणि के पास गुस्सेमे जैवलिको राजन्यबन्धु[3] कहकर ताना देना भी उनके क्षत्रिय राजा होनेको साबित करता है।

(दार्शनिक विचार)—जैवलिके विचार छान्दोग्यमे दो जगह और बृहदारण्यकमे एक जगह मिलते है, जिनमे एक तो छान्दोग्य[4] और बृहदारण्यक[5] दोनो जगह आया है[6]—

"श्वेतकेतु आरुणेय पचालोकी समितिमे गया। उससे (राजा) प्रवाहण जैवलिने पूछा—कुमार! क्या पिताने तुझे अनुशासन (=शिक्षण) किया है?"

'हाँ भगवन्!'

'जानते हो कि यहाँसे प्रजाए (=प्राणी) कहाँ जाती है?'

'नही भगवन्!'

'जानते हो, कि कैसे यहाँ लौटती है?'

'नही भगवन्!'

'जानते हो, देवयानके पथको और पितृयाणसे लौटने को?'

'नही भगवन्!'

'जानते हो, क्यों वह लोक नही भर जाता?'

---

[1] छां० १।८।१ [2] वही। [3] बृह० ६।२।३; छां० ५।३।५

[4] छां० १।८।३ [5] छां० ५।३।१ [6] बृह० ६।२।१

'नही भगवन् !'

'जानते हो, क्यो पाँचवी आहुतिमे जल पुरुष-नाम वाला हो जाता है ?'

'नही, भगवन् !'

'तो कैसे तुम (अपनेको) अनुशासन किया (पठित) बतलाते हो ? जो इन (बातो)को नही जानता, कैसे वह (अपनेको) अनुशिष्ट बतलायेगा !'

(तब) खिन्न हो वह अपने पिताके पास आया,—और बोला—

'बिना अनुशासन किये ही भगवान्ने मुझे कहा—तुझे मैंने अनुशासन कर दिया। राजन्यबन्धु (=प्रवाहण)ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, उनमेसे एकका भी उत्तर मै नही दे सका।'

'जैसा तूने इन (प्रश्नो)को बतलाया, मै उनमेसे एकको भी नही जानता। यदि मै इन्हे जानता, तो क्यो न तुझे बतलाता ?'

"तब गौतम (आरुणि) राजाके पास गया। उसके पहुँचनेपर (जैवलि) ने उसका सम्मान किया। दूसरे दिन (आरुणि गौतम) से पूछा—

'भगवन् गौतम ! मानुष वित्तका वर माँगो।'

"उसने कहा—'मानुष वित्त तेरे ही पास रहे। जो कुमार (श्वेतकेतु)से बात कही उसे मुझसे भी कह।'

"वह (जैवलि) मुश्किलमे पड गया। फिर आज्ञा दी 'चिरकाल तक वास करो। जैसा कि तुमने गौतम ! मुझसे कहा। (किन्तु) चूँकि यह विद्या तुमसे पहिले ब्राह्मणोके पास नही गई, इसीलिए सारे लोकोमें क्षत्रियका ही प्रशासन (=शासन) हुआ था।' पीछे पाँचवी आहुति में कैसे वह पुरुष नाम वाली होती है, इसे समझाते हुए जैवलिने कहा—

"गौतम ! वह (नक्षत्र) लोक अग्नि है, उसकी आदित्य ही समिधा (इंधन) है, (आदित्य-) रश्मियाँ धूम है, दिन किरण, चद्रमा अगार, और नक्षत्र शिखाएं है। इस अग्निमे देव श्रद्धाका हवन करते है, उस आहुतिसे सोम राजा पैदा होता है।

"पर्जन्य अग्नि है . वायु समिधा, अभ्र (=बादल) धूम, विजली किरण, अशनि (=चमक) अगार, ह्लादुनि (=कडक) शिखाए। इस

अग्निमे देव सोमराजाको हवन करते है, उस आहुतिसे वर्षा होती है।"

इसी तरह आगे भी बतलाया। इस सारे उपदेशको कोष्ठक-चित्रमे देने पर इस प्रकार होगा—

अग्नि	समिधा	धूम	किरण	अंगार	शिखा	आहुति	फल
१. (नक्षत्र) लोक	आदित्य	रश्मि	दिन	चंद्रमा	नक्षत्र	श्रद्धा	सोम
२. पर्जन्य	वायु	अभ्र	विद्युत्	अशनि	ह्लादुनि	सोम	वर्षा
३. पृथिवी	संवत्सर	आकाश	रात्रि	दिशा	अंतर्दिशा	वर्षा	अन्न
४. पुरुष	वाणी	प्राण	जिह्वा	चक्षु	श्रोत्र	अन्न	वीर्य
५. स्त्री	उपस्थ	प्रेमाह्वान	योनि	अन्त. प्रवेश	मैथुनसुख	वीर्य	गर्भ

" 'इस प्रकार पाँचवी आहुतिमे जल पुरुषनामवाला (=पुरुष कहा जाने वाला) होता है। झिल्लीमे लिपटा वह गर्भ दस या नौ मासके बाद (उदरमें) लेटकर जन्मता है। जन्म ले आयु भर जीता है। मरनेपर अग्नियाँ ही उसे यहाँसे वहाँ ले जाती है, जहाँसे (आकर) कि वह (यहाँ) पैदा हुआ था।' "

आगे ब्रह्मविद्याके जाननेवाले साधककेलिए, देवयानका रास्ता प्राप्त होता है, यह बतलाया गया है।

छान्दोग्यके इसी संवादको बृहदारण्यकने भी दुहराया है। हाँ, जैवलिने आरुणिको जिन मानुष-वित्तोंके देनेका प्रलोभन दिया, उनकी यहाँ गणना भी की गई है—हाथी, सोना, गाय घोड़े, प्रवर दासियाँ, परिधान (=वस्त्र)। यह विद्या आरुणिसे पहिले 'किसी ब्राह्मणमे नहीं बसी' पर यहाँ भी जोर दिया गया। पंचाहुति, फिर देवयान, पितृयाण और पितृयाणसे लौटकर फिर इस लोकमे छान्दोग्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि योनियों और बृहदारण्यकके अनुसार कीट-पतंग आदिमें भी जन्म लेना। यह खूब स्मरण रखनेकी बात है, कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त ब्राह्मणोंका नहीं

क्षत्रियों (=शासकों)का गढा हुआ है, और तब इसके भीतर छिपा रहस्य आसानीसे समझमें आ सकता है ।

२–उद्दालक आरुणि गौतम (६५० ई० पू०)

आरुणि शतपथके अनुसार कुरु-पंचालके ब्राह्मण थे ।[1] पचालराज प्रवाहण जैवलिके पास देर तक शिष्य रह, इन्होंने उनसे पचाग्नि विद्या, देव-यान, पितृयाण (=पुनर्जन्म) तत्त्व की शिक्षा ग्रहण की थी, इसे हम अभी बतला चुके हैं। आगेके उद्धरणसे यह भी मालूम होगा, कि इन्होंने राजा अश्वपति कैकय तथा (राजा ?) चित्र गार्ग्यायणिसे भी दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की थी। वृहदारण्यक[2]के अनुसार याज्ञवल्क्य आरुणिके शिष्य थे, किन्तु साथ ही जनककी परिषद्में उद्दालक आरुणिका याज्ञवल्क्यके साथ शास्त्रार्थ होना[3] प्रमाद पाठ है यह हम बतला चुके हैं। इस तरह आरुणि-की शिष्य-परपरा है—(क)
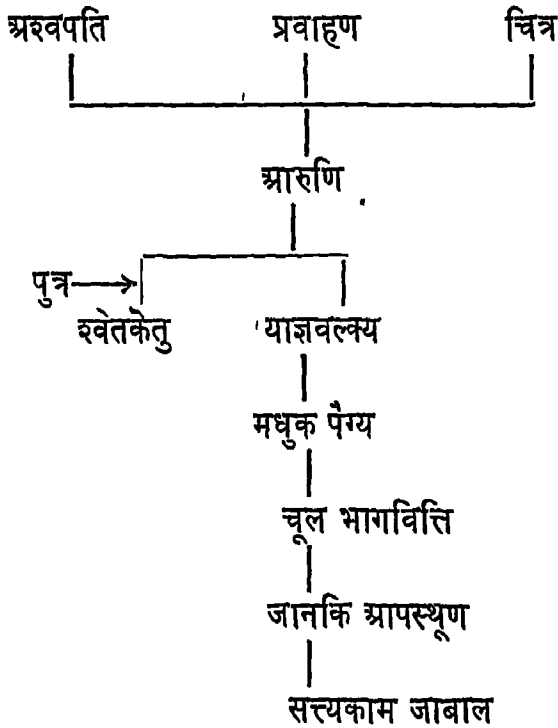
[1] शतपथ १।४।१२ [2] बृह० ६।३।७ [3] बृह० ३।७।१

(ख) और याज्ञवल्क्यके समकालीन प्रतिद्वद्वी, साथी या शिष्य है[1]—

१. याज्ञवल्क्य, २. जनक वैदेह, ३ जारत्कारव आर्त्तभाग ४. भुज्यु लाह्यायनि. ५. उषीस्त चाक्रायण, ६ कहोल कौषीतकेय ७ गार्गी वाचक्नवी ८ विदग्ध साकल्य

(ग) जनक वैदेहके साथ बात करनेवालोमे हम निम्न नाम पाते है[2]—

९. जित्वा शैलिनि, १० उदङ्क शौल्वायन, ११ वर्कु वार्ष्ण, १२. गर्दभीविपीत भारद्वाज १३. सत्यकाम जाबाल।

इन तीनो सूचियोके मिलानेसे सत्यकाम जाबाल और उद्दालक आरुणिके सबधोमे गडबडी मालूम होती है—(क)मे उद्दालक आरुणि (श्वेतकेतुका पिता) याज्ञवल्क्यके गुरु है, लेकिन (ख)मे वह जनककी सभामे उनके प्रतिद्वद्वी। इसी तरह (क)मे सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परपरामे पाँचवे है, किन्तु (ग)मे वह जनक विदेहके उपदेशक रह चुके है। वशावली-की अपेक्षा सवादके समय कहा गया सबध यदि अधिक शुद्ध मान लिया जाये, तो मानना पडेगा कि सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परपरामे नही बल्कि समकालीन थे। यद्यपि दोनो उद्दालक आरुणियोंके गौतम होनेसे वहाँ दो व्यक्तियोकी कल्पना स्वाभाविक नही मालूम होती, साथ ही आरुणिके सर्वप्रथम क्षत्रियसे पचाग्नि विद्या, देवयान, पितृयाणकी शिक्षा पानेवाले प्रथम ब्राह्मण होनेसे आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ज्यादा स्वाभाविक मालूम होता है, और यहाँ सवादमे आरुणिको याज्ञवल्क्यका प्रतिद्वद्वी बतलाया गया है। लेकिन, जब हम सवादोंकी सख्या और क्रमको देखते है, तो मालूम होता है कि परिषद्मे सभी प्रतिद्वद्वियोके सवाद एक जगह आये है, सिर्फ गार्गी वाचक्नवी ही वहाँ एक ऐसी प्रतिद्वद्वी है, जिसके सवाद दो बार आये है, और दोनो सवादोके बीच आरुणिका सवाद मिलता है। यद्यपि इसमे भीतर रह ब्रह्मके संचालन (=अन्तर्यामिता)की महत्त्वपूर्ण बात है,

---

[1] बृह० ३।१-७ [2] बृह० ४।१

इसलिए उसकी उपेक्षा नही की जा सकती, तो भी आरुणिको बीचमे डालकर गार्गीके सवादको दो टुकडेमे बॉटनेका कोई कारण नही मालूम होता। आखिर, क्या वजह जब सभी वक्ता एक-एक बार बोलते है, तो गार्गी दो बार बोलने गई। फिर पतचेल काप्यकी भार्यापर आये भूतका जिक्र भुज्युने[1] पहिले अपने नामसे कहा है, अब उसे ही आरुणि भी दुहरा रहा है, यह भी हमारे सन्देहको पुष्ट करता है और एक बार गार्गीके चुप हो जानेपर निगृहीत व्यक्तिका फिर बोलना उस वक्तकी वाद-प्रथाके भी विरुद्ध था। इस तरह आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ही ठीक मालूम होता है।

दार्शनिक विचार—

(१) **आरुणि जैवलिकी शिष्यतामें**—आरुणिको पंचालराज जैवलिने पचम आहुति तथा देवयान-पितृयानका उपदेश दिया था, इसका जिक्र हम कर चुके है। छान्दोग्यमे एक जगह और आरुणिका आचार्य नही शिष्यके तौरपर जिक्र आया है[2]—

"प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्त्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य, बुडिल अश्वतारश्वि—इन हमाशालो (=प्रतापी) महा-श्रोत्रियो (=महावेदज्ञो)ने एकत्रित हो विचार किया—'क्या आत्मा है, क्या ब्रह्म है।' उन्होने सोचा—भगवानो! 'यह उद्दालक आरुणि इस वक्त **वैश्वानर आत्मा** की उपासना करता है, उसके पास (चलो) हम चले।' वह उसके पास गये। उस (=आरुणि)ने सोचा (=सपादन किया)—'ये महाशाल महाश्रोत्रिय मुझसे प्रश्न करेंगे, उन्हे सब नही समझा सकूँगा। अच्छा! मै दूसरेका (नाम) बतलाऊँ।' (और) उनसे कहा—'भगवानो! यह अश्वपति कैकय इस वक्त इस वैश्वानर आत्माका अध्ययन करता है, (चलो) उसीके पास हम चले।' वे उसके पास गये। आनेपर उसने उनकी पूजा (=सन्मान) की। (फिर) उसने सवेरे (उनसे) कहा—

---

[1] बृह० ३।३।१　　[2] छां० ५।११

'न मेरे देश (जनपद) मे चोर है, न कजूस, न शरावी, न अग्निहोत्र न करने वाला, न अ-विद्वान्; न स्वैरी है, (फिर) स्वैरिणी (=व्यभिचारिणी) कहाँसे ? मै यज्ञ कर रहा हूँ, जितना एक-एक ऋत्विजको धन दूँगा, उतना (आप) भगवानोको भी दूँगा। वसो भगवानो !'

"उन्होने कहा—'जिस प्रयोजनसे मनुष्य चले, उसीको कहे। वैश्वानर आत्माको तुम इस वक्त अध्ययन कर रहे हो, उसे ही हमे वतलाओ।'

"उसने कहा—'सवेरे आपलोगोंको वतलाऊँगा।'

"वे (शिष्यता-सूचक) समिधा हाथमे लिए पूर्वाह्णमे (उसके) पास गये। उसने उनका उपनयन किये (=शिष्यता स्वीकार कराये) विना कहा—

'औपमन्यव ! तू किस आत्माकी उपासना कर रहा है ?'

'द्यौ (=नक्षत्रलोक) की भगवन् राजन् !'

'वह सुन्दर तेजवाला वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तू उपासना करता है, इसलिए तेरे कुलमे सुत (=सन्तान), प्र-सुत, आ-सुत दिखाई देते है, तू अन्न भोजन करता है, प्रियको देखता है। जो ऐसे इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, उसके कुलमे ब्रह्मतेज रहता है। यह आत्माका शिर है।....शिर तेरा गिर जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।'

"तव सत्ययज्ञ पौलुषिसे वोला—'प्राचीनयोग्य ! तू किस आत्माकी उपासना करता है ?'

'आदित्यकी ही भगवन् राजन् !'

'यही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तु उपासना करता है। इसलिए तेरे कुलमें विश्वरूप दिखलाई देते है—ऊपरसे ढँका खचरीका रथ, दासी, निष्क (=अशर्फी) . .तू अन्न खाता....यह आत्माका नेत्र है। ..अन्धा हो जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।'

"तव इन्द्रद्युम्न भाल्लवेयसे वोला—'वैयाघ्रपद्य ! तू किस आत्माकी उपासना करता है ?'

'वायुकी ही भगवन् राजन् !'

'यही पृथग् वर्त्म (=अलग रास्तेवाला) वैश्वानर आत्मा है . । इसीलिए तेरे पास अलग (अलगसे) बलियाँ आती है, अलग (अलग) रथकी पक्तियाँ अनुगमन करती हैं.... ।'

"तब जन शार्कराक्ष्यसे पूछा—'तू किस... ?'

'आकाशाकी ही भगवन् राजन् !'

'यही बहुल वैश्वानर आत्मा है ।... इसलिए तू प्रजा (=सन्तान) और धनसे बहुबल है.... ।'

"तब बुडिल अश्वताराश्विसे बोला—'वैयाघ्रपद्य !... ?'

'जलकी ही.. . ।'

'यही रयि वैश्वानर आत्मा है ।. ..इसीलिए तू रयिमान् (=धनी) पुष्टिमान् है ।... ।'

"तब उद्दालक आरुणिसे बोला—'गौतम.... ?'

'पृथिवीकी ही भगवन् राजन् !'

'यही प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है ।....इसीलिए तू प्रजा और पशुओंसे प्रतिष्ठित है ।. . ।'

'(फिर) उन (सब)से बोला—तुम सब वैश्वानर आत्माको पृथक्की तरह जानते अन्न खाते हो । . .इस वैश्वानर आत्माका शिर ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मा है. ।'"

यहाँ इस सवादमे आरुणिने अपनेको पृथिवीको वैश्वानर आत्मा (=जगत्-शरीरी आत्मा)के तौरपर अध्ययन करनेवाला वतलाया गया है; और अश्वपतिने उसे एकाशिक कहा ।'

(२) आरुणि गार्ग्यायणिकी शिष्यतामें—आरुणि मालूम होता है, क्षत्रियोसे दार्शनिक ज्ञान सग्रह करनेमे ब्राह्मणोके एक जवर्दस्त प्रतिनिधि थे । उनकी पचालराज जैवलि, कैकयराज[1] अश्वपतिके पास ज्ञान

---

[1] झेलम और सिन्धके बीचके हिमालयके निचले भागपर अवस्थित राजौरीके पासका प्रदेश ।

सीखनेकी वात कही जा चुकी। कौषीतकि उपनिषद्[1]से यह भी पता लगता है, कि उन्होने चित्र गार्ग्यायणिके पास भी ज्ञान प्राप्त किया था।—

"चित्र गार्ग्यायणिने यज्ञ करते आरुणिको (ऋत्विक्) चुना। उसने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—'तू यज्ञ करा!'...."

गार्ग्यायणिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुने घर लौटकर पितासे कहा। तब आरुणि शिष्य बनकर ज्ञान सीखनेकेलिए समिधा हाथमे लिये गार्ग्यायणिके पास गया। गार्ग्यायणिने पितृयान, पुनर्जन्म, देवयानका उपदेश दिया; जो कि जैवलिके उपदेशकी भद्दी आवृत्ति मात्र है।

(३) आरुणिका याज्ञवल्क्यसे संवाद गलत—बृहदारण्यकमे आये आरुणि-याज्ञवल्क्य संवादकी असंगतिके बारेमे हम बतला चुके है। वहाँ आरुणिके मुँहसे यह कहलाया गया है[2]—

"(एक बार) हम मद्र[3]मे पतचल काप्यके घर यज्ञ (-विद्या)का अध्ययन करते निवास करते थे। उसकी भार्याको गंधर्व (=देवता)ने पकड़ा था। उस (=गधर्व)से पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'कवन्ध आथर्वण।' उस (=गधर्व)ने याज्ञिको और पतञ्चल काप्यसे पूछा—'काप्य! क्या तुझे वह सूत्र (धागा) मालूम है, जिसमे यह लोक, परलोक, सारे भूत गुथे हुए है।' ...पतञ्चलने कहा—'भगवन्! मैं उसे नही जानता।'"

शायद आरुणिका मद्रमे पतञ्चलके पास कर्मकाण्डका अध्ययन सही हो, और याज्ञिक (=वैदिक) गुरु भी दर्शनसे बिलकुल कोरे रहते थे, यह भी ठीक हो।

इन उद्धरणोसे यह पता लगता है, कि आरुणि प्रथम ब्राह्मण दार्शनिक था। इससे पहिले दर्शन-चिन्तन शासक (=क्षत्रिय) वर्ग करता था,

---

[1] कौ० १।१ [2] बृह० ३।७।१ [3] स्यालकोट, गुजरांवाला आदि जिले।

जिसमे कितने ही उस समयके राजा भी शामिल थे। राजा दार्शनिक होते भी यज्ञ करना, ब्राह्मणोको दक्षिणा देना छोडते नही थे—जैसा कि अश्वपति और गार्ग्यायणिके दृष्टान्तसे स्पष्ट है। आरुणिने पञ्चमाहुति (=देवयान-पितृयान), तथा वैश्वानर-आत्माका ज्ञान अपने क्षत्रिय गुरुओंसे सीखा था, किन्तु उसका अपना दर्शन वही था, जिसे कि उसने अपने पुत्र श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि'—या ब्रह्म-जगत् अभेदवाद—द्वारा बतलाया।

(४) आरुणिका श्वेतकेतुको उपदेश—श्वेतकेतु आरुणेय आरुणिका पुत्र था, दोनो पिता-पुत्रोका सवाद हमे छान्दोग्य[1]मे मिलता है—

"श्वेतकेतु आरुणेय था। उसे पिताने कहा—

'श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य वास कर। सोम्य! हमारे कुलका (व्यक्ति) अपठित रह ब्रह्मबन्धु (=ब्राह्मणका भाई मात्र)की तरह नही रहता।"

"बारहवे वर्षमे उपनयन (ब्रह्मचर्य-आरभ) कर चौबीसवे वर्ष तक सारे वेदोको पढ़ (श्वेतकेतु) महामना पठिताभिमानी गम्भीर-सा हो पास गया। उससे पिताने कहा—

'श्वेतकेतो! जो कि सोम्य! यह तू महामना ०है, क्या तूने उस आदेशको पूछा, जिसके द्वारा न-सुना सुना हो जाता है, न-जाना जाना?'

'कैसा है भगवन्! वह आदेश (=उपदेश)?'

'जैसे सोम्य! एक मिट्टीके पिडसे सारी मट्टीकी (चीजे) ज्ञात हो जाती है, मिट्टी ही सच है और तो विकार, वाणीका प्रयोग नाम-मात्र है। जैसे सोम्य! एक लोह-मणि (=ताम्र-पिंड)से सारी लोहेकी (चीजे) विज्ञात हो जाती है ...। जैसे सोम्य! एक नखसे खरोटनेसे सारी कृष्ण-अयस् (=लोहे)की (चीजे) विज्ञात हो जाती है। इसी तरह सोम्य! वह आदेश होता है।'

'निश्चय ही वे भगवन् (मेरे आचार्य) नही जानते थे, यदि उसे जानते तो क्यों न मुझे बतलाते। भगवान् ही उसे बतलाये।'

---

[1] छान्दोग्य ६।१

'अच्छा सोम्य !

'सोम्य ! पहिले यह एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था, उसे कोई-कोई कहते हैं—पहिले यह एक अद्वितीय अ-सद् ही था, इसलिए अ-सत्से सत् उत्पन्न हुआ। किन्तु सोम्य ! यह कैसे हो सकता है ?'

'कैसे असत्से सत् उत्पन्न हो सकता है ?'

'सत् ही सोम्य ! यह एक अद्वितीय था। उसने ईक्षण (=कामना) किया.. .उसने तेजको सिरजा।' "

इस प्रकार आरुणिके मतसे तेज (=अग्नि) प्रथम भौतिक तत्त्व था जिससे दूसरा तत्त्व—जल—पैदा हुआ। तपनेपर पसीना निकलता है, इस उदाहरणको आरुणि अग्निसे जलकी उत्पत्ति साबित करनेकेलिए काफी समझता था। जलसे अन्न। इस प्रकार "सत् मूल" है तेज का, "तेज मूल" है पानी का। उदाहरणार्थ "मरते हुएकी वाणी मनमे मिल जाती है, मन प्राणमे, प्राण तेज (=अग्नि)मे, तेज परमदेवतामे।' सो जो यह **अणिमा** (=सूक्ष्मता) है; इसका ही स्वरूप यह सारा (=विश्व) है, वह सत्य है, वह आत्मा है, 'वह तू है' (=तत् त्व असि) श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! जैसे सोम्य ! मधु-मक्खियाँ मधु बनाती है, नाना प्रकारके वृक्षोंके रसोंको जमाकर एक रस बनाती है। वह (रस) जैसे वहाँ फर्क नही पाता—मै उस वृक्षका रस हूँ, उस वृक्षका रस हूँ। इसी तरह सोम्य ! यह सारी प्रजाए सत् (=ब्रह्म)मे प्राप्त हो नही जानती—हम सत्मे प्राप्त होते है। . वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! . जैसे सोम्य ! पूर्ववाली नदियाँ पूर्वसे बहती है, पश्चिमवाली पश्चिमसे, वह समुद्रसे समुद्रमे जाती है, (वहाँ) समुद्रही होता है। वह जैसे नही जानती—'मै यह हूँ'। ऐसे ही सोम्य ! यह सारी प्रजाएं सत्से आकर नही जानती—सत्से हम आई वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! . . जैसे सोम्य ! बडे वृक्षके यदि मूलमे आघात करे, तो जीव(-रस) बहता है। मध्यमे आघात करे . . .अग्रमे आघात करे, जीव(-रस) बहता है। सो यह (वृक्ष) इस जीव-आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता, पिया जाता, मोद लेता स्थित होता है। उसकी यदि एक शाखाको जीव छोडता है, वह सूख जाती है, दूसरीको छोडता है, वह सूख जाती है, तीसरीको छोडता है वह सूख जाती है, सबको छोडता है, सब (वृक्ष) सूख जाता है। ऐसे ही सोम्य ! तू समझ ! . . .जीव-रहित ही यह (शरीर) मरता है, जीव नही मरता। सो जो यह . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'बर्गदका फल ले आ।'

'यह है भगवन् !'

'तोड !'

'तोड दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है ?'

'छोटे छोटे इन दानोको भगवन् !'

'इनमेसे प्रिय ! एकको तोड !'

'तोड दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है ?'

'कुछ नहीं भगवन् !'

'सोम्य ! तू जिस इस अणिमा (=सूक्ष्मता)को नही देख रहा है, इसी अणिमासे सोम्य ! यह महान् बर्गद खडा है। श्रद्धा कर सोम्य ! सो जो. . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! इस नमकको सोम्य ! पानीमे रख, फिर सवेरे मेरे पास आना।'

"उसने वैसा किया।"

'जो नमक रातको पानीमें रखा, प्रिय ! उसे ला तो।'

"उसे ढूँढ़ा पर नहीं पाया।"

'गल गया सा (मालूम होता) है।'

प्रिय ! भीतरसे इसका आचमन कर। कैसा है ?'

'नमक है !'

'मध्यसे आचमन कर। कैसा है ?'

'नमक है।'

'इसे पीकर मेरे पास आ।'

'उसने वैसा किया। वह एक समान (नमकीन) था। उस(=श्वेत-केतु)से कहा—'(उसके) यहाँ होते भी जिसे सोम्य ! तू नहीं देखता, यही है (वह)। सो जो....वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! ....जैसे सोम्य ! (किसी) पुरुषको गंधार (देश)से आँख मूँदे लाकर (एक) जनपूर्ण (स्थान)मे छोड़ दे। वह जैसे वहाँ आगे-पीछे या ऊपर-नीचे चिल्लाये 'आँख मूँदे (मुझे) लाया, आँख मूँदे मुझे छोड़ दिया।' जैसे उसकी पट्टी छोड़ (कोई) कहे—इस दिशामें गंधार है, इस दिशामे जा। वह पंडित, मेधावी एक गाँवसे दूसरे गाँवको पूछता गंधार ही को पहुँच जाये; इसी तरह यहाँ आचार्य रखनेवाला पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। उसको (मुक्त होनेमे) उतनी ही देर है, जबतक कि (शरीरसे) नहीं छूटता,(शरीर छूटने)पर तो (ब्रह्मको) प्राप्त होता है। सो जो....वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! ....जैसे सोम्य ! (मरण-यातनासे) पीड़ित पुरुषको भाई-बंधु घेरते (और पूछते) हैं—पहिचानते हो मुझे, पहिचानते हो मुझे ? जब तक उसकी वाणी मनमे नहीं मिलती, मन प्राणमे, प्राण तेजमे, तेज परम देवतामें (नहीं मिलता), तबतक पहिचानता है। किन्तु जब उसकी वाणी मनमें मिल जाती है, मन प्राणमे, प्राण तेजमें,

तेज परम देवतामे, तब नही पहचानता। सो जो वह तू है श्वेत-केतु!'...."

इस तरह आरुणि सद्ब्रह्म (=शारीरक ब्रह्म) वादी थे, और भौतिक तत्त्वोंमे अग्निको प्रथम मानते थे।

३. याज्ञवल्क्य (६५० ई० पू०)

(१) **जीवनी**—याज्ञवल्क्यकी जन्मभूमि कहाँ थी, इसका उल्लेख नही मिलता। कुछ लेखकों[1]ने जनक वैदेहका गुरु होनेसे उन्हे भी विदेह (=तिरहुत) का निवासी समझ लिया है, जो कि गलत है। वृहदारण्यक[2]के उद्धरणपर गौर करनेसे यही पता लगता है, कि वह कुरु-पचालके ब्राह्मणोमेंसे थे—

"जनक वैदेहने बहुत दक्षिणावाले यज्ञको किया। उसमे कुरु-पचाल (=पश्चिमी युक्तप्रान्त)के ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। जनक वैदेहके मनमें जिज्ञासा हुई—'इन ब्राह्मणों (=कुरु-पचालवालो)मे कौन सबसे बडा शिक्षित (=अनूचानतम) है?'... "

यहाँ इन ब्राह्मणों शब्दसे कुरु-पचालवालोका ही वोध होता है। वैसे भी यदि याज्ञवल्क्य विदेहके थे, तो उनकी विद्वत्ता जनकके लिए अज्ञात नही होनी चाहिए।

इस तरह जान पडता है, जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य तीनो दिग्गज उपनिषदके दार्शनिक कुरु-पचालके रहनेवाले थे। इसीसे बुद्ध कालमे भी कुरु-पचाल दर्शनकी खानि समझा जाता था, जैसा कि पीछे हम बतला चुके है। और इस तरह ऋग्वेदके समयसे (१५०० ई० पू०) जो प्रधानता इस प्रदेशको मिली, वह बराबर याज्ञवल्क्यके समय तक मौजूद रही, यद्यपि इसी बीच कैकय (पजाब) काशी, और विदेहमें भी ज्ञान-चर्चा होने लगी थी।

अश्वपति कैकयके पास जानेवाले ये ब्राह्मण महाशाल बडे धनाढ्य

---

[1] डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकरका "महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश" (पूना, १९२३) प्रस्तावना खंड १, विभाग ३, पृ० ४४८ [2] वृह० ३।१

व्यक्ति थे। उनके पास सैकड़ो खचरीके रथ—घोड़ेसे खच्चरकी कीमत उस वक्त ज्यादा थी—हाथी, दासियाँ, अर्शाफियाँ थी। प्रवर (=सुन्दर) दासियोके लिखनेसे यही मतलब मालूम होता है, कि दासियाँ सिर्फ कमकरियाँ ही नही बल्कि अपने स्वामियोकी कामतृप्तिका साधन भी थी। याज्ञवल्क्य इसी तरहके एक ब्राह्मण महाशाल (=धनी) थे। याज्ञवल्क्यकी कोई सन्तान न थी, यह इसीसे पता लगता है, कि गृहत्यागी होते वक्त उन्होने अपनी दोनो भार्याओ मैत्रेयी और कात्यायनीमे सम्पत्ति बाँटनेका प्रस्ताव किया[1]—

"याज्ञवल्क्यकी दो भार्यायें थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमे मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, किन्तु कात्यायनी सिर्फ स्त्रीबुद्धिवाली। तब याज्ञवल्क्यने कहा—

'मैत्रेयी! मै इस स्थानसे प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ। आ तुझे इस कात्यायनीसे (धनके बँटवारे द्वारा) अलग कर दूँ।'"

ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी भी पतिकी भाँति धनसे विरक्त थी, इसलिए उसने उससे इन्कार करते हुए कितने ही प्रश्न किये, जिसके उत्तरमे याज्ञवल्क्यने जो उपदेश दिया था, उसका जिक्र हम आगे करनेवाले है।

(२) दार्शनिक विचार—याज्ञवल्क्यके दार्शनिक विचार वृहदारण्यक मे तीन प्रकरणोमे आये है—एक जनककी यज्ञ-परिषद्मे, दूसरा जनकके साथकी तीन मुलाकातोमें और तीसरा सवाद अपनी स्त्री मैत्रेयीके साथ।

(क) जनककी सभा में[2]—"जनक वैदेहने बहु-दक्षिणा यज्ञका अनुष्ठान किया। वहाँ कुरु-पचालके ब्राह्मण आए थे। जनक वैदेहको जिज्ञासा हुई—'कौन इन ब्राह्मणोमे सर्वश्रेष्ठ पडित है।' उसने हजार गायोको रुकवाया (=एक जगह खडा किया)। उनमेसे एक एककी दोनो सीगोमे दश-दश पाद[3]

---

[1] वृह० ४।५।१ [2] वृह० ३।१।१

[3] **कार्षापणके चौथाई भागका सिक्का, जो कि बुद्धके वक्त पाँच मासेभर ताँबेका होता था। १० पाद=ढाई कार्षापण। एक कार्षापण-का मूल्य उस वक्त आजके बारह आनेके बराबर था।**

बाँधे हुए थे। जनकने उनसे कहा—'ब्राह्मण भगवानो! जो तुममे ब्रह्मिष्ठ (=सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवादी) है, वह इन गायोको हँका ले जाये।' ब्राह्मणोने हिम्मत न की। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारी (=शिष्य) को कहा—'सोमश्रवा! हँका ले चल इन्हे।' और उन्हे हँकवा दिया। वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए—कैसे (यह) हममे (अपनेको) ब्रह्मिष्ठ कहता है।' जनक वैदेहका होता अश्वल था, उसने इस (याज्ञवल्क्य)से पूछा—

'तुम हममे ब्रह्मिष्ठ हो याज्ञवल्क्य!'

'हम ब्रह्मिष्ठको नमस्कार करते है, हम तो गाये चाहते है।'

(a) **अश्वलका कर्मपर प्रश्न**—"होता अश्वलने वहीसे उससे प्रश्न करना शुरू किया—. .."

अश्वलने अपने प्रश्न ज्यादातर यज्ञ और उसके कर्मो-कलापके बारेमे किये। याज्ञवल्क्य वैदिक कर्मकाण्डके बडे पडित थे, यह शत-पथ ब्राह्मणके १-४ तथा १०-१४ काडोमे उद्धृत उनकी बहुतसी याज्ञिक व्याख्याओसे स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यकी आधी तार्किक और आधी साम्प्रदायिक व्याख्यासे होता अश्वल चुप हो गया।

(b) **आर्तभागका मृत्यु-भक्षकपर प्रश्न**—फिर जारत्कारव आर्तभागने प्रश्न करने शुरू किये—अतिग्राह (=बहुत पकडनेवाले) क्या है? आठ—प्राण, वाग्, जिह्वा, आँख, कान, मन, हाथ, चर्म—यह आठ ग्रह (=इन्द्रिय) है; जो कि क्रमश अपान, नाम, रस, रूप, शब्द, कामना और कर्म इन आठ अतिग्राहो (=विषयो) द्वारा गध सूँघते, नाम बोलते, रस चखते, रूप देखते, शब्द सुनते, काम (=भोग) चाहते, कर्म करते, स्पर्श जानते है। इन्द्रियोके बारेमे यह उत्तर सुनकर आर्तभागने फिर पूछा—

'याज्ञवल्क्य! यह सब (=विश्व) तो मृत्युका अन्न (भोजन) है। कौन वह देवता है, जिसका अन्न मृत्यु है?'

'आग मृत्यु है, वह पानीका भोजन है, पानीसे मृत्युको जीता जा सकता है।'

'याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मर जाता है, (तब) उसके प्राण (साथ) जाते है या नही?'

'नहीं।....यहीं रह जाते हैं। वह उसास लेता है, खर्खर करता है, फिर मरकर पड़ जाता है।'

'याज्ञवल्क्य! जब यह पुरुष मरता है, क्या (है जो) इसे नहीं छोड़ता?'

'नाम.... ।'

'याज्ञवल्क्य! जब मरनेपर इस पुरुषकी वाणी आग (=तत्त्व)में समा जाती है, प्राण वायुमें, आँख आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशाओंमें, शरीर पृथिवीमें, आत्मा आकाशमें, रोएं औषधियोंमें, केश वनस्पतियोंमें, खून और वीर्य पानीमें मिल जाते हैं; तब यह पुरुष (जीव) कहाँ होता है?'

'हाथ ला, सोम्य आर्तभाग! हम दोनों ही इस (तत्त्व)को जान सकेंगे, ये लोग नहीं.... ।'

"तब दोनोंने उठकर मंत्रणा की, उन्होंने जो कहा, वह कर्म हीके बारेमें कहा। जो प्रशंसाकी कर्मकी ही प्रशंसा की।—'पुण्य कर्मसे पुण्य (=भला) होता है, पापसे पाप (=बुरा) होता है।' तब जरत्कारव आर्तभाग चुप हो गया।

(c) भुज्यु लाह्यायनिका अश्वमेध-याजियोंके लोकपर प्रश्न—"तब भुज्यु लाह्यायनिने पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम मद्र देशमें विचरण करते थे। वहाँ पतञ्चल काप्यके घर पर गये। उसकी लड़की गंधर्व-गृहीता (=देवता जिसके सिरपर आया हो) थी। उससे मैंने पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'सुधन्वा अङ्गीरस।' तब उससे लोकोंका अन्त पूछते हुए मैंने कहा—'कहाँ पारिक्षित[1] (परीक्षित-वंशी) गये?' सो मैं तुमसे भी याज्ञवल्क्य! पूछता हूँ, कहाँ परीक्षित गये?'

---

[1]छान्दोग्य (३।१७।६) में घोर आंगीरसके शिष्य देवकीपुत्र कृष्णका जिक्र आया है, उससे और यहाँके वर्णनको मिलानेसे परीक्षित् महाभारत के अर्जुनका पुत्र मालूम होता है। फिर परीक्षित्-वंशियोके कहनेसे जान पड़ता है, कि तबसे याज्ञवल्क्य तक कितनी ही पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। "सांकृत्यायन-वंश" में मैंने परीक्षित्-पुत्र जन्मेजयका समय ६०० ई० पू० निश्चित किया है।

"उस (याज्ञवल्क्य)ने कहा— 'वह वहाँ गये जहाँ अश्वमेध-याजी (=करने वाले) जाते है ?'

'अश्वमेधयाजी कहाँ जाते है ?'

इसपर याज्ञवल्क्यने वायु द्वारा उस लोकमे अश्वमेधाजियोंका जाना बतलाया, जिसपर लाह्यायनि चुप हो गया।

(d) **उषस्ति चाक्रायण-सर्वान्तरात्मापर प्रश्न**—उषस्ति चाक्रायण कुरु-देशका एक प्रसिद्ध वेदज्ञ था। छान्दोग्य[1]मे इसके बारेमे कहा गया है—

"कुरु-देशमे ओले पड़े थे, उस समय उषस्ति चाक्रायण (अपनी) भार्या आटिकी के साथ अद्राणक नामक शूद्रोके ग्राममें रहता था। उसने (एक) इभ्य (=शूद्र)को कुल्माष (=दाल) खाते देख, उससे माँगा। उसने उत्तर दिया—'यह जो मेरे सामने है उसे छोड और नही है।' 'इसे ही मुझे दे।'. . उसने दे दिया . . ।"

इभ्यने उषस्तिको जब पानी भी देना चाहा, तो उषस्ति ने कहा—"यह जूठा पीना होगा।" जिसपर दूसरेने पूछा—क्या यह (कुल्माष) जूठा नही है ? तो उसने कहा—इसे खाये बिना हम नही जी सकेगे। पानी तो यथेष्ट पा सकते है। खाकर बाकीको स्त्रीके लिए ले गया। वह पहिले ही आहार प्राप्त कर चुकी थी। उसने उसे लेकर रख दिया। दूसरे दिन उसी जूठे कुल्माषको खाकर उषस्ति कुरु-राजके यज्ञमे गया, और राजाने उसका बहुत सन्मान किया।

उषस्ति चाक्रायण अब कुरु (मेरठ जिले)से चलकर विदेह (दर्भंगा जिले, बिहार)मे आया था, जहाँ कि जनक बहुदक्षिणा यज्ञ कर रहा था। याज्ञवल्क्यको गाये हँकवाते देख उसने पूछा[2]—

"'याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष (=प्रत्यक्ष) ब्रह्म, जो सबके भीतर वाला (=सर्वान्तर) आत्मा है, उसके बारेमे मुझे बतलाओ।"

---

[1] छां० १।१० [2] बृह० ३।४।१

"यह तेरा आत्मा सर्वान्तिर है।"

'कौन सा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तिर है ?'

'जो प्राणसे प्राणन करता (=श्वास लेता) है, वह तेरा सर्वान्तिर आत्मा है, जो अपानसे....व्यान... , उदानसे उदानन (=ऊपरको खीचनेकी क्रिया) करता है, वह तेरा सर्वान्तिर आत्मा है।'

उषस्ति चाक्रायणने कहा—'जैसे कहे—यह गाय है, यह अश्व है; इसी तरह यह (तुम्हारा) कहा हुआ, जो वही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, जो सर्वान्तिर आत्मा है, उसके बारेमे मुझे बतलाओ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तिर है।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ? सर्वान्तिर है ?'

'दृष्टिके देखनेवालेको तू नही देख सकता, न श्रुति (=शब्द)के सुननेवालेको सुन सकता, न मतिके मनन करनेवालेको मनन कर सकता, न विज्ञाति (=जानने)के जाननेवालोको विज्ञानन कर सकता। यही तेरा आत्मा सर्वान्तिर है, इससे भिन्न तुच्छ (=आर्त) है।'

"तब उषस्ति चाक्रायण चुप हो गया।"

(e) कहोल कौषीतकेयका सर्वान्तरात्मापर प्रश्न—तब कहोलने पूछा[1]—

" 'याज्ञवल्क्य ! जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तिर आत्मा है, उसके बारेमे मुझे बतलाओ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तिर है।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तिर है ?'

'(वह) जो (कि) भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्युसे परे है। इसी आत्माको जानकर ब्राह्मण पुत्र-इच्छा, धन-इच्छा, लोक (=सन्मान) इच्छासे हटकर भिक्षाचारी (=गृहत्यागी) होते हैं। जो कि पुत्र-इच्छा है वही वित्त-इच्छा है, जो वित्त-इच्छा है, वही लोक-इच्छा है; दोनो ही

---

[1] बृह० ३।५।१

इच्छाए है। इसलिए ब्राह्मणको पाडित्यसे विरक्त हो बाल्य (=बालकोकी भाँति भोलाभालापन) के साथ रहना चाहिए, बाल्य और पाण्डित्यसे विरक्त हो मुनि....।.. .मौनसे विरक्त हो, फिर ब्राह्मण (होता है)। वह ब्राह्मण कैसे होता है ? जिससे होता है उससे ऐसा ही (होता है) इससे भिन्न तुच्छ है।'

तब कहोल कौषीतकेय चुप हो गया।'

(f) **गार्गी वाचक्नवी (ब्रह्मलोक, अक्षर)**—मैत्रेयीकी भाँति गार्गी और उसके प्रश्न इस बातके सबूत है, कि छठी-सातवी सदी ईसा-पूर्वमे स्त्रियोको चौके-चूल्हेसे आगे बढनेका काफी अवसर मिलता था, अभी वह पर्दे और दूसरी सामाजिक जकडबन्दियोमे उतनी नही जकडी गई थी। गार्गीने पूछा[1]—

"'याज्ञवल्क्य! जो (कि) यह सब (=विश्व) पानीमे ओत-प्रोत (=ग्रथित) है, पानी किसमे ओतप्रोत है ?'

'वायुमे, गार्गी!'

'वायु किसमे ओतप्रोत है ?'

'अन्तरिक्ष लोकोमे गार्गी!'"

आगेके इसी तरहके प्रश्नके उत्तरमे याज्ञवल्क्यने गन्धर्वलोक, आदित्य-लोक, चन्द्रलोक,[2] नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक —मे पहिलो का पिछलोमे ओतप्रोत होना बतलाया।—ब्रह्मलोकमे सारे ही ओतप्रोत है; इसपर गार्गीने पूछा—

'ब्रह्मलोक किसमे ओतप्रोत है ?'

"उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मत प्रश्नकी सीमाके पार जा, मत तेरा शिर गिरे। प्रश्नकी सीमा न पारकी जानेवाली देवताके बारेमे तू अतिप्रश्न कर

---

[1] बृह० ३।६।१

[2] **आदित्यलोकसे भी चन्द्रलोकको परे और महान् बतलाना बतलाता है, कि ब्रह्मज्ञानीके लिए विज्ञानके क-खके ज्ञान होनेकी कोई खास जरूरत नहीं।**

रही है। गार्गी! मत अति-प्रश्न कर।'

"तव गार्गी वाचक्नवी चुप हो गई।"

इसके वाद उद्दालक आरुणिका प्रश्न है। जो कि प्रश्नकर्त्ता आरुणिके लिए असगत मालूम होता है। सदियों तक ये सारे ग्रन्थ कठस्थ करके लाये गये थे, इसलिए एकाध जगह ऐसी भूल संभव है। पालि दीघनिकायके महापरिनिव्वाणसुत्तमे भी कठस्थ प्रथाके कारण ऐसी गलती हुई है, इसका उल्लेख हमने वहाँ किया है। गार्गीके प्रश्नके उत्तराशको भी देकर हम आगे याज्ञवल्क्यके विचारोके जाननेकेलिए किसी विस्मृत प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नोत्तरको (जो कि यहाँ आरुणिके नामसे मिल रहा है) देंगे।[1]—

"तव वाचक्नवीने पूछा—

'ब्राह्मण भगवानो! अच्छा तो मै इन (याज्ञवल्क्य)से दो प्रश्न पूछती हूँ, यदि उन्हें यह, बतला देंगे, तो तुममेंसे कोई भी इन्हे ब्रह्मवादमे न जीतेगा।'

(याज्ञवल्क्य—) 'पूछ गार्गी!'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य! जैसे काशी या विदेह देशका कोई उग्र-पुत्र (=सिपाही) उतरी प्रत्यंचाको धनुषपर लगा शत्रुको वेधनेवाले वाण-फलवाले दो (तीरो)को हाथमे ले उपस्थित हो; इसी तरह मै तुम्हारे पास दो प्रश्नोके साथ उपस्थित हुई हूँ। उन्हे मुझे बतलाओ।'

'पूछ गार्गी!'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य! जो ये द्यौ (=नक्षत्र)लोकसे ऊपर, जो पृथिवीसे नीचे, जो द्यौ और पृथिवीके वीचमे है; जो अतीत, वर्तमान और भविष्य कहा जाता है, किसमे यह ओतप्रोत है?'

'वह आकाशमें ओतप्रोत है।'

"उस (गार्गी)ने कहा—'नमस्ते याज्ञवल्क्य! जो कि तुमने यह मुझे वतलाया। (अव) दूसरा (प्रश्न) लो।'

---

[1] वृह० ३।८।१।१-१२

'पूछ गार्गी !'

'आकाश किसमे ओतप्रोत है ?'

'गार्गी ! इसे ही ब्राह्मण **अक्षर** (=अ-विनाशी) कहते है, (जो कि) न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न स्नेह, (=चिकना या आर्द्र) न छाया, न तम, न वायु, न आकाश, न सग, न रस, न गध, न नेत्र-श्रोत्र-वाणी-मन द्वारा ग्राह्य, न तेज (=अग्नि) वाला, न प्राण, न मुख, न मात्रा (=परिमाण) वाला, न आन्तरिक, न बाह्य है। न वह किसीको खाता है, न उसको कोई खाता है। गार्गी ! इसी **अक्षर**के शासनमे सूर्य-चन्द्र धारे हुए स्थित है, इसी अक्षरके शासनमे द्यौ और पृथिवी . . मुहूर्त्त रात-दिन, अर्ध-मास, मास, ऋतु-सवत्सर धारे हुए स्थित है। इसी अक्षरके शासनमे श्वेत पहाडो (=हिमालय) से पूर्व वाली नदियाँ या पश्चिमवाली दूसरी नदियाँ उस उस दिशामे बहती है, इसी अक्षरके शासनमें (हो) गार्गी ! दाताओकी मनुष्य, यजमानकी देव प्रशसा करते है।. . . . गार्गी ! जो इस **अक्षर**को बिना जाने इस लोकमे हवन करे, यज्ञ करे, बहुत हजार वर्ष तप तपे उसका यह (सब करना) अन्तवाला ही है। गार्गी ! जो इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे प्रयाण करता है, वह अभागा (=कृपण) है; और जो गार्गी ! इस अक्षरको जानकर इस लोकसे प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। वह यह **अक्षर** गार्गी ! न-देखा देखनेवाला, न-सुना सुननेवाला, न-मनन-किया मनन करनेवाला, न-विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता . . मन्ता . विज्ञाता नही है। गार्गी ! इसी अक्षरमे आकाश ओतप्रोत है। '

"तब वाचक्नवी चुप हो गई।"

गार्गीके दो भागोमे बँटे सवादमे 'किसमे यह विश्व ओतप्रोत है' इसी प्रश्नका उत्तर है, इससे भी हमारा सन्देह दृढ होता है, कि श्रुतिमे स्मरण करनेवालोकी गलतीसे यहाँ आरुणि—जो कि याज्ञवल्क्यके गुरु थे—के नामसे नया प्रश्न डालनेकी गड़बडी हुई है।

(g) विदग्ध शाकल्यका देवोंकी प्रतिष्ठापर प्रश्न—अन्तिम

प्रश्नकर्त्ता[1] विदग्ध शाकल्य था। उसका सवाद वैदिक देवताओंके संबधमें 'दूरकी कौडी' लानेकी तरहका है—

" कितने देव है ?'

'तैंतीस।'

'हाँ, कितने देव है ?'

'छै।' 'तीन।' 'दो।' 'अधा।'

'कौनसे तैंतीस ?'

'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, (सब मिलकर) एकतीस, और इन्द्र तथा प्रजापति—तैंतीस।'

फिर इन वैदिक देवताओंके बारेमे दार्शनिक अटकलबाजी की गई है। फिर अन्तमे शाकल्यने पूछा—

'किसमे तुम और आत्मा प्रतिष्ठित (=स्थित) हो ?'

'प्राणमे।'

'किसमे प्राण प्रतिष्ठित है ?'

'अपानमें।'. 'व्यानमे।'. 'उदानमे।'

'किसमे उदान प्रतिष्ठित है ?'

'समानमे। वह यह (=समान आत्मा) अ-गृह्य=नही ग्रहण किया जा सकता, अ-शीर्य=नही शीर्ण हो सकता, अ-सग=नही लिप्त हो सकता तुझसे मै उस औपनिषद (=उपनिषद् प्रतिपादित, अथवा रहस्यमय) पुरुषके बारेमे पूछता हूँ, उसे यदि नही कहेगा तो तेरा शिर गिर जायेगा।'

"शाकल्यने उसे नही समझा, (और) उसका शिर गिर गया। (मरासा) समझ दूसरे हटानेवाले उसकी हड्डियोको ले गये।"

ब्रह्मके सवादमे शाकल्यका इस तरह शोचनीय अन्त हो जानेपर याज्ञवल्क्यने कहा—

'ब्राह्मण भगवानो! आपमेसे जिसकी इच्छा हो, मुझसे प्रश्न करे,

---

[1] वृह० ३।६।१

या सभी मुझसे प्रश्न करे। आपमेसे जो चाहे उससे मै प्रश्न करूँ या आपमे सबसे मै प्रश्न करूँ।' "

"उन ब्राह्मणोंकी हिम्मत नही हुई।"

(h) **अज्ञात प्रश्नकर्त्ताका अन्तर्यामीपर प्रश्न**—आरुणिके नामसे किये गये प्रश्नके कर्त्ताका असली नाम हमारे लिए चाहे अज्ञात हो, किन्तु याज्ञवल्क्यके दर्शनके जाननेकेलिए प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसका भी संक्षेप देना जरूरी है[1]—

" 'उसे मै जानता हूँ, याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको बिना जाने ब्राह्मणोकी गायोंको हँकायेगा तो तेरा शिर गिर जायगा।'

'मै जानता हूँ गौतम! उस सूत्र (=धागे)को उस अन्तर्यामीको।

'मै जानता हूँ, (कहता है, तो) जैसे तू जानता है, वैसे बोल...।

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'वायु हे गौतम! वह सूत्र-वायु है। सूत्रसे गौतम! यह लोक, परलोक और सारे भूत गुथे हुए हैं। इसीलिए गौतम! मरे पुरुषके लिए कहते है—वायुसे इसके अग छूट गये।. . ।'

'यह ऐसा ही है याज्ञवल्क्य! अन्तर्यामीके बारेमे कहो।'

'जो पृथिवीमे रहते पृथिवीसे भिन्न है, जिसे पृथिवी नही जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है; यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

'जो पानीमे ...आगमे.....अन्तरिक्षमे....वायुमे....द्यौमे आदित्यमे....दिशाओमे....चन्द्र-तारोमे....आकाशमे.....तम (=अन्धकार)मे....तेजमे....सारे भूतोमे...प्राणमे...वाणीमे नेत्रमे....श्रोत्रमे ...मनमे...चर्म (=त्वग्-इन्द्रिय)मे...विज्ञान (=जीव)मे....(और) जो वीर्य (=रेतस्)मे रहते वीर्यसे भिन्न है, जिसे वीर्य नही जानता, जिसका वीर्य शरीर है, जो वीर्यको अन्दरसे नियमन

[1] बृह० ३।७।१-२३

करता (=अन्तर्यामी) है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत (=अविनाशी) है। वह अ-देखा देखनेवाला० अ-विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता....मन्ता....विज्ञाता नही है। यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे अन्य (सभी) तुच्छ हैं।'"

(ख) जनकको उपदेश—सभाके बाद भी याज्ञवल्क्य और दर्शन-प्रेमी जनक (=राजा) विदेहका समागम होता रहा। इस समागममें जो दार्शनिक वार्तालाप हुए थे, उसको बृहदारण्यकके चौथे अध्यायमे सुरक्षित रखा गया है।—

"जनक वैदेह बैठा हुआ था, उसी समय याज्ञवल्क्य आ गये। उनसे (जनकने) पूछा—

'कैसे आये, पशुओंकी इच्छासे या (किसी) सूक्ष्म बात (अण्वन्त)के लिए?'

'दोनों हीके लिए सम्राट्! जो कुछ किसीने तुझे बतलाया हो, उसे सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे जित्वा शैलनिने कहा था—वाणी ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता-आचार्यवाला (=शिक्षित पुरुष) बोले, उसी तरह शैलनिने यह कहा—वाणी ब्रह्म है।....क्या उसने तुझे उसका आयतन (=स्थान) प्रतिष्ठा बतलाई?'

'...नही बतलाई।'

'वह एकपाद (एक पैरवाला) है सम्राट्!'

'तो (उसे) मुझे बतलाओ याज्ञवल्क्य!'

'वाणी आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, प्रज्ञा (मान) करके इसकी उपासना करे।'

'प्रज्ञा क्या है याज्ञवल्क्य!'

'वाणी ही सम्राट्! वाणीसे ही सम्राट्! बन्धु (=ब्रह्मा[1]) जाना

---

[1] तुलना करो "दीघ-निकाय" (हिन्दी-अनुवाद, नामसूची)

जाता है; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, आहुति, खान-पान, यह लोक, परलोक, सारे भूत वाणीसे ही जाने जाते हैं। सम्राट्! वाणी परमब्रह्म है। जो ऐसे जानते हुए इसकी उपासना करता है, उसको वाणी नही त्यागती, सारे भूत उसे (भोग) प्रदान करते हैं, (वह) देव बन देवोंमे जाता है।'

"जनक वैदेहने कहा—'(तुम्हे) हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'पिता मेरे मानते थे, कि बिना अनुशासन (=उपदेश)के .(दान) नही लेना चाहिए। जो कुछ किसीने तुझे बतलाया हो, उसीको मैं सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे उदङ्क शौल्वायनने कहा था—प्राण ही ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता-आचार्यवाला बोले, उसी तरह शौल्वायनने कहा—प्राण ही ब्रह्म है। क्या उसने....प्रतिष्ठा बतलाई?'

'...नही बतलाई।'....

'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

(जनक—) 'मुझसे बर्कु वार्ष्णने कहा—नेत्र ही ब्रह्म है।'....

'मुझसे गर्दभीविपति भारद्वाजने कहा—श्रोत्रही ब्रह्म है।....

'मुझसे सत्यकाम जाबालने कहा—मन ही ब्रह्म है।'

'मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा—हृदय ही ब्रह्म है'....

(जनक—) 'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'पिता मेरे मानते थे कि बिना अनुशासनके दान नही लेना चाहिए।'

और दूसरी बार जानेपर [1]"जनक वैदेहने दाढीपर (हाथ) फेरते हुए कहा—'नमस्ते हो याज्ञवल्क्य! मुझे अनुशासन(=उपदेश) करो।'

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'जैसे सम्राट्! बड़े रास्तेपर

---

[1]बृह० ४।२।१

जानेवाला (यात्री) रथ या नाव पकड़ता है, इसी तरह इन उपनिषदों (=तत्त्वोपदेशो)से तेरे आत्माका समाधान हो गया है। इस तरह वृन्दारक(=देव), आढय(=धनी) वेद-पढ़ा, उपनिषत्-सुना तू यहाँसे छूटकर कहाँ जायेगा ?'

'भगवन् ! मैं....नही जानता कि कहाँ जाऊँगा।'

'अच्छा तो जहाँ तू जायेगा उसे मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'कहे भगवन् !'"

इसपर याज्ञवल्क्यने आँखों और हृदयसे हजार होकर ऊपरको जाने वाली केश-जैसी सूक्ष्म हिता नामक नाड़ियोका जिक्र करते प्राणको चारो ओर व्यापक बतलाया और कहा—

'वह यह 'नेति नेति' (=इतना ही नही) आत्मा है, (जो) अगृह्य=नही ग्रहण किया जा सकता अ-संग नही लिप्त हो सकता।....जनक ! (अब) तू अभयको प्राप्त हो गया।'

"जनक वैदेहने कहा—'अभय तुम्हे प्राप्त हो, याज्ञवल्क्य ! जो कि हमे तुम अभयका ज्ञान करा रहे हो। नमस्ते हो, यह विदेह (=देश) यह मैं (तुम्हारा) हूँ॥२॥"

(३) **आत्मा, ब्रह्म और सुषुप्ति**—"जनक वैदेहके पास याज्ञवल्क्य गए।....जब जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य अग्निहोत्रमे एकत्रित हुए, (तब) याज्ञवल्क्यने जनकको वर दिया। उसने इच्छानुसार प्रश्नका वर माँगा, उसने उसे दिया। सम्राट्ने ही पहिले पूछा—

'याज्ञवल्क्य ! किस ज्योतिवाला यह पुरुष है ?'

'आदित्य-ज्योतिवाला सम्राट् ! आदित्य-ज्योतिसे ही वह....कर्म करता है....।'

'हाँ, ऐसा ही है याज्ञवल्क्य ! आदित्यके डूबनेपर....किस ज्योति वाला.... ?'

'चन्द्र-ज्योतिवाला ...' ....'अग्नि-ज्योतिवाला....' .... 'वाणी....'....

'आत्म-ज्योतिवाला सम्राट्! आत्मा (रूपी) ज्योतिसे ही वह....
कर्म करता है.... ।'

'कौनसा है आत्मा?'

'जो यह प्राणोमे विज्ञानमय, हृदयमे आन्तरिक ज्योति (=प्रकाश) पुरुष है, वह **समान** हो दोनो लोकोमे सचार करता है....वह स्वप्न (देखनेवाला) हो इस लोकके मृत्युके रूपोको अतिक्रमण करता है। वह पुरुष पैदा हो, शरीरमे प्राप्त हो पापसे लिप्त होता है, उत्क्रान्ति करते मरते वक्त पापको त्यागता है। इस पुरुषके दो ही स्थान होते है—यह और परलोक स्थान, तीसरा सन्धिवाला स्वप्नस्थान है। उस सन्धिस्थानमे रहते (वह) इन दोनों स्थानोको देखता है—इस और परलोक स्थानको। ....पाप और आनन्द दोनोको देखता है। वह जब सोता है, इस लोककी सारी ही मात्राको ले....स्वयं निर्माण कर, अपनी प्रभा अपनी ज्योतिके साथ प्रसुप्त होता है, वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। न वहाँ (स्वप्नमे) रथ होते, न घोडे (=रथ-योग), न रास्ते; किन्तु (वह) रथो, रथयोगो, रास्तोको सृजता है....आनन्दोको सृजता है। न वहाँ घर, पुष्करिणियाँ, नदियाँ होती, किन्तु.. .(इन्हे) वह सृजता है। ... जिन्हे जागृत (-अवस्थामे) देखता है, उन्हे स्वप्नमे भी (देखता है); इस तरह वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है।'

'सो मै भगवान्को (और) हजार देता हूँ, इसके आगे (भी) विमोक्षके बारेमे बतलावे।'....

"'जैसे कि बडी मछली (नदीके) दोनों किनारोमे सचार करती है .. , इसी तरह यह पुरुष स्वप्न और बुद्ध (=जागृत) दोनों छोरोंमे संचार करता है। जैसे आकाशमे बाज़ या गरुड उडते (उडते) थककर पखोंको इकट्ठाकर घोसलेका ही (आश्रय) पकडता है, इसी तरह यह पुरुष उस अन्त (=छोर)की ओर धावन करता है, जहाँ सोया हुआ न किसी काम (=भोग)की कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है। उसकी वह केश-जैसी (सूक्ष्म) हजारो फूट-निकली नील-पिंगल-हरित-

लोहित (रस)से पूर्ण हिता नामक नाडियाँ है....जिनमे....गडहेमे (गिरते) जैसा गिरता है....जहाँ देवकी भाँति राजाकी भाँति—मैं ही यह सब कुछ हूँ, (मै ही) सब हूँ—यह मानता है; वह इसका परम लोक है।....सो जैसे प्रिय स्त्रीसे आलिंगित हो (पुरुष) न बाहरके बारेमे कुछ जानता, न भीतरके बारेमे; ऐसे ही यह पुरुष **प्राज्ञ-आत्मा** (=ब्रह्म) से आलिंगित हो न बाहरके बारेमे कुछ जानता, न भीतरके बारेमे। वह-इसका रूप... है। यहाँ पिता अ-पिता हो जाता है, माता अ-माता, लोक अ-लोक, देव अ-देव, वेद अ-वेद हो जाते है। यहाँ चोर अ-चोर, गर्भघाती अ-गर्भघाती, चंडाल अ-चडाल, पोल्कस (=म्लेच्छ) अ-पोल्कस, श्रमण अ-श्रमण, तापस अ-तापस, पुण्यसे रहित, पापसे रहित होता है। उस समय वह हृदयके सारे शोकोंसे पार हो चुका होता है। यदि वहाँ उसे नही देखता, तो देखते हुए ही उसे नही देखता, अविनाशी होनेसे द्रष्टा (=आत्मा)की दृष्टिका लोप नही होता। उससे विभक्त (=भिन्न) दूसरा नही है, जिसे कि वह देखता।....जहाँ दूसरा जैसा हो, वहाँ दूसरा दूसरेको देखे, दूसरा दूसरेको सूँघे ...चखे. ..बोले....सुने.... सयुक्त हो....छुये....विजानन करे। ....द्रष्टा एक अद्वैत होता है, यह है ब्रह्मलोक सम्राट्।''

(b) **ब्रह्मलोक-आनन्द**—ब्रह्मलोकमे कितना आनद है, इसको समझाते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—

"मनुष्योंमे जो सतुष्ट समृद्ध, दूसरोका अधिपति न (होते भी) सब मानुष भोंगोसे सम्पन्न होता है, उसको यह (आनंद) मनुष्योंका परमानद है। १०० मनुष्योके जो आनद है, वह एक पितरोका....आनन्द....", आगे—

१०० पितर	आनन्द=१	गधर्व-लोक आनन्द
१०० गन्धर्वलोक	,, =१	कर्मदेव ,,
१०० कर्मदेव	,, =१	आजानदेव ,,
१०० आजानदेव	,, =१	प्रजापति-लोक ,,
१०० प्रजापति-लोक	,, =१	ब्रह्म-लोक ,,

फिर उपसहार करते—

" 'यही परम-आनन्द ही ब्रह्मलोक है, सम्राट् !'

'सो मै भगवानको सहस्र देता हूँ। इससे आगे (भी) विमोक्षकेलिए ही बतलाओ।'

"यहाँ याज्ञवल्क्यको भय होने लगा—'राजा मेधावी है, इन सब (की बात करने) से मुझे रोक दिया।' (पुन) वही यह (आत्मा) इस स्वप्नके भीतर रमण, विचरण कर पुण्य और पापको देखकर फिर नियमानुसार.... जागृत अवस्थाको दौड़ता है।....जैसे राजाको आते देख उग्र-प्रत्येनस् (=सैनिक), सूत (=सारथी) ग्रामणी (=गाँवके मुखिया) अन्न-पान-निवास प्रदान करते है—'यह आ रहा है', 'यह आता है', इसी तरह इस तरहके ज्ञानीकेलिए सारे भूत (=प्राणी) प्रदान करते है—यह ब्रह्म आ रहा है—यह आता है।.. ."

(ग) मैत्रेयीको उपदेश—याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। याज्ञवल्क्यने घर छोडते वक्त जब सम्पत्तिके बँटवारेका प्रस्ताव किया, तो मैत्रेयीने अपने पतिसे कहा—

" 'भगवन् ! यदि वित्तसे पूर्ण यह सारी पृथिवी मेरी हो जाये, तो क्या उससे मै अमृत होऊँगी अथवा नही ?'

'नही, जैसे सम्पत्तिवालोका जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन होगा, अमृतत्व (=मुक्तपद) की तो आशा नही है।'

उस (=मैत्रेयी) ने कहा—'जिससे मै अमृत नही हो सकती, उसे (ले) क्या करूँगी। जो भगवान् जानते है, वही मुझसे कहे।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'हमारी प्रिया हो आपने सबसे प्रिय (वस्तु) माँगी, अच्छा तो आपको यह बतलाता हूँ। मेरे वचनको ध्यानमे करो।' और उसने कहा—'अरे ! पतिकी कामनाकेलिए पति प्रिय नही होता, अपनी कामना (=भोग) केलिए पति प्रिय होता है। अरे ! भार्याकी कामनाके लिए भार्या प्रिया नही होती, अपनी कामनाके लिए भार्या प्रिय होती है। ....पुत्र....वित्त....पशु....ब्रह्म....क्षत्र....लोक....

देव....वेद ....भूत....सर्वकी कामनाके लिए सर्व (=सब वस्तुएँ) प्रिय नही होता, अपनी कामनाके लिए सर्व प्रिय होता है। अरे! आत्मा (=आप) ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यास (=ध्यान) करने योग्य है। मैत्रेयि! आत्माके दृष्ट, श्रुत, मत विज्ञात हो जानेपर यह सब (=विश्व) विदित हो जाता है। ब्रह्म उसे हटा देता है, जो आत्मासे अलग ब्रह्मको जानता है। क्षत्र....लोक....देव....वेद ...भूत (=प्राणी). ..सर्व....। यह जो आत्मा है वही ब्रह्म, क्षत्र....लोक....देव... वेद....भूत....सर्व है। ....जैसे सभी जलोंका समुद्र एकायन (=एकघर) है; ऐसे ही सभी स्पर्शोका त्वक ....गंधोंकी नासिका....रसोंकी जिह्वा....रूपोंका नेत्र.... शब्दोंका श्रोत्र,....संकल्पोंका मन....विद्याओका हृदय....कर्मोका हाथ....आनन्दोका उपस्थ (=जनन-इन्द्रिय)....विसर्गों (=त्यागो) की गुदा....मार्गोके पैर....सभी वेदोकी वाणी एकायन है। सो जैसे सेधा (=नमक) पूर्ण होता है बाहर भीतर (कही) बिना छोडे सारा (लवण-) रसपूर्ण ही है, इसी तरह अरे! मै आत्मा बाहर भीतर (कही) न छोडे **प्रज्ञानपूर्ण** (=प्रज्ञम्नघन) ही हूँ। इन (शरीरके) भूतोसे उठकर उनके बाद ही विनष्ट हो जाता है, अरे! मरकर (प्रेत्य) सज्ञा नही है (यह मै) कहता हूँ।'

" . मैत्रेयीने कहा—'यही मुझे भगवान्ने मोहमे डाल दिया, मैं इसे नही समझ सकी।'

"उस (=याज्ञवल्क्य)ने कहा—'अरे! मै मोह (की बात) नही कहता। अविनाशी है अरे! यह आत्मा; उच्छिन्न न होनेवाला है। जहाँ द्वैत हो वहाँ (उनमेसे) एक दूसरेको देखता....सूँघता....चखता.... बोलता....सुनता....मनन करता....छूता....विजानन करता है; जहाँ कि सब उसका आत्मा ही है, वहाँ किससे किसको देखे.... विजानन करे। सो यह 'नेति नेति' आत्मा अगृह्य=नही ग्रहण किया जा सकता ० अ-संग=नही लिप्त हो सकता है। ....मैत्रेयी! यह

(जो स्वय) सबका विज्ञाता (=जाननहार) है, उसे किससे जाना जाये, यह मैत्रेयी ! तुझे अनुशासना कह दी गई। अरे ! इतना ही अमृतत्व है।' यह कह याज्ञवल्क्य चल दिये।"

याज्ञवल्क्यके इन उपदेशोसे पता लगता है, कि यद्यपि अभी भी जगत्के प्रत्याख्यानका सवाल नही उठा था, और न पीछेके **योगाचारों** और शकरानुयायियोकी भाँति "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या" तक बात पहुँची थी; तो भी सुषुप्ति और मुक्तिमे याज्ञवल्क्य ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी और तत्त्वका भान होता है, इसे स्वीकार नही करते थे। आनंदोकी सीमा ब्रह्म या ब्रह्मलोक है—वह सिर्फ अभावात्मक गुणोका ही धनी नही है। ब्रह्म सबके भीतर है और सबको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है। यद्यपि अन्तमें याज्ञवल्क्यने घर-बार छोडा, किन्तु सन्तानरहित एक बूढेके तौर पर। घर छोडते वक्त उनका ब्रह्मज्ञान (=दर्शन) पहिलेसे ज्यादा बढ गया था, इसकी सभावना नही है। पहिले जीवनमे धन और कीर्ति दोनोका उन्होंने खूब संग्रह किया यह हम देख चुके है। याज्ञवल्क्यके समयमे कर्म-काडपर जबर्दस्त सदेह होने लगा था, यज्ञमे लाखो खर्च करनेवाले क्षत्रियोके मनमे पुरोहितोकी आमदनीके सबध मे खतरनाक विचार पैदा हो रहे थे। साथ ही गृहत्यागी श्रमण और तापस साधारण लोगोको अपनी तरफ खीच रहे थे। ऐसी अवस्थामे याज्ञवल्क्य और उनके गुरु आरुणिकी दार्शनिक विचारधाराने ब्राह्मणोके नेतृत्वको बचानेमे बहुत काम किया। (१) पुराने ब्राह्मण इन बातोपर डटे हुए थे—यज्ञसे लौकिक पारलौकिक सारे सुख प्राप्त होते है। (२) ब्राह्मण-विरोधी-विचार-धारा कहती थी—यज्ञ, कर्मकाड फजूल है, इन्हे लोकमे कितनी ही बार असफल होते देखा गया है; ब्राह्मण अपनी दक्षिणाके लोभसे परलोकका प्रलोभन देते है। (३) इसपर आरुणि-याज्ञवल्क्य का कहना था—ज्ञानके बिना कर्म बहुत कम फल देता है। ज्ञान सर्वोच्च साधन है, उससे हम उस अक्षर ब्रह्मके पास जाते है, जिसका आनंद सभी आंनदोकी चरम सीमा है। इस ब्रह्मलोकको हम नही देखते, किन्तु वह है, उसकी हल्कीसी झाँकी हमे गाढ निद्रा

(सुषुप्ति)मे मिलती है जहाँ—

"जब सो गये हो गये बराबर।
कब शाहो-गदामे फर्क पाया॥"

इन्द्रिय-अगोचर इस ब्रह्मलोकके ख्यालको मजबूत कर देनेपर यज्ञ-फल भोगनेवालेकेलिए देवलोककी सत्ताको मनवानेका भी काम चल जाता है। सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य यज्ञके वेद (यजुर्वेद)के मुख्य आधार तथा यजुर्वेदके कर्मकाण्डीय ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण—के महान् कर्त्ता है। यज्ञरूपी अदृढ़ प्लवोंको उन्होंने सबसे अधिक दृढ़ता प्रदान की। उपनिषद्के इन ऋषियोंने अपने सारे ब्रह्मज्ञानके साथ पुनर्जन्म, परलोककी बात छोड़ी नही। सामाजिक दृष्टिसे देखनेपर पुरोहित वर्गके आर्थिक स्वार्थपर जो एक भारी संकट आया था, उसे यज्ञोंकी प्रथाको पूर्ववत प्रधान स्थान दिलाकर तो नही, बल्कि स्वयं गुरु बनने तथा श्रद्धा-दक्षिणा पानेका पहिलेसे भी मजबूत दूसरा रास्ता—ब्रह्मज्ञान-प्रचार—निकालकर हटा दिया। अब जहाँ ब्राह्मण पुरोहित बन पुराने यज्ञोंमे श्रद्धा रखनेवालेकी सन्तुष्टि कर्मकांड द्वारा कर सकते थे, वहाँ ब्राह्मण ज्ञानी बुद्धिवादियोंको ब्रह्म ज्ञानसे भी सन्तुष्ट कर सकते थे।[1]

४. सत्यकाम जाबाल (६५० ई० पू०)

सत्यकाम जाबालका दर्शन जैसा हम छान्दोग्यमें पाते है और उसके प्रकट करनेका जो स्थूलसा ढंग है, उससे वह समय याज्ञवल्क्यसे पहलेवाली पीढ़ीका मालूम होता है। याज्ञवल्क्यके यजमान जनक वैदेह[2]ने सत्य-कामसे अपने वार्तालापका जिक्र किया है, उससे याज्ञवल्क्यके समयमें उसका होना सिद्ध होता है। अपने गुरु हारिद्रुमत गौतमके अतिरिक्त गोश्रुति वैयाघ्र-पद्य[3]का नाम सत्यकामके साथ आता है, वैयाघ्रपद्य उसके शिष्योंमे था।

---

[1] इसकालकी सामाजिक व्यवस्थाके लिए देखो मेरी "वोल्गासे गंगा"में "प्रवाहण जैवलि" पृष्ठ ११८-३४ [2] बृह० ४।१।६ [3] छां० ५।२।३

(१) जीवनी—सत्यकाम जाबालके जीवनके बारेमें उपनिषद्से हमे इतना ही मालूम होता है[1]—

"सत्यकाम जाबालने (अपनी) मा जबालासे पूछा—'मै ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ . . . ., मेरा गोत्र क्या है ?'

'बहुतोंके साथ सचरण-परिचारण करती जवानीमे मैंने तुझे पाया। इसलिए मै नही जानती कि तेरा क्या गोत्र है। जबाला तो नाम मेरा है, सत्यकाम तेरा नाम, इसलिए सत्यकाम जाबाल ही तू कहना।'

"तब वह हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर बोला—'भगवान्के पास ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ, भगवान्की शिष्यता मुझे मिले।'

"उससे पूछा—'क्या है सोम्य ! तेरा गोत्र ?'

"उसने कहा—'मै यह नही जानता भो. ! माँसे पूछा, उसने मुझसे कहा—बहुतोंके साथ संचरण-परिचारण करती जवानीमे मैंने तुझे पाया। . . .सत्यकाम जाबाल ही तू कहना। सो मै सत्यकाम जाबाल हूँ भो. !'

"उससे (=गौतमने) कहा—'अ-ब्राह्मण ऐसे (साफ-साफ) नहीं कह सकता। सौम्य ! समिधा ला, तेरा उपनयन (=शिष्य बनाना) करूँगा, तू सत्यसे नही हटा।' "

(२) अध्ययन—" . .उपनयनके बाद दुबली-पतली चार सौ गौओंको हवाले कर (हारिद्रुमत गौतमने) कहा—'सोम्य ! इनके पीछे जा।' . . . 'हजार हुए बिना नही लौटना।' उसने कितने ही वर्ष (=वर्षगण) प्रवास किये, जब कि वह हजार हो गईं, तब ऋषभ (=साँड)ने उसके पास आकर (बात) सुनाई—'हम हजार हो गए, हमे आचार्य-कुलमे ले चलो। और मै ब्रह्मका एक पाद तुझे बतलाता हूँ।'

'बतलाये मुझे भगवान् !'

'पूर्व दिशा एक कला, पच्छिम दिशा एक कला, दक्षिण दिशा एक कला, उत्तर दिशा एक कला—यह सोम्य ! ब्रह्मका प्रकाशवान् नामक चार

---

[1] छां० ४।४।१–५

कलावाला पाद है। (अगला) पाद अग्नि तुझे बतलायेगा।'

"दूसरे दिन उसने गायोंको हाँका। जब संध्या आई तो आगको जगा गायोंको घेर, समिधाको रखकर आगके सामने बैठा। उसे अग्निने आकर कहा—'सत्यकाम !'

'भगवन् !'

'ब्रह्मका एक पाद मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'बतलायें मुझे भगवन् !'

'पृथिवी एक कला, अन्तरिक्ष...., द्यौ....समुद्र एक कला है। यह सोम्य—ब्रह्मका अनन्तवान् नामक चार कलावाला पाद है।....हंस तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

"....'अग्नि....सूर्य....चन्द्र....विद्युत्....कला है। यह ....ज्योतिष्मान् नामक....पाद है।....मद्गु तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

"....'प्राण....चक्षु....श्रोत्र....मन....कला है। यह ....आयतन(=इन्द्रिय)वान् नामक....पाद है।'

"वह आचार्यकुलमें पहुँच गया। आचार्यने उससे कहा—'सत्यकाम !'

'भगवन् !'—उत्तर दिया।"

'ब्रह्मवेत्ताकी भाँति सौम्य ! तू दिखाई दे रहा है, किसने तुझे उपदेश दिये ?'

'(वह) मनुष्योंमेंसे नहीं थे।....भगवान् ही मुझे इच्छानुसार बतला सकते हैं। भगवान्-जैसोंसे सुना है, आचार्यके पाससे जानी विद्या ही उत्तम प्रयोजन (=समाधि)को प्राप्त करा सकती है।'

"(आचार्यने) उससे कहा—'यहाँ छूटा कुछ नहीं है।'"

इससे इतना ही पता लगता है कि गौतमने सत्यकामसे कई वर्षों गायें चरवाईं, वहीं चराते वक्त पशुओं और प्राकृतिक वस्तुओंसे उसे दिशाओं, लोकों, प्राकृतिक शक्तियों और इन्द्रियोंसे व्याप्त प्रकाशमान्, ज्योतिः स्वरूप इन्द्रिय (=चेतना)-प्रेरक ब्रह्मका ज्ञान हुआ।

(३) **दार्शनिक विचार**—सत्यकाम ब्रह्मको व्यापक, अनन्त, चेतन, प्रकाशवान् मानता था, यह ऊपर आ चुका। जनकको उसने "मन ही ब्रह्म"[1] का उपदेश किया था, अर्थात् ब्रह्म मनकी भाँति चेतन है। उसके दूसरे दार्शनिक विचार (आँखमेंका पुरुष ही ब्रह्म है आदि) उस उपदेशसे जाने जा सकते हैं, जिसे कि उसने अपने शिष्य उपकोसल कामलायनको दिया था।[2]—

"उपकोसल कामलायनने सत्यकाम जाबालके पास ब्रह्मचर्यवास (=शिष्यता) किया। उसने गुरुकी (पूजा की) अग्नियोंकी बारह वर्ष तक सेवा (=परिचरण) की। वह (=सत्यकाम) दूसरे शिष्योका समावर्त्तन (शिक्षा समाप्तिपर विदाई) कराते भी इसका समावर्त्तन नही कराता था। उससे पत्नीने कहा—

'ब्रह्मचारीने तपस्या की, अच्छी तरह अग्नि-परिचरण किया। क्या तुझे अग्नियोंने इसे बतलानेको नही कहा ?'

"(सत्यकाम) बिना बतलाये ही प्रवास कर गया। उस(=उपकोसल) ने (चिता-) व्याधिके मारे खाना छोड़ दिया। उसे आचार्य-जायाने कहा—

'ब्रह्मचारिन् ! खाना खा, क्यो नही खाता ?'

'इस पुरुषमे नाना प्रकारकी बहुतसी कामनाएं हैं। मै (मानसिक) व्याधियोंसे परिपूर्ण हूँ। (अपनेको) नष्ट करना चाहता हूँ।"

इसके बाद जिन अग्नियोंकी उसने सेवा की थी, उन्होंने उसे उपदेश दिया—

"....'प्राण ब्रह्म है ...प्राणको आकाश भी कहते है।....जो यह आदित्यमें पुरुष (=आत्मा) है, वह मै (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह चन्द्रमामे पुरुष (=आत्मा) है, वह मैं (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह विद्युतमे पुरुष है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।'. .."

साथ ही अग्नियोंने यह भी कहा—"'उपकोसल ! यह विद्या तू हमसे

---

[1] बृह० ४।१।६ [2] छां० ४।१०।१

जान, (बाकी) आचार्य तुझे (इसकी) गति बतलायेगा।'

आचार्यने आनेपर पूछा— 'उपकोसल!'

'भगवन्!'

'सोम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताकी भाँति दिखलाई दे रहा है। किसने तुझे उपदेश दिया।'

'कौन मुझे उपदेश देता भो:!'

पीछे और पूछनेपर उपकोसलने बात बतलाई, तब सत्यकामने कहा—

'सोम्य! तुझे लोकोंके बारेमें ही उन्होंने कहा, मैं तुझे वह (ज्ञान) बतलाऊँगा; कमल-पत्रमें पानी नही लगनेकी तरह ऐसा जाननेवालोंमें पापकर्म नहीं लगता।'

'कहे भगवन्।'

'यह जो आँखमे पुरुष दिखलाई पड़ता है, यह आत्मा है। यह अमृत, अभय है, यह ब्रह्म है।'"

५—सयुग्वा (=गाड़ीवाला) रैक्व

सयुग्वा रैक्व उपनिषत्कालके प्रसिद्ध ही नहीं आरम्भिक ऋषियोंमें मालूम होता है। बैलगाड़ी नाथ जहाँ-तहाँ आधे पागलोंकी भाँति घूमते रहना, तथा राजाओं और सम्पत्तिकी पर्वाह न करना—एक नये प्रकारके विचारकोंका नमूना पेश करना था। यूनानमें दियोजेन[1] (४१२-३२३ ई० पू०)—जो कि चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणके साल मरा—भी इसी तरहका एक फक्कड़ दार्शनिक हुआ था, अपने स्नान-भाजनमें बैठे रहते उपदेश देना उसका मशहूर है। भारतमें इस तरहके फक्कड़—चाहे उनमें विचारोंकी मौलिकता हो या न हो—अभी भी सिद्ध महात्मा समझे जाते है। याज्ञवल्क्यने जो ब्रह्मज्ञानीको बालककी भाँति रहनेकी बात[2] कही थी, वह सयुग्वा जैसों हीके आचरणसे आकृष्ट होकर कही मालूम होती है।

---

[1] Diogenes [2] वृह०

इतना होते भी सयुग्वा अध्यात्मवादी नही ठेठ भौतिकवादी दार्शनिक था, वह संसारका मूल उपादान याज्ञवल्क्यके समकालीन अनक्सिमनस्[1] (५९०-५५०)की भाँति वायुको मानता था।

रैक्कका जीवन और उपदेश—सिर्फ छान्दोग्यमे और उसमे भी सिर्फ एक स्थानपर सयुग्वा रैक्वका जिक्र आया है[2]—

"(राजा) **जानश्रुति पौत्रायण** श्रद्धासे दान देनेवाला, बहुत दान देनेवाला था, (अतिथियोके लिए) बहुत पाक (बाँटनेवाला) था। उसने सर्वत्र आवसथ(=पथिकशालाए, धर्मशालाए) बनवाई थी, (इस ख्यालसे कि) सर्वत्र (लोग) मेरा ही (अन्न) खायेगे। हस रातको उड रहे थे। उस समय एक हसने दूसरे हंससे कहा—

'हो-हो-हि भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! जानश्रुति पौत्रायणकी भाँति (यहाँ) दिनकी ज्योति (=अग्नि) फैली हुई है, सो छू न जाना, जल न जाना।'

"उसे दूसरेने उत्तर दिया—'कम्बर! तू तो ऐसा कह रहा है, जैसे कि वह सयुग्वा रैक्व हो।'

'कैसा है सयुग्वा रैक्व?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते है, इसी तरह प्रजाए जो कुछ अच्छा कर्म करती है वह उस (=रैक्व)के ही पास चले जाते है ...।'

"जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। उसने बड़े सबेरे उठते ही क्षत्ता (=सेक्रेटरी)से कहा—'अरे प्रिय! सयुग्वा रैक्वके बारेमे बतलाओ न?'

'कैसा सयुग्वा रैक्व?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते है....।'

"ढूँढनेके बाद क्षत्ताने कहा—'नही पा सका।'

"(फिर) जहाँ ब्राह्मणोको ढूँढ़ा जा सकता है, वहाँ ढूँढो।'

"वह शकटके नीचे दाद खुजलाता बैठा हुआ था। (क्षत्ताने) उससे पूछा—'भगवन्! तुम्ही सयुग्वा रैक्व हो?'

---

[1] Anaximanes   [2] छां० ४।१

'मै ही हूँ रे !'. ..

"क्षत्ता. . . .लौट गया। तब जानश्रुति पौत्रायण छै सौ गायो, निष्क (=अशर्फी या सुवर्ण मुद्रा), खचरी-रथ लेकर गया, और उससे बोला—

'रैक्व ! यह छै सौ गाये है, यह निष्क है, यह खचरी-रथ है। भगवन् ! मुझे उस देवताका उपदेश करो, जिस देवताकी तुम उपासना करते हो।'

"(रैक्वने) कहा—'हटा रे शुद्र ! गायोके साथ (यह सब) तेरे ही पास रहे।'

"तब फिर जानश्रुति पौत्रायण हजार गाये, निष्क, खचरी-रथ (और अपनी) कन्याको लेकर गया—और उससे बोला—

'रैक्व ! यह हजार गाये है, यह निष्क है, यह खचरी-रथ है, यह (तुम्हारे लिए) जाया (=भार्या) है, यह गाँव है जिसमे तुम (इस समय) बैठे हुए हो। भगवन् ! मुझे उपदेश दो।'

"(रैक्वने) उस (कन्या)के मुखको (हाथसे) ऊपर उठाते हुए कहा—

'हटा रे शूद्र ! इन सबको, इसी मुखके द्वारा तू मुझसे (उपदेश) कहलवायेगा। . . . .वायु ही मूल (=सवर्ग) है। जब आग ऊपर जाती है वायुमे ही लीन होती है। जब सूर्य अस्त होता है, वायुमे ही लीन होता है। जब चन्द्र अस्त होता है, वायुमे ही लीन होता है। जब पानी सूखता है, वायुमे ही लीन होता है। वायु ही इन सबको समेटता है।—यह देवताओके बारेमे। अब शरीरमे (=अध्यात्म) प्राण मूल (=सवर्ग) है, वह जब सोता है, वाणी प्राणमे ही लीन होती है ...चक्षु....श्रोत्र....मन प्राणमे ही लीन होता है.... । यही दोनो मूल है—देवोमे वायु, प्राणोंमे प्राण।'"

इस प्रकार भौतिक जगत् (=देवताओ) और शरीर (=अध्यात्म) दोनोमे वायुको ही मूलतत्त्व मानना रैक्वका दर्शन था। रैक्वको फक्कडपन बहुत पसंद था, इसलिए 'राजकन्याको लिए बैलगाडीपर बिचरना, और गाड़ीके नीचे बैठे दाद खुजलाना जितना उसे पसद था, उतना उसे गाँव, सोना, गाये, रथ नही।

पंचदश अध्याय

स्वतंत्र विचारक

जिस समय भारतमे उपनिषद्के दार्शनिक विचार तैयार हो रहे थे, उसी वक्त उससे उलटी दिशाकी ओर जाती दूसरी विचार-धाराए भी चल रही थी, स्वय उपनिषद्मे भी इसका पता लगता है।[1] सयुग्वा रैक्वके विचार भी भौतिकवादकी ओर झुकते थे, यह हम देख चुके है। ये तो वे विचारक थे, जो किसी न किसी तरह वैदिक परपरासे अपना सबध बनाये रखना चाहते थे, किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे भी विचारक थे, जो वैदिक परपरासे अपनेको बँधा नही समझते थे, और जीवन तथा विश्वकी पहेलियोको वैदिक परंपरासे बाहर जाकर हल करना चाहते थे। हम "मानव समाज"मे कह चुके है, कि भारतीय आर्योंका प्रारभिक समाज जब अपनी पितृसत्ताक व्यवस्थासे आगे सामन्तवादकी ओर बढा तो उसकी दो शाखाए हुई, एक तो वह जिसने कुरु-पचाल (मेरठ-रुहेलखड) और आसपासके प्रदेशोंमे जा राजसत्ता कायम की, दूसरी वह जिसने कि पजाब तथा मल्ल-वज्जी (युक्तप्रान्त-बिहारकी सीमाओपर)मे अपने सामन्तवादी प्रजातंत्र कायम किये। इनके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि सिन्धु-उपत्यका और दूसरे भू-भागोमे भी जिस जाति (=असुर)से आर्योंका संघर्ष हुआ था, वह सामन्तवादी थे, राजतात्रिक थे, सभ्य थे नागरिक थे। उनके परास्त होनेका मतलब यह नही था, कि सभ्यता और विचारोमे जो विकास उन्होंने किया था, वह उनके पराजयके साथ बिल्कुल लुप्त हो गया।

---

[1] "तद्धैक आहुः 'असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीय तस्मादसतः सज्जायते'।" छां० ६।२।१

ईसा-पूर्व छठी-सातवी सदीमें जब कि भारतमे दर्शनका स्रोत पहिले-पहिल फूट निकला, उस समय तीन प्रणालियाँ मौजूद थी—वैदिक (ब्राह्मणानुयायी) आर्य, अ-वैदिक (ब्राह्मणोसे स्वतत्र, या व्रात्य) आर्य, और न-आर्य। इनमे वैदिक और अवैदिक आर्योंके राजनीतिक (-आर्थिक) क्षेत्र किसी एक जनपदकी सीमाके भीतर न थे। लेकिन न-आर्य नागरिक दोनोमे मौजूद थे गणो (=प्रजातंत्रो)मे खूनकी प्रधानता मानी जानेसे राजनीतिमे सीधे तो वह दखल नही दे सकते थे, किन्तु उनकेलिए राजतत्रोमे सुविधा अधिक थी। वहाँ किसी एक कबीले(=जन)की प्रधानता न होनेसे राजा और पुरोहितकी आधीनता स्वीकार कर लेनेपर उनकेलिए भी राज्यके उच्चपद और कभी-कभी तो राजपद पर भी पहुँचनेका सुभीता था। इतना होनेपर भी दर्शन-युगके आरभ होनेसे पहिले अनार्य-सस्कृतिसे आर्य-संस्कृतिको अलग रखने हीकी कोशिश की जाती रही। वेद-सहिताएं उठाइए, ब्राह्मणोंको देखिए, कही अनार्य-धार्मिक रीति-रवाजोको लेने या समन्वयका प्रयास नही मिलता—इसका अपवाद यदि है तो अथर्ववेद; किन्तु बुद्धके समय (५०० ई० पू०) तक वेद अभी तीन ही थे, बुद्धके समकालीन उपनिषदोमे इसका नाम तो आता है, किन्तु तीनो वेदोंके बाद बिना वेद-विशेषणके—अथर्ववेद नही **आथर्वण**[1] या **अथर्वांगिरस**[2]के नामसे[3], तो भी अथर्ववेद निम्न तलपर आर्य-अनार्य धर्मों—मंत्र-तंत्रो, टोने-टोटको—के मिश्रणका प्रथम प्रयत्न है। दर्शनकी शिक्षा यद्यपि दास-स्वामी दो वर्गोंमे विभक्त समाजमे जरा भी हेरफेर करनेकेलिए तैयार नही है, तो भी मानसिक तौरपर इस तरहके भेदको मिटानेका प्रयत्न जरूर करती है।—इस दिशामे वैदिक दर्शन (=उपनिषद्)का प्रयत्न जितना हुआ, उससे कही अधिक प्रयत्नशील हम अ-वैदिक दर्शनोको पाते हैं। बुद्धने

---

[1] छां० ७।१।२; ७।२।१ [2] बृह० ४।१।२

[3] छान्दोग्य (१।३)में भी कई बार तीन ही वेदोंका जिक्र किया गया है।

जातिभेद या रंगके प्रश्न (आर्य-अनार्य-भेद)को उठा देना चाहा। यही बात जैन, आजीवक आदि धर्मोंके बारेमें भी है।

इन स्वतंत्र विचारकोंमें चार्वाक और कपिलके दर्शन प्रथम आते है, उनके बाद बुद्ध और उनके समकालीन तीर्थंकर (=सम्प्रदाय-प्रवर्तक)।

§१. बुद्धके पहिलेके दार्शनिक

चार्वाक

भौतिकवादी दर्शनको हमारे यहाँ चार्वाक दर्शन कहा जाता है। **चार्वाक**का शब्दार्थ है चबानेकेलिए मुस्तैद या जो खाने पीने—इस दुनिया-के भोगको ही सब कुछ समझता है। चार्वाक मत-संस्थापक व्यक्तिका नाम नही है। बल्कि परलोक पुनर्जन्म, देववादसे जो लोग इन्कारी थे, उनके लिए यह गालीके तौरपर इस्तेमाल किया जाता था। जडवादी दर्शनके आचार्योंमें **बृहस्पति**का नाम मिलता है। बृहस्पतिने शायद सूत्र, रूपमें अपने दर्शनको लिखा था। उसके कुछ सूत्र कही-कही उद्धृत भी मिलते है। किन्तु हम देखेंगे कि सूत्र-रूपेण दर्शनोका निर्माण ईसवी सनके बादसे शुरू हुआ है। बुद्धके समकालीन अजित केशकम्बल भी जडवादी थे, किन्तु वह धार्मिक चोगेको उतारना पसंद न करते थे। प्राचीन चार्वाक-सिद्धान्त जडवादके सिद्धान्त थे—ईश्वर नही, आत्मा नही, पुनर्जन्म और परलोक नही। जीवनके भोग त्याज्य नही ग्राह्य है। तजर्बे (अनुभव) और बुद्धिको हमें सत्यके अन्वेषणकेलिए अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए। चार्वाक दर्शनके कितने ही और मंतव्य हमें पीछेके ग्रंथोंमें मिलते है। वह उसके पिछले विकासकी चीजे है। उनके बारेमें हम आगे कहेंगे।

§२. बुद्ध-कालीन और पीछेके दार्शनिक (५००-१५० ई० पू०)

हमने "विश्वकी रूपरेखा"में देखा, कि 'अचेतन' प्रकृतिके राज्यमें गति शान्त एकरस प्रवाहकी तरह नही, बल्कि रह-रह कर गिरते जल-प्रपात या मेढककुदानकी भाँति होती है। "मानव समाज"में भी यही बात मानव-

सस्कृति, वैज्ञानिक आविष्कारो और सामाजिक प्रगतिके बारेमे देखी। दर्शनक्षेत्रमे भी हम यही बात देखते है--कुछ समय तक प्रगति तीव्र होती है, फिर प्रवाह रुँध जाता है, उसके बाद एकत्रित होती शक्ति एक बार फिर फूट निकलती देख पडती है। हर वादके प्रतिवादमे, जान पडता है, काफी समय लगता है, फिर संवाद फूट निकलता है। यूरोपीय दर्शनके इतिहासमे हम ईसा-पूर्व छठीसे चौथी शताब्दीका समय दर्शनकी प्रगतिका सुनहरा समय देखते है, फिर जो प्रवाह क्षीण होता है तो तेरहवी सदीमे कुछ सुगबुगाहट होती दीख पडती है, और सत्रहवी सदीमे प्रवाह फिर तीव्र हो जाता है। भारतीय इतिहासमे ई० पू० पद्रहवीसे तेरहवी सदी भरद्वाज, वशिष्ट, विश्वामित्र जैसे प्रतिभाशाली वैदिक कवियोका समय है। फिर छै सदियोके कर्मकाडी जगलकी मानसिक निद्राके बाद हम ई० पू० सातवी-छठवी-पाँचवी सदियोके दर्शनके रूपमे प्रतिभाको जागते देखते है। इन तीन सदियोके परिश्रमके बाद, मानो श्रान्त प्रतिभा स्वास्थ्यकेलिए सदियोकी निद्राको आवश्यक समझती है, और फिर ईसाकी दूसरी सदीमे, तीन सदियो तक यूनानी दर्शनसे प्रभावित हो, वह नागार्जुनके दर्शनके रूपमे फूट निकलती है। चार सदियो तक प्रवाह प्रखर होता जाता है, उसके बाद आठवी और बारहवी सदीमे सिवाय थोडीसी करवट बदलनेके वह अब तक चिरसुप्त है।

उपनिषद्के जैबलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य ऋषियों, आदि और चार्वाक-दर्शनके स्वतत्र विचारकोने जो विचार-सम्बन्धी उथल-पुथल पैदा की थी, वह अब पाँचवी सदी ई० पू०मे अपनी चरमसीमापर पहुँच रही थी। यह बुद्धका समय था। इस कालके निम्नलिखित दार्शनिक बहुत प्रसिद्ध है, इनका उस समयके सभ्य समाजमे बहुत सन्मान था--

१. भौतिकवादी--अजित केशकम्बल, मक्खलि गोशाल

२ नित्यतावादी--पूर्णकाश्यप, प्रकुधकात्यायन

३ अनिश्चिततावादी--सजय वेलट्ठिपुत्त, निगठ नातपुत्त

४. अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी--गौतम बुद्ध।

१—अजित केशकम्बल (५२३ ई० पू०) भौतिकवादी

अजित केशकम्बलके जीवनके बारेमे हमे इससे अधिक नही मालूम है, कि वह बुद्धके समय एक लोक-विख्यात, सम्मानित तीर्थंकर (सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक) था। कोसलराज प्रसेनजित्ने बुद्धसे एक बार कहा था[1]—"हे गौतम! वह जो श्रमण-ब्राह्मण सघके अधिपति, गणाधिपति, गणके आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत जनो द्वारा सुसम्मत है, जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगठ नातपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त, प्रकुध कात्यायन, अजित केशकम्बल—वह भी यह पूछनेपर कि (आपने) अनुपम सच्ची सम्बोधि (=परम ज्ञान)को जान लिया, यह दावा नही करते। फिर जन्मसे अल्पवयस्क, और प्रव्रज्या (=सन्यास)मे नये आप गौतमकेलिए तो क्या कहना है?"

इससे जान पडता है, कि बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से अजित उम्रमे ज्यादा था। त्रिपिटकमे अजित और बुद्धके आपसमे सवादकी कोई बात नही आती, हॉ यह मालूम है कि एक बार बुद्ध और इन छओ तीर्थंकरोका वर्षावास राजगृहमे (५२३ ई० पू०) हुआ था।[2] केशकम्बल नाम पडनेसे मालूम होता है, कि आदमीके केशोका कम्बल पहिननेको, सयुग्वा रैक्वकी बैलगाडीकी भाँति उसने अपना बाना बना रखा था।

दर्शन—अजित केशकम्बलके दार्शनिक विचारोका जिक्र त्रिपिटकमे कितनी ही जगह[3] आया है, लेकिन सभी जगह एक ही बातको उन्ही शब्दोमे दुहराया गया है।—

"दान .यज्ञ ...हवन नही (=बेकार है), सुकृत-दुष्कृत कर्मोका फल=विपाक नही। यह लोक-परलोक नही। माता-पिता नही। देवता

---

[1] संयुत्त-निकाय ३।१।१ (देखो, "बुद्धचर्या", पृ० ९१)
[2] बुद्धचर्या, पृ० २६६, ७५ (मज्झिम-निकाय, २।३।७)
[3] दीघ-निकाय, १।२; मज्झिम-निकाय, २।१।१०, २।६।६

(=औपपातिक, अयोनिज) नही। लोकमे सत्य तक पहुँचे, सत्यारूढ (=ऐसे) श्रमण-ब्राह्मण नही है, जो कि इस लोक, परलोकको स्वयं जानकर, साक्षात्कर (दूसरोंको) जतलावेगे। आदमी चार महाभूतोंका बना है। जब (वह) मरता है, (शरीरकी) पृथिवी पृथिवीमे....पानी पानीमे. .आग आगमे....वायु वायुमे मिल जाते है। इन्द्रियाँ आकाशमे चली जाती है। मृत पुरुषको खाटपर ले जाते है। जलाने तक चिह्न जान पडते है। (फिर) हड्डियाँ कबूतर(के रग)सी हो जाती है। आहुतियाँ राख रह जाती है। दान (करो) यह मूर्खोका उपदेश है। जो कोई आस्तिकवादकी बात करते है, वह उनका (कहना) तुच्छ (=थोथा) झूठ है। मूर्ख हो चाहे पडित, शरीर छोडनेपर (सभी) उच्छिन्न हो जाते है, विनष्ट हो जाते है; मरनेके बाद (कुछ) नही रहता।"

यहाँ हमे अजितका दर्शन उसके विरोधियोके शब्दोमे मिल रहा है, जिसमे उसे बदनाम करनेकेलिए भी कोशिश जरूर की गई होगी। अजित आदमीको चातुर्महाभौतिक (=चारो भूतोका बना) मानता था। परलोक और उसकेलिए किए जानेवाले दान-पुण्य तथा आस्तिकवादको वह झूठ समझता था, यह तो स्पष्ट है। किन्तु वह माता-पिता और इस लोकको भी नही मानता था यह गलत है। यदि ऐसा होता तो वह वैसी शिक्षा न देता, जिसके कारण वह अपने समयका लोक-सम्मानित सम्भ्रान्त आचार्य माना जाता था, फिर तो उसे डाकुओ और चोरोका आचार्य या सर्दार होना चाहिए था।

अजितने अपने दर्शनमे, मालूम होता है, उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अच्छी खबर ली थी। सत्य तक पहुँचा (=सम्यग्-गत), 'सत्यआरूढ' ब्रह्मज्ञानी कोई हो सकता है, यह माननेसे उसने इन्कार किया; एक जन्मके पाप-पुण्यको आदमी दूसरे जन्मे इसी लोकमे अथवा परलोकमे भोगता है इसका भी खडन किया।

उग्र भौतिकवादी होते हुए भी अजित तत्कालीन साधुओ जैसे कुछ सयम-नियमको मानता था, यह उक्त उद्धरणके आगे—'ब्रह्मचर्य, नंगा, मुडित

रहना, उकडूँ-तप करना, केश-दाढी नोचना'—इस वचनसे मालूम होता है। किन्तु यह वचन छओ अ-बौद्ध तीर्थकरोंकेलिए एक ही तरह दुहराया गया है, और निगंठ नातपुत्तके (जैन-) मतमे यह बाते धर्मका अग मानी भी जाती रही है, जिससे जान पड़ता है, त्रिपिटकको कठस्थ करनेवालोने एक तीर्थंकरकी बातको कठ करनेकी सुविधाकेलिए सबके साथ जोड दी—स्मरण रहे बुद्धके निर्वाणके चार सदियो बाद तक बुद्धका उपदेश लिखा नही गया था।

२. मक्खलि गोशाल (५२३ ई० पू०) अकर्मण्यतावादी

मक्खलि (=मस्करी) गोशालका जिक्र बौद्ध और जैन दोनो पिटकोमे आता है। जैन "पिटक"से पता लगता है, कि वह पहिले जैन मतका साधु था, पीछे उससे निकल गया। गोशालका जो चित्र वहाँ अकित किया गया है, उससे वह बहुत नीच प्रकृतिका ईर्ष्यालु, धर्मान्ध जान पडता है।—उसने महावीर (=जैन-तीर्थंकर, निगठ नातपुत्त)को जानसे मारनेकी कोशिश की; ब्राह्मण-देवताकी मूर्तिपर पेशाब-पाखाना किया, जिससे ब्राह्मणोने उसे कूटा आदि आदि। किन्तु इसके विरुद्ध बौद्ध पिटक उसे बुद्धकालीन छै प्रसिद्ध लोकसम्मानित आचार्योमे एक मानता है, आजीवक सम्प्रदायके तीन आचार्यो (=निर्याताओ)—नन्द वात्स्य, कृश साकृत्य और मक्खली गोशालमेसे एक बतलाता' है[1]। वही[2] यह भी पता लगता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक-) आचार्य नंगे रहते, तथा कुछ सयम-नियमकी पाबन्दी भी करते थे। बुद्धके बुद्धत्व प्राप्त करनेके समय (५३७ ई० पू०मे) आजीवक सम्प्रदाय मौजूद था, क्योकि बुद्ध-गयासे चलनेपर बोधि और गयाके बीच रास्ते उन्हे उपक नामक आजीवक मिला था।[3] इससे यह भी पता लगता है, कि गोशालसे पहिले नन्द

[1] मज्झिम-निकाय, २।३।६ (मेरा हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०४)
[2] वहीं, १।४।६ [3] म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०७)

वात्स्य और कृश साकृत्य आजीवक सम्प्रदायके आचार्य थे।

मक्खलि गोशाल नामकी व्याख्या करनेकी भी पालीमे कोशिश की गई है, जिसमे मक्खलि=मा खलि=न गिर, गो शाल=गोशालामे उत्पन्न बतलाया गया। पाणिनि (४०० ई० पू०)ने मस्करी शब्दको गृहत्यागियोकेलिए माना है। पालीकी व्याख्याकी जगह पाणिनिकी व्याख्या लेनेपर अर्थ होगा 'साधु गोशाल'।

दर्शन—गोशालके (आजीवक) दर्शनका जिक्र पालि-त्रिपिटकमे कई जगह आया है, किन्तु सभी जगह उन्ही शब्दोको दुहराया गया है।[1]—

"प्राणियो (=सत्वों)के सक्लेश (=चित्त-मालिन्य)का कोई हेतु=कोई प्रत्यय नही। बिना हेतुके ही प्राणी सक्लेशको प्राप्त होते है। प्राणियोकी (चित्त-)विशुद्धिका कोई हेतु ..नही। बिना हेतुके ... प्राणी विशुद्ध होते है। बल नही, वीर्य नही, पुरुषकी दृढता नही, पुरुष-पराक्रम नही (काम आते)। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव वश-बल-वीर्यके बिना ही नियति (=भवितव्यता)के वशमे छै **अभिजातियों** (=जन्मो)मे सुख-दु ख अनुभव करते है। चौदह सौ हजार प्रमुख **योनियाँ** है, (दूसरी) साठ सौ, (दूसरी) छै सौ। पाँच सौ कर्म है, (दूसरे) पाँच कर्म, . तीन कर्म, एक कर्म और आधा कर्म। बासठ प्रतिपद् (=मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुष-भूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नागा-वास, बीस सौ इन्द्रियाँ, तीस सौ नरक, छत्तीस रजो (=मलवाली)-धातु, सात सज्ञी (=होशवाले) गर्भ, सात अ-सज्ञी गर्भ, सात निगठी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात पमुट (=गाँठ), सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न।...और अस्सी लाख छोटे बडे कल्प है, जिन्हे मूर्ख और पडित जानकर और अनुगमन कर दु.खोका अन्त कर सकते है। वहाँ यह नही है कि इस शील-व्रतसे, इस तप-ब्रह्म-

---

[1] दीघ-नि०, १।२ (अनुवाद, पृ० २०); "बुद्धचर्या", पृ० ४६२, ४६३

चर्यसे मै अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर (उसका) अन्त करूँगा। सुख और दुःख द्रोण (=नाप)से नपे हुए है। ससारमे घटना-बढना, उत्कर्ष-अपकर्ष नही होता। जैसे कि सूतकी गोली फेकनेपर खुलती हुई गिर पडती है, वैसे ही मूर्ख और पडित दौडकर, आवा-गमनमे पडकर, दुःखका अन्त करेगे।"

इससे जान पड़ता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक) पूरा भाग्य-वादी था, पुनर्जन्म और देवताओको मानता था और कहता था कि जीवन-का रास्ता नपा-तुला है, पाप-पुण्य उसमे कोई अन्तर नही डालते।

३—पूर्ण काश्यप (५२३ ई० पू०) अक्रियावादी

पूर्णकाश्यपके बारेमे भी हम इससे अधिक नही जानते, कि वह बुद्धका समकालीन एक प्रसिद्ध तीर्थंकर था।

दर्शन—पूर्ण अच्छे बुरे कर्मोको निष्फल बतलाता था। किन्तु परलोकके सम्बन्धमे था, या इस लोकके, इसे वह स्पष्ट नही करता था। उसका मत इस प्रकार उद्धृत मिलता है[१]—

"(कर्म) करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान करते, चलते-चलाते, प्राण मारते, विना दिया लेते (=चोरी करते), सेध काटते, गाँव लूटते, चोरी-बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी पाप नही होता। छुरे जैसे तेज चक्र-द्वारा (काटकर) चाहे इस पृथिवीके प्राणियोका (कोई) मासका एक खलियान, मासका एक पुज (क्यो न) बना दे; तो (भी) इसके कारण उसको पाप नही होगा, पापका आगम नही होगा। यदि घात करते-कराते, काटते-कटवाते, पकाते-पकवाते, गगाके (उत्तर तीरसे) दक्षिण तीरपर भी (चला) जाये, तो भी इसके कारण उसको पाप नही होगा, पापका आगम नही होगा। दान देते-दिलाते, यज्ञ करते-कराते यदि गगाके

---

[१] दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० १९, २०)

उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नही होगा, पुण्यका आगम नही होगा। दान-दम-सयमसे सत्य बोलनेसे न पुण्य है न पुण्यका आगम है।"

पूर्ण काश्यपका यह मत परलोकमे भोगे जानेवाले पाप-पुण्यके संबंध हीमे मालूम होता है; इस लोकमे तो चोरी, हत्या, व्यभिचारका फल राजदडके रूपमे अनिवार्य है, इसे वह जानता ही था।

४—प्रक्रुध कात्यायन (५२३ ई० पू०) नित्यपदार्थवादी

प्रक्रुधकी जीवनीके सबंधमे भी हम यही जानते है, कि वह बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन प्रसिद्ध और लोकसम्मानित तीर्थंकर था।

दर्शन—मक्खलि गोशालने भाग्यवादके कारण फलत शुभ कर्मोको निष्फल बतलाया था। पूर्ण काश्यप भी उन्हे निष्फल समझता था। प्रक्रुध कात्यायन हर वस्तुको अचल, नित्य मानता था, इसलिए कोई कर्म वस्तु-स्थितिमे किसी तरहको परिवर्त्तन ला नही सकता, इस तरह वह भी उसी अकर्मण्यतावादपर पहुँचता था। उसका मत इस प्रकार मिलता है[1]—

"यह सात काय (=समूह) अ-कृत=अकृत जैसे=अ-निर्मित=अनिर्मित जैसे, अ-बध्य, कूटस्थ=स्तम्भ जैसे (अचल) है, यह चल नही होते, विकारको प्राप्त नही होते; न एक दूसरेको हानि पहुँचाते है, न एक दूसरेके सुख, दु.ख, या सुख-दु.खकेलिए पर्याप्त (=समर्थ) है। कौनसे सात? पृथिवी-काय (=पृथिवीतत्त्व) जल-काय, अग्नि-काय, वायु-काय, सुख, दु ख और जीवन—यह सात।....यहाँ न (कोई) हन्ता है न घातयिता (=हनन करनेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्रसे भी काट दे, (तो भी) कोई किसीको नही मारता। सातों कायोसे हटकर विवर (=खाली जगह)मे वह शस्त्र गिरता है।"

---

[1] दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २१)

प्रक्रुध पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों, तथा जीवन (=चेतना) के साथ सुख और दुःखको भी अलग तत्त्व मानता था। इन तत्त्वोंके बीचमे काफी खाली जगह है. जिसकी वजहसे हमारा कडासे कडा प्रहार भी वही रह जाता है, और मूलतत्त्वको नही छू पाता। यह विचारधारा बतलाती है, कि दृश्य तत्त्वोंकी तहमे किसी तरहके अखडनीय सूक्ष्म अशको वह मानता था, जो कि एक तरहका परमाणुवादसा मालूम होता है।—खाली जगह या विवर (=आकाश)को उसने आठवॉ पदार्थ नही माना। सुख और दुःखको जीवनसे स्वतत्र वस्तु मानना यही बतलाता है कि कर्मके निष्फल मान लेने पर उन्हे अकृत माने बिना उसकेलिए कोई चारा नही था।

५—संजय वेलट्ठिपुत्त (५२३ ई० पू०) अनेकान्तवादी

सजय वेलट्ठिपुत्त भी बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन तीर्थंकर था।

दर्शन—संजय वेलट्ठिपुत्त और निगठ नातपुत्त (=महावीर) दोनो हीके दर्शन अनेकान्तवादी है। फर्क इतना ही है, कि महावीरका जोर 'हॉ' पर ज्यादा है और सजयका 'नही' पर, जैसा कि सजयके निम्न वाक्य और महावीरके स्याद्वादके मिलानेसे मालूम होगा[1]—

"यदि आप पूछे,—'क्या **परलोक** है', तो यदि मै समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मै ऐसा भी नही कहता, वैसा भी नही कहता, दूसरी तरहसे भी नही कहता। मै यह भी नही कहता कि 'वह नही है'। मै यह भी नही कहता कि 'वह नही नही है। परलोक नही है, परलोक नही नही है। परलोक है भी और नही भी है। परलोक न है और न नही है।' **देवता** (=औपपातिक प्राणी) है... । देवता नही है, है भी और नही भी, न है और न नही है।....अच्छे बुरे **कर्मके फल** है, नही है, है भी और नही भी, न है और न नही है। **तथागत** (=मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते है, नही होते है. ??'—यदि मुझसे

---

[1] दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २२)

ऐसा पूछे, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ .., तो ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता... "

परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्त-पुरुषके विषयमे संजयके विचार यहाँ उल्लिखित हैं। अजितके विचारो तथा उपनिषद्‌मे उठाई शंकाओको देखनेसे मालूम होता है, कि धर्मकी कल्पनाओंपर सन्देह किया जाने लगा था; और यह सन्देह इस हद तक पहुँच गया था, कि अब उसके आचार्य लोक-सम्मानित महापुरुष माने जाने लगे थे। संजयका दर्शन जिस रूपमे हम तक पहुँचा है, उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममे डाला जाये, और वह कुछ निश्चय न कर भ्रान्त धारणाओंको अप्रत्यक्षरूपसे पुष्ट करे।

६-वर्धमान महावीर (५६९-४८५ ई० पू०) सर्वज्ञतावादी

जैन धर्मके संस्थापक वर्धमान ज्ञातृपुत्र (=नातपुत्त) बुद्धके समकालीन आचार्योंमे थे। उनका जन्म प्राचीन वज्जी[1] प्रजातन्त्रकी राजधानी वैशाली[2]मे लिच्छवियोकी एक शाखा ज्ञातृवंशमे बुद्धके जन्म (५६३ ई० पू०)से कुछ पहिले हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ **गण-संस्था** (=सीनेट) के सदस्यों (=राजाओ)मेंसे एक थे। वर्धमानकी शादी, यशोदासे हुई थी जिससे एक लडकी हुई। माँ-बापके मरनेके बाद ३० वर्षकी उम्रमे वर्धमानने गृहत्याग किया। १२ वर्ष तक शरीरको सुखानेवाली तपस्याओंके बाद उन्होंने **केवल** (=सर्वज्ञ)-पद पाया। तबसे ४२ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्मका उपदेश मध्यदेश (=युक्तप्रान्त और बिहार)मे किया। ८४ वर्षकी उम्रमे पावा[3]मे उनका देहान्त हुआ। मृत्युके समय महावीरके

---

[1] जिला मुजफ्फरपुर, बिहार। [2] वर्तमान बसाढ़ (पटनासे २७ मील उत्तर)।

[3] कुसीनारा (कसया)से चंद मील उत्तर पपउर (जिला गोरखपुर)। परंपराको भूलकर पटना जिलाकी पावा नई कल्पना है।

अनुयायियोमे भारी कलह उपस्थित हो गया था[1]।

तीर्थंकर वर्धमानको जैन लोग वीर या महावीर भी कहते है, बौद्ध उनका उल्लेख निगठ नातपुत्त (=निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र)के नामसे करते है।

(१) **शिक्षा**—महावीरकी मुख्य शिक्षाको बौद्ध त्रिपिटकमे इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

(क) **चातुर्याम संवर**[2]—"निर्ग्रंथ (=जैन साधु) चार सवरो (=सयमों)से संवृत्त (=आच्छादित, सयत) रहता है। . (१) निर्ग्रंथ जलके व्यवहारका वारण करता है, (जिसमे जलके जीव न मारे जावे), (२) सभी पापोका वारण करता है; (३) सभी पापोके वारण करनेसे वह पापरहित (=धुतपाप) होता है, (४) सभी पापोके वारणमे लगा रहता है। चूँकि निर्ग्रंथ इन चार प्रकारके सवरोसे सवृत रहता है, इसीलिए वह .गतात्मा (=अनिच्छुक), यतात्मा (सयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।"

(ख) **शारीरिक कर्मोंकी प्रधानता**—मज्झिम-निकायमे[3] महावीर (ज्ञातृपुत्र)के शिष्य दीर्घ तपस्वीके साथ बुद्धका वार्तालाप उद्धृत किया गया है। इसमे दीर्घ तपस्वीने कर्मकी जगह निर्ग्रंथी परिभाषामे 'दड' कहे जानेपर जोर देते हुए, कर्मो (=दडो)को काय-, वचन-, मन-दडोमे विभक्त करते हुए, काय-दड (कायिक कर्म)को सबसे "महादोष-युक्त" वतलाया है।

(ग) **तीर्थंकर सर्वज्ञ**—तीर्थकर सर्वज्ञ होता है, इसपर, जान पडता है, आरम्भ हीसे वहुत जोर दिया जाता था—

"(तीर्थंकर) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सारे ज्ञान=दर्शनको जानते है।—चलते, खडे, सोते, जागते सदा निरन्तर (उनको) ज्ञान=दर्शन उपस्थित रहता है।"[4]

---

[1] देखो सामगामसुत्त (म० नि०, ३।१।४; "बुद्ध-चर्या", ४८१)

[2] दीघ-नि० १।२ (अनु०, पृ० २१)

[3] म० नि०, २।२।६, 'बुद्धचर्या', पृ० ४४५

[4] म० नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५९)

इस तरहकी सर्वज्ञताका मजाक उड़ाते हुए बुद्धके शिष्य आनन्दने कहा था[1]—

"...एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी...होनेका दावा करते हैं...., (तो भी) वह सूने घरमें जाते हैं, (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाते, कुक्कुर भी काट खाता है, चंड हाथी....चंड घोड़े....चंड-बैलसे भी सामना हो जाता है। (सर्वज्ञ होनेपर भी) स्त्री-पुरुषोंके नाम-गोत्रको पूछते हैं, गाँव-कस्बेका नाम और रास्ता पूछते हैं। (आप सर्वज्ञ हैं, फिर) क्यों पूछते हैं"—पूछनेपर कहते हैं—'सूने घरमें जाना....भिक्षा न मिलनी.....कुक्कुरका काटना,....हाथी.....घोड़ा.....बैलसे सामना बदा था'...."

(घ) शारीरिक तपस्या—शारीरिक कर्मपर महावीरका जोर था, उनका उससे शारीरिक तपस्यापर तो जोर देना स्वाभाविक था। इस शारीरिक तपस्या—मरणान्त अनशन, नंगे बदन रह शीत-उष्णको सहना आदि बातें जैन-आगमोंमें बहुत आती हैं। जैन साधुओंकी तपस्या और उसके औचित्यका वर्णन त्रिपिटकमें भी मिलता है। बुद्धने महानाम शाक्यसे कहा था[2]—

"एक समय महानाम! मैं राजगृहमें गृध्रकूट पर्वतपर रहता था। उस समय बहुतसे निगंठ (=जैन साधु) ऋषिगिरिकी कालशिलापर खड़े रहने(का व्रत) ले, आसन छोड़, तप (=उपक्रम) करते दुःख, कटु तीव्र, वेदना झेल रहे थे।....(कारण पूछनेपर) निगंठोंने कहा—'निगंठ नातपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ सर्वदर्शी....हैं। वह ऐसा कहते हैं—'निगंठो! जो तुम्हारा पहिलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी, दुष्कर-क्रिया (=तपस्या)से नाश करो, और जो यहाँ तुम काय-वचन-मनसे संयम-युक्त हो, यह भविष्यकेलिए पापका न करना होगा। इस प्रकार

---

[1] म० नि०, २।३।६ (अनुवाद, पृ० ३०२)

[2] म० नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५६)

तपस्या द्वारा पुराने कर्मोंके अन्त होने और नये कर्मोंके न करनेसे भविष्यमे चित्त निर्मल (=अनास्रव) हो जायेगा। भविष्यमे मल (=आस्रव) न होनेसे कर्मका क्षय (हो जायेगा), कर्मक्षयसे दुःख-क्षय, दुःख-क्षयसे वेदनाका क्षय, वेदना-क्षयसे सभी दुःख नष्ट हो जायेंगे।"

बुद्धने इसपर उन निगंठोसे पूछा, कि क्या तुम्हे पहिले अपना होना मालूम है ? क्या तुमने उस समय पापकर्म किये थे ? क्या तुम्हे मालूम है कि इतना दुःख (=पाप-फल) नष्ट हो गया, इतना वाकी है ? क्या मालूम है कि तुम्हे इसी जन्ममे पापका नाश और पुण्यका लाभ प्राप्त करना है ? इसका उत्तर निगंठोंने 'नही'मे दिया। इसपर बुद्धने कहा—

"ऐसा होनेसे ही तो निगंठो ! जो दुनियामे रुद्र (=भयंकर), खूनरंगे हाथोंवाले, क्रूरकर्मा मनुष्योंमे नीच है, वह निगंठोंमे साधु बनते हैं। निगंठोंने फिर कहा—"गौतम ! सुखसे सुख प्राप्य नही है, दुःखसे सुख प्राप्य है।"

—अर्थात् शारीरिक दुःख ही पाप हटाने और कैवल्य-सुख प्राप्त करनेका मुख्य साधन है, यह वर्धमानका विश्वास था।

(२) दर्शन—तप-संयम ही वर्धमानकी मूल शिक्षा मालूम होती है, उसमे दर्शनका अंश बहुत कम था; यदि था, तो यही कि पानी, मिट्टी, सभी जड़-अजड़ तत्त्व जीवोंसे भरे पड़े हैं, मनुष्यको हर तरहकी हिंसासे बचना चाहिए। इसीलिए उन्होंने जलके व्यवहार, तथा गमन-आगमन आदि सबमे भारी प्रतिबंध लगाया। इसीका परिणाम यह हुआ, कि जोतने, काटने, निराने—जैसे कामोंमें प्रत्यक्ष अगनित जीवोंको मारे जाते देख, जैन लोग खेती छोड़ बैठे; और आज वे प्रायः सभी बनिया-वर्गमे पाये जाते हैं।—यूरोपमे यहूदियोंने राजद्वारा खेतके अधिकारसे वंचित होनेके कारण मजबूरन् बनिया-व्यवसाय स्वीकार किया। किन्तु भारतमे जैनियोंने अपने धर्मसे प्रेरित हो स्वेच्छापूर्वक वैसा किया। मनुष्योंकी एक भारी जमाअतको कैसे धर्म द्वारा उत्पादक-श्रमसे हटाकर पर परिश्रमापहारी बनाया जा सकता है, यहाँ यह इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

आगे चलकर जैनोंका भी एक स्वतंत्र दर्शन बना, जिसपर आगे यथा स्थान लिखा जायेगा। आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वो (=परलोक, देवता)के बारेमे कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

(१) है ?—नही कह सकता।
(२) नही है ?—नही कह सकता।
(३) है भी और नही भी ?—नही कह सकता।
(४) न है और न नही है ?—नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

(१) है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)
(२) नही है ?—नही भी हो सकता है। (स्याद् नास्ति)
(३) है भी और नही भी ?—है भी और नही भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनो उत्तर क्या कहे जा सकते (=वक्तव्य है) ? इसका उत्तर जैन 'नही'मे देते है—

(४) 'स्याद्' (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है ?—नही, स्याद् अ-वक्तव्य है।
(५) 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
(६) 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।
(७) 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यो (प्रश्न और उत्तर दोनो)को अलग करके अपने स्याद्वादकी छै

भगियाँ वनाई है, और उसके चौथे वाक्य "न है और न नही है"को छोड़कर, 'स्याद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है, कि सजय अपने अनेकान्तवादका प्रयोग—परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्त पुरुष जैसे—परोक्ष विषयोपर करता था। जैन सजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर भी लागू करते है। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके वारेमे यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाये, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

(१) घट यहाँ है ?—हो सकता है (=स्याद् अस्ति)।
(२) घट यहाँ नही है ?—नही भी हो सकता है (=स्याद् नास्ति)।
(३) क्या घट यहाँ है भी और नही भी है ?—है भी और नही भी हो सकता है (=स्याद् अस्ति च नास्ति च)।
(४) 'हो सकता है' (=स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है ?—नही, 'स्याद्' यह अ-वक्तव्य है।
(५) घट यहाँ 'हो सकता है' (=स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नही 'घट यहाँ हो सकता है', यह नही कहा जा सकता।
(६) घट यहाँ 'नही हो सकता है' (=स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नही, 'घट यहाँ नही हो सकता', यह नही कहा जा सकता।
(७) घट यहाँ 'हो भी सकता है, नही भी हो सकता है', क्या यह कहा जा सकता है ? नही, 'घट यहाँ हो भी सकता है, नही भी हो सकता है', यह नही कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद)की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोके लुप्त हो जानेपर, जैनोने अपना लिया, और उसकी चतुर्भंगी न्यायको सप्तभगीमे परिणत कर दिया।

§ ३. गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियो तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोके जबर्दस्त प्रयासका अन्तिम फल हमे बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमे मिलता है। आगे हम देखेगे कि भारतीय दर्शनधाराओमे जिसने काफी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असग, वसुबंधु, दिड्नाग, 'धर्मकीर्ति,—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामे पैदा हुए थे। उन्हीके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्राय. सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पडते है।

१. जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ४६३ ई० पू०के आसपास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योंका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते है कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्दिय[१] और दण्डपाणि[२]को भी शाक्योका राजा कहा गया; जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योके प्रजातत्रकी गण-संस्था (=सीनेट या पार्लमेंट)के सदस्योको लिच्छविगणकी भाँति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थी, उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी[३] नामक शालवनमे सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवे साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाडा था, जो अब भी वहाँ मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती

---

[१] चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

[२] मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १।२।८

[३] वर्त्तमान रुम्मिनदेई, नेपाल-तराई (नौतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)।

गौतमीके ऊपर पडा। तरुण सिद्धार्थको ससारसे कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कही उनका लडका भी साधुओके बहकावेमे आकर घर न छोड जाये, इसकेलिए उसने पडोसी कोलिय गण (=प्रजातत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोधरा)से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमे उन्हे एक पुत्र पैदा हुआ जिसे अपने उठते विचार-चद्रके ग्रसनेके लिए राहु समझ उन्होने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=सन्यासी)के चार दृश्योको देख उनकी ससारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेसे वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमे बुद्धने स्वय चुनार (=सुसुमारगिरि)मे वत्सराज उदयके पुत्र बोधिराज-कुमारसे कहा था[1]—

"राजकुमार! बुद्ध होनेसे पहिले....मुझे भी होता था—'सुखमे सुख नही प्राप्त हो सकता, दु:खमे सुख प्राप्त हो सकता है।' इसलिए .मै तरुण बहुत काले केशोवाला ही, सुन्दर यौवनके साथ, प्रथम वयसमे माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे....प्रव्रजित हुआ। . ..(पहिले) आलार कालाम(के पास)....गया।...."

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाईं, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नही हुई। वहाँसे चलकर वह उद्दक रामपुत्त (=उद्रक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उससे भी उन्हे सन्तोष नही हुआ। फिर उन्होंने बोधगयाके पास प्राय: छै वर्षों तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारेमें वह खुद कहते हैं[2]—

"मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे. .आसीतिक (अस्सी सालवाले)की गाँठे. ..वैसे ही मेरे अग

[1] मज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५)

[2] वही, पृ० ३४८

प्रत्यंग हो गए थे।....जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे....सूओंकी (ऊँची नीची) पाँती वैसे ही पीठके, काँटे हो गये थे। जैसे शालकी पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती है, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई थी। . ..जैसे गहरे कूएँमें तारा, वैसे ही मेरी आँखे दिखाई देती थी।......जैसे कच्ची तोड़ी कड़वी लौकी हवा-धूपसे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी।... उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पैरकी खाल बिलकुल सट गई थी।... यदि मैं पाखाना या पेशाब करनेकेलिए (उठता) तो वहीं भहराकर गिर पड़ता। जब मैं कायाको सहराते हुए, हाथसे गात्रको मसलता तो....कायासे सड़ी जड़वाले रोम झड़ पड़ते।... मनुष्य....कहते—'श्रमण गौतम काला है' कोई....कहते—'....काला नही स्याम'।....कोई....कहते—'....मंगुरवर्ण है'। मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमड़ेका रंग नष्ट हो गया था।....

". .लेकिन....मैंने इस (तपस्या)....से उस चरम... दर्शन....को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि(=ज्ञान)केलिए क्या कोई दूसरा मार्ग है? ....तब मुझे हुआ—'....मैंने पिता (=शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठंडी छायाके नीचे बैठ.... प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो।....(किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृश पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नहीं है।....फिर मैं स्थूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा।....उस समय मेरे पास पाँच भिक्षु रहा करते थे।....जब मैं स्थूल आहार....ग्रहण करने लगा। तो वह पाँचों भिक्षु....उदासीन हो चले गये।..."

आगेकी जीवनयात्राके बारेमे बुद्ध अन्यत्र कहते है[1]—

---

[1] म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०५)

"मैने एक रमणीय भूभागमे, वनखडमे एक नदी (=निरजना)को वहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ बैठ गया। (और) . जन्मनेके दुष्परिणामको जान. . अनुपम निर्वाणको पा लिया. मेरा ज्ञान दर्शन(=साक्षात्कार) वन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर् अव (दूसरा) जन्म नही (होगा)।"

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दु ख है, दु खका हेतु (=समुदय), दु खका निरोध-(=विनाश) है और दु.ख-निरोधका मार्ग। 'जो धर्म (=वस्तुए घटनाएं) है, वह हेतुसे उत्पन्न होते है। उनके हेतुको, वुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महा श्रमण।"[1]

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०)मे घर छोडा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके वाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०)मे वोधि(=ज्ञान) प्राप्त कर वह वुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होने अपने धर्म (=दर्शन)का उपदेश कर ८२ वर्षकी उम्रमे ४८३ ई० पू०मे कुसीनारा[2]मे निर्वाण प्राप्त किया।

२. साधारण विचार

वुद्ध होनेके वाद उन्होने सवसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्ही पाँचो भिक्षुओको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ उन्हे छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, वनारस) पहुँचे। वुद्धका पहिला उपदेश उसी शंकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड़ आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-

---

[1] "ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"

[2] कसया, जिला गोरखपुर।

को वह छोड़ आये थे। बुद्धने कहा[1]—

"भिक्षुओ ! इन दो अतियों (=चरम-पंथों)को....नही सेवन करना चाहिए।—(१)....काम-सुखमें लिप्त होना;....(२)....शरीर पीड़ामें लगना।—इन दोनों अतियोंको छोड़....(मैं)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला....शान्ति (देने)वाला है।....वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ) अष्टांगिक(=आठ अंगोंवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (=दर्शन), ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।...."

(१) चार आर्य-सत्य—

दुःख, दुःख-समुदय (०हेतु), दुःख निरोध, दुःखनिरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके है, इन्हे बुद्धने आर्य-सत्य—श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

क. **दुःख-सत्य** की व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है—"जन्म भी दुःख है, बुढापा भी दुःख है, मरण....शोक-रुदन—मनकी खिन्नता—हैरानगी दुःख है। अ-प्रियसे संयोग, प्रियसे वियोग भी दुःख है, इच्छा करके जिसे नही पाता वह भी दुःख है। संक्षेपमे पाँचों उपादान स्कन्ध दुःख है।"[2]

(पाँच उपादान स्कंध)—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—यही पाँचों उपादान स्कंध है।

(a) रूप—चारों महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान स्कंध है।

---

[1] "धर्मचक्रप्रवर्तन-सूत्र"—संयुत-निकाय ५५।२।१ ("बुद्धचर्या", पृ० २३)

[2] महासत्तिपट्ठान-सुत्त (दीघ-निकाय, २।६)

(b) **वेदना**—हम वस्तुओं या उनके विचारके सम्पर्कमे आनेपर जो सुख, दुख, या न सुख-दुखके रूपमे अनुभव करते है इसे ही वेदना स्कध कहते है।

(c) **संज्ञा**—वेदनाके बाद हमारे मस्तिष्कपर पहिलेसे ही अकित सस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते है—'यह वही देवदत्त है', इसे संज्ञा कहते है।

(d) **संस्कार**—रूपोकी वेदनाओ और सज्ञाओका जो सस्कार मस्तिष्क पर पडा रहता है, और जिसकी सहायतासे कि हमने पहि-चाना—'यह वही देवदत्त है', इसे सस्कार कहते है।

(e) **विज्ञान**—चेतना या मनको विज्ञान कहते है।

ये पाँचो स्कंध-जब व्यक्तिकी तृष्णाके विषय होकर पास आते है, तो इन्हे ही उपादान स्कंध कहते है। बुद्धने इन पॉचो उपादान-स्कधोको दु ख-रूप कहा है।

ख. दुःख हेतु—दु.खका हेतु क्या है ? तृष्णा—काम (भोग)की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियोके जितने प्रिय विपय या काम है, उन विषयोके साथ सपर्क, उनका ख्याल, तृष्णाको पैदा करता है। "काम (=प्रिय भोग)केलिए ही राजा भी राजाओसे लडते है, क्षत्रिय भी क्षत्रियोंसे, ब्राह्मण भी ब्राह्मणोसे, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतिसे, माता भी पुत्रसे, पुत्र भी मातासे, पिता पुत्रसे, पुत्र पितासे, भाई भाईसे, वहिन भाईसे, भाई बहिनसे, मित्र मित्रसे लडते है। वह आपसमे कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरेपर हाथसे भी, दंडसे भी, शस्त्रसे भी आक्रमण करते है। वह (इससे) मर भी जाते है, मरण-समान दु खको प्राप्त होते है।"[1]

ग. दुःख-विनाश—उसी तृष्णाके अत्यन्त निरोध, परित्याग विनाशको दु.ख-निरोध कहते है। प्रिय विषयो और तद्विषयक विचारो-विकल्पोसे जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णाका निरोध होता है।

---

[1] मज्झिम-निकाय, १।२।३

तृष्णाके नाश होनेपर **उपादान** (=विषयोके संग्रह करने)का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भव (=लोक)का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म)का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दुःख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दुःखोका निरोध होता है।

यही दुःखनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-विन्दु है।

घ. दुःख-विनाशका मार्ग—दुःख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—**आर्य अष्टांगिक मार्ग** जिन्हे पहिले गिना आए है। आर्य-अष्टांगिक मार्गकी आठ बातोको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील) और योग (=समाधि) इन तीन भागों (=स्कधोमे) बाँटनेपर वह होते है—

(क) ज्ञान { ठीक दृष्टि, ठीक सकल्प

(ख) शील { ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका

(ग) समाधि { ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति, ठीक समाधि

(क) ठीक ज्ञान—

(a) **ठीक (=सम्यग्) दृष्टि**—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते है। भले बुरे कर्म इस प्रकार है—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१. हिंसा	अ-हिंसा
	२. चोरी	अ-चोरी
	३ (यौन) व्यभिचार	अ-व्यभिचार

वाचिक	४ मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
	५. चुगली	न-चुगली
	६. कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७. बकवास	न-बकवास
मानसिक	८ लोभ	अ-लोभ
	९ प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१० झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=दर्शन) कही जाती है।

(b) **ठीक संकल्प**—राग-, हिंसा-, प्रतिहिंसा-,रहित संकल्पको ही ठीक संकल्प कहते है।

(ख) ठीक आचार—

(a) **ठीक वचन**—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातोका बोलना।

(b) **ठीक कर्म**—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

(c) **ठीक जीविका**—झूठी जीविका छोड सच्ची जीविकासे शरीर-यात्रा चलाना। उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओमे सिर्फ प्राणि हिंसा संबधी निम्न जीविकाओको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा[1]—

"हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मासका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।"

(ग) ठीक समाधि—

(a) **ठीक प्रयत्न (=व्यायाम)**—इन्द्रियोपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

---

[1] अंगुत्तर-निकाय, ५

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न है।

(b) **ठीक स्मृति**—काया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोंकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

(c) **ठीक समाधि**—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं"।[1] ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्षेपोंको हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त संक्षेपमे एक पुरानी गाथामे इस तरह कहा गया है—

"सारी बुराइयोंका न करना, और अच्छाइयोंका संपादन करना; अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है[2]—

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशंसा केलिए है, न शील (=सदाचार)की प्राप्तिकेलिए, न समाधि प्राप्तिके लिए, न ज्ञान=दर्शनकेलिए है। जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीकेलिए....यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारोंको देनेसे पूर्व उनके जीवनके बाकी अंशको समाप्त कर देना ज़रूरी है।

सारनाथमे अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वही वर्षा बिता, वर्षाके अन्तमे स्थान छोड़ते हुए प्रथम चार मासोंमे हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होने इस तरह सबोधित किया—[3]

"भिक्षुओ! बहुत जनोंके हितकेलिए, बहुत जनोंके सुखकेलिए, लोकपर दया करनेकेलिए, देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखकेलिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।....मैं भी....उरुवेला ...सेनानी-ग्राममें. धर्म-उपदेशकेलिए जा रहा हूँ।"

---

[1] म० नि०, १।५।४ [2] म० नि०, १।३।६

[3] संयुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष। बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोंके बरसातके तीन मासोंको छोड़ वह बराबर विचरते जहाँ-तहाँ ठहरते लोगोंको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे।[१] बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बरसातोको निम्न स्थानोंपर बिताया था—

स्थान	ई०पू०	स्थान	ई०पू०
(लुबिनी जन्म	५६३)	बीच)	५१७
(बोधगया बुद्धत्व मे	५२८)	१३ चालिय पर्वत (विहार)	५१६
१. ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८	१४. श्रावस्ती (गोंडा)	५१५
२-४ राजगृह	५२७-२५	१५. कपिलवस्तु	५१४
५. वैशाली	५२४	१६ आलवी (अरवल)	५१३
६ मंकुल पर्वत (विहार)	५२३	१७ राजगृह	५१२
७ ..(त्रयस्त्रिंश ?)	५२२	१८. चालिय पर्वत	५११
८. सुसुमारगिरि(=चुनार)	५२१	१९ चालिय पर्वत	५१०
९ कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०	२०. राजगृह	५०९
१०. पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९	२१-४५. श्रावस्ती	५०८-४८४
११. नाला (विहार)	५१८	४६ वैशाली	४८३
१२. वैरजा (कन्नौज-मथुराके		(कुसीनारामे निर्वाण	४८३)

उनके विचरणका स्थान प्राय सारे युक्त प्रान्त और सारे विहार तक सीमित था। इससे बाहर वह कभी नही गये।

(२) जनतंत्रवाद—

हम देख चुके हैं, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे। कर्मकाड, भक्तिकी अपेक्षा उनका झुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

---

[१] बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदेशोंको प्राचीनतम सामग्रीके आधारपर मैंने "बुद्धचर्या"में संगृहीत किया है।

ज्यादा था। उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले है। इन सारी बातोके कारण अपने जीवनमे और बादमे भी बुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्तियोको आकर्षित करनेमे समर्थ हुए। मगधके सारिपुत्र, मौद्-गल्यायन, महाकाश्यप ही नही, सुदूर उज्जैनके राजपुरोहित महा-कात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होंने ब्राह्मणोंके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोमे कटुता फैलने—खासकर प्रारभिक सदियोमे—से रोका। मगधका राजा बिबिसार बुद्धका अनुयायी था। कोसलके राजा प्रसेनजित् को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय है और वह भी कोसल क्षत्रिय। उसने बुद्धका और नजदीकी बननेकेलिए शाक्यवशकी कन्याके साथ ब्याह किया था। शाक्य-, मल्ल-, लिच्छवि-प्रजातत्रोमे उनके अनुयायियोंकी भारी सख्या थी। बुद्धका जन्म एक प्रजातत्र (शाक्य)मे हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातंत्र (मल्ल) हीमे हुई। प्रजातत्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह इसीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा सबध होनेपर भी उन्होंने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोकी प्रशसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बाते बतलाई[1]—

(१) बराबर एकत्रित हो सामूहिक निर्णय करना, (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना, (३) व्यवस्था (=कानून और विनय)का पालन करना, (४) वृद्धोका सत्कार करना; (५) स्त्रियों-पर जबर्दस्ती नही करना, (६) जातीय धर्मका पालन करना, (७) धर्माचार्योका सत्कारकरना।

इन सात बातोमे सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातंत्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे; किन्तु बाकी बातोंपर जोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामे हस्तक्षेप नही करना

---

[1] देखो, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे। वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होने देखा था। दु खोंका कारण यही तृष्णा है। दु खोंका चित्रण करते हुए उन्होने कहा था[1]—

"चिरकालसे तुमने . . माता-पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, भोग-रोगकी आफतोको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके सयोगसे रोते क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारो समुद्रोके जलसे भी ज्यादा है।"

यहाँ उन्होने दु ख और उसकी जडको समाजमे न ख्याल कर व्यक्तिमे देखनेकी कोशिश की। भोगकी तृष्णाकेलिए राजाओ, क्षत्रियो, ब्राह्मणो, वैश्यो, सारी दुनियाको झगडते मरते-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तिसे हटानेकी कोशिश की। उनके मतानुसार मानो, काँटोसे बँचनकेलिए सारी पृथिवीको तो नही ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोको चमडेसे ढाँक कर काँटोसे बचा जा सकता है। वह समय भी ऐसा नही था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते। तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-सघका सबध था, उन्होने उसे हटाकर भोगमे पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नही मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नही करना चाहा। सम्पत्तिशाली शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमे सम्मान बढना लाजिमी था। पुरोहित-वर्गके कूटदत, सोणदड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनने थे, राजा लोग उनकी आवभगतके लिए उतावले दिखाई पडते थे। उस वक्तका धनकुवेर् व्यापारी-वर्गतो उससे भी

[1] सं० नि०, १४

ज्यादा उनके सत्कारकेलिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाँधीकेलिए। श्रावस्तीके धनकुवेर सुदत्त (अनाथपिडक)ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओंके रहनेकेलिए दिया। उसी शहरकी दूसरी सेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार(=मठ)पूर्वाराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो बिहार बनवानेमे होडसी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमे राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोंने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँसे हो सकता था ?

३. दार्शनिक विचार

"अनित्य, दु ख, अनात्म[1]" इस एक सूत्रमे बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमे दु खके बारेमे हम कह चुके है।

(१) **क्षणिकवाद**—बुद्धने तत्वोंको विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच है—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूपमे पृथिवी आदि चारो महाभूत शामिल है। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना सुख-दु.ख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते है। सज्ञा होश या अभिज्ञानको कहते है। सस्कार मनपर बच रही छाप या वासनाको कहते है। इस प्रकार वेदना, सज्ञा, संस्कार—रूपके संपर्कसे विज्ञान (=मन)की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ है।[2] बुद्धने इन स्कधोको "अ-नित्य=सस्कृत (=कृत)=

---

[1]अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

[2]महावेदल्ल-सुत्त; म० नि०, १।५।३—"संज्ञा... वेदना. .. विज्ञान....यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले है, बिलग नहीं... बिलग करके इनका भेद नही जतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न=क्षय धर्मवाला=व्यय धर्मवाला= निरोध (=विनाश) धर्मवाला"[1] कहा है।

आयतन बारह है—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमडा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गध, रस, स्प्रष्टव्य, और धर्म (=वेदना, सज्ञा, सस्कार)।

धातु अठारह है—उपरोक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियो तथा विषयोके सपर्कसे होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान)।

विश्वकी सारी वस्तुए स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोमेसे किसी एक प्र-क्रियामे बाँटी जा सकती है। इन्हे ही नाम और रूपमे भी विभक्त किया जाता है, जिनमे नाम विज्ञानका पर्यायवाची है। यह सभी अनित्य है—[2]

"यह अटल नियम है—. . रूप (महाभूत) वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान (ये) सारे सस्कार (=कृत वस्तुए) अनित्य है।"

"रूप. . . वेदना . . . सज्ञा सस्कार विज्ञान (ये पाँचो स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नही है यह लोकमे पडितसम्मत (बात) है। मै भी (वैसा) ही कहता हूँ। ऐसा कहने समझाने . . पर भी जो नही समझता नही देखता, उस . बालक (=मूर्ख) . . . . अन्धे, बेआँख, अजान. . . केलिए मै क्या कर सकता हूँ।[3]

रूप (भौतिक पदार्थ)की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है। विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते है—

"भिक्षुओ! यह बल्कि बेहतर है, कि अजान. . (पुरुप) इस चार महाभूतोकी कायाको ही आत्मा(=नित्य तत्व) मान ले, किन्तु

---

[1] महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १३३)

[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

[3] संयुत्त-नि०, १६

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नही। सो क्यो ? चारो महाभूतोकी यह काया एक दो . तीन चार पॉच छै सात वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है, किन्तु जिसे 'चित्त' 'मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमे भी (पहिलेसे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।"[1]

बुद्धके दर्शनमे अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नही है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है"के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्वका बाहरी परिवर्त्तनमात्र नही, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नही मानते।

(२) **प्रतीत्य-समुत्पाद**—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नही मानते, तो भी वह यह मानते है कि "इसके होनेपर यह होता है"[2] (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इसी नियमको बुद्धने **प्रतीत्य-समुत्पाद** नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई **प्रत्यय** है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते है, किन्तु बुद्ध प्रत्ययसे वही अर्थ नही लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोको हेतु या कारणसे अभिप्रेत है। 'प्रत्ययसे उत्पाद'का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीत जाने नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका **प्रत्यय** ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य **समुत्पाद** कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नही **विच्छिन्न प्रवाह**[3] बतलाता है। **प्रतीत्य-समुत्पादके** इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने **शून्यवादको** विकसित किया।

---

[1] संयुत्त-नि०, १२।७ [2] "अस्मिन् सति इदं भवति।" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)

[3] Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुजी है, यह खुद बुद्धके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह **धर्म** (=बुद्धके दर्शन) को देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान **स्कंध** (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) है।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमे लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अग (=द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये है। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पाद**मे **आत्मा**केलिए कोई गुजाइश न थी, इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होंने अपने एक उपदेश[2]मे अच्छी तरह समझाया है—

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मै भगवान्के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नही बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) ससरण-संधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

" 'क्या सचमुच साति! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है ?'

'हाँ, . . . दूसरा नही वही विज्ञान (=जीव) ससरण-सधावन करता है।'

'साति! वह **विज्ञान** क्या है ?'

'यह जो, भन्ते! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष)! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

---

[1] मज्झिम-नि०, १।३।८

[2] महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०, १।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! **विज्ञान** (=जीव)को अनेक प्रकारसे **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होनेके बिना **विज्ञान**का प्रादुर्भाव नही हो सकता (बतलाया है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लाछन लगाता है ।' "

फिर भिक्षुओको सबोधित करते हुए कहा—

" 'भिक्षुओ ! जिस-जिस **प्रत्ययसे विज्ञान** (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी सज्ञा होती है । चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही सज्ञा होती है । (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान सज्ञा होती है । जैसे. जिस जिस निमित्त (=प्रत्यय)से आग जलती है, वही-वही उसकी सज्ञा होती है, काष्ट-अग्नि तृण-अग्नि तुष-अग्नि '

" 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?'

'हॉ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पॉच स्कन्ध) उत्पन्न है'—इस (विषयमे) तुम सन्देह-रहित हो न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पॉच स्कन्ध=भौतिक तत्व और मन) उत्पन्न है',.....'यह अपने आहारसे उत्पन्न है' ...'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! तुम इस ..परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)मे भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना । बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेश किए **धर्मको बेडे** (=कुल्ल)**के समान समझना**, (यह) पार होनेकेलिए है, पकड रखनेकेलिए नही है ।'....

प्रतीत्य-समुत्पाद् बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुजी है, यह खुद बुद्धके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह **धर्म** (=बुद्धके दर्शन) को देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान **स्कंध** (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) है।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमे लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अग (=द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये है। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पादमे आत्माकेलिए** कोई गुजाइश न थी, इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होने अपने एक उपदेश[2]मे अच्छी तरह समझाया है—

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मै भगवान्के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नही बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) ससरण-संधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

"'क्या सचमुच साति ! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है ?'

'हाँ,....दूसरा नही वही विज्ञान (=जीव) संसरण-सधावन करता है।'

'साति ! वह **विज्ञान** क्या है ?'

'यह जो, भन्ते ! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष) ! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

---

[1] मज्झिम-नि०, १।३।८

[2] महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०, १।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! विज्ञान (=जीव)को अनेक प्रकारसे **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होनेके विना **विज्ञानका** प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (वतलाया है) । मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लाछन लगाता है ।' "

फिर भिक्षुओको सबोधित करते हुए कहा—

" 'भिक्षुओ ! जिस-जिस **प्रत्ययसे विज्ञान** (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी सज्ञा होती है। चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही सज्ञा होती है। (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-. काया, मन-विज्ञान सज्ञा होती है । जैसे. .जिस जिस निमित्त (=प्रत्यय)से आग जलती है, वही-वही उसकी सज्ञा होती है, काष्ट-अग्नि तृण-अग्नि तुष-अग्नि. '

" 'यह (पॉच स्कन्ध) उत्पन्न है—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?'

'हॉ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पॉच स्कन्ध) उत्पन्न है'—इस (विपयमे) तुम सन्देह-रहित हो न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पॉच स्कन्ध=भौतिक तत्व और मन) उत्पन्न है',....,'यह अपने आहारसे उत्पन्न है' . 'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! तुम इस ..परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)मे भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना। वल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेश किए **धर्मको** वेडे (=कुल्ल)के **समान समझना**, (यह) पार होनेकेलिए है, पकड रखनेकेलिए नही है ।'....

साति केवट्टपुत्तके मनमे जैसे 'आत्मा है' यह अविद्या छाई थी, उस अविद्याका कारण समझाते हुए बुद्धने कहा—

"सभी आहारोका निदान (=कारण) है तृष्णा उसका निदान वेदना . उसका निदान स्पर्श उसका निदान छ आयतन (=पाँचो इन्द्रियाँ और मन). उसका निदान नाम और रूप उसका निदान विज्ञान .उसका निदान सस्कार .उसका निदान अविद्या।"

अविद्या फिर अपने चक्रको १२ अगोमे दुहराती है, इसे ही द्वादशाग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते है—

१ अविद्या ←	१२ जरामरण
↓	↑
२ सस्कार	११ जाति (=जन्म)
↓	↑
३ विज्ञान	१० भव (=आवागमन)
↓	↑
४ नाम-रूप	९ उपादान (=ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा)
↓	↑
५ छ आयतन (=इन्द्रियाँ)	८ तृष्णा
↓	↑
६ स्पर्श →	७ वेदना

तृष्णाकी उत्पत्तिकी कथा कहते हुए बुद्धने वही कहा है—

" 'भिक्षुओ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भधारण होता है।. . (१) माता-पिता एकत्रित होते है, (२) माता ऋतुमती होती है, (३) गंधर्व उपस्थित होता है। तब माता गर्भको नौ या दस मासके बाद जनती है।. .उसको. माता अपने लोहित दूधसे पोसती है। तव वह बच्चा (कुछ) बडा होनेपर . बच्चोंके खिलौने—वका, घडिया, मुँहके लट्टू, चिगुलिया, तराजू, गाड़ी, धनुही—से खेलता है। . (और) बडा होनेपर .पाँच प्रकारके विषय-भोगो—(रूप, शब्द, रस, गध, स्पर्श)—का सेवन करता है। .वह (उनकी अनुकूलता, प्रति-

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमे पडा सुखमय, दुःखमय, न सुख-न दु.खमय वेदनाको अनुभव करता है, उसका अभिनदन करता है। ...(इस प्रकार) अभिनदन करते उसे नन्दी (=तृष्णा) उत्पन्न होती है।....वेदनाओके विषयमे जो यह नन्दी (=तृष्णा) है, (यही) उसका उपादान(=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी इच्छा) है।' "

(३) **अनात्मवाद**—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोको हम आत्माके दर्शनका जबर्दस्त प्रचार करते देखते है। साथ ही उस समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी बतला चुके है। नित्यतावादियोंके आत्मा-सबधी विचारोको बुद्धने दो भागोमे बाँटा है;[१] एक वह जिसमे आत्माको रूपी (इन्द्रिय-गोचर माना जाता है, दूसरेमे उसे अ-रूपी माना गया है)। फिर इन दोनों विचारवालोंमे कुछ आत्माको अनन्त मानते है, और कुछ सान्त (=परित्त या अणु)। फिर ये दोनो विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोसे बँटे है—
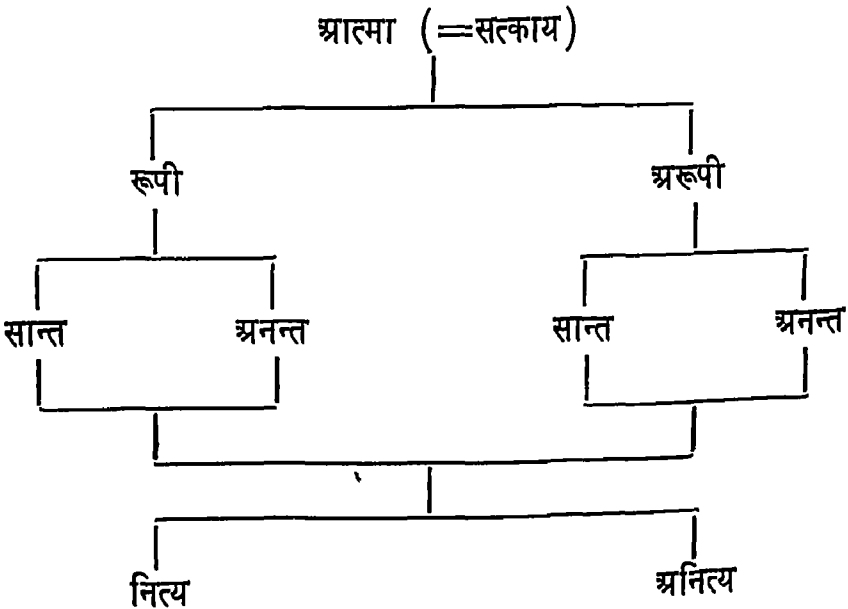
[१] महानिदान-सुत्त, दी० नि०, २।१५ ("बुद्धचर्या, पृ० १३१, ३२)

आत्मवादके लिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामे विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमर तत्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव)के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया यह बतला चुके है। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-सबधी एक भारी बन्धन (=दृष्टि-सयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए उसके नष्ट होनेकी सबसे ज्यादा जरूरत समझते थे। बुद्धकी शिष्या पडिता धम्मदिन्नाने अपने एक उपदेशमे[1] पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे युक्त)-स्कन्धोको सत्काय बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णाको सत्काय-दृष्टिका कारण।

बुद्ध अविद्या और तृष्णासे मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोकी व्याख्या करते है। हम लिख आये है, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपन्हारने बुद्धकी इसी सर्वशक्तिमती तृष्णाका बहुत व्यापक क्षेत्रमे प्रयोग किया।

लेकिन बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नही मानते थे, इसीलिए उन्होने कहा है—[2]

"उतान (ही) सो सकनेवाले (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद)का भी (पता) नही होता, फिर कहाँसे उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी?"

—यहाँ मिलाइए भेडियेकी माँदसे निकाली गई लडकी कमलासे, जिसने चार वर्षमे ३० शब्द सीखे।[3]

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे?—[4]

---

[1] चूलवेदल्ल-सुत्त, म० नि०, १।५।४ (अनुवाद, पृ० १७९)

[2] महामालुंक्य-सुत्त, म० नि०, २।२।४ (अनुवाद, पृ० २५४)

[3] "वैज्ञानिक भौतिकवाद।" पृष्ठ १६७-८ [4] मज्झिम-नि०, १।१।२—"अयं भिक्खवे! केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।"

" 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभवका विषय है, और तहाँ-तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विषयको अनुभव करता है, वह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=शाश्वत=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'—यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (=मूर्ख-विश्वास) है।"

अपने दर्शनमे अनात्मासे बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नही है। उपनिषद्मे आत्माको ही नित्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना जाता था। बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुव=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते है—

"रूप अनात्मा है, वेदना अनात्मा है, सज्ञा सस्कार.... विज्ञान सारे धर्म अनात्मा हैं।"[1]

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् और व्यापक सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेकेलिए उस वक्त अभी भाषा भी तैयार नहीं हुई थी, इसलिए अपने विचारोको प्रकट करनेके वास्ते जहाँ उन्हे प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गढने पडे, वहाँ कितने ही पुराने शब्दोको उन्होने अपने नये अर्थोंमे प्रयुक्त किया। उपरोक्त उद्धरणमे धर्मको उन्होने अपने खास अर्थमे प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइसकी भाषामे वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला घटना शब्दका पर्यायवाची है। 'ये धर्मा हेतु-प्रभवा' (=जो धर्म है वह हेतुसे उत्पन्न है)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाह वाले विश्वके क्षण-तरग अवयवको बतलाता है।

(४) अ-भौतिकवाद—आत्मवादके बुद्ध जबर्दस्त विरोधी थे सही, किन्तु, इससे यह अर्थ नही लेना चाहिए, कि वह भौतिक(=जड)वादी थे। बुद्धके समय कोसलदेशकी सालविका नगरीमे लौहित्य नामक एक ब्राह्मण

[1] चूलसच्चक-सुत्त, म० नि०, १।४।५ (अनु०, पृ० १३८)

सामन्त रहता था। धर्मोके बारेमे उसकी वहुत बुरी सम्मति थी[1]—

"ससारमे (कोई ऐसा) श्रमण (=संन्यासी) या ब्राह्मण नही है, जो अच्छे धर्मको जानकर... दूसरेको समझावेगा। भला दूसरा दूसरेके लिए क्या करेगा ? (नये नये धर्म क्या है), जैसे कि एक पुराने बधनको काटकर एक दूसरे नये बधनका डालना। इसी प्रकार मै इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ।"

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा सबधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी।

कोसलदेशमे ही एक दूसरा सामन्त—सेतव्या का स्वामी पायासी राजन्य था। उसका मत था[2]—

"यह भी नही है, परलोक भी नही है, जीव मरनेके बाद (फिर) नही पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोका कोई भी फल नही होता।"

पायासी क्यो परलोक और पुनर्जन्मको नही मानता था, इसकेलिए उसकी तीन दलीले थी, जिन्हे कि बुद्धके शिष्य कुमार काश्यपके सामने उसने पेश की थी—(१) किसी मरेने लौटकर नही कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हे स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते है, (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है; और सावधानीसे मारनेपर भी जीवको कहीसे निकलते नही देखा जाता।

बुद्ध समझते थे, कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है। इसीलिए उन्होने कहा[3]—

"'वही जीव है वही शरीर है', (दोनो एक है) ऐसा मत होनेपर

---

[1] दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)

[2] दीघ-नि०, २।१० (अनु०, पृ० १९९)

[3] अंगुत्तर-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता।"

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि इस जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करनेका अवसर मिलनेवाला हो। भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीकेलिए भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है; क्योंकि नित्य-ध्रुव आत्मामे ब्रह्मचर्य द्वारा सशोधन सवर्द्धनकी गुजाइश नहीं। इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमे रक्खा।

(५) **अनीश्वरवाद**—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद—हम देख चुके है, उसमे ईश्वर या ब्रह्मकी भी उसी तरह गुजाइश नहीं है जैसे कि आत्माकी। यह सच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतनेही अधिक व्याख्यान नहीं दिये है, जितने कि अनात्मवा-दपर। इससे कुछ भारतीय—साधारण ही नहीं लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी ढंगके प्रोफेसर—भी यह कहते है, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतसे उपनिषद्के सिद्धान्तोकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके स्रष्टा, भर्ता, हर्त्ता एक नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमे ऐसे ईश्वरकी गुजाइश तभी हो सकती है, जब कि सारे "धर्मों"की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेपर वह ईश्वर ही नहीं रहेगा। उपनिषद्मे हम विश्वका एक कर्त्ता पाते है—

"प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया।....उसने तप करके जोडे पैदा किये।"[1]

"ब्रह्मा ...ने कामना की।....तप करके उसने इस सब (=विश्व) को पैदा किया।...."[2]

---

[1] प्रश्नोपनिषद्, १।३-१३　　[2] तैत्तिरीय, २।६

"आत्मा ही पहिले अकेला था। .उसने चाहा—'लोकोको सिरजूँ।' उसने इन लोकोको सिरजा।"[1]

अब इस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत्... की बुद्ध क्या गति बनाते है, इसे सुन लीजिए। मल्लोंके एक प्रजातत्रकी राजधानी अनूपिया[2]मे बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे है।[3]—

"भार्गव! जो श्रमण-ब्राह्मण, ईश्वर (=इस्सर) या ब्रह्माके कर्त्ता-पनके मत (=आचार्यक)को श्रेष्ठ बतलाते है, उनके पास जाकर मै यह पूछता हूँ—'क्या सचमुच आपलोग ईश्वर . के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है'? मेरे ऐसा पूछनेपर वे 'हाँ' कहते है। उनसे मै (फिर) पूछता हूँ—'आपलोग कैसे ईश्वर या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है?' मेरे ऐसा पूछनेपर .वे मुझसे ही पूछने लगते है। . मै उनको उत्तर देता हूँ—' . बहुत दिनोके बीतनेपर इस लोकका प्रलय होता है।.. .(फिर) बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होनेपर शून्य ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उडता फिरता घर) प्रकट होता है। तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होनेसे....उस शून्य ब्रह्म-विमानमे उत्पन्न होता है।.. .वह वहाँ बहुत दिनोतक रहता है। बहुत दिनो तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है, और उसे भय मालूम होने लगता है।[4]—'अहो दूसरे प्राणी भी यहाँ आवे।' . . .

---

[1] ऐतरेय, १।१　[2] छपरा जिलामें कहीं पर, अनोमा नदीके पास था।

[3] पाथिकसुत्त, दीघ-नि०, ३।१ (अनुवाद, पृ० २२३)

[4] बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे वृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है।—"आत्मा ही पहले था।....उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा।....वह भय खाने लगा। इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है। . .उसने दूसरे(के होने)की इच्छा की. . .।"

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होनेसे . .शून्य ब्रह्म-विमानमे उत्पन्न होते है। जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उसके मनमे होता है—'मै ब्रह्मा, महा ब्रह्मा विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्यके प्राणियोका पिता हूँ। मैने ही इन प्राणियोको उत्पन्न किया है। (क्योकि) मेरे ही मनमे यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवे।' अत मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये है। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमे भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा ईश्वर कर्त्ता है। . सो क्यो ? (इसलिए कि) हम लोगोने इसको पहिलेहीसे यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए।' दूसरा प्राणी जब उस (देव-) कायाको छोडकर इस (लोक)मे आते है। (जब इनमेसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उससे पूर्वजन्मका स्मरण करता है, उसके आगे नही स्मरण करता है। वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा ईश्वर कर्ता है, वह नित्य=ध्रुव है, शाश्वत, निर्विकार और सदाकेलिए वैसा ही रहनेवाला है। और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये है (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अल्पायु, मरणशील है।' इस प्रकार (ही तो) आप लोग **ईश्वरका कर्त्तापन** बतलाते है ? वह .. कहते है—' जैसा आयुष्मान गौतम वतलाते है, वैसा ही हम लोगोने (भी) सुना है'।"

उस वक्तकी—परपरा, चमत्कार, शब्दकी अधेरगर्दी प्रमाणमे ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन खडन था, जिसमे एक बडा बारीक मज़ाक भी शामिल है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (=ईश्वर)का बुद्धने एक जगहपर और सूक्ष्म परिहास किया है।[1]—

. वहुत पहिले एक भिक्षुके मनमे यह प्रश्न हुआ—'ये चार

---

[1] केवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७९-८०)

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध हो जाते है ?' उसने .चातुर्महाराजिक देवताओ (के पास) जाकर (पूछा) । चातुर्महाराजिक देवताओने उस भिक्षुसे कहा—' हम भी नही जानते हमसे बढकर चार महाराजा[1] है । वे शायद इसे जानते हो ।'

" 'हमसे भी बढकर त्रायस्त्रिंश याम सुयाम. . . तुषित (देवगण) सतुषितदेवपुत्र .निर्माणरति (देवगण). .. सुनिर्मित (देवपुत्र) परनिर्मितवशवर्त्ती (देवगण) वशवर्त्ती नामक देवपुत्र ब्रह्मकायिक नामक देवता है, वह शायद इसे जानते हो' ।. ब्रह्मकायिक देवताओने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बढ चढकर ब्रह्मा है, वह ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता और सभी पैदा हुए और होनेवालोके पिता है, शायद वह जानते हो ।' . (भिक्षुके पूछनेपर उन्होने कहा—) 'हम नही जानते कि ब्रह्मा (=ईश्वर) कहाँ रहते है ।' इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (=महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ । (भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—' ये चार महाभूत कहाँ जाकर बिल्कुल निरुद्ध (=विलुप्त) हो जाते है ?' महाब्रह्माने कहा—' मै ब्रह्मा ईश्वर पिता हूँ ।' दूसरी बार भी महाब्रह्मासे पूछा—' मै तुमसे यह नही पूछता, कि तुम ब्रह्मा ईश्वर पिता हो । मै तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत कहाँ . बिल्कुल निरुद्ध हो जाते है ?' तीसरी बार भी पूछा—तब महाब्रह्माने उस भिक्षुकी बाँह पकड, (देवताओकी सभासे) एक ओर ले जाकर- कहा—'हे भिक्षु, ये देवता मुझे ऐसा समझते है कि (मेरे लिए) कुछ अज्ञात अ-दृष्ट नही है इसीलिए मैने उन लोगोंके सामने नही बतलाया । भिक्षु ! मै भी नही जानता यह तुम्हारा

[1] धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (=कुबेर)

ही दोष है. . .कि तुम (बुद्ध)को छोड बाहरमे इस बातकी खोज करते हो। . उन्हीके . पास जाओ, जैसा . (वह) कहे, वैसा ही समझो।' "

स्मरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममे ईश्वरसे जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देता था। अभी शिव और विष्णुको ब्रह्मासे ऊपर नही उठाया गया था। बुद्धकी इस परिहासपूर्ण कहानीका मजा तब आयेगा, यदि आप यहाँ ब्रह्माकी जगह अल्लाह या भगवान्, बुद्धकी जगह मार्क्स और भिक्षुकी जगह किसी साधारणसे मार्क्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहराये। हजारो अ-विश्वसनीय चीजोपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धालुओको बुद्ध बतलाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वगैरह नही है, न वह सृष्टिको बनाता बिगाडता है, वह भी दूसरे प्राणियोकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है। वह ऐसे अनगिनत देवताओमे सिर्फ एक देवतामात्र है। बुद्धके ईश्वर (=ब्रह्मा)के पीछे "लाठी" लेकर पडनेका एक ओर उदाहरण लीजिए। अबके बुद्ध स्वय जाकर "ईश्वर"को फटकारते है[1]—

"एक समय .वक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी[2]—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचनेका स्थान) नही है।' .तब मैं. . ब्रह्मलोकमे प्रकट हुआ। वक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा—'आओ मार्ष! (मित्र!) स्वागत मार्ष! चिरकालके बाद मार्ष! (आपका) यहाँ आना हुआ। मार्ष! यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत,. अजर अमर . . है।' ऐसा कहनेपर मैंने कहा—'अविद्यामे पडा

---

[1] ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त (म० नि०, १।५।९; अनुवाद०, पृ० १९४-५)

[2] याज्ञवल्क्यने गार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको शिर गिरनेका डर दिखलाकर रोक दिया था। (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो ! वक ब्रह्मा, अविद्यामे पडा है, अहो ! वक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत. . ।'.. ऐसा कहने पर.. वक ब्रह्माने .. कहा—'मार्ष ! मै नित्यको ही नित्य कहता हूँ... ।' मैंने कहा—. '. ब्रह्मा ! . (दूसरे लोकसे) च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ ।' . ।"

ब्राह्मण अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोकी भाँति बिना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते है, इस भावको समझाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है[1]—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्गके सबधमे ऐतरेय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण,....नाना मार्ग बतलाते है, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते है । जैसे .ग्राम या कस्बेके पास बहुतसे, नाना मार्ग होते है, तो भी वे सभी ग्राममे ही जानेवाले होते है ।' ...

'वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मणोमे एक ब्राह्मण भी नही, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो एक आचार्य.. एक आचार्य-प्राचार्य . सातवी पीढी तकका आचार्य भी नही । ब्राह्मणोके पूर्वज, ऋषि[2] मंत्रोके कर्त्ता, मत्रोके प्रवक्ता .अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु—मे क्या कोई है,

---

[1] तेविज्ज-सुत्त (दी० नि० १।१३, अनुवाद, पृ० ८७-९)

[2] ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नही है, अंगिराका भी अपना मंत्र नहीं है, किंतु अंगिराके गोत्रियोके ५७से ऊपर सूक्त है । (ऋक् १।३५।३६; ६।१५; ८।५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८; ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२; १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ बाकी आठ ऋषियोके बनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार है—

जिसने ब्रह्माको अपनी आँखोसे देखा हो। .'जिसको न जानते है, न देखते है उसकी सलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करते है।' वाशिष्ट! (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्धोकी पाँति एक

	सूक्त संख्या	पता
१. अप्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (वृहदुक्थ, मूर्धन्वा, अंहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४, २६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ६।६७ (१३-१५); ६। १०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भार्गव)	४	८।६०; ६।६२, ६५, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (वृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३२, ३७-४३, ५३-७४, ६।६७ (१-३)
८. वशिष्ठ (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४; ६।६७ (१६-२१), ६०, ६७ (१-३)
६. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।६६; ६।६४, ६७ (४-६), ६१-६३, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	६।६५

दूसरेसे जुडी हों, पहिलेवाला भी नही देखता, बीचवाला भी नही देखता, पीछेवाला भी नही देखता। "

(६) **दश अकथनीय**—बुद्धने कुछ बातोको अकथनीय (=अव्याकृत) कहा है, कितने ही बौद्धिक बेईमानीकेलिए उतारू भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते है, कि बुद्ध ईश्वर, आत्माके बारेमे चुप थे। इसलिए चुप्पीका मतलब यह नही लेना चाहिए, कि बुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते है। लेकिन वह इस बातको छिपाना चाहते है, कि बुद्धकी अव्याकृत बातोकी सूची खुली हुई नही है, कि उसमे जितनी चाहे उतनी बाते आप दर्ज करते जाये। बुद्धके अव्याकृतोकी सूचीमे सिर्फ दस बाते है जो लोक (=दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी गतिके बारेमे है[1]—

क लोक	१	क्या लोक नित्य है ?	अ-व्याकृत (=अ-कथनीय, चुप)
	२	क्या लोक अनित्य है ?	
	३	क्या लोक अन्तवान् है ?	
	४	क्या लोक अनन्त है ?	
ख. जीव-शरीरकी एकता	५	क्या जीव और शरीर एक है ?	
	६	क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है ?	
ग. निर्वाणके बाद-की अवस्था	७	क्या मरनेके बाद तथागत (-मुक्त) होते है ?	
	८	क्या मरनेके बाद तथागत नही होते ?	
	९	क्या मरनेके बाद तथागत होते भी है, नही भी होते है ?	
	१०	क्या मरनेके बाद तथागत न होते है, न नही होते है ?	

मालुक्यपुत्तने बुद्धसे इन दश अव्याकृत बातोके बारेमे प्रश्न किया था।[1]—

---

[1] म०नि०, २।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)

"यदि भगवान् (इन्हे) जानते है,....तो बतलाये, ...नही जानते हो, .. तो न जानने-समझनेवालेकेलिए यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कह दे)—मैं नही जानता, मुझे नही मालूम।....'

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

" . .मैने इन्हे अव्याकृत (इसलिए) ..(कहा) है; (क्योकि) .. यह (=इनके बारेमे कहना) सार्थक नही, भिक्षु-चर्या (=आदि ब्रह्मचर्य)केलिए उपयोगी नही, (और) न यह निर्वेद=वैराग्य, निरोध= शान्ति परम-ज्ञान, निर्वाणकेलिए (आवश्यक) है, इसीलिए मैने उन्हे अव्याकृत किया।"

(सर राधाकृष्णन्की लीपापोती—) बुद्धके दर्शनमे इस प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थकी गुजाइश न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—सत्-चिद्-आनन्द—से बिलकुल उल्टे तत्त्वो अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य समुत्पन्न)-अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनद (=दु.ख)—अनित्य-दु ख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक गैरजिम्मेवारीके साथ निम्न वाक्योको लिखनेकी धृष्टता करते है, तो इसे धर्मकीर्तिके शब्दोमे "धिग् व्यापकं तम." ही कहना पडेगा।—

(क) "उस (=बुद्ध)ने ध्यान और **प्रार्थना** (के रास्ते)को पकडा।"[1] किसकी प्रार्थना ?

(ख) "बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही क्षणिक है, और चीजे नही।"[2]

आपने 'सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न है', इसकी खूब व्याख्या की ?

(ग) "बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमे साफ हाँ या नही नही कहा, इसे "किसी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से इन्कारके अर्थमे नही लिया जा सकता।

---

[1] Indian Philosophy by Sir S. Radhakrishnen, (1st edition), p. 355 [2] वहीं, p 378

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस बहावमें किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नहीं स्वीकार किया; सारे विश्वमें हो रही अ-शान्तिमें (उन्होंने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नहीं (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके।"[1]

इसके लिए सर राधाकृष्णन्‌ने बौद्ध निर्वाणको 'परमसत्ता' मनवानेकी चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक वस्तु माना ही नहीं जा सकता। बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=बालधर्म) मानते हैं, तो उसके विश्रामकेलिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ सकते हैं! फिर आपने तो इस वचनको वहीं उद्धृत भी किया है—"यह निरन्तर प्रवाह या घटना है, जिसमें कुछ भी नित्य नहीं। यहाँ (=विश्वमें) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नहीं—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही।"[2]

(घ) "आत्माके बारेमें बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था" . . .[3]बुद्ध उपनिषद्‌में वर्णित आत्माके बारेमें चुप हैं—वह न उसे स्वीकार ही करते हैं, न इन्कार ही।"[4]

नहीं जनाब! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है। उपनिषद्‌के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ 'अन्' लगाया गया है। "अनित्य दुःख अनात्म"की घोषणा करनेवालेकेलिए आपके ये उद्‌गार सिर्फ यही साबित करते हैं, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेकेलिए बिलकुल अयोग्य हैं।

आगे यह और दुहराते हैं—

"बिना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

---

[1] वहीं, पृष्ठ ३७९

[2] It is a perpetual process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form—महावग्ग (विनय-पिटक) VI. 35. ff.

[3] वहीं, पृष्ठ ३८५ [4] वहीं, पृष्ठ ३८७

इसीलिए बुद्ध बराबर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे।"[1]

इसे कहते हैं—"मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी।" और बुद्धके सामने जानेपर राधाकृष्णन्की क्या गति होती, इसकेलिए मालुक्य-पुत्तकी घटनाको पढिए।

(ङ) **मिलिन्द-प्रश्नके** रचयिता नागसेन (१५० ई० पू०)ने बुद्धके दर्शनकी व्याख्या जिस सरलताके साथ यवनराजा मिनान्दरके सामने की, उसके बारेमे सर राधाकृष्णन्का कहना है—

"नागसेनने बौद्ध (=बुद्धके) विचारको उसकी पैतृक शाखा (=उपनिषद्?)से तोडकर शुद्ध बौद्धिक (=बुद्धिसंगत) क्षेत्रमे रोप दिया।"[2]

और—

"बुद्धका लक्ष्य (=मिशन) था, कि उपनिषद्के श्रेष्ठ विज्ञानवाद (Idealism)को स्वीकार कर उसे मानव जातिके दिन-प्रतिदिनकी आवश्यकताकेलिए सुलभ बनाये। ऐतिहासिक बौद्ध धर्मका अर्थ है, उपनिषद्के सिद्धान्तका जनतामे प्रसार।"[3]

स्वय बुद्ध उनके समकालीन शिष्य, नागसेन (१५० ई० पू०), नागार्जुन (१७५ ई०), असंग (३७५ ई०), वसुबधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६००), धर्मोत्तर, शान्तरक्षित (७५० ई०), ज्ञानश्री, शाक्यश्रीभद्र (१२०० ई०) जिस रहस्यको न जान पाये थे, उसे खोज निकालनेका श्रेय सर राधाकृष्णन्को है, जिन्होने अनात्मवादी बुद्धको उपनिषद्के आत्मवादका प्रचारक सिद्ध कर दिया। २५०० वर्षो तथा भारत, लका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, तिब्बत, मध्य-एसिया, अफगानिस्तान और दूसरे देशो तक फैले भूभागपर कितना भारी भ्रम फैला हुआ था जो कि वह बुद्धको अनात्मवादी अनीश्वरवादी समझते रहे। और अक्षपाद, वादरायण, वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन जैसे ब्राह्मणोने भी बुद्धके दर्शनको जिस

---

[1] वही, पृष्ठ ३८९ [2] वहीं, पृ० ३९० [3] वही, पृष्ठ ४७१

तरहका समझा वह भी उनकी भारी "अविद्या" थी।

(७) **विचार-स्वातंत्र्य**—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कर्त्ताकेलिए विचार-स्वातंत्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोंने अपने प्रवर्त्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातंत्र्यको अपने ही उपदेशोंसे इस प्रकार शुरू किया था[1]—

"भिक्षुओ! मै बेडे (=कुल्ल)की भॉति पार जानेकेलिए तुम्हे धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड रखनेकेलिए नही। जैसे भिक्षुओ! पुरुष ....ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेकेलिए पुल हो। ... तब वह... तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर बेडा बाँधे और उस बेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये। .उतर जानेपर उसके (मनमे) हो—'यह बेडा मेरा बडा उपकारी हुआ है, इसके सहारे .मै मार उतर सका, क्यो न मै ऐसे बेडेको शिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर ले चलूँ।'... तो क्या. .ऐसा करनेवाला पुरुष उस बेडेके प्रति (अपना) कर्त्तव्य पालन करनेवाला होगा?' ....नही ..। 'भिक्षुओ! वह पुरुष उस बेडेसे दुःख उठानेवाला होगा।'"

एक बार बुद्धसे केशपुत्र ग्रामके कालामोंने नाना मतवादोंके सच-झूठमे सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था[2]—

"भन्ते! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्रमे आते है, अपने ही वाद (=मत)को प्रकाशित. .करते है, दूसरेके वादपर नाराज होते है, निन्दा करते है।....दूसरे भी... अपने ही वादको प्रकाशित

---

[1] म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)

[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।७।५

....करते. ..दूसरेके वादपर नाराज होते है। तब. ..हमे सन्देह... होता है—कौन इन... मे सच कहता है, कौन झूठ ?"

"कालामो ! तुम्हारा सन्देह ...ठीक है, सन्देहके स्थानमे ही तुम्हे सन्देह उत्पन्न हुआ है।.. कालामो ! मत तुम श्रुत (=सुने वचनो, वेदों)के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणसे, मत नय-हेतुसे, मत (वक्ताके) आकारके विचारसे, मत अपने चिर-विचारित मतके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेसे, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोसे अनिन्दित है यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते है, तो कालामो ! तुम उन्हे स्वीकार करो।"

(८) **सर्वज्ञता गलत**—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्व-दर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोपर भी पड़े बिना नही रहा। तो भी बुद्ध स्वय सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा[1]—"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्व-दर्शी है....'—(क्या ऐसा कहनेवाले) . यथार्थ कहनेवाले है ? भगवान्‌की असत्य .. से निन्दा तो नही करते ?"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते है . , वह मेरे बारेमे यथार्थ कहनेवाले नही है। वह असत्यसे मेरी निन्दा करते है।"

और अन्यत्र[2]—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नही है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।"

(९) **निर्वाण**—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलते-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिक तत्त्व) तृष्णाके गारेसे मिलकर जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे है, इस प्रवाहका

---

[1] म० नि०, २।३।१ [2] म० नि०, २।४।१० (अनुवाद, पृष्ठ ३६९)

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवो=चित्तमलो, (काम-भोगो, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियो)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका शब्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनकेलिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होंने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष (=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमे उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है, किन्तु वह ख्याल "बालाना त्रासजनकम्" (=अज्ञोको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नही कहना चाहा[1]। उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते हैं।[2]—

"हे भिक्षुओ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-सस्कृत।" किन्तु, यह निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके 'आनन्द'का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव=चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मतवादकी तृष्णाए है) जहाँ नही रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।[3]

४. बुद्धका दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड-मासके समूहोवाले समाजका उसपर क्या बस है? वह केवल मनकी ऊँची उडान, मनोमय जगत्की

---

[1] इतिवुत्तक, २।२।६　　　[2] उदान, ८।३

[3] उदान, ८।२—"दुद्दसं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं।
पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो नत्थि किञ्चन॥"

उपज है, इसलिए उसे उसी तलपर देखना चाहिए। दर्शनके सबधमे इस तरहके विचार पूरब और पश्चिम दोनोमे देखे जाते है। उनके ख्यालमे दर्शन भौतिक विश्वसे बिल्कुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमे भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते भी "तीन लोकसे मथुरा न्यारी"वाली चीज नही रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञवल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है।. ..खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्माश ऊपर जाता है, वही मन है।"[1] हम खुद अन्यत्र[2] बतला आये है, कि हमारे मनके विकासमे हमारे हाथो—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनो—का सबसे भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमे समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमे मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? इसलिए सजीव आँखकी अस्लियतको जैसे शरीरसे अलग निकालकर देखनेसे नही मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमे भी हमे उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमे देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके है, समाजकी स्थितिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकाड और पाठ-पूजा)की ओरसे आस्था उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और क्षत्रियो—राजाओं—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर बुद्धिको थकाने तथा सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। द्वन्द्वात्मक रीतिसे विश्लेषण करनेपर हम देखेगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकाड, पाठ-पूजा श्रेयका रास्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेकेलिए बहुत कमजोर है।

सवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिसमे कर्म सहायक होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

---

[1] छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१–५ [2] "मानव-समाज" पृ० ४–६

वाद (उपनिषद्)——आत्मवाद।
प्रतिवाद (चार्वाक)——आत्मा नही भौतिकवाद।
संवाद (बुद्ध)——अभौतिक अनात्मवाद।

यह तो हुई विचार-शृखला। समाजमे वैदिक धर्म स्थिति-स्थापक था, और वह सम्पत्तिवाले वर्गकी रक्षा और श्रमिक——दास, कर्मकर——वर्गपर अकुश रखनेकेलिए, खूनी हाथोसे जनताको कुचलकर स्थापित हुए राज्य (=शासन)की मदद करना चाहा था। इसका पारितोषिक था धार्मिक नेताओ (=पुरोहितो)का शोषणमे और भागीदार बनाया जाना। शोषित जनता अपने स्वतत्र——वर्गहीन, आर्थिक दासता-विहीन——दिनोको भूलसी चुकी थी, धर्मके प्रपचमे पडकर वह अपनी वर्त्तमान परिस्थितिको "देवताओका न्याय" समझ रही थी। शोषित जनताको वास्तविक न्याय करवानेकेलिए तैयार करनेके वास्ते जरूरी था, कि उसे धर्मके प्रपचसे मुक्त किया जाये। यह प्रयोजन था, नास्तिकवाद (=देव-परलोकसे इन्कारी)——भौतिकवादका। ब्राह्मण (पुरोहित) अपनी दक्षिणा समेटनेमे मस्त थे, उन्हे भुसके ढेरमे सुलगती इस छोटी सी चिंगारीकी पर्वाह न थी। सदियोसे आये कर्म-धर्मको वह वर्गशोषणका साधन नही बल्कि साध्य समझने लगे थे, इसलिए भी वह परिवर्त्तनके इच्छुक न थे। क्षत्रिय (=शासक) ठोस दुनिया और उसके चलने-फिरनेवाले, समझनेकी क्षमता रखनेवाले शोषित मानवोकी प्रकृति और क्षमताको ज्यादा समझते थे। उन्होने खतरेको अनुभव किया, और धर्मके फदेको दृढ करनेकेलिए ब्रह्मवाद और पुनर्जन्मको उसमे जोडा। शुरूमे पुरोहितवर्ग इससे कितना नाराज हुआ होगा, इसकी प्रतिध्वनि हमे जैमिनि और कुमारिलके मीमासा-दर्शनमे मिलेगी; जिन्होने कि ब्रह्म (=पुरुष) ब्रह्मज्ञान सबसे इन्कार कर दिया——वेद अपौरुषेय है, उसे किसीने नही बनाया है। वह प्रकृतिकी भाँति स्वयभू है। वेदका विधान कर्मफल, परलोककी गारटी है। वेद सिर्फ कर्मोका विधान करते है, इन्ही विधान-वाक्योके समर्थनमे अर्थवाद (=स्तुति, निन्दा, प्रशसा)के तौरपर बाकी सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्का

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उससे वैदिक कर्मकाडको वचाया नही जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोमे भी भीतर ही भीतर वहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे वह समयके अनुसार, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोका ख्याल रखते हुए सामाजिक—धार्मिक—रूढिको वदलनेकी स्वतन्त्रता चाहते थे। लोगोके धार्मिक मिथ्याविश्वासोसे फायदा उठाकर, शासकोको दैवी चमत्कारो द्वारा राज्यकोष और वल वढानेकी वहाँ साफ सलाह दी गई है। "दशकुमारचरित"के समय (ई० छठी सदीमे तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक "निर्दोष वेष"को बेखटके इस्तेमाल करते थे, और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निस्सकोच करते थे, इसमे सन्देह नही। लेकिन, शासकवर्ग भौतिकवादको अपने प्रयोजनकेलिए इस्तेमाल करता था—सिर्फ, "ऋण कृत्वा घृत पिवेत्"(=ऋण करके घी पीने)के नीच उद्देश्य थे। वही भौतिकवाद जव शोपित-श्रमितवर्गकेलिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नही होता था। अव अपने श्रमका फल स्वय भोगनेकी माँग पेश करता—शोषणको वन्द करना चाहता था।

वुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (=क्षणिकवाद)—मे भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील घोपित किया, और कभी न लौटनेवाले "ते हि नो दिवसा गता." (=वे हमारे दिवस चले गये)की पर्वाह छोडकर परिवर्त्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्त्तनकेलिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। वुद्धने अपने वडे-से-वडे दार्शनिक विचार ("धर्म")को भी वेडेके समान सिर्फ उससे फायदा उठानेकेलिए कहा था, और उसे समयके वाद भी ढोनेकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वो (धर्म)को हटाया नही था, जो "समाजकी प्रगतिको रोकने"का काम देते है। पुनर्जन्मको यद्यपि वुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमे आवागमनके

रूपमे माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमे परलोक और पुनर्जन्म-को माना था। जैसे इस शरीरमे 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमे एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तरमे भी जारी रहेगा। पुनर्जन्मके दार्श-निक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रति-सन्धिके रूपमें किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी सधि(=शृखला)से जुडकर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमे चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसधि(=जुडना) एक शरीरसे अगले शरीरमे होती है। अविकारी ठोस आत्मामे पहिलेके सस्कारोको रखनेका स्थान नही था, किन्तु क्षण-परिवर्तनशील तरल विज्ञान (=जीवन)मे उसके वासना या सस्कारके रूपमे अपना अग बनकर चलनेमे कोई दिक्कत न थी। क्षणिकता सृष्टि-की व्याख्याकेलिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम ससारमे व्यवस्था, समाजमे व्यवस्था (=शोषितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है। इसकेलिए बुद्धने **कर्मके** सिद्धान्तको और मजबूत किया। आवागमन, धनी-निर्धनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम खुद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है।

इस प्रकार बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पादको** देखनेपर जहाँ तत्काल प्रभु-वर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हे बिल-कुल निश्चित कर देता था। यही वजह थी, जो कि बुद्धके झडेके नीचे हम बडे-बडे राजाओ सम्राटो, सेठ-साहूकारोको आते देखते है, और भारतसे बाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमे तो उनके धर्मको फैलानेमे राजा सबसे पहिले आगे बढे।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नही बल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेकेलिए बहुत सहा-यक साबित होगा। जातियो, देशोकी सीमाओको तोडकर बुद्धके विचारोने राज्य-विस्तार करनेमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की। समाजमे आर्थिक विषमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिससे वास्तविक विषमता तो

नही हटी, किन्तु निम्न वर्गका सद्भाव जरूर बौद्ध धर्मकी ओर बढ गया। वर्ग-दृष्टिसे देखनेपर बौद्धधर्म शासकवर्गके एजंटकी मध्यस्थता जैसा था, वर्गके मौलिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षपाती दिखलाना चाहता था।

सिद्धार्थ गौतम अपने दर्शनके रूपमे सोचनेकेलिए क्यो मजबूर हुए? इसकेलिए उनके चारो ओरकी भौतिक परिस्थिति कहाँ तक कारण बनी? यह प्रश्न उठ सकते है। किन्तु हमे ख्याल रखना चाहिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमे जो पडता है, कभी-कभी वही व्यक्तिकी विशेष दिशामे प्रतिक्रियाकेलिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्त्तनमे सहायक होती है। पहिली दृष्टिसे बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके है। बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थितिका उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पडा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए। बुद्ध शरीरसे बहुत स्वस्थ थे। मानसिक तौरसे वह शान्त, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे। महत्त्वाकाक्षाए उनकी उतनी ही थी, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले आत्म-विश्वासी व्यक्तिको होनी चाहिए। वह अपने दार्शनिक विचारोकी सच्चाईपर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वको भली प्रकार समझते थे; साथ ही पहिले-पहिल उन्हे अपने विचारोको फैलानेकी उत्सुकता न थी, क्योकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिको देखकर आशापूर्ण न थे। शायद अभी तक उन्हे यह पता न था, कि उनके विचारो और उस समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमे समझौतेकी गुजाइश है।

बुद्धके दर्शनका अनित्य,—अनात्मके अतिरिक्त दु खवाद भी एक स्वरूप है। इस दु खवादका कारण यदि उस समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थितिमे ढूँढे, तो यही मालूम होता है, कि उन्हे बचपनमे ही मातृवियोग सहना पडा था, किन्तु उनकी मौसी प्रजापतीका स्नेह सिद्धार्थकेलिए कम न था। घरमे उनको किसी प्रकारका कष्ट

हुआ हो, इसका पता नही लगता। एक धनिकपुत्रकेलिए जो भोग चाहिए, वह उन्हे सुलभ थे। किन्तु समाजमे होती घटनाएँ तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थी। वृद्ध, बीमार और मृतके दर्शनसे मनमे वैराग्य होना इसी बातको सिद्ध करता है। दुःखकी सच्चाईको हृदयगम करनेकेलिए यही तीन दर्शन नही थे, इससे बढकर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हे दुःखकी सच्चाईको साबित करनेमे मदद दी होगी, यद्यपि उसका जिक्र हमे नही मिलता। इसका कारण स्पष्ट है—बुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अग नही बनाया था। आरम्भिक दिनोमे, जान पडता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति बौद्धसघमे थी। कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होने पर शरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्ज-दार त्राण पानेकेलिए भिक्षु बन जाते थे। लेकिन जब महाजनोके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो बुद्धने घोषित किया[1]—

"ऋणीको प्रव्रज्या (=सन्यास) नही देनी चाहिए।"

इसी तरह दासोके भिक्षु बननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-स्वामियोने जब हल्ला किया तो घोषित किया[2]—

"भिक्षुओ! दासको प्रव्रज्या नही देनी चाहिए।"

बुद्धके अनुयायी मगधराज बिबिसारके सैनिक जब युद्धमे जानेकी जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक और राजा बहुत घबराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमे सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है। बिंबिसारने जब पूछा कि, राजसैनिकको साधु बनानेवाला किस दडका भागी होता है, तो अधिकारियोने उत्तर दिया[3]—

"देव! उस (=गुरु)का शिर काटना चाहिए, अनुशासक (=भिक्षु

---

[1] महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा "विनयपिटक", हिन्दी, पृष्ठ ११८)

[2] वहीं १।३।४।९ (मेरा "विनयपिटक"), पृ० ११८)

[3] वहीं, १।३।४।२ (वही, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योको पढनेवाले)की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=संघ)की पसली तोड देनी चाहिए।"

राजा बिंबिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने घोषित किया—

"भिक्षुओ! राजसैनिकोको प्रव्रज्या नही देनी चाहिए।"[1]

इस तरह दु:ख-सत्यके साक्षात्कारसे दु:ख-हेतुओको ससारमे दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया; अब उसका सिर्फ आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाले वर्गकेलिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है।

सब देखनेपर हम यही कह सकते है, कि तत्कालीन दासता और दरिद्रता बुद्धको दु:खसत्य समझनेमे साधक हुए। दु:ख दूर किया जा सकता है, इसे समझते हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद पर पहुँचे—क्षणिक तथा "हेतुप्रभव" होनेसे उसका अन्त हो सकता है। ससारमे साफ दिखाई देनेवाले दु:खकारणोंको हटानेमे असमर्थ समझ उन्होने उसकी अलौकिक व्याख्या कर डाली।

§ ४. बुद्धके पीछेके दार्शनिक

क. कपिल (४०० ई० पू०)

बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोमे कपिलको भी गिना जाता है, किन्तु जहाँ तक बुद्धके प्राचीनतम उपदेश-सग्रहो तथा तत्कालीन दूसरी उपलब्ध सामग्रीका सबध है, वहाँ कपिल या उनके दर्शनका बिल्कुल पता नही है। श्वेताश्वतरमे कपिलका नाम ही नही है, बल्कि उसपर कपिलके दर्शनकी स्पष्ट छाप भी है, किन्तु वह बुद्धके पीछेकी उपनिषदोमे है, यह कह आये है। ईसाकी पहिली सदीके बौद्ध कवि और दार्शनिक

---

[1] वहीं

अश्वघोषने अपने "बुद्धचरित"मे बुद्धके पहिलेके दो आचार्यों—आलार-कालाम और उद्दक रामपुत्त—मे एकको साख्यवादी (कपिलका अनुयायी) कहा है, किन्तु यह भी जान पडता है, ज्यादातर नवनिर्मित परम्परा पर निर्भर है, क्योकि न इसका जिक्र पुराने साहित्यमे है और न उन दोनोमे से किसीकी शिक्षा साख्यदर्शनसे मिलती है। ऐसी अवस्थामे कपिलको बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोमे ले जाना मुश्किल है।

श्वेताश्वतरमे कपिल एक बडे ऋषि है। भागवतमे वह विष्णुके २४ अवतारोमे है, और उनके माता पिताका नाम कर्दम ऋषि और देवहूति बतलाया गया है। तो भी इससे कपिलके जीवनपर हमे ज्यादा प्रकाश पडता दिखाई नही पडता। कपिलके दर्शनका सबसे पुराना उपलब्ध ग्रथ ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका है। साख्यसूत्रोके नामसे प्रसिद्ध दोनो सूत्र-ग्रंथ उससे पीछे तथा दूसरे पॉच सूत्रात्मक दर्शनोसे मुकाबिला करनेके लिए बने। चीनमे सुरक्षित भारतीय बौद्ध-परपरासे पता लगता है, कि वसुवधु समकालीन (४०० ई०) विन्ध्यवासीने सत्तर कारिकाओमे साख्यदर्शनको लिखा। वसुवधुने उसके खडनमे **परमार्थसप्तति**के नामसे कोई ग्रथ लिखा था। साख्यकारिकाके ऊपर माठरने एक वृत्ति (=टीका) लिखी है, जिसका अनुवाद चीनी भाषामे भी हो चुका है। ईश्वरकृष्ण तथा माठरके कथनोसे मालूम होता है, कि विचारक कपिलके उपदेशोका एक बडा संग्रह था, जिसे **षष्ठितंत्र** कहा जाता था। ईश्वरकृष्णने षष्ठितत्रके कथानको, परवादोको हटाकर[1] दर्शनके असली तत्त्वको सत्तर आर्या श्लोकोंमे गुफित किया। इससे यह भी मालूम होता है, कि षष्ठितंत्र बौद्धोके पिटक और जैनोंके आगमोकी भॉति एक वृहत् साम्प्रदायिक पिटक था; जिसमें बुद्ध और महावीरके उपदेशोकी भाँति कपिल—और शायद उनके शिष्य आसुरि—के उपदेश और संवाद संगृहीत थे।

---

[1] "सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितंत्रस्य। आख्यायिका-विरहिताः परवादविवर्जिताश्चैव।"–(सां० का०)

दर्शन—इतना होते भी हम साख्यकारिकाको अपने समयसे अप्रभावित षष्ठितत्रका हूबहू सार नही मान सकते। साख्यकारिकामे प्राप्त विकसित साख्यदर्शनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे, यहाँ सक्षेपमे यही कह सकते है—कि कपिल उपनिषद्के दर्शनकी भाँति ब्रह्म या आत्माको ही सर्वेसर्वा नही मानते थे। वह आत्मासे इन्कार नही करते थे, बल्कि उन्होने उसके लिए उपनिषद्के अकर्त्ता, अभोक्ता, अज, नित्य आदि विशेषणोको भी स्वीकार कर लिया है। नित्य होनेका मतलब है निष्क्रियता, इसीलिए कपिलने आत्माके निष्क्रिय होनेपर बहुत जोर दिया। निष्क्रिय होनेपर आत्माको विश्वकी सृष्टिसे क्या मतलब दूसरे जीवोसे ही क्या प्रयोजन ? ऐसी हालतमे सृष्टिकर्त्ता, या **अन्तर्यामी** ब्रह्मकी जरूरत न थी, इसलिए कपिलने अपने दर्शनमे परमात्मा या ब्रह्मको स्थान नही दिया, हाँ, असंख्य जीवो या पुरुषोको उन्होने प्रकृतिके साथ एक स्वतत्र तत्त्व माना।

चेतन पुरुषके अतिरिक्त जड प्रकृति कपिलके मतमे मुख्य तत्त्व है, इसीलिए प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृति नित्य है, जगत्की सारी वस्तुएं उसीके विकार है। बुद्धके पीछे होनेपर भी कपिल यूनानियोंके भारत आने (३२३ ई० पू०)से पूर्व ही हो चुके थे, और उनका दर्शन कुछ इतना व्यवस्थित हो चुका था, कि जहाँ सभी पिछले मौलिक और प्रति-सस्कृत दर्शनोने परमाणुवादको अपनाया, वहाँ साख्यने उससे लाभ नही उठाया; इसकी जगह उसने तीन गुणो—सत्त्व, रज, तम—का सिद्धान्त पहिले ही आविष्कृत कर लिया था। संक्षेपमे कपिल प्रकृति और अनेक चेतन पुरुषोंको मानते थे; और कहते थे कि पुरुषके समीपता मात्रसे और उसके ही लिए प्रकृतिमे क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे विश्वकी वस्तुओका उत्पाद और विनाश होता है।

साख्यके विकसित दर्शनके बारेमे हम आगे लिखेंगे।

ख. बौद्ध दार्शनिक नागसेन (१५० ई० पू०)

१. सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोने राज्य-विस्तारकेलिए युद्ध छेडने शुरू किये थे—दो-तीन पीढी पहिले ही कोसल-ने काशी-जनपदको हडप कर लिया था। बुद्धके समयमे ही बिबिसारने अगको भी मगधमे मिला लिया और उस समय विध्यमे होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन)के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद)का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बडे शासकोमे था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियो (वैशाली)का प्रजा-तत्र पाँचवी महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोको विजय करते एक-एक **जन** (=कबीले)के रूपमे बसे थे। आर्योकी यह नई बस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगो और स्वयं दूसरे आर्य **जनोके** खूनी सघर्षोके साथ मजबूत हुई थी। कितनी ही सदियों तक राजतत्र या प्रजातत्रके रूपमे यह **जन** चले आये। उपनिषद्कालमे भी यह **जन** दिखाई पडते है, यद्यपि **जनतंत्रके** रूपमे नही बल्कि अधिकतर सामन्ततत्रके रूपमे। बुद्धके समय **जनोंकी** सीमाबदियाँ टूट रही थी, और काशि-कोसल, अग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमे इन सीमाओको तोड़ना शुरू किया। एक नही अनेक राज्योसे व्यापारिक सबधके कारण उनका स्वार्थ उन्हे मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतत्र जन-पदोकी जगह एक बडा राज्य कायम होनेमे मदद करे। मगधके धनजय सेठ (विशाखाके पिता)को साकेत(=अयोध्या)मे बडी कोठी कायम करते हम अन्यत्र[1] देख चुके है। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वारा, राजा अपनी सेना द्वारा जनपदोकी सीमा तोडनेमे लगे हुए थे, उस वक्त जो भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमे सहायता देते, उनका अधिक प्रचार

---

[1] "मानवसमाज" पृष्ठ १३६-३८

होना जरूरी था। बौद्ध धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, चाः जान-बूझकर थैली और राजके हाथमे बिककर ऐसा न भी हुआ हो।

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई०पू०) अजातशत्रु (मगध)ने लिच्छवि प्रजातत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमे ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीसे यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्खिनमे उसकी सीमा विंध्य और हिमालय थे। जनपदो, जातियो, वर्णोकी सीमाओको न मानने वाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमे अपने समकालीन दूसरे छै तीर्थंकरोंके समान ही थी, किन्तु उनके साथ इसके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोको ज्यादा आकर्षक मालूम होते थे—पिछले दार्शनिक प्रवाहका चरम रूप होनेसे उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उस समयके प्रतिभाशाली ब्राह्मणो और क्षत्रिय विचारकोका भारी भाग बुद्धके दर्शनसे प्रभावित था। इन आदर्शवादी भिक्षुओका त्याग और सादा जीवन भी कम आकर्षक न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उसके बाद बौद्धधर्म युग-धर्म—जनपद-एकी-करण—मे सबसे अधिक सहायक बना। बिंबिसारके वशके बाद नन्दोका राज्यवश आया, उसने अपनी सीमाको और बढाया, और पच्छिममे सतलज तक पहुँच गया। पिछले राजवशके बौद्ध होनेके कारण उसके उत्तराधि-कारी नदवशका धार्मिक तौरसे बौद्धसघके साथ उतना घनिष्ट सबध चाहे न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जबर्दस्ती शामिल किये जाते जन-पदोमे जनपदके व्यक्तित्वके भावको हटाकर एकताका जो काम बौद्ध कर रहे थे, उसके महत्त्वको वह भी नही भूल सकते थे—मगधमें बुद्धके जीवनमे उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, और वहाँका राज-धर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगध-राजके शासन और प्रभावके विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमें सिकन्दरका पजाबपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोंका उन वक्तका शासन बिल्कुल अ-स्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमें यूनानी सिपाही व्यापारी, शिल्पी लाखोकी सख्यामे बसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेच्छ" जातियोंको भारतीय बनानेमे सबसे आगे बढे थे

बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नही है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमे बौद्धधर्मने खूब हाथ बँटाया था।

२. यूनानी और भारतीय दर्शनोंका समागम

यूनानी भारतीयोकी भाँति उस वक्तकी एक बडी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमे वह भारतीयोसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाटचकला जैसी कुछ बातोमे तो भारतीयोसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हे पिछले वक्तके भारतीयोने बिना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०-५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५-४७५
बीजवाद	अनखागोर	५००-४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०-३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूँ	४२७-३४७
विशेष	,,	
सामान्य (=जाति)	,,	
मूल स्वरूप	,,	
सृष्टिकर्त्ता	,,	
उपादान कारण		
निमित्त कारण	अरस्तू	३८४-३२२
तर्कशास्त्र	,,	
द्रव्य	,,	
गुण	,,	

कर्म	अरस्तू
दिशा	,,
काल	,,
परिमाण	,,
आसन	,,
स्थिति	,,

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पडा, यह अगले पृष्ठोसे मालुम होगा। यहाँ हमे यह भी स्मरण रखना है, कि हेराक्लितु, अफलातूँ, अरस्तूके दर्शनोको जाननेवाले अनेक यवन भारत मे वस गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह है समय जब कि यवन-शासित पजाबमे नागसेन पैदा होते है।

३. नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमे "मिलिन्द प्रश्न"[1]मे जो कुछ मिलता है, उससे इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पजाव)मे कजगल गाँवमे सोनुत्तर ब्राह्मणके घरमे उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमे ही रहते उन्होने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उस वक्त वत्तनीय (=वर्त्तनीय) स्थानमे रहते एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ, जिससे नागसेन बौद्ध-विचारोकी ओर झुके। रोहणके शिष्य बन वह उनके साथ विजम्भवस्तु[2] (=विजृम्भवस्तु) होते हिमालयमे रक्षिततल नामक स्थानमे गये। वही गुरुने उन्हे उस समयकी रीतिके अनुसार कठस्थ किये सारे बौद्ध वाड्मयको पढाया। और पढनेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक वार फिर पैदल चलते वर्त्तनीयमें

---

[1] 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, १९३७ ई०।

[2] वर्त्तनीय, कजंगल और शायद विजृम्भवस्तु भी स्यालकोटके जिलेमें थे।

एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे। अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पडा। नागसेनकी प्रतिभा उससे खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभाशाली तरुणको और योग्य हाथोमे सौपनेकेलिए पटना (=पाटलिपुत्र)के अशोकाराम बिहारमे वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया। सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु अब भिक्षु बराबर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोका सार्थ (=कारवाँ) भी एक-न-एक चलता ही रहता था। नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बडी खुशीसे इस तरुण विद्वानको खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया।

अशोकाराममे आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होने बौद्ध तत्वज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया। इसी बीच उन्हे पजाबसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे।

मिनान्दर (=मिलिन्द)का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था। यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (वाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी। प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बडा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था। उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियोंकेलिए लोगोमे लडाई छिड गई। लोगोने उसकी हड्डियोपर बड़े-बडे स्तूप बनवाये। मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और बहसकी बडी आदत थी, और साधारण पडित उसके सामने नही टिक सकते थे। भिक्षुओंने कहा—'नागसेन ! राजा मिलिन्द वादविवादमे प्रश्न पूछकर भिक्षु-सघको तग करता और नीचा दिखाता है; जाओ तुम उस राजाका दमन करो।"

नागसेन, सघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके असंखेय्य नामक परिवेण (=मठ)मे पहुँचे। कुछ ही समय पहिले वहाँके बडे पडित आयुपालको मिनान्दरने चुप कर दिया था। नागसेनके आनेकी खबर शहरमें

फैल गई। मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमत्री (=जो शायद यूनानी दिमित्री है) से नाग-सेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। स्वीकृति मिलनेपर एक दिन "पाँच सौ यवनोके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असंखेय्य परिवेणमे गया। राजाने नमस्कार और अभिनदनके बाद प्रश्न शुरू किये। इन्ही प्रश्नोके कारण इस ग्रथका नाम "मिलिन्द-प्रश्न" पडा। यद्यपि उपलभ्य पाली "मिलिन्द पञ्ह"मे छ परिच्छेद है, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते है; चीनी भाषामे भी इन्ही तीन परिच्छेदोंका अनुवाद मिलता है। मिनान्दरने पहिले दिन मठमे जाकर नागसेनसे प्रश्न किये, दूसरे दिन उसने महलमे निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे।

४—दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमे नागसेनने बुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद् करनेका प्रयत्न किया है।

(१) **अनात्मवाद**—मिनान्दरने पहिले बौद्धोके अनात्मवादकी ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा[1]—

(क) "भन्ते (स्वामिन्)! आप किस नामसे जाने जाते है?"

"नागसेन . नामसे (मुझे) पुकारते है? ...किन्तु यह केवल व्यवहारकेलिए संज्ञा भर है, क्योकि यथार्थमे ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नही है।"

"भन्ते! यदि एक पुरुष नही है तो कौन आपको वस्त्र .. भोजन देता है? कौन उसको भोग करता है? कौन शील (=सदाचार) की रक्षा करता है? कौन ध्यान...' का अभ्यास करता है? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है? .. यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है न करानेवाला

[1] मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

है। न पाप और पुण्य.. के .फल होते है ? ..यदि आपको कोई मार डाले तो किसीका मारना नही हुआ। .. (फिर) नागसेन क्या है ?. क्या ये केश नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"ये रोये नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"ये नख,दाँत, चमडा, मास, स्नायु, हड्डी, मज्जा, बुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुप्फुस, आँत, पतली आँत पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व) वेदना ..सज्ञा . सस्कार या विज्ञान नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

". तो क्या. .रूप ..विज्ञान (=पाँचो स्कध) सभी एक साथ नागसेन है ?"

"नंही महाराज !"

" . तो क्या. ..रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"भन्ते ! मै आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है इसका पता नही लगा सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ?"

"महाराज ! ..क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारीपर ?"

"भन्ते ! . मै . .रथपर आया।"

"महाराज ! .तो मुझे बतावे कि आपका 'रथ' कहाँ है ? क्या हरिस (=ईषा) रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या अक्ष रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या चक्के रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या रथका पजर . रस्सियाँ .लगाम चाबुक . रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कही रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! मै आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नही लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते है कि रथ नही है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप (=भारत)के आप सबसे बडे राजा है; भला किससे डरकर आप झूठ बोलते है ?"

"भन्ते नागसेन ! मै झूठ नही बोलता। हरीस आदि रथके अवयवोंके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है।"

"महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमे 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नही है। भिक्षुणी वज्राने भगवान्‌के सामने इसीलिए कहा था—

'जैसे अवयवोके आधारपर 'रथ' सज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कंधोके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।'"[1]

---

[1] संयुत्तनिकाय, ५।१०।६

(ख)[1]—"महाराज ! 'जान लेना' विज्ञानकी पहिचान है, 'ठीकसे समझ लेना' प्रज्ञाकी पहिचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नही है।"

"भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नही है, तो हम लोगोंमें वह क्या है जो आँखसे रूपोंको देखता है, कानसे शब्दोंको सुनता है, नाकसे गंधोको सूँघता है, जीभसे स्वादोंको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे 'धर्मों'को जानता है।"

'महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोके भीतर रह आँखसे रूपको देखता है, तो आँख निकाल लेनेपर बडे छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बडे छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।"

"नही भन्ते ! ऐसी बात नही है।"

"महाराज ! तो हम लोगोके भीतर कोई जीव भी नही है।"

(२) कर्म या पुनर्जन्म—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोंकी जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमे दु:ख-सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

"भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! नाम[2] (=विज्ञान) और रूप[3]. . . ।"

"क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नही ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है।"

"भन्ते ! तब तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया ?"

"महाराज ! यदि फिर भी जन्म नही ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया; किन्तु,

---

[1] वहीं, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) [2] Mind. [3] Matter

चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नही हुआ।"

"... उपमा देकर समझावे।"

a. "**आमकी चोरी**[1]—'कोई आदमी किसीका आम चुरा ले। उसे आमका मालिक पकडकर राजाके पास ले जाये—'राजन्! इसने मेरा आम चुराया है'। इसपर वह(चोर)ऐसा कहे—'नही, मैंने इसके आमोको नही चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे है। . ' महाराज! अब बतावे कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नही?"

". . सजा मिलनी चाहिए।"

"सो क्यो?"

"भन्ते! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड दूसरे हीको चुरानेकेलिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए।"

"महाराज! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य .. .करता है। उन कर्मोसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मोसे मुक्त नही हुआ।

b "**आगका प्रवास**—महाराज! . कोई आदमी जाडेमे आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाये छोडकर चला जाये। वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे. (पकडकर राजाके पास ले जानेपर वह आदमी बोले—) 'मैंने इस खेतको नही जलाया। ... वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे .. खेत जला। मुझे सजा नही मिलनी चाहिए।' . महाराज! उसे सजा मिलनी चाहिए या नही?"

" ...मिलनी चाहिए। . उसीकी जलाई हुई आगने वढते-बढते खेतको भी जला दिया। "

c "**दीपकसे आग लगना**—महाराज! कोई आदमी दीया

---

[1] वहीं, २।२।१४ (अनुवाद, पृष्ठ ५७-६०)

लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोमे लग जाये। वे तिनके घरको (आग) लगा दे, और वह घर सारे गाँवको लगा दे। गाँववाले उस आदमीको पकड कर कहे—'तुमने गाँवमे क्यो आग लगाई ?' इसपर वह कहे—'मैंने गाँवमे आग नही लगाई। उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोशनीमे मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया।' इस तरह आपसमे झगडा करते (यदि) वे आपके पास आवे, तो आप किधर फैसला देगे ?"

"भन्ते ! गाँववालोकी ओर ।"

"महाराज ! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खडा होता है, किन्तु यह भी उसीसे होता है। इसलिए वह अपने कर्मोसे मुक्त नही हुआ।"

"d. *विवाहित कन्या*—महाराज ! कोई आदमी रुपया दे एक छोटीसी लडकीसे विवाह कर, कही दूर चला जाये। कुछ दिनोके बाद वह बढकर जवान हो जाये। तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहिला आदमी आकर कहे—'तुमने मेरी स्त्रीको क्यो निकाल लिया ?' इसपर वह ऐसा जवाब दे—'मैंने तुम्हारी स्त्रीको नही निकाला। वह छोटी लडकी दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसके लिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और जिसकेलिए रुपये दिये है। अब, यदि दोनो इस तरह झगडते हुए आपके पास आवे तो आप किधर फैसला देगे ?"

" पहिले आदमीकी ओर। . . . (क्योकि) वही लडकी तो बढकर सयानी हुई।"

(घ)[1]—"भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?"

---

[1] वही, २।२।६ (अनुवाद, पृ० ४६)

"न वही और न दूसरा ही। ...(१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बडे होकर भी वही है ?"

"नही भन्ते ! अब मै दूसरा हो गया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप वही बच्चा नही है, तो अब आपकी कोई माँ भी नही है, कोई पिता भी नही है, कोई गुरु भी नही। .. क्योकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओकी भी भिन्न-भिन्न माताए होयेगी। बडे होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर) . दूसरा होगा। अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसकेलिए) हाथ-पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा।"

"भन्ते ! . आप इससे क्या दिखाना चाहते है ?"

"महाराज ! मै बचपनमे दूसरा था और इस समय बडा होकर दूसरा हो गया हूँ, किन्तु वह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाए इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमे ले ली जाती है। ...

"(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे, तो वह रात भर जलता रहेगा न ?"

" .रातभर जलता रहेगा।"

"महाराज ! रातके पहिले पहरमे जो दीयेकी टेम थी। क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमे भी बनी रहती है ?"

"नही, भन्ते !"

"महाराज ! तो क्या वह दीया पहिले पहरमे दूसरा, दूसरे और तीसरे पहरमे और हो जाता है ?"

"नही भन्ते ! वही दीया सारी रात जलता रहता है।"

"महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमे एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाहकी दो अवस्थाओमे एक क्षणका भी अन्तर

नही होता; क्योकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है। **एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना)के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।**

(ङ)[1]—"भन्ते! जब एक नाम-रूपसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते है, तो वे कर्म कहाँ ठहरते है?"

"महाराज! कभी भी पीछा नही छोडनेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते है।"

"भन्ते! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते है, (कि) वह यहाँ ठहरे है?"

"महाराज! वे इस तरह नही दिखाये जा सकते।....क्या कोई वृक्षके उन फलोंको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नही....?"

(३) नाम और रूप—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वोको विज्ञान(=नाम) और भौतिक तत्व (=रूप)मे बाँटा है, इनके बारेमे मिनान्दरने पूछा—

"भन्ते!.. नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज?"

"महाराज! जितनी स्थूल चीजे है, सभी रूप है, और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म है, सभी नाम है। ..दोनों एक दूसरेके आश्रित है, एक दूसरेके बिना ठहर नही सकते। दोनो (सदा) साथ ही होते है।.... यदि मुर्गीके पेटमे (बीज रूपमे) बच्चा नही हो तो अडा भी नही हो सकता; क्योकि बच्चा और अडा दोनो एक दूसरेपर आश्रित है। दोनों एक ही साथ होते है। यह (सदासे) होता चला आया है। ..."

(४) निर्वाण—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमे पूछते हुए कहा[2]—

"भन्ते! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है?"

"हाँ, महाराज! निरोध(=बन्द) हो जाना ही निर्वाण है।.... सभी अज्ञानी . .विषयोके उपभोगमे लगे रहते है, उसीमे आनन्द लेते है, उसीमे डूबे रहते है। वे उसीकी धारामे पडे रहते है, बार-बार

---

[1] वही [2] वहीं, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

जन्म लेते, बूढे होते, मरते, शोक करते, रोते-पीटते, दुःख बेचैनी और परेशानीसे नही छूटते। (वह) दुःख ही दुःखमे पडे रहते हैं। महाराज! किन्तु ज्ञानी . विषयोके भोग (=उपादान) मे नही लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे भव (=आवागमन) का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना बन्द हो जाता है।. . (फिर) बूढा होना, मरना सभी दुःख बन्द=(निरुद्ध) हो जाते हैं। महाराज! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" .

[1]". . (बुद्ध) कहाँ हैं?"

"महाराज! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेकेलिए कुछ भी नही रह जाता .।"

"भन्ते! उपमा देकर समझावे।"

"महाराज! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है . ?"

"नही भन्ते! वह लपट तो बुझ गई।"

नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोसे बुद्धके दर्शनमे कोई नई बात नही जोडी, किन्तु उन्होने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोसे स्पष्ट है। यहाँ हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म हिन्दी-यूनानी साम्राज्य और सभ्यताके केन्द्र स्यालकोट (=सागल) के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेनका यह सवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमे कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाए मिलकर भारतमे नई विचार-धाराओका आरम्भ कर रही थी।

---

[1] वही, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

षोड़श अध्याय

अनीश्वरवादी दर्शन

दर्शनका नया युग (२००-४००)

क. बाह्य परिस्थिति

(सामाजिक स्थिति)—मौर्योके शासनके साथ कुमारी अन्तरीपसे हिमालय, सुवर्णभूमि (=बर्मा)की सीमासे हिन्दूकुश तकका भारत एक शासनके सूत्रमे बँध गया, और इस विशाल साम्राज्यकी राजधानी पटना हुई। पटना नाम ही पत्तनसे बिगडकर बना है, जिसका अर्थ होता है बन्दरगाह, नावका घाट। पटना जिस तरह शासनकेन्द्र था, वैसेही वह व्यापारका केन्द्र था। यह भी हम बतला चुके है, कि किस तरह मगध-की राजनीतिक प्रधानताके साथ वहाँके सर्व-प्रिय धर्म—बौद्ध- धर्म—ने भी अपने प्रभावका विस्तार किया। पाटलिपुत्र (=पटना) विद्वानोकी परीक्षाका स्थान बन गया। यही पाणिनि (४०० ई० पू०) जैसे विद्वान् सुपरीक्षित हो सारे भारतमे कीर्ति पाते थे। मिनान्दरके गुरु नागसेनका पटना (अशोकाराम)मे आकर विद्याध्ययनकी बात हम कह चुके है। इतने बडे साम्राज्यमे एक राजकीय भाषा (=मागधी), एक तरहके सिक्के, एक तरहके नाप-तोल होनेसे भारतीय समाजमे एकता आने लगी थी। लेकिन यह एकता भीतर नही प्रवेश कर सकी, क्योकि देशो, प्रदेशोंके छोटे-छोटे प्रजातत्रो और राजतत्रोके टूटते रहनेपर भी हर एक गाँव अपने स्वावलबी "प्रजातत्र"के रूपको नही छोडना चाहता था।

मौर्य चन्द्रगुप्तने यूनानी शासनको भारतसे हटाया जरूर, किन्तु उससे यूनानी भारतसे नही हट सके। पजाबमे उनकी कितनी ही बस्तियाँ बसी हुई थी। हिन्दूकुश पारसे उनका विशाल राज्य शुरू होता था, जो कि मध्य-एसिया, ईरान, मसोपोतामिया, क्षुद्र-एसिया होते मिश्र और

यूरोप तक फैला हुआ था। सिकन्दरकी मृत्यु (३२३ ई० पू०)के साथ वह कितने ही टुकडोमे बँटा जरूर, किन्तु तब भी उसकी शासनप्रणाली, सभ्यता, आदि एकसी थी। मातृभूमि (यूनान) तथा एक दूसरेके साथ उनका व्यापारिक ही नही सामाजिक, बौद्धिक घनिष्ट सम्बन्ध था। और मौर्य साम्राज्यके नष्ट होते ही यूनानी फिर हिन्दूकुश पार हो यमुना और नर्मदाके पश्चिमके सारे भारतपर स्थायी तौरसे अधिकार जमानेमे सफल हुए। इस कार्यको सम्पन्न करनेवाले यूनानी शासकोमे मिनान्दर (१५० ई० पू०) प्रमुख और प्रथम था।[1] इन यूनानी शासकोके मध्य-एसियाई साम्राज्यमे शक, जट्ट, गुज्जर, आभीर आदि जातियाँ रहती थी, इसलिए पश्चिमी भारतमे यूनानियोके शासन स्थापित होनेपर यह जातियाँ भी आ-आकर भारतमे बसने लगी, और आज भी उनकी सन्ताने पश्चिमी भारतकी आबादीमे काफ़ी सख्या रखती हैं। इन जातियोमे शक तो यूनानियोके क्षत्रप (उपराज या वाइसराय) होकर मथुरा और उज्जैनमे रहते थे, और यूनानियोके शासनके उठ जानेपर स्वतत्र साम्राज्य कायम करनेमे समर्थ हुए। ईसाकी पहिली सदीमे शक सम्राट् कनिष्क प्राय सारे उत्तरी भारत और मध्य-एसिया तकका शासक था। शक तीसरी सदी तक गुजरात और उज्जैनपर शासन करते रहे। आभीर शकोके प्रधान सेनापति तथा कभी-कभी स्वतत्र शासक भी बने थे। जायसवालके मतानुसार गुप्त राजवश जर्त्र या जट्ट था। अस्तु, यह तो साफ है कि जिस कालकी ओर हम आगे बढ रहे हैं, वह पश्चिमसे आनेवाली जातियोके भारतमे भारी सख्यामे आकर भारतीय बन जानेका समय था। जातियोके साथ नाना सभ्यताओ, नाना विचारोका भारतमे समिश्रण भी हो रहा था। इसी समय (१५० ई० पू०) भारतने यूनानी ज्योतिषसे—१२ राशियाँ होरा (=घटा), फलित ज्योतिषका होडाचक्र[2] सीखा। गन्धार-मूर्तिकला

---

[1] राजधानी बाह्लीक (=बलख या बाख्तर)। [2] होडाचक्रकी वर्णमाला भारतीय (क-ख-ग . .) नहीं बल्कि यूनानी (अल्फा, बीता, गामा .)है।

इसी कालकी देन है। इसी समय भारतीय कार्षापण चौकोरकी जगह यूनानी सिक्कोकी तरह गोल और राजाके चित्रसे अकित बनने लगे। यूनानी नाटकोकी भॉति भारतीय नाटकोका प्रथम प्रयास भी इसी समय शुरू हुआ,—उपलभ्य नाटक हमे अश्वघोष (५० ई०)से पहिले नही ले जाते। दार्शनिक क्षेत्रमे भी इस कालकी देनोमे आकृतिवाद, परमाणु-वाद, विज्ञान-विशेष-जातिवाद, उपादान-निमित्त-कारण, द्रव्य-गुणपरि-णाम-देश-काल-वाद है, जिनके बारेमे हम आगे कहेगे।

इस राजनीतिक, अन्तर्जातिक, सास्कृतिक उथल-पुथलके जमाने (१ ई०)मे यदि हम भारतीय समाजके आर्थिक वर्गोकी ओर नजर दौडाते है, तो मालूम होता है—सबसे ऊपर एक छोटीसी सख्या देशीय या देशीय बन गये राजाओ, उनके दरबारियोकी है, जो शारीरिक श्रम तथा उत्पादनके कामको घृणाकी दृष्टिसे देखते है। जनताकी बडी सख्या इनकेलिए अच्छे-अच्छे खाने अच्छे-अच्छे कपडे देती है; रहनेकेलिए बडे-बडे महल बनाती है; देश विदेशसे अधिकारपर सकट उपस्थित होनेपर सैनिक बन, हथियार उठा, उनके लिए अपना खून बहाने जाती है। और परिणाम?—बाजकी भॉति शिकार मारकर फिर मालिकके हाथकी सॉकलमे बँधना—फिर वही खून-पसीना एक कर मेहनत कर प्रभुओके आगे—विलासकी सामग्री उपस्थित करना और खुद पेटके अन्न और तनके कपडे बिना मरना।

इस शासक जमातके बाद दूसरी जमात थी धर्माचार्यो, भॉडो और धूर्तोकी, जिनका काम था सामाजिक व्यवस्थाको विश्रृखलित होनेसे रोकना, लोगोको भ्रममे रखे रहना, अर्थात् "दुनिया ठगिए मक्करसे। रोटी खाइए घी शक्करसे।" इस जमातके आहार-विहारकेलिए भी उसी परिश्रमी भूखो मरती जनताको मेहनत करना पडता था।

तीसरी जमात व्यापारियोकी थी, जो कारीगरोके मालको कम दामपर खरीद और ज्यादा दामपर बेचते देश-विदेशमे, जल-स्थल मार्गसे व्यापार करते थे या सूदपर रुपया लगाते थे, और जिनकी करोडोकी सम्पत्तिको देखकर राजा भी रश्क करते थे।

इन तीन कामचोर शोषक जमातके अतिरिक्त एक और जमात "ससार-त्यागियो"की थी, जो अपनेको वर्गोसे ऊपर निष्पक्ष, निर्लोभ सत्यान्वेषी समझते थे। इनसे उस बहुसख्यक कर्मीवर्गको क्या मिलता था? ससार झूठा है, ससारकी वस्तुए झूठी है, इसकी समस्याए झूठी है, इनकी ओरसे आँख मूँदना ही अच्छा है, अथवा धनी गरीब भगवान्के बनाये है, कर्मके सँवारे है, उनके भोगोकेलिए ईर्ष्या करनेकी जरूरत नही, सन्तोष और धैर्यसे काम लो, जिन्दगी ही भर तो दुख है। गोया इस जमातका काम था, अफीमकी गोलियोपर गोलियाँ खिलाकर धन-उत्पादक निर्धन वर्गको बेहोश रखना। साथ ही इस "ससार त्यागी" वर्गको भी खाना, कपडा, मकान—और बाजोकेलिए वह राजाओसे कम खर्चीला नही—चाहिए, जिसका भी बोझ उसी श्रमसे पिसे जाते वर्गपर था।

यह तो हुई कामचोर वर्गकी बात। कमकर वर्गका क्या काम था, इसका दिग्दर्शन कामचोर वर्गके साथ अभी कर चुके है। लेकिन, उनकी मुसीबते वही खतम नही होती थी। उनमे काफी सख्या ऐसे स्त्री-पुरुषोकी थी, जिनकी अवस्था पशुओसे बेहतर न थी। दूसरे सौदोकी भाँति उनकी खरीद-फरोख्त होती थी। ये दास-दासी मनुष्यसे पशु होते तो ही बेहतर था, क्योकि उस वक्त इनका अनुभव भी तो पशुओ जैसा होता।

उस वक्तके दार्शनिकोने ब्रह्म और निर्वाण तककी उडान लगाई, आत्मा-परमात्मा तकका सूक्ष्म विश्लेषण किया, किन्तु नब्बे सैकडा जनताके पशुवत् जीवन, उसके उत्पीडन और शोषणके बारेमे इससे अधिक नही बतलाया, कि यह अवश्य मेव भोक्तव्य है।

ख. दर्शन-विभाग

विक्रम सवत् (५७ ई० पू०), ईसवी सन् या शक सवत् (७८ ई०)के शुरू होनेके साथ तीन शताब्दियोके विचार-सघर्षोकी धुन्ध फटने लगती है, और उसके बीचसे नई धारा निकलती है। पेशावरमे जो इस वक्त भारतके महान् सम्राट् कनिष्ककी राजधानी ही नही है, बल्कि पूरब

(चीन), पश्चिम (ईरान और यूनान) तथा अपने (भारतके) विचारोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए नये प्रयोगकी नाप-तोल हो रही है। अश्वघोष सस्कृत काव्य-गगनमे एक महान् कवि और नाट्यकारके रूपमे आते है। इसी समयके आसपास गुणाढ्य अपनी बृहत्कथा लिखते है। चरक एक परिष्कृत आयुर्वेदका सम्पादन करते है। बौद्ध सभा बुला अपने त्रिपिटकपर नये भाष्य (=विभाषा) तैयार करवाते है।—उनके दर्शनमे विज्ञानवाद, शून्यवाद, बाह्यार्थवाद (=सौत्रान्तिक), और सर्वार्थ-वादकी दार्शनिक धाराए स्पष्ट होने लगती है। लेकिन इस वक्तकी कृतियाँ इतनी ठोस न थी, कि कालके थपेडोसे बच रहती, न वह इतनी लोकोत्तर थी कि धार्मिक लोग बडी चेष्टाके साथ उन्हे सुरक्षित रखते।

दर्शनका नया युग नागार्जुनसे आरम्भ होता है, इस कालके दर्शनोमे कितने ही ईश्वरवादी है और कितने ही अनीश्वरवादी, विश्लेषण करने पर हम उन्हे इस रूपमे पाते है—
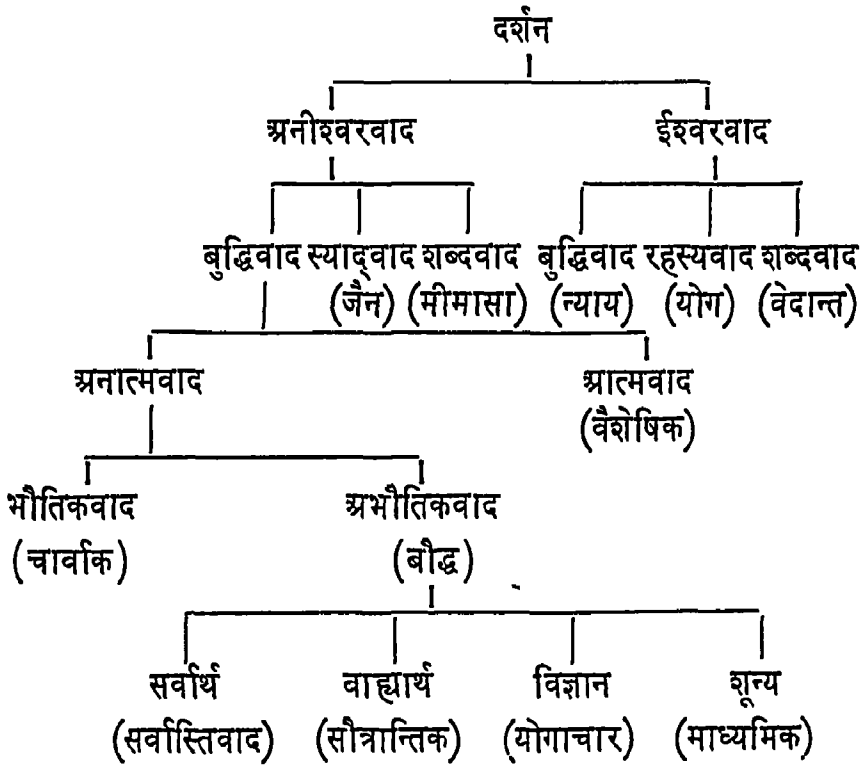
अनीश्वरवादी दर्शन

§ १. अनात्म-भौतिकवादी चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शनका हम पहिले जिक्र कर चुके है। बुद्धकालके वाद चार्वाक दर्शनके विकासका कोई क्रम हमे नही मिलता। साथ ही यह भी देखा जाता है, कि उसकी तरफ सभी शका और घृणाकी दृष्टिसे देखते है। अब पायासीकी तरह अपने भौतिकवादको छोड़नेमे भी शर्म महसूस करनेकी तो बात ही अलग, लोग चार्वाक शब्दको गाली समझते है। इसका यही अर्थ हो सकता है, कि जिनके हितकेलिए परलोकवाद, ईश्वरवाद, आत्मवादका खडन किया जाता था, वह भी विरोधियोके बहकावेमे इतने आ गये थे, कि अव उधर ध्यान ही देना पसन्द नही करते थे। तो भी इनके जिन विचारोके खडनकेलिए विरोधी दार्शनिकोने उद्धृत किया है, उससे मालूम होता है, कि अन्तर्हित होते भी इस वादने कुछ चेष्टा जरूर की थी। यहाँ सक्षेपमे हम इन भारतीय भौतिकवादियोके विचारोको रखते है—

१. चेतना (=जीव)—जीवको चार्वाक भौतिक उपज मात्र मानते है—

"पृथिवी, जल, हवा, आग यह चार भूत है। (इन) चार भूतोसे चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे (उपयोगी सामग्री) . . . . से शरावकी शक्ति।"[1]

२. अन्-ईश्वरवाद—सृष्टिके निर्माताकी आवश्यकता नही, इसे वतलाते हुए कहा है—

"अग्नि गर्म पानी ठंडा, और हवा शीत-स्पर्शवाली।

यह सब किसने चित्रित किया? इसलिए (इन्हे) स्वभाव (से ही समझना चाहिए)।"[1] विश्वकी सृष्टि स्वभावसे ही होती है, इसके

---

[1] सर्वदर्शन-संग्रह; "कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्। युक्तं जायत इत्येतत् कम्वलाश्वतरोदितम्।"

लिए कर्त्ताको ढूँढना फजूल है—

"काँटोमे तीखापन, मृगो या पक्षियोंमे विचित्रता कौन करता है ? यह (सब) स्वभावसे ही हो रहा है।"[1]

३. मिथ्याविश्वास-खंडन—मिथ्या विश्वासका खडन करते हुए लिखा है—

"न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोकमे जानेवाला आत्मा। वर्ण और आश्रम आदिकी (सारी) क्रियाए निष्फल है। अग्निहोत्र, तीनो वेद,.. ..बुद्धि और पौरुषसे जो हीन है, उन लोगोंकी जीविका है।...."

"यदि ज्योतिष्ठोम (यज्ञ)मे मारा पशु स्वर्ग जायेगा, तो उसके लिए यजमान अपने बापको क्यो नही मारता ? श्राद्ध यदि मृत प्राणियोंकी तृप्तिका कारण हो सकता है, तो यात्रापर जानेवाले व्यक्तिको पाथेयकी चिन्ता व्यर्थ है। यदि यह (जीव) देहसे निकलकर परलोक जाता है, तो बन्धुओके स्नेहसे व्याकुल हो क्यो नही फिर लौट आता ?.... मृतक श्राद्ध (आदिको) ब्राह्मणोने जीविकोपाय बनाया है।"[2]

४. नैराश्य-वैराग्य-खंडन—"विषयके ससर्गसे होनेवाला सुख दुःखसे सयुक्त होनेके कारण त्याज्य है, यह मूर्खोका विचार है। कौन हितार्थी है जो सफेद बढिया चावलवाले धानको तुष (=भूसी)से लिपटी होनेके कारण छोड़ देगा ?"[2]

§ २. अनात्म-अभौतिकवादी बौद्ध-दर्शन

१. बौद्ध धार्मिक संप्रदाय—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम वतला चुके है। मौर्योके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी

---

[1] सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति।

[2] सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक-दर्शन)।

सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरबसे पश्चिमकी ओर को लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्त्तनमे स र्वा स्ति वा द निकाय मगधसे उरुमुड पर्वत (=गोबर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमे पजाबमे जोर पकडते-पकडते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमे गधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके सपर्कमे आया। अशोकके समय(२६९ ई० पू०)तक बौद्ध धर्म निम्न सप्रदायोमे बँट चुका था[1]—
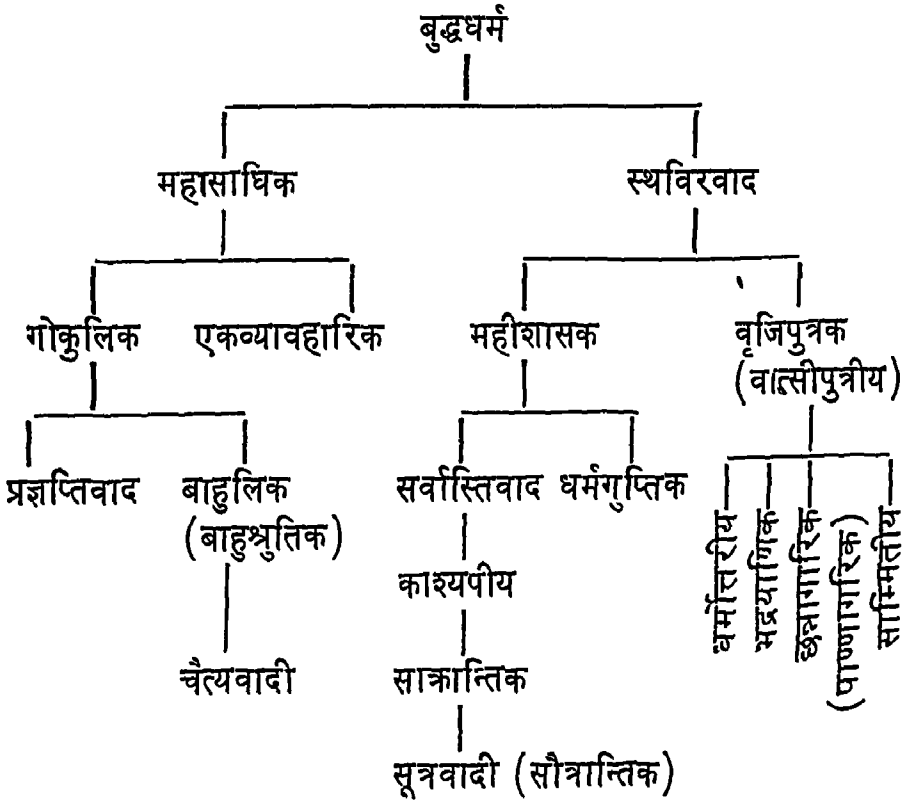
अर्थात्—बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०)के बादके सौ वर्षो (३८० ई० पू०)मे स्थविरवाद (=बृद्धोके रास्ते वाले) और महासाधिक जो दो

---

[1] देखो मेरी "पुरातत्त्व-निबंधावली", पृ० १२१ (और कथावत्थु-अट्ठकथा भी)।

निकाय (=सम्प्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोंमे बँटकर महासांघिकके छै और स्थविरवादके बारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोके अन्तर्गत था। इन अठारह निकायोके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमे बहुत कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्म पिटकमे मतभेद ही नही बल्कि उनकी पुस्तके भी भिन्न थी। स्थविरवादियोने इन प्राचीन निकायोमेसे निम्न आठके कितने ही मतोका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु'मे खडन किया है—

महासांघिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मितीय।

कथावत्थुको अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति बतलाया जाता है, किन्तु उसमे वर्णित २१४ कथावस्तुओ (=वादके विषयो)मे सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोसे सबध रखते है,[1] जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका बनाया हो सकता है। बाकी "कथावस्तु" अशोकके बादके निम्न आठ निकायोसे सबध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय, (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक, (६) वैपुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद।

२. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—इन पुराने निकायोके दार्शनिक विचारोमे जानेकी जरूरत नही, क्योकि वह "दिग्दर्शन"के कलेवरसे बाहरकी बात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धोके जो चार दार्शनिक सप्रदाय प्रसिद्ध है, उनमे (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रान्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोसे सबध रखते थे, बाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोसे वहुत पीछे ईसाकी पहिली सदीमे आदिम रूपमे आए। इनके विकासके क्रमके वारेमे हम 'महायान बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति"[1]मे लिख चुके है। महासांघिकोमे

---

[1] देखो वही, पृ० १२६, टिप्पणी भी।

एक निकायका नाम था **चैत्यवाद**, जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्यवादी पडा। आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्त्तमान महाराष्ट्र) मे साम्मितीय निकायका जोर था। इन्ही दोनो निकायोसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ—[1]
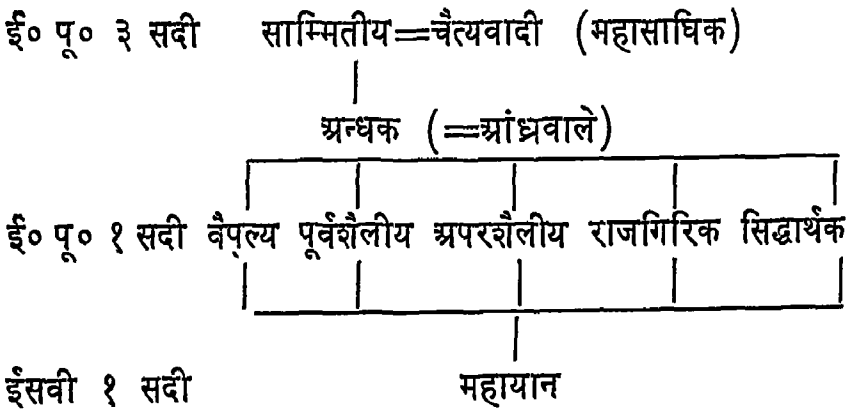
योगाचारका जबर्दस्त समर्थक "लकावतार-सूत्र" वैपुल्यवादी पिटकसे सबंध रखता है। नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमे प्रज्ञापारमिताएं तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होने तो अपने दर्शनको **प्रतीत्य-समुत्पाद** (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति) पर आधारित किया था।

कथावत्थुके "अर्वाचीन" निकायोंमे हमने उत्तरापथक और हेतुवादका भी नाम पढा है। **उत्तरापथक** कश्मीर-गधारका निकाय था इसमे सन्देह नही। किन्तु **हेतुवाद**के स्थानके बारेमे हमे मालूम नही। अफलातूंके विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड़ देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद बन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नही है, कि उसके दार्शनिक असंगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमे सबसे जबर्दस्त हाथ असग और वसु-

---

[1] वहीं, पृ० १२७

वधु इन दो पठान-भाइयोंका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जबर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम ले, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योमे शामिल करते है, और इसके सबूतमे "महायानश्रद्धोत्पाद" ग्रथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते है, किन्तु जिन्होने "बुद्धचरित", "सौन्दरानद", "सारिपुत्त-प्रकरण" जैसे काव्य नाटकोको पढा है, तिब्बती भाषामे अनूदित उनके सर्वास्तिवादी सूत्रोपर व्याख्याए देखी है, और जो "सर्वास्तिवादी आचार्यों"को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या ("विभाषा")केलिए सर्वास्तिवादी आचार्योकी परिषद् बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते है, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी[1] स्थविर छोड दूसरा कह नही सकते।

अस्तु! यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोपर यदि और रोशनी डाली जा सके; तो हमे उन्हीके नही, भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमे बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गोबीकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती है, यह आगेके अनुसन्धानके विषय है। अभी हमे इससे ज्यादा नही कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गधारमे हो रहा था, उसमे अश्वघोष अपने आधुनिक ढगके काव्यो और नाटकोको ही नही बल्कि नवीन दर्शनको भी यूनानसे मिलानेवाली कडी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका सबध हुआ। फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्त्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोको एक अभिनव सुव्यवस्थित रूप दिया।

---

[1] पोइ-खड् (तिब्बत)में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J.B O.R.S में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोको)।

३. नागार्जुन (१७५ ई०)का शून्यवाद

(१) जीवनी—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=बरार)मे एक ब्राह्मणके घर हुआ था। उनके बाल्यके बारेमे हम अनुमान कर सकते है, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोके ग्रथोंका गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बननेपर उन्होने बौद्ध ग्रथोंका भी उसी गभीरताके साथ अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होने श्रीपर्वत (=नागार्जुनीकोडा, गुन्टूर)को अपना निवास-स्थान बनाया; जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढे जानेवाले पँवारोके कारण सिद्ध-स्थान बन गया। नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते है। उनका "अष्टागहृदय" अब भी तिब्बतके वैद्योकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तत्र-मत्रके बनाने बढानेकी बाते जो हमे पीछेके बौद्ध साहित्यमे मिलती है, उनसे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई सबंध नही।

नागार्जुन आध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०)के समकालीन थे, विन्टरनिट्ज[१]का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रथ प्रसिद्ध है, किन्तु उनकी असली कृतियाँ है—

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिषष्ठिका, (३) प्रमाणविध्वसन, (४) उपायकौशल्य, (५) विग्रहव्यावर्त्तनी[२]।

इनमे सिर्फ दो—पहिली और पाँचवी ही मूल सस्कृतमे उपलब्ध है।

(२) दार्शनिक विचार—नागार्जुनने विग्रह व्यावर्त्तनीमे विरोधी तर्कोंका खडन करके कान्टके वस्तु-सारसे उलटे वस्तु-शून्यता—वस्तुओके

---

[१] History of Indian literature, Vol. II, pp. 346-48.

[२] Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII में मेरे द्वारा संपादित।

भीतर कोई स्थिर तत्त्व नही, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्त्तक कहा जाता है। कारिकामे पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोको थोडे शब्दोमे कहनेकी सुविधा होती है। कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रथ (१, २, ५) कारिकाओंमे ही है। "विग्रहव्यावर्त्तनी"मे ७२ कारि-काए है, जिनमे अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक है, इसलिए मूलग्रथ सत्तर ही कारिकाओका हुआ। वह शून्यतापर है, इसलिए जान पडता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम "शून्यता सप्तति" है। इन कारिकाओपर आचार्यने स्वय सरल व्याख्या की है।

नागार्जुनने ग्रथके आदिमे नमस्कार श्लोक और ग्रथ-प्रयोजन नही दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रथोमे सर्वमान्य परिपाटी सी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वी कारिकामे शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

"जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोको समझ सकता है।
जो शून्यताको नही समझता, वह कुछ भी नही समझ सकता॥"[१]

इसकी व्याख्यामे आचार्यने बतलाया है, कि जो शून्यताको समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति)को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारो **आर्यसत्यो**को समझ सकता है। चारो सत्योके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (=निर्वाण) आदि पदार्थोकी प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु, अधर्म-फल क्या है, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति-दुर्गतिमे जाना, क्या है सुगति-

---

[१] "प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य॥"

दुर्गतिमे जानेका मार्ग. क्या है सुगति-दुर्गतिसे निकलना तथा उसका उपाय।

शून्यतासे नागार्जुनका अर्थ है, प्रतीत्य-समुत्पाद[1]—विश्व और उसकी सारी जड-चेतन वस्तुए किसी भी स्थिर अचल तत्त्व (=आत्मा, द्रव्य आदि) से बिल्कुल शून्य है। अर्थात् विश्व घटनाएं है, वस्तु समूह नही। आचार्यने अपने ग्रथकी पहिली बीस कारिकाओमे पूर्वपक्षीके आक्षेपोको दिया है, और ग्रंथके उत्तरार्द्धमे उसका उत्तर देते हुए शून्यताका समर्थन किया है। सक्षेपमे उनकी तर्कप्रणाली इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसारसे इन्कार—अर्थात् शून्यवाद ठीक नही है, क्योकि (i) जिन शब्दोको तुम युक्तिके तौरपर इस्तेमाल करते हो, वह भी शून्य—अ-सार—होगे; (ii) यदि नही, तो तुम्हारी पहिली बात—सभी वस्तुए शून्य है—झूठी पडेगी; (iii) शून्यताको सिद्ध करनेकेलिए कोई प्रमाण नही है।

(२) सभी भाव (=वस्तुए) वास्तविक है; क्योकि, (i) अच्छे बुरेके भेदको सभी स्वीकार करते है; (ii) जो वस्तु है नही उसका नाम ही नही मिलता; (iii) वास्तविकताका प्रतिषेध युक्तिसिद्ध नही; (iv) प्रतिषेध्यको भी सिद्ध नही किया जा सकता।

उत्तरपक्ष—(१) सभी भावो (=सत्ताओ) की शून्यता या प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके रूपमे उत्पत्ति) सिद्ध है, क्योकि, (i) विश्वकी अवास्तविकताका स्वीकार, शून्यता सिद्धान्तके विरुद्ध नही है; (ii) इसलिए वह हमारी प्रतिज्ञाके विरुद्ध नही; (iii) जिन प्रमाणोसे भावोकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हीको सिद्ध नही किया जा सकता—(a) न प्रमाण दूसरे प्रमाणसे सिद्ध किया जा सकता क्योकि ऐसी अवस्था

---

[1] विग्रहव्यावर्त्तनी २२—"इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। कस्मात्? निः स्वभावत्वात्। ये हि प्रतीत्य समुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात्। कस्माद्? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः। प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः।"

म वह प्रमाण नही प्रमेय (=जिसे अभी प्रमाणसे सिद्ध करना है) हो जायगा; (b) वह आगकी भाँति अपनेको सिद्ध कर सकता है; (c) न वह प्रमेयसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि प्रमेय तो खुद ही सिद्ध नही साध्य है; (d) न वह सयोग (=इत्तिफाक)से सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि सयोग कोई प्रमाण नही है।

(२) भावो (=सत्ताओं)की शून्यता सत्य है, क्योकि (i) यह अच्छे बुरेके भेदके खिलाफ नही है; वह भेद तो स्वय प्रतीत्य-समुत्पादके कारण ही है। यदि प्रतीत्य समुत्पादके आधारपर नही बल्कि स्वतः परमार्थरूपेण अच्छे बुरेका भेद हो, तो वह अचल एकरस है, फिर ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठान द्वारा इच्छानुकूल उसे बदला नही जा सकता; (ii) शून्यता होनेपर नाम नही हो सकता, यह भी ख्याल गलत है, क्योकि नामको हम सद्भूत नही असद्भूत मानते है। सत् (=स्थिर, अविकारी, वस्तुसार)का ही नाम हो, अ-सत्का नही, यह कोई नियम नही; (iii) प्रतिषेध नही सिद्ध किया जा सकता यह कहना गलत है, क्योकि अप्रतिषेधको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण आदिकी जरूरत पडेगी।

अ क्ष पा दके न्यायसूत्रका प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्त्तिनी एक ही विषयके पक्ष प्रति-पक्षमे है। हम अन्यत्र[1] बतला चुके है, कि अक्षपादने अपने न्यायसूत्रमे नागार्जुनके उपरोक्त मतका खडन किया है।

पुस्तकको समाप्त करते हुए नागार्जुनने कहा है—

"जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक-अर्थोवाली मध्यमा प्रति-पद (=बीचके मार्ग)को कहा, उस अप्रतिम बुद्धको प्रणाम करता हूँ।"[2]

---

[1] विग्रहव्यावर्त्तनीकी भूमिका (Preface)में हम बतला आये है कि अक्षपादने नागार्जुनके इसी मतका खंडन किया है।

[2] वि० व्या० ७२—

"यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थां।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम् ॥"

प्रमाण-विध्वंसनमें नागार्जुनने प्रमाणवादका खंडन किया है, नागार्जुन प्रमाणवादका खंडन करते भी परमार्थके अर्थमें ही उसका खंडन करते हैं, व्यवहार-सत्यमें वह उससे इन्कार नहीं करते। लेकिन प्रमाण जैसा प्रबल खंडन उन्होंने अपने ग्रंथोंमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी वस्तुस्थितिपोषक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वंसक नास्तिवाद बन गया[1]। "प्रमाण-विध्वंसन"में अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थोंका संक्षिप्त वर्णन है। इसी तरह **उपाय-कौशल्य**में भी शास्त्रार्थ-संबंधी बातों—निग्रह-स्थान, **जाति** आदि—के बारेमें कहा गया है, जोकि हमें अक्षपादके सूत्रोंमें भी मिलता है। उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामें ४७२ ई० में हुआ था। इनके बारेमें हम यही कह सकते हैं कि अनुयायियोंमेंसे किसीने दूसरेके ग्रंथसे लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रंथमें जोड़ दिया है।

(b) **माध्यमिक-कारिकाके विचार**—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोंमें **विग्रह-व्यावर्त्तनी** और **माध्यमिक-कारिका**का ही स्थान ऊँचा है। नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद, यह हम "विग्रह व्यावर्त्तनी"में देख आये हैं। नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते हैं—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण)से उत्पत्ति, "सभी वस्तुएं प्रतीत्य समुत्पन्न हैं" का अर्थ है, सभी वस्तुएं अपनी उत्पत्तिमें=अपनी सत्ताको पानेकेलिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराश्रित) हैं। (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है, सभी वस्तु क्षणके बाद नष्ट हो जाती हैं, और उनके बाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह सी है। प्रतीत्य-समुत्पाद-को ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके हैं, और यह भी कि बुद्ध न आत्मवादी थे न भौतिकवादी, बल्कि उनका रास्ता इन दोनोंके बीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह "विच्छिन्न प्रवाह"को मानते थे।

---

[1] **सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्ध-दर्शन।**

आत्मवादियोकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोके सर्वथा उच्छेद (=विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते है, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नही मानी जा सकती।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ता के परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

"न सत् है, न अ-सत् है, न सत्-और-अ-सत् दोनो है, न सत्-असत्-दोनो नही है।"

"कारक है, यह कर्मके निमित्त (=प्रत्यय)से ही कह सकते है, कर्म है यह कारकके निमित्तसे; यह छोड दूसरा (सत्ताकी) सिद्धिका कारण हम नही देखते है।"[1]

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्यता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतंत्र रूपसे दोनोमे एककी भी सत्ता सिद्ध नही है। फिर स्वय असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते है, कि किसीकी सत्ता नही सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित है, इसलिए ये अलग-अलग, दोनो या दोनोके रूपमे भी नही सिद्ध किये जा सकते।

कर्त्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते है—

"सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नही करता, (क्योकि) सत्-रूपसे क्रिया नही होती, अत कर्मको कर्त्ताकी जरूरत नही।

सद्-रूपकेलिए क्रिया नही, अत कर्त्ताको कर्मकी जरूरत नही।"[2]

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओमे कर्त्ता, कर्म, कारण, क्रियाको सिद्ध नही किया जा सकता।

---

[1] माध्यमिक-कारिका ६२ [2] वहीं ५८, ५९

"कही भी कोई सत्ता न स्वत. है, न परत· , न स्वत परत: दोनों, और न बिना हेतुके ही है।"[1]

कार्य कारण सबधका खडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"यदि पदार्थ सत् है, तो उसके लिए प्रत्यय (=कारण)की जरूरत नही। यदि अ-सत् है तो भी उसके लिए प्रत्ययकी जरूरत नही।

(गदहेके सीगकी भाँति) अ-सत् पदार्थके लिए प्रत्ययकी क्या ज़रूरत? सत् प्रदार्थको (अपनी सत्ताके लिए) प्रत्ययकी क्या जरूरत?"[2]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेके लिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमे पडकर आखिर हमे यही मालूम होता है कि वह परस्पराश्रित हैं; ऐसी अवस्थामे उन्हे सिद्ध नही किया जा सकता। बौद्ध-दर्शनमे पदार्थोको सस्कृत(=कृत) और अ-सस्कृत (अ-कृत) दो भागोंमे बॉटकर सारी सत्ताओको सस्कृत और निर्वाणको असस्कृत कहा गया है। नागार्जुनने इस सस्कृत असस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

"उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर सस्कृत नही (सिद्ध) होगा। संस्कृतके सिद्ध हुए बिना अ-सस्कृत कैसे सिद्ध होगा?"[3]

जगत् और उसके पदार्थोकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है[4]—

"(रेगिस्तानकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहॉ जाकर पुरुष 'यह जल नही है' समझे तो वह मूढ है। उसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको 'है' समझनेवालेका 'नही है' यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नही है।"

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नही किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पाद लेनेपर वहाँ

---

[1] मध्य० का० ४ [2] वहीं २२ [3] वही ५६ [4] वही ५६

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्त्ता आदि व्यवस्था नही हो सकती, क्योकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके बिलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमे आती है।

(ग) शिक्षायें—आन्ध्रवशी राजाओकी पदवी शातवाहन (शालिवाहन[1] भी) होती थी। तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गौतमी पुत्र) नागार्जुनका "सुहृद्" था। यह सुहृद् राजा साधारण नही भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुये वाणके हर्षचरितके इस वाक्यसे पता लगता है[2]—"नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे माँगा और पाया भी। (फिर) उसे (अपने) सुहृद् तीन समुद्रोके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया।"

यहाँ शातवाहनको तीनो समुद्रो (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, वंग-खाडी)का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है। नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)मे पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यो नही सौहार्द प्रदर्शन करेगा? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र "सुहृद्-लेख" लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनो भाषाओमे अब भी सुरक्षित है। इस लेखमे नागार्जुनने जो शिक्षाये अपने सुहृद्को दी है, उनमेसे कुछ इस प्रकार है—

"६. धनको चचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओ, ब्राह्मणो, गरीबो और मित्रोको दो; दानसे बढकर दूसरा मित्र नही है।"

---

[1] बैस राजपूत अपनेको सालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते है। पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी।

[2] "... तामेकावलीं....तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम.... भिक्षुरभिक्षत् लेभे च।.. त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।"

—हर्षचरित ७

"७. निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलक, शील(=सदाचार)को (कार्यरूपमे) प्रकट करो, सभी प्रभुताओका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है ।

"२१. दूसरेकी स्त्रीपर नजर न दौडाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, बहिन या बेटीकी तरह समझो ।

"२९. तुम जगको जानते हो, ससारकी आठ स्थितियो—लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—मे समान भाव रखो, क्योकि वह तुम्हारे विचारके विषय नही है ।

"३७ किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी)को परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि बहिनकी भाँति मजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है ।

"४९. यदि तुम मानते हो कि 'मै रूप (=भौतिकतत्त्व) नही हूँ', तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नही है, आत्मा रूपमे नही है, रूप आत्मा (=मेरे)मे नही बसता । इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कधोके बारेमे भी जानोगे ।

"५०. ये स्कध न इच्छासे, न कालसे, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न बिना हेतुके पैदा होते है, समझो कि वे **अविद्या और तृष्णासे** उत्पन्न होते है ।

"५१ जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) झूठा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और सशय (विचिकित्सा)मे आसक्ति तीन बेडियाँ (=सयोजन)[1] है । "

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है । दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओके अस्तित्वसे इनकार करनेके लिए इससे बढकर दर्शन नही मिलेगा ? इसीलिए आश्चर्य

---

[1] देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५९०

नही, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् यज्ञश्री गौतमीपुत्रका घनिष्ट मित्र (=सुहृद्) था।

४–योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन

माध्यमिक और योगाचार महायानसे सबध रखनेवाले दर्शन है, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद)से सबध रखते है। इन चारों बौद्ध दर्शनोको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लाये तो वह इस प्रकार मालूम होते है—

	वाद	नाम	आचार्य
१	शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन, आर्यदेव, चद्रकीर्ति भाव्य, बुद्धपालित
२	विज्ञानवाद	योगाचार	असग, वसुवधु, दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३	बाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४	बाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	सघभद्र, वसुवधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोमे मिलते है। उसके लकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सूत्र बाह्य जगत्के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्त्व, मन)को एकमात्र पदार्थ मानते है। "जो क्षणिक नही वह सत् ही नही" इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमे हो नही सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। दूसरी कितनीही विचार-धाराओकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके बारेमे भी हमे कुछ नही मालूम है। चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमे असग और वसुवधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमे पैदा हुए, जिनके प्रौढ ग्रथोके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रबल और प्रसिद्ध हो गया।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमे भी मिलता है, किन्तु यहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर

पर प्रयुक्त होता है। इस नामके पडनेका एक कारण यह भी है कि योगाचार दर्शन-प्रतिपादक आर्य असगका मौलिक महान् ग्रथ "योगाचारभूमि"[1] है। असगके बारेमे हम आगे कहेगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गधार-प्रवासी यूनानियो द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पडा था, उसके बारेमे कुछ कहते है।

"**आलय-विज्ञान** (समुद्र)से प्रवृत्तिविज्ञानकी तरग उत्पन्न होती है।"[2]

विश्वके मूल तत्त्वको इस दर्शनकी परिभाषामे आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रसे जो पाँचों इन्द्रियाँ और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते है, उन्हे **प्रवृत्ति-विज्ञान** कहते है।[3]—

"जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु)से प्रेरित हो समुद्रसे नाचती हुई तरगे पैदा होती है, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नही होता। उसी तरह विषय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरगोके साथ **आलय** समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।"

अर्थात् भीतरी ज्ञेय पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, वही बाहरकी तरह दिखलाई पडता है। स्कध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्व, सभी विज्ञान मात्र है। यह **आलयविज्ञान** भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पडता है, जिसके ही कारण यह जगत्-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवादका वही सिद्धान्त है, जिसे हम बुद्धके दर्शनमे बतला आये है, वह बाह्य **रूप**, आन्तरिक **विज्ञान** दोनोकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक अपनेको बुद्धके सूत्रान्तो (सूत्रो या उपदेशो)का अनुयायी बतलाते है। वह बाह्य विज्ञानवादसे उलटे बाह्यार्थवादी है अर्थात् क्षणिक **रूप** ही मौलिक तत्व है।

---

[1] देखो असग, पृष्ठ ७०४–३७ [2] लंकावतारसूत्र ५१ [3] वही

§३–आत्मवादी दर्शन

अनीश्वरवादी दर्शनोमे चार्वाक और बौद्ध अनात्मवादी है, उनके बारेमे हम बतला चुके। दर्शनके इस नवीन युगमे कुछ ऐसे भी भारतीय दर्शन रहे है, जो कि ईश्वरपर तो जोर नही देते किन्तु आत्माको स्वीकार करते रहे है। वैशेषिक ऐसा ही आत्मवादी दर्शन है।

१–परमाणुवादी कणाद (१५० ई०)

क. कणादका काल—वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता कणाद थे। ब्राह्मणोके छै दर्शनोके कर्ताओकी जीवनी और समयके बारेमे जो घना अधकार देखा जाता है, वह कणादके बारेमे भी वैसा ही है। कणादके जीवनके बारेमे हम इतना ही जानते है, कि वह गिरे हुए दानो (=कणो)को खाकर जीवन यात्रा करते थे, इसीलिए उनका नाम कणाद (=कण-आद) पडा, लेकिन यह सूचना शायद ऐतिहासिक स्रोतसे नही बल्कि व्याकरणसे मिली व्याख्याके आधार पर है। वैशेषिकका दूसरा नाम औलूक्य दर्शन भी है। वैशेषिकके कर्ता, या सृष्टिसे उलूक (=उल्लू) पक्षीका क्या सबध था, यह नही कहा जा सकता। कणादका दूसरा नाम उलूक होता यदि वे सरस्वती (=विद्या)के नही बल्कि लक्ष्मी (=धन)के स्वामी होते! उलूक कोई अच्छा पक्षी नही, कि माता-पिता या मित्र-सुहृद् इस नामसे कणादको याद करते। उल्लू अथेन्स (यूनान)के पवित्र चिन्होमे था क्या इस दर्शनका यूनानी दर्शनसे जो घनिष्ट सबध है, उसे ही तो उलूक शब्द सूचित नही करता?

ख. यूनानी दर्शन और वैशेषिक—देवलीकी इस मरुस्थली कारामे जितनी कम सामग्रीके साथ मुझे यह पक्तियाँ लिखनी पड रही है, उसकी दिक्कतोको सहृदय पाठक जान सकते है। तो भी यूनानी दार्शनिकोके मूल अनुवादोको पढकर तुलना कर फिर कुछ विस्तृत तौरपर लिखनेके ख्यालपर इसे छोड देना अच्छा नही है, इसलिए यहाँ हम ऐसे कुछ हिन्दू-यवन सिद्धान्तोके बारेमे लिखते है।

a. **परमाणुवाद**—देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)का जन्म बुद्धके निर्वाण (४८३ ई० पू०)से २३ साल पीछे हुआ था। यह वह समय है जब कि हमारी दर्शन-सामग्री कुछ पुराने (उपनिषदो), तथा बुद्ध-महावीर आदि तीर्थंकरोके उपदेशोपर निर्भर थी। इस सामग्रीमे ढूँढनेपर हमे परमाणुके जगत्का मूलतत्त्व होनेकी गध तक नही मिलती। देमोक्रितुने जिस वक्त अविभाज्य, अवेध्य—अ-तोमन्—का सिद्धान्त निकाला, उस वक्त भारतमे उसका बिलकुल ख्याल नही था यह स्पष्ट है। देमोक्रितु परमाणुओको सबसे सूक्ष्म तत्त्व मानता था, किन्तु साथ ही उनके परिमाण है, इससे इनकार नही करता था। कणाद भी परमाणुको सूक्ष्म परिमाणवाला कण समझते है। दोनो ही परमाणुओको सृष्टिके निर्माणकी ईंटे मानते है।

b. **सामान्य, विशेष**—पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)ने आकृतिको मूलतत्व माना था, क्योकि भिन्न-भिन्न गायोके मरनेके बाद भी हर पीढीमे गायकी आकृति मौजूद रहती है। अफलातूँ (४२७-३४७ ई० पू०)ने और आगे बढकर बराबर दुहराई जानेवाली आकृतियोकी जो समानता=सामान्य है, उसपर और जोर दिया, उसके ख्यालमे विशेष मूलतत्व (=**विज्ञान**)मे बिखरे हुए है। यह सामान्य विशेषकी कल्पना अफलातूँने पहिले पहिल की थी। यूनानियोके भारतमे घनिष्ट सबध स्थापित करने (३२३ ई० पू०)से पहिलेके भारतीय साहित्यमे इस ख्यालका बिलकुल अभाव है।

c **द्रव्य, गुण आदि**—कणादने अपने दर्शनमे विश्वके तत्त्वोका—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छै पदार्थोमे वर्गीकरण किया है। अफलातूँके शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)ने अपने तर्कशास्त्रमे आठ और दस पदार्थ माने है—द्रव्य, गुण, परिमाण, सबध, दिशा, काल, आसन, स्थिति, कर्म, परिमाण। द्रव्य, गुण, कर्म, सबध (समवाय) दोनोके मतमे समान है। दिशा और कालको कणादने द्रव्योमे गिना है, और परिमाणको गुणोमे। इस प्रकार हम कह सकते है, कि कणादने अरस्तूके पदार्थोका वर्गीकरण फिरसे किया।

इन बातोके साथ काल और भारतके यूनानसे घनिष्ट सबध तथा सास्कृतिक दानादानको देखते हुए यह आसानीसे समझमे आ सकता है, कि ये सादृश्य आकस्मिक नही है।

कणादके वैशेषिक दर्शनको बुद्धसे पहिले ले जानेका प्रयास फजूल है, कणादका दर्शन यदि पहिलेसे मौजूद होता, तो बुद्ध तथा दूसरे समकालीन दार्शनिकोको त्रिपिटक और जैनागमोकी भाषा-परिभाषाके द्वारा अपने दर्शनोको न आरभ करनेकी जरूरत थी, और न वह कणादके दर्शनके प्रभावसे अछूते रह सकते थे।

कणादके दर्शनपर बौद्ध दर्शनका कोई प्रभाव नही है, यह कहते हुए कितने ही विद्वान् वैशेषिकको बुद्धसे पहिले खीचना चाहते है। इसके उत्तरमे हम अभी कह चुके है, कि (१) बुद्धके दर्शनमे उसकी गध तक नही है। (२) कणादका दर्शन बौद्ध-दर्शनसे अप्रभावित नही है। आत्मा और नित्यताकी सिद्धिपर इतना जोर आखिर किसके प्रहारके उत्तरमे दिया गया है ? यह निश्चय ही बुद्धके "अनित्य, अनात्म"के विरुद्ध कणादकी दार्शनिक जहाद है। यूनानी दर्शनमे भी हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)के अनित्यतावादके उत्तरमे नित्य **सामान्य**की कल्पना पेश की गई थी, कणाद और उनके अनुयायियोका शताब्दियो तक उसी **सामान्य**को नित्यताके नमूनेके तौरपर पेश करना, बौद्धोके अनित्य (=क्षणिक)वादके उत्तरमे ही था, और इस तरह वैशेषिक बौद्ध दर्शनसे परिचित नही, यह बात गलत है।

नागार्जुनसे कणाद पहिले थे, यद्यपि इसके बारेमे अभी कोई पक्की बात नही कही जा सकती, किन्तु जिस तरह हम कणादको नागार्जुनके **प्रमाण-विध्वंसन**के बारेमे चुप देखते है, उससे यही कहना पडता है, कि शायद कणादको नागार्जुनके विचार नही मालूम थे।

ग. वैशेषिकसूत्रोका संक्षेप--कणादने अपने ग्रथ--वैशेषिक सूत्र--को दस अध्यायोमे लिखा है, हर एक अध्यायमे दो-दो आह्निक है। अध्यायो और आह्निकोके प्रतिपाद्य विषय निम्न प्रकार है--

१ अध्याय		पदार्थ-कथन
	१ आह्निक	सामान्य (=जाति) वान्
	२ आह्निक	सामान्य, विशेष
२ अध्याय		द्रव्य
	१ आह्निक	पृथिवी आदि भूत
	२ आह्निक	दिशा, काल
३ अध्याय		आत्मा, मन
	१ आह्निक	आत्मा
	२ आह्निक	मन
४ अध्याय		शरीर आदि
	१ आह्निक	कार्य-कारण-भाव आदि
	२ आह्निक	शरीर (पार्थिव, जलीय . नित्य)
५ अध्याय		कर्म
	१ आह्निक	शारीरिक कर्म
	२ आह्निक	मानसिक कर्म
६ अध्याय		धर्म
	१ आह्निक	दान आदि धर्मोंकी विवेचना
	२ आह्निक	धर्मानुष्ठान
७ अध्याय		गुण समवाय
	१ आह्निक	निरपेक्ष गुण
	२ आह्निक	सापेक्ष गुण
८ अध्याय		प्रत्यक्ष प्रमाण
	१ आह्निक	कल्पना-सहित प्रत्यक्ष
	२ आह्निक	कल्पना-रहित प्रत्यक्ष
९ अध्याय		अभाव, हेतु
	१ आह्निक	अभाव
	२ आह्निक	हेतु

१० अध्याय अनुमानके भेद
१ आह्निक „
२ आह्निक „

कणादने किस प्रयोजनसे अपने दर्शनकी रचना की, इसे उन्होने ग्रथके पहिले सूत्रोमे साफ कर दिया है[1]—

"अत अब मै **धर्म**का व्याख्यान करता हूँ।"

"जिससे अभ्युदय (=लौकिक सुख) और नि श्रेयस (=पारलौकिक सुख) की सिद्धि होती है, वह धर्म है।"

"उस (=धर्म)को कहनेसे वेद (=आम्नाय)की प्रामाणिकता है।"[2]

घ. धर्म और सदाचार—इसका अर्थ यह है, कि यद्यपि कणादने द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष, अनुमान जैसी ससारी वस्तुओ पर ही एक बुद्धिवादीकी दृष्टिसे विवेचना की है, तो भी उस विवेचनाका मुख्य लक्ष्य है धर्मके प्रति होती शकाओको युक्तियोसे दूर कर फिरसे धर्मकी धाक स्थापित करना। अपने इस दार्शनिक प्रयोजनकी सिद्धि वे दो प्रकारसे करते है, एक तो दृष्ट हेतुओसे—ऐसे हेतुओसे जिन्हे हम लौकिक दृष्टिसे जान (=देख) सकते है, दूसरे वे जिनके लिए दृष्टहेतु पर्याप्त नही है और उनके लिए **अदृष्ट**की कल्पना करनी पडती है। कणादने अपनेको बुद्धिवादी साबित करते हुए कहा, कि "दृष्ट न होनेपर ही अदृष्टकी कल्पना" करनी चाहिए, जैसे कि चुम्बक (=अयस्कान्त)की ओर लोहा क्यो खिचता है, वृक्षके शरीरमे ऊपरकी ओर पानी कैसे चढता है, और चक्कर काटता है, आग क्यो ऊपरकी ओर जाती है, हवा क्यो अगल-बगलमे फैलती है, परमाणुओमे एक दूसरेके साथ सयोग करनेकी प्रवृत्ति क्यो होती है। इनके लिए दृष्ट हेतु न मिलनेसे अदृष्टकी कल्पना करनी पडती है, इसी तरह जन्मान्तर, गर्भमे जीवका आना आदिके बारेमे दृष्ट हेतु नही मिल सकते, वहाँ हमे **अदृष्ट**की कल्पना करनी पडेगी। कणादके मतानुसार द्रव्य,

---

[1] वैशेषिकसूत्र १।१।१-२ [2] वही १०।२।६

गुण, कर्म इन तीन पदार्थो तक दृष्ट हेतुओका प्रवेश है, इनसे अन्यत्र अदृष्टका सहारा लेना पडता है।

एक बार जब अदृष्टकी सल्तनत कायम हो गई, तो फिर उससे धर्म, रूढि, वर्ग-स्वार्थ सभीको कितना पुष्ट किया जा सकता है, इसे हम कान्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकोके प्रयत्नोमे देख चुके है। पॉचवे अध्यायके दूसरे आह्निकमे उस समयके अज्ञात कारणवाली कितनी ही भौतिक घटनाओकी व्याख्या अदृष्ट द्वारा करनेकी कोशिश की गई है। पुरोहितोके कितने ही यज्ञ-यागो, स्नान, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान आदि क्रिया-कर्मोका जो फल बतलाया जाता है, उसे बुद्धिसे नही साबित किया जा सकता, इनके लिए हमे अदृष्टपर वैसे ही विश्वास रखना चाहिए, जैसे कि चुम्बक द्वारा लोहेके खिचनेपर हमे विश्वास करना पडता है।

आहार भी धर्मका अग है। शुद्ध आहार वह है, जो कि यज्ञ करनेके बाद बच रहता है, जो आहार ऐसा नही है वह अशुद्ध है।

ङ. दार्शनिक विचार—इस तरह कणादने धर्मके पुष्ट करनेकी प्रतिज्ञा पूरी करनेकी चेष्टा जरूर की है, किन्तु सारे ग्रथमे उसकी मात्रा इतनी कम और दलीले इतनी निर्बल है, कि किसी ब्राह्मणको यह कहना ही पडा[1]—

"धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
हिमवद्गन्तुकामस्य सागरागमनोपमम्॥"

["धर्मकी व्याख्याकी इच्छा रखनेवाले (कणाद)का छै पदार्थोका वर्णन वैसा ही है, जैसा हिमालय जानेकी इच्छावालेका समुद्रकी ओर आना।"]

a **पदार्थ**—अरस्तूने जिस तरह अपने "तर्कशास्त्र"मे पदार्थोको

---

[1] कलाप-व्याकरणकी कोई पुरानी टीका,—History of Indian Philosophy, (by S N. Das-Gupta)में उद्धृत।

गिनाया है, उसी तरह कणादने भी विश्वके तत्त्वोको छै पदार्थोंमे विभाजित किया है, वे हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ।

(a) **द्रव्य**—चल विश्वकी तहमे जो अचल या वहुत कुछ अचल तत्त्व है, उन्हे कणादने द्रव्य कहा है। जो आज ईटे, घडे, सिकोरे है, वे कल टूटकर घिसते-घिसते धूलि बन जाते है, फिर उन्हे हम ईटो और बर्त्तनोके रूपमे बदल सकते है । इन सब तब्दीलियोमे जो वस्तु एकसॉ रहती है, वही है पृथिवी द्रव्य । कणादने नौ द्रव्य माने है—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा (=देश) आत्मा और मन।

इनमे पहिले चार अभौतिक[1] तत्त्व, और अपने मूलरूपमे अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्य, अवेध्य अनेक परमाणुओसे मिलकर बने है । आकाश, काल, दिशा और आत्मा, अभौतिक, तथा सर्वत्र व्यापी तत्त्व है । मन भी अतिसूक्ष्म अभौतिक कण (=अणुपरिमाणवाला) है ।

(b) **गुण**—गुण सदा किसी द्रव्यमे रहता है । जैसे—

द्रव्य	विशेषगुण	सामान्य गुण		
१ पृथिवी	गध	रस, रूप, स्पर्श		
२ जल	रस	रस, रूप, स्पर्श तरलता, स्निग्धता	संयोग, विभाग	संख्या परिमाण पृथक्त्व
३ अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श		
४ वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५ आकाश	शब्द	शब्द		
६ काल			परत्व, अपरत्व	
७ दिशा			परत्व, अपरत्व	
८ आत्मा				

[1] पीछेके न्याय वैशेषिकने अभावको और जोड सात पदार्थ माने हैं ।

कणादने सिर्फ ग्यारह गुण माने थे—

(१) रूप
(२) रस
(३) गध
(४) स्पर्श (=सर्दी, गर्मी)
(५) सख्या
(६) परिमाण
(७) पृथकत्व (=अलगपन)
(८) सयोग (=जुड़ना)
(९) विभाग
(१०) परत्व (=परे होना)
(११) अपरत्व (=उरे होना)

किन्तु, पीछेके आचार्योंने १३ और बढा गुणोकी सख्या चौबीस कर दी है—

(१२) बुद्धि (=ज्ञान)
(१३) सुख
(१४) दु ख
(१५) इच्छा
(१६) द्वेष
(१७) प्रयत्न
(१८) गुरुत्व (=भारीपन)
(१९) लघुत्व (हल्कापन)
(२०) द्रवत्व (=तरलता)
(२१) स्नेह (=जोडनेका गुण)
(२२) सस्कार
(२३) अदृष्ट (=अलौकिक शक्तिमत्ता)
(२४) शब्द

इनमे द्रवत्व, स्नेह और शब्दको कणादने जल और आकाशके गुणोमे गिना है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—विशेप गुण कहे गये है, क्योकि ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके क्रमश अपने-अपने विशेप गुण है।[१]

(c) **कर्म**—कर्म क्रिया(=गति)को कहते है। इसके पॉच भेद है—

---

[१] "वायौ नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्-कालयोः पंच षडेव चांवरे महेश्वरेष्टौ मनसस्तथैव च ॥"

(१) उत्क्षेपण (=ऊपरकी ओर गति)
(२) अपक्षेपण (=नीचेकी ओर गति)
(३) आकुंचन (=सिकुड़ना)
(४) प्रसारण (=चारो ओर फैलना)
(५) गमन (=सामनेकी गति)

द्रव्य, गुण, और कर्मपर दृष्ट हेतुओका प्रयोग होता है, यह बतला चुके है। इन तीनोको हम निम्न समान रूपोमे पाते है—

(१) सत्ता(=अस्तित्व)वाले
(२) अनित्य
(३) द्रव्य
(४) कार्य
(५) कारण
(६) सामान्य
(७) विशेष

गुण और कर्म सदा किसी द्रव्यमे रहते है, इसलिए द्रव्यको गुण-कर्मोका समवायि (=नित्य) कारण कहते है। गुण की विशेषता यह है, कि वह किसी दूसरे गुण और कर्ममे नही होता।

(d) **सामान्य**—अनेक द्रव्योमे रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है, जैसे पृथिवीत्व (=पृथिवीपन) अनेक पार्थिव द्रव्योमे, गोत्व (=गायपन)

अर्थात्—

द्रव्य	गुण-संख्या	द्रव्य	गुण-संख्या
(१) पृथिवी	१४	(६) काल	५
(२) जल	१४	(७) दिशा	५
(३) अग्नि	११	(८) आत्मा	१४
(४) वायु	६	(९) मन	८
(५) आकाश	६		

महेश्वर (=ईश्वर)को पीछेके ग्रन्थकारोने आठ गुणोवाला माना है, किन्तु कणादके सूत्रोमें ईश्वरके लिए कोई स्थान नही, वहाँ तो ईश्वर-का काम अदृष्टसे लिया गया है।

अनेक गायोमे रहनेवाला नित्य पदार्थ है। गाये लाखो आज, पहिले और आगे भी नष्ट होती रहेगी, किन्तु **गोत्व** नष्ट नही होता। वह आजकी सारी गायोमें जिस तरह मौजूद है, उसी तरह पहिले भी था और आगेकी गायोमें भी मिलेगा, इस प्रकार **गोत्व** नित्य है।

(e) **विशेष**—परमाणुओ (=पृथिवी, जल, वायु, आगके सूक्ष्मतम नित्य अवयव)मे जो एक दूसरेसे भेद है, उसे **विशेष** कहते है। विशेष सिर्फ नित्य द्रव्योमे रहता है, और वह स्वय भी नित्य है। **इसी विशेषके प्रतिपादनके कारण कणादके शास्त्रका नाम वैशेषिक पड़ा।**

(f) **समवाय**—वस्तुओके बीचके नित्य सबधको समवाय कहते है। द्रव्यके साथ उसके गुण, कर्म **समवाय** सबधसे सबद्ध है—पृथिवीमे गध, जलमे रस समवाय सबधसे रहते है। सामान्य (=गोत्व आदि) भी द्रव्य, गुण, कर्ममे समवाय (=नित्य) सबधसे रहता है।

(ख) **द्रव्य**—चारो भूतोका जिक्र ऊपर हो चुका है। बाकी द्रव्योमे आकाश, काल और दिशा अदृष्ट है, साथ ही वैशेषिक इन्हे निष्क्रिय भी मानता है। अदृष्ट और निष्क्रिय होनेपर वह है, इसको कैसे सिद्ध किया जा सकता है—इस प्रश्नका उत्तर आसान नही था। वैशेषिकका कहना है—शब्द एक गुण है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। गुण द्रव्यके बिना नही रह सकता, शब्दको किसी और भूतसे जोडा नही जा सकता, इसलिए एक नये द्रव्यकी जरूरत है, जो कि आकाश है। कणादको यह नही मालूम था कि हवासे खाली जगह मे रखी घटी शब्द नही कर सकती।

(a) **काल**[1]—बाल्य, जरा, एक-साथ (=यौगपद्य), क्षिप्रता हमारे लिए सिद्ध बाते है, इनका कोई ज्ञापक होना चाहिए, इसी ज्ञापकको काल कहा जाता है। कालका जबर्दस्त खडन बौद्धोने किया है, जो बहुत कुछ आधुनिक **सापेक्षतावाद**की तरहका है, इसे हम आगे कहेगे[2]। कणादके समय व्यवहारकी आसानीके लिए जो कितनी ही युक्तिरहित धारणाए

---

[1] संख्या [2] देखो, धर्मकीर्ति, पृष्ठ ७४०

फैली हुई थी, उनसे भी उन्हे अपने वादका अग बनाया ।

(b) **दिशा**—दूर और नजदीकका ख्याल जो देखा जाता है, उसका भी कोई आश्रय होना चाहिए, और वही दिशा (=देश) द्रव्य है । सापेक्षता[1]मे हम देख चुके है, और आगे धर्मकीर्तिके दर्शनमे भी देखेगे, कि **देश** या **दिशा** व्यवहार-सत्य हो सकती है, किन्तु ऐसे निष्क्रिय अदृष्ट तत्त्वको परमार्थ-सत्य सिर्फ श्रद्धावश ही माना जा सकता है ।

(c) **आत्मा**—(१) इन्द्रियो और विषयोके सपर्कसे हमे जो ज्ञान होता है, उसका आधार इन्द्रिय या विषय नही हो सकते, क्योकि वे दोनो ही भौतिक—जड—है । ज्ञानका अधिकरण (=कोश) **आत्मा** है । (२) जीवितावस्थामे शरीरमे गति और मृतावस्थामे गतिका बन्द होना भी बतलाता है, कि गति देनेवाला कोई पदार्थ है, वही आत्मा है । (३) श्वास-प्रश्वास, आँखका निमेष-उन्मेष, मनकी गति, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शरीरके रहते भी जिसके अभावमे नही होते वही आत्मा है । दूसरे आत्मवादियोकी भाँति कणाद शब्द (=वेद, धार्मिक ग्रथ)के प्रमाणसे आत्माको सिद्ध कर सकते थे, किन्तु शब्द-प्रमाणपर जिस तरहका प्रहार उस वक्त पड रहा था, उससे उन्होने उसपर ज्यादा जोर नही दिया। उन्होने यह भी कहा कि (४) आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, जिसे 'मै' (=अह) कहा जाता है, वह किसी पदार्थका वाचक है, और वही पदार्थ आत्मा है । इस प्रकार यद्यपि आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तो भी अनुमान उसकी और पुष्टि करता है । सुख, दु ख, ज्ञानकी निष्पत्ति (=उत्पत्ति) सर्वत्र एकसी होनेसे (सभी आत्माओ)की एक-आत्मता (=एक आत्माकी व्यापकता) है, तो भी सबका सुख, दु ख, ज्ञान अलग-अलग होता है, जिससे सिद्ध है, कि आत्मा एक नही अनेक है । शास्त्र (=वेद आदि) भी इस मतकी पुष्टि करते है ।

(d) **मन**—अणु (=सूक्ष्म) परिमाणवाला, तथा प्रत्येक आत्माका

---

[1] देखो, "विश्वकी रूपरेखा" ।

अलग-अलग है। कई इन्द्रियो और विषयोका सन्निकर्ष हो चुका है, आत्मा भी व्यापक होनेसे वहाँ मौजूद है, तो भी अनेक इन्द्रियाँ आत्माके साथ मिलकर अनेक विषयोका ज्ञान नही करा सकती, एक बार एक विषयका ही ज्ञान होता है; इससे मालूम होता है कि इन तीनोके रहते कोई एक चौथी चीज (आत्माकी शक्तिको सीमित करनेवाली) है, जो अणु होनेसे सिर्फ एक इन्द्रिय-विषय-सपर्कपर ही पहुँच सकती है, यही मन है। मन प्रत्यक्षका विषय नही है, इसलिए एक बार एक ही विषयका ज्ञान होनेसे उसका हम अनुमान कर सकते है।

(ग) **अन्य विषय**—छै पदार्थोके अतिरिक्त कुछ और बातोपर कणादने प्रसगवश विचार किये है। जैसे—

(a) **अभाव**—अभावको यद्यपि कणादने अपने पिछले अनुयायियोकी भाँति पदार्थोमे नही गिना है, तो भी उन्होने उसका प्रतिपादन जरूर किया है। अभाव अ-सत्, अ-विद्यमानको कहते है। अभाव गुण और क्रियासे रहित है। सिर्फ क्रियासे रहित इसलिए नही कहा, क्योकि वैसा करनेपर आकाश, काल और दिशा भी **अभाव**मे शामिल हो जाते, इसलिए कणादने उन्हे कोई न कोई गुण देकर भाव-पदार्थोमे शामिल किया। अभाव चार प्रकारके होते है। (१) **प्राग्-अभाव**—उत्पत्तिसे पहिले उस वस्तुका न होना प्राग्-अभाव है, जैसे बननेसे पहिले घडा। (२) **ध्वंस-अभाव**—ध्वस हो जानेपर जो अभाव होता है, जैसे टूट जानेके बाद घडेकी अवस्था। (३) **अन्योन्य-अभाव**—भाववाले पदार्थ भी एक दूसरेके तौरपर अभाव-रूप है, घडा कपडेके तौरपर अभाव-रूप है, कपडा घडेके तौरपर अभाव-रूप है। (४) **सामान्य-अभाव** (=अत्यताभाव)—किसी देश-कालमे वस्तुका न होना, सामान्याभाव है, जैसे गदहेकी सीग, बाँझका बेटा। अभाव बनी वस्तुकी स्मृतिकी सहायतासे अभावको प्रत्यक्ष किया जा सकता है। स्मृति अभावके प्रतियोगी (=जिसका कि वह अभाव है, उस) वस्तुका चित्र सामने उपस्थित रखती है, जिससे हम अभावका साक्षात्कार करते है।

(b) **नित्यता**—जो सद् (=भाव-रूप) है, और बिना कारणका है, वह नित्य है। जैसे कार्य (=धूए)से कारण (=आग)का अनुमान होता है, जैसे अभावसे भावका अनुमान होता है, उसी तरह अनित्यसे नित्यका अनुमान होता है। कणाद, देमोक्रितुके मतानुसार बाहरसे निरन्तर परिवर्तन होती दुनियाकी तहमे अचल, अपरिवर्तन-शील, नित्य परमाणुओको देखते है। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चारो भूत परमाणु-रूपमे नित्य है। इन्ही नेत्र-अगोचर सूक्ष्मकणोके मिलनेसे आँखसे दिखाई देनेवाले अथवा शरीरके स्पर्शसे मालूम होनेवाले स्थूल महाभूत पैदा होते है। मन भी अणु तथा नित्य है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा सर्वव्यापी (=विभु) होते नित्य है। इस प्रकार कणादके मतमे परिवर्तन, अनित्यता या क्षणिकता बाहरी दिखावा मात्र है, नही, तो विश्व वस्तुत नित्य है—अर्थात् अनित्यता अवास्तविक है और नित्यता वास्तविक। यह सीधे बौद्धदर्शनके अनित्यता (=क्षणिक)वादका जवाब नही तो और क्या है? कणादका मुख्य प्रयोजन ही मालूम होता है, बौद्ध क्षणिकवादको देमोक्रितुके परमाणुवाद, अफलातूँके सामान्यवाद तथा अरस्तूके द्रव्य आदि पदार्थवादकी सहायतासे खडित करना। कणादने यूनानियोके दर्शनका प्रयोग पूरीतौरसे अपने मतलबके लिए किया, इसमे सन्देह नही।

(c) **प्रमाण**—वैशेषिक दर्शनकी पदार्थोकी विवेचना मुख्यत थी पदार्थोके नित्य और अनित्य रूपो एव दृष्ट और अदृष्ट (=शास्त्र) हेतुओसे उन रूपोकी सिद्धिके लिए। किन्तु, किसी वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रमाणपर कुछ कहना जरूरी था, इसीलिए विशेषतौरसे नही बल्कि प्रसगवश प्रमाणोपर भी **वैशेषिकसूत्रोमे** कुछ कहा गया। यहाँ सभी प्रमाणोका एक जगह क्रमबद्ध विवेचन नही है, तो भी सब मिलानेपर प्रत्यक्ष, अनुमान ये दृष्ट प्रमाण वहाँ मिलते है। (१) साथ ही कणाद कितनी ही बातोके लिए शास्त्र या शब्दप्रमाणको भी मानते है। (२) नवे अध्यायके प्रथम आह्निक वस्तुके साक्षात्कार करनेके लिए योगीकी विशेष शक्तिका भी जिक्र आता है, जिससे मालूम होता है, कि यौगिक शक्तिको कणाद

प्रमाणोमे मानते है । किस तरहके शब्द और योगि-प्रत्यक्षको प्रमाण माना जाये, इसके बारेमे कणादने बहस नही की । (३) प्रत्यक्षपर एक जगह कोई विवेचना नही है, तो भी आत्माके प्रकरणमे "इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्ष (=सबध)से ज्ञान"का जिक्र प्रत्यक्षके ही लिए आया है, इसमे सन्देह नही । जो पदार्थ प्रत्यक्षके विषय है, उनमेसे गुण, कर्म, सामान्यकी प्रत्यक्षताको उनके आश्रयभूत द्रव्यके संयोगसे बतलाया है--जैसे कि पृथिवीद्रव्यका (घ्राणसे) सयोग होनेपर गध गुणका पत्यक्ष होता, जल-अग्नि-वायुके सयोगसे रस, वर्ण, स्पर्श गुणोके प्रत्यक्ष होते है । (४) वस्तुका अनुमान प्रसिद्धिके आधारपर होता है । इसके तीन रूप है—(a) एकके अभावका अनुमान दूसरेके भाव (=विद्यमानता)से, जैसे सीगके विद्यमान होनेसे अनुमान हो जाता है कि वह घोडा नही है । (b) एकके भावका अनुमान दूसरेके अभावसे, जैसे सीगके न विद्यमान होनेसे अनुमान होता है, कि वह घोडा है । (c) एकके भावसे दूसरेके भावका अनुमान, जैसे सीगके विद्यमान होनेसे अनुमान हो जाता है, यह गाय है । ये सभी अनुमान इन प्रसिद्धियोके आधारपर किये जाते है, कि घोडा सीग-रहित होता है, गाय सीग-सहित होती है । प्रथम अध्यायके प्रथमाह्निकमे यह भी बतलाया है, कि कारण (आग)के अभावमे कार्य (धूम)का अभाव होता है, किन्तु कार्य (धूम)के अभावमे कारण (अग्नि)का अभाव नही होता । अनुमानके लिए हेतुकी जरूरत होती है । बिना देखे ही कोई कह उठता है, 'पहाडमे आग है', किन्तु जब हम उसे देखते नही, कहने मात्रसे आगकी सत्ता नही मानी जा सकती । इसके लिए हेतु देनेकी जरूरत पडती है, और वह है--'क्योकि वहाँ धुआँ दिखाई पड रहा है' इस प्रकार नवम अध्यायके दूसरे आह्निकमे हेतुका जिक्र किया गया है ।

(d) **ज्ञान और मिथ्याज्ञान**—अ-विद्या या मिथ्याज्ञान इन्द्रियोके विकार अथवा गलत सस्कारोके साथ किये साक्षात्कार या अ-साक्षात्कारके कारण होता है । इससे उल्टा है **विद्या या ज्ञान** ।

(e) **ईश्वर**—ईश्वरके लिए कणादके दर्शनमे गुजाइश नही ।

उसके नौ द्रव्योमे आत्मा आया है, किन्तु वे है इन्द्रियो और मनोकी सहायतासे ज्ञान प्राप्त करनेवाले अनेक जीव। उन्हे कर्मफल आदि अदृष्ट देता है। यह फल देनेवाला अदृष्ट सुकृत-दुष्कृतकी वासना या सस्कार है। इसे ईश्वर नही कहा जा सकता। सृष्टिके निर्माणके लिए परमाणुओमे गतिकी आवश्यकता है, जिससे कि उनमे सयोग होकर स्थूल पदार्थ बने। सृष्टि-रचनाके लिए होनेवाली यह परमाणु-गति भी कणादके अनुसार अदृष्टके अनुसार होती है, इस प्रकार अदृष्टवादी कणादको सृष्टि, कर्मफल कही भी ईश्वरकी जरूरत नही महसूस होती।

२—अनेकान्तवादी जैन-दर्शन

जैन तीर्थकर महावीरके दर्शनके बारेमे हम पहिले कुछ बतला चुके है। महावीरके समय यह व्रत-उपवास और तपस्याका पथ था, अभी इसपर दर्शनकी पुट नही लगी थी, किन्तु, जैसा कि हम बतला आये है, सजय वेलट्ठिपुत्तके अनेकान्तवादसे प्रभावित हो जैनोने अपना अनेकान्तवादी स्याद्वाद दर्शन तैयार किया। दार्शनिक विचार-सघर्ष और यूनानियोके सपर्कसे ईसवी सन्के आरम्भ होनेके साथ अपने-अपने दार्शनिक विचारोको सुव्यवस्थित करनेका प्रयत्न जो भारतके भिन्न-भिन्न सप्रदायोने करना शुरू किया, उसमे जैन भी पीछे नही रह सकते थे, और इसीका परिणाम हम नग्नता और अनशनके व्रती इस सप्रदायमे स्याद्वाद दर्शनके रूपमे पाते है। नई व्यवस्थावाले जैन-दर्शनके पुराने ग्रथकारोमे उमास्वातिका नाम पहिले आता है। इनका समय ईसाकी पहिली सदी बतलाया जाता है, किन्तु वह सन्दिग्ध है। जो कुछ भी हो उमास्वातिका तत्वार्थाधिगम नवीन दर्शनयुगमे जैनोका सबसे पुराना दर्शन-ग्रथ है।

यद्यपि जैनोके श्वेतावर और दिगबर दो मुख्य सप्रदाय ईसाकी पहिली सदीसे चले आते है, तो भी जहाँ तक दर्शनका सबध है, उनमे वैसा कोई मौलिक भेद नही है। दोनोके भेद आचार आदिके सबधमे है, जैसे—

श्वेतावर	दिगबर
१. अर्हत् भोजन करते है	नही

२ वर्धमानको गर्भावस्थामे देवनन्दासे त्रिशलाके गर्भने बदला गया था।	नही
३ साधु वस्त्र पहिन सकते है	नही
४ स्त्रीको मोक्ष मिल सकती है	नही

श्वेतांबर जैन अधिकतर गुजरात, पश्चिमी राजपूताना, युक्तप्रान्त और मध्यभारतमे रहते है। दिगबर पश्चिमोत्तर पजाब, पूर्वीय राजपूताना और दक्षिण भारतमे रहते है। श्वेताबरोके मूलग्रथ—अंग—प्राकृतमे मिलते है, किन्तु दिगबरोके सारे ग्रथ सस्कृतमे है। दिगबर प्राकृत अंगोंको बनावटी बतलाते है, यद्यपि पालि-त्रिपिटकसे अर्वाचीनता रखनेपर भी वे उतने नवीन नही है, जितने कि ये उन्हे बतलाते है।

जैन-धर्म-दर्शनकी एक खास विशेषता है, कि इसके प्राय सारे अनुयायी व्यापारी, महाजन और छोटे दूकानदार है। "लाभ-शुभ" और शान्तिके स्वाभाविक प्रेमी व्यापारी वर्गका चरम अहिंसाके दर्शनमे इतनी श्रद्धा आकस्मिक नही हो सकती, यह हम अन्यत्र[1] बतला आये है।

हमने यहाँ २००-४०० ई० तकके भारतीय दर्शनोको लिया है, किन्तु इससे अगले प्रकरणमे दुहरानेसे बचनेके लिए हम यही अगले विकासको भी लेते हुए इस विषयमे लिख रहे है।

(१) दर्शन और धर्म—जैनोके स्याद्वादका जिक्र पीछे कर चुके है, जिसके अनुसार वह सबमे सबके होनेकी सभावना मानते है। उपनिषद्के दर्शनमे नित्यतापर जोर दिया गया था, बौद्धोका जोर अनित्यतापर था, जैनोने दोनोको सम्भव बतलाते हुए बीचका रास्ता स्वीकार किया। उदाहरणार्थ—

उपनिषद्	बौद्ध	जैन
(ब्रह्म) सत् है	सब अनित्य है	कुछ नाशमान है, और कुछ अनाशमान भी

---

[1] "मानव-समाज", पृष्ठ १९३-४

जैन दोनोकी आंशिक सत्यता और असत्यताको बतलाते हुए कहते है—**पर्यायनय**से देखनेपर मिट्टीका पिड नष्ट होता है, घडा उत्पन्न होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। किन्तु **द्रव्यनय**से देखनेपर सारी अवस्थाओमे मिट्टी (द्रव्य) मौजूद रहती है। द्रव्यको न वह सर्वथा परिवर्तनशील मानते है, नही सर्वथा अपरिवर्तनशील, बल्कि परिवर्तनशील अ-परिवर्तनशील दोनो तरहका मानते है—अर्थात् द्रव्य एक ही समयमे वह (=द्रव्य है) और नही भी है। सत्ता (=विद्यमानता)के बारेमे सात प्रकारके **स्याद्** (=हो सकता है)की बात हम पीछे बतला चुके है।

(२) तत्त्व—जैन-दर्शनमे तत्त्वोके दो, पॉच, सात, नौ भेद बतलाये गये है, जो कि बौद्धोके स्कन्ध, आयतन धातुकी भॉति एक ही विश्वका भिन्न-भिन्न दृष्टिसे विभाजन है।—

दो तत्त्व—जीव, अजीव

पॉच तत्त्व—जीव अजीव, आकाश, धर्म, पुद्गल

सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जर, मोक्ष

नौ तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जर, मोक्ष, पुण्य, अपुण्य

दो और पॉच तत्त्वोवाले विभाजनमे दार्शनिक पदार्थोको ही रखा गया है, पिछले दो विभाजनोमे धर्म और आचारकी बातोको भी शामिल कर दिया गया है।

(३) पॉच अस्तिकाय—जीव अजीवके दो भेदोमे अजीवको ही आकाश, "धर्म", "अधर्म", पुद्गल चार भेदोमे वॉटकर पॉच तत्त्वमे बॉटा गया है, इन्हे ही पच अस्तिकाय भी कहते है, इनमे—

(क) जीव—जीव आत्माको कहता है जिसकी पहिचान ज्ञान है। तो भी सिर्फ ज्ञानवाला मान लेनेपर अनेकान्तवाद न हो सकता था, इसलिए कहा गया[1]—

---

[1] "ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥"

"जो ज्ञानसे भिन्न है और न अभिन्न है, न कैसे भी भिन्न-और-अभिन्न है, (जो) ज्ञान पूर्वापरवाला है, वह आत्मा है ॥"

आत्मा भौतिक (=भूतपरिणाम) नही है, शरीर उसका अधिकरण है, जीवोकी सख्या असख्य है। जीव नही सर्वव्यापी है, न वैशेषिकके मन-की भाँति अणु है, बल्कि वह मध्यम परिमाणी है, अर्थात् जितना बडा शरीर होता है, उतना बडा ही आत्मा है--हाथीके शरीरमे हाथीके बराबर-का आत्मा है, और चीटीके शरीरमे चीटीके बराबरका। मृत हाथीसे निकलकर जब वह चीटीके शरीरमे प्रवेश करता है तो उसे वैसा ही क्षुद्र आकार धारण करना पडता है। दीपकके प्रकाशकी भाँति वह प्रसार और सकोच कर सकता है। इतनेपर भी आत्मा नित्य है, भिन्न-भिन्न जीवोमे इन्द्रियोकी सख्या कम-बेश होती है, यह ख्याल जैनोमे महावीरके समयसे चला आता है। वृक्षोके कटवानेपर जैन साधुओने बौद्ध भिक्षुओको "एकेन्द्रिय जीव" के बध करनेवाले कहकर बदनाम करना शुरू किया था, जिसपर बुद्धको भिक्षुओके लिए वृक्ष काटना निषिद्ध ठहराना पडा।[1] भिन्न-भिन्न जीवोमे इन्द्रियोकी सख्या इस प्रकार है--

जीव	इन्द्रिय सख्या
(१) वृक्ष	(१) स्पर्श
(२) पीलु (कृमि)	(२) स्पर्श, रस
(३) चीटी	(३) स्पर्श, रस, गध
(४) मक्खी	(४) स्पर्श, रस, गध, दृष्टि
(५) पृष्ठधारी	(५) स्पर्श, रस, गध, दृष्टि, शब्द
(६) नर, देव, नारकीय	(६) स्पर्श, रस, गध, दृष्टि, शब्द, मन

स्पर्श आदिकी जगह त्वक्, रसना, नासिका, आँख, श्रोत्र और मन इद्रिय समझ लीजिए।

जीवोके फिर दो भेद है, कितने ही जीव संसारी है और कितने ही मुक्त।

---

[1] विनय-पिटक (भिक्षु-विभंग) ५।११

(a) **संसारी**—ससारी आवागमन (=पुनर्जन्म)के चक्कर (=ससार) मे फिरते रहनेवाले है। वे कर्मके **आवरण**से ढँके हुए है। मन-सहित (=समनस्क) और मन-रहित (=अमनस्क) यह उनके दो भेद है। शिक्षा, क्रिया, आलापको ग्रहण करनेवाली सज्ञा (=होश) जिनमे है, वह मन-सहित जीव है। जिनमे सज्ञा (होश) नही है, वह मन-रहित (=अमनस्क) है। अमनस्कोमे फिर दो भेद है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वृक्ष—ये एक इन्द्रियवाले जीव स्थावर जीव है। पृथिवी आदि चारो महाभूत भी जैन-दर्शनके अनुसार किसी जीवके शरीर है, उपनिषद्के अन्तर्यामी ब्रह्मकी तरह नही, बल्कि द्वैती आत्मवादियोके शरीर-निवासी जीवकी तरह।

मन-सहित (=**समनस्क**) जीव छै इन्द्रियोवाले नर, देव और नारकीय प्राणी है।

(b) **मुक्त**—जीवोमे जिन्होने त्याग-तपस्यासे कर्मके आवरणको हटाकर कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है, वे मुक्त कहे जाते है।

प्रश्न हो सकता है, कि अनन्तकालसे आजतक जिस प्रकार प्राणी मुक्त होते जा रहे है, उससे तो एक दिन दुनिया जीवोंसे खाली हो जायेगी। इसके समाधानमे जैन-दर्शनका कहना है, कि जीवोकी सख्या घटने योग्य नही है, विश्व तो **निगोद**—जीव-ग्रथियो—से भरा हुआ है। एक-एक निगोदके भीतर सकोच-विकास-शील जीवोकी कितनी भारी सख्या है, यह इसीसे पता लग सकता है कि अनादिकालसे लेकर आजतक जितने जीव मुक्त हुए है, उनके लिए एक **निगोद** पर्याप्त है। इस प्रकार ससारके उच्छिन्न होनेका डर नही।

(अजीव)—अजीवके धर्म, अधर्म, पुद्गल आकाश चार भेद बतला चुके है, धर्म, अधर्म यहाँ खास अर्थमे व्यवहृत होता है।

(ख) धर्म—विश्वव्यापी एक चालक तत्व है, जिसका अनुमान गति—प्रवृत्ति—से होता है।

(ग) अ-धर्म—एक विश्वव्यापी रोधक तत्त्व है, स्थिति—गतिहीन अवस्था—से इसका अनुमान होता है।

विश्वका सचालन, सृष्टि, स्थिति, प्रलय इन्ही दो तत्त्वो—धर्म अधर्म

—द्वारा होता है।

(घ) **पुद्गल** (=भौतिक तत्त्व)—बौद्ध-दर्शनमे पुद्गल जीवको कहते है, और बौद्ध इस तरहके पुद्गलको नही मानते। जैनोका पुद्गल उससे बिलकुल उलटा अ-जीव पदार्थ अर्थात् भौतिक तत्त्व है। पुद्गल (=भौतिक तत्त्व)मे स्पर्श, रस वर्ण, तीनो गुण मिलते है। इनके दो भेद है—(१) उनकी तहमे पहुँचनेपर वह सूक्ष्म अणु रह जाते है, इन्हे अणु-पुद्गल कहते है, ये देमोक्रितुके भौतिक परमाणु है, जिनके ख्यालको दूसरे भारतीय दार्शनिकोकी भाँति जैन-दर्शनने भी बिना आभार स्वीकार किये यवनोसे ले लिया है। (२) दूसरे है **स्कंध-पुद्गल**, जो अनेक परमाणुओके सघात (=स्कन्ध) है। स्कन्ध पुद्गलोकी उत्पत्ति परमाणुओके सयोग-वियोगसे होती है।

(ङ) **आकाश**—यह भी पच अस्तिकायोमे एक है, और उपनिषद्के समयसे चला आया है। यह आकाश ससारी जीवोके लोकसे परे, जहाँ कि मुक्त जीव है, वहाँ तक फैला हुआ है। आकाश अभावात्मक नही भावात्मक वस्तु है, इसीलिए इसकी गणना पाँच अस्तिकायोमे है।

(४) **सात तत्व**—(क, ख) सातमे जीव और अजीवको पाँच अस्तिकायोके रूपमे अभी बतला चुके, बाकी पाँच निम्न प्रकार है।

(ग) **आस्रव**—आस्रव बहनेको कहते है, जैसे "नदी आस्रवति" (=नदी बहती है)। बौद्ध-दर्शनमे भी आस्रव(=आसव)आता है, किन्तु वह बहुत कुछ चित्तमलके अर्थमे। जीव कषाय या चित्तमलोसे लिपटा आवागमनमे आता है।

कषाय—क्रोध, मान, माया लोभ और अशुभ बुरे कषाय है, अ-क्रोध, अ-मान, अ-माया, अ-लोभ, शुभ (अच्छे) कषाय है।

(घ) **बंध**—बध सातवाँ तत्त्व है। कषायसे लिप्त होनेसे जीव विषयोंमे आसक्त होता है, यही बध या बन्धन है, जिसके कारण जीव एक शरीरसे दूसरे शरीरमे दु ख सहते मारा-मारा फिरता है।

कषायके चार हेतु होते है—(१) मिथ्या दर्शन—झूठा दर्शन, जो नैसर्गिक या पूरबले मिथ्या कर्मोसे उत्पन्न भी हो सकता है या उपदेशज

यानी इसी जन्ममें झूठे दर्शनोंके सुनने-पढनेसे हो सकता है। (२) अ-विरति या इन्द्रिय आदिपर सयम न करना। (३) प्रमाद है, आस्रव रोकनेके उपाय गुप्ति समिति आदिसे आलसी होना।

(ङ) **संवर**—आस्रव-प्रवाहके रास्तेको रोक देनेको सवर कहते है। जो कि गुप्ति और समिति द्वारा होता है।

(a) **गुप्ति**—काया, वचन, मनकी रक्षाको कहते हैं। गुप्तिका शब्दार्थ है रक्षा।

(b) **समिति**—समिति सयम है, इसके पाँच भेद है—(१) ईर्या समिति यानी प्राणियोकी रक्षा करना, (२) भाषा-समिति, हित, परि-मित और प्रिय भाषण, (३) ईषणा-समिति—शुद्ध, दोषरहित भिक्षा-को ही लेना, (४) आदान-समिति, यह देख-भालकर आसन वस्त्र आदिको लेना कि उसमे प्राणिहिसा आदि होनेकी तो सभावना नही है, (५) उत्सर्ग-समिति यानी वैराग्य, जगत् मल गदगीसे पूर्ण है इसे उत्सर्ग (=त्याग) करना चाहिए।

जैसे बौद्धोका आर्य-सत्योपर वहुत जोर है, वैसे ही जैन-धर्ममे आस्रव और सवर मुमुक्षुके लिए त्याज्य और ग्राह्य है—

"आवागमन (=भव)का हेतु आस्रव है, और संवर मोक्षका कारण। बस यह अर्हत् (महावीर)की रहस्य-शिक्षा है, दूसरे तो इसीके विस्तार है।[1]"

इसी तरह बौद्धोमे भी बुद्धकी शिक्षाका सार माना जाता है—

"सारी बुराइयो (=पापो)का न करना, भलाइयोका सपादन करना। अपने चित्तका सयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।[2]"

(च) **निर्जर**—जन्मान्तरसे जो कर्म—कषाय—सचित हो गया है

---

[1] "आस्रवो भवहेतुः स्यात् सवरो मोक्ष-कारणम्।
इतीयमार्हती मुष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥"

[2] "सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्सुपसपदा। सचित्तपरियोदपन एत बुद्धानुसासनं॥"

उसका निर्जरण या नाश करना निर्जर है, यह केश उखाडने, गर्मी, सर्दीको नगे वदनसे बर्दाश्त करने आदि तपोके द्वारा होता है ।

(छ) **मोक्ष**—कर्मोका जब बिलकुल नाश हो जाता है, तो जीव अपने शुद्ध आनदमे होता है, इसे ही **केवल** अवस्था या कैवल्य भी कहते है । इस अवस्थामे मुक्त पुरुप हर समय अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन—सर्वज्ञ सर्व दर्शी—होता है । ससार या आवागमनकी अवस्थामे जीवकी यह कैवल्यावस्था ढँकी होती तथा शुद्ध स्वरूप मल-लिप्त होता है । मुक्त जीव हमारे लोकके सीमान्तपर अवस्थित लोकाकाशके भी ऊपर जाकर अचल हो वास करते है ।

(५) **नौ तत्त्व**—पिछले (क—छ) सात तत्त्वोमे पुण्य और अपुण्यको और जोड देनेसे नौ तत्त्व होते है—

(ज) **पुण्य**—जीवपर पडा एक प्रकारका सस्कार है, जो कि सुखका साधन होता है। यह अभौतिक नही परमाणुमय है, जो एक गिलाफकी भॉति जीवसे लिपटा रहता है । मुक्तिके लिए इस **पुण्य**से मुक्त होना जरूरी है ।

(झ) **पाप**—पाप दु ख-साधन है, और पुण्यकी भॉति परमाणुमय है ।

(६) **मुक्तिके साधन**—दु खके त्याग और अनन्त अमिश्रित सुखकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी जरूरत है । इसकी प्राप्तिके लिए ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और भावना (=योग)की जरूरत है ।

(क) **ज्ञान**—ज्ञानसे मतलब जैन-दर्शन स्याद्वाद या अनेकान्तवादकी सत्यताका निश्चय है ।

(ख) **श्रद्धा**—तीर्थंकरके बचनोपर श्रद्धा या विश्वास ।

(ग) **चारित्र**—सदाचार या शीलको जैन-धर्ममे चारित्र कहा गया है । पापका विरत होना, अर्थात् अ-हिसा, मूनृत(=सत्य) अ-चोरी, ब्रह्मचर्य, अ-परिग्रह (=अ-ससर्ग) ये चारित्र है । गृहस्थोके लिए चारित्र कुछ नर्म है, उन्हे सच्चाईसे धन अर्जन[1] सदाचारका पालन, कुलीन सती

---

[1] खेती तथा दूसरे उत्पादक श्रममें हिंसा होनी जरूरी है, इसलिए वह सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते नही है । सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते है,

स्त्रीसे विवाह, देशाचारका पालन, पोषधव्रत, अतिथि-सेवा करनी चाहिए।

(घ) **भावना**—मानसिक एकागता है। मोक्षके लिए करणीय भावनाओके कई प्रकार है, जैसे—

(a) [1]**अनित्यता-भावना**—भोगोको अनित्य समझ उनकी भावना करना।

(b) [1]**अशरण-भावना**—कि मृत्यु, दुखके प्रहारसे बचनेके लिए ससारमे कोई शरण नही है।

(c) [1]**अशुचि-भावना**—कि शरीर मल-दुर्गध पूर्ण है।

(d) **आस्रवा-भावना**—कि आस्रव बधनके हेतु है।

(e) **धर्मस्वभावाख्यातता-भावना**—सयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अलोभ, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता आदि द्वारा भावना-रत होना।

(f) **लोक-भावना**—सृष्टिके स्वभावकी भावना।

(g) **बोधि-भावना**—मनुष्यकी अवस्था कर्म-निर्मित है।

(h) [1]**मैत्री-भावना**—सर्वत्र मित्रताके भावसे देखना।

(i) [1]**करुणा-भावना**—

(j) [1]**मुदिता-भावना**—आदि।

(६) **अनीश्वरवाद**—ईश्वरके न माननेमे जैन भी चार्वाक और बौद्ध-दर्शनोके साथ है। इनकी युक्तियाँ भी प्राय वही है, जिन्हे वे दोनो दर्शन देते है। वैशेषिकने लोककी सृष्टिके लिए अदृष्टको ईश्वरके स्थानपर रखा है, और जैनोने धर्म-अधर्मको उसके स्थानपर रखा। लोक, ऊर्ध्व, मध्य और अध तीनो लोकोमे विभक्त है, जिनमे क्रमश देव, मानव और नारकीय लोग बसते है। लोकमे सर्वत्र आकाश है, जिसे लोकाकाश कहते है। लोकाकाशके परे तीन तह हवाकी है। मुक्त जीव तीनो लोकोको पार कर लोकाकाशके ऊपर जाकर वास करता है।

व्यापार, दूकान, सूदका व्यवसाय . ।

[1] ये भावनाएं बौद्ध-ग्रंथोमें भी पाई जाती है।

जैन तत्वोको वृक्षके रूपमे इस प्रकार अकित कर सकते है—

३–शब्दवादी जैमिनि (३०० ई०)

जैमिनि उस कालके ग्रन्थकारोमे है, जब कि ब्राह्मणोमें पुराने ऋषियोके नामपर ग्रथोको लिखकर अपने धर्मको मजबूत करनेका बहुत जोर था। इसलिए मीमासाकार जैमिनिकी जीवनीके बारेमे जानना सभव नही है। हम इतना ही कह सकते है कि मीमासाका लेखक कणाद, नागार्जुन, अक्षपादके पीछे हुआ, और इन स्वतत्र चेता दार्शनिकोके ग्रन्थोसे उसने पूरा लाभ उठाया। साथही उसे हम वसुवधु (४०० ई०) और दिग्नाग (४२५)से पीछे नही ला सकते। वादरायण और जैमिनि दोनोने एक दूसरेके मतको उद्धृत किया है, इसलिए दोनोका समय एक तथा ३०० ई० के आसपास मालूम होता है।

(१) मीमांसा शास्त्रका प्रयोजन—मीमासाका आरभ करते हुए जैमिनिने लिखा है—"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा आरभ होती है।[1]" वैशेषिकका प्रथम सूत्र भी इससे मिलता जुलता है। कुछ विद्वानोके मतसे वैशेषिक एक तरहकी पुरानी **मीमांसा** है, जिससे प्रभावित हो जैमिनिने अपने १२ अध्यायके विस्तृत मीमासा-शास्त्रको लिखा। यद्यपि वेदकी अनित्यता, वेदके स्वत प्रामाण्य आदि कितनी ही बातोमे वैशेषिकका मीमासासे मतभेद है, तो भी, अदृष्ट, कितनी ही बातोमे शास्त्र प्रामाण्य, धर्म-व्याख्यान आदिपर दोनोका जोर एकसा होनेसे समानता भी ज्यादा है। भारी भेद यही कहा जा सकता है, कि वैशेषिक जहाँ उत्तरमे हिमालयके लिए घरसे निकल दक्षिणके समुद्रमे पहुँच गया, वहाँ जैमिनिने सचमुच शुरूसे अन्ततक धर्म-जिज्ञासा जारी रखी, और वैदिक कर्मकाडके समर्थन तथा विरोधियोके प्रत्याख्यानमे अपनी शक्ति लगाई।

उपनिषद्के वर्णनके समय हमने **ब्राह्मण** ग्रथोका जिक्र किया था,

---

[1] **"अथातो धर्मजिज्ञासा"—मीमांसासूत्र १।१।१; "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः"—वैशेषिकसूत्र १।१।१**

जो कि वेद-सहिताओके बाद यज्ञ-कर्मकाडकी विधि और व्याख्याके लिए भिन्न-भिन्न ऋषियो द्वारा कई पीढियो तक बनाए जाते रहे। शतपथ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, षड्विश, गोपथ आदि कितने ही **ब्राह्मण** ग्रथ अब भी मिलते है। इन्ही ब्राह्मणोमेसे कुछके अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् है, यह भी हम बतला चुके है। **ब्राह्मणो**का मुख्य तात्पर्य भिन्न-भिन्न यज्ञोकी प्रक्रियाओ तथा वह वेदके किन-किन मत्रोके साथ की जानी चाहिए, इसे ही बतलाना है। ब्राह्मण ग्रथोमे वर्णित ये विधान जहाँ-तहाँ बिखरे तथा कही-कही असबद्ध भी थे, जिससे पुरोहितोको दिक्कत होती थी, जिसके लिए बुद्धके पीछे कितनेही ग्रथ बने, जिन्हे कल्प-सूत्र या प्रयोग-शास्त्र कहते है। कल्प-सूत्रोमे श्रौत-सूत्रोका काम था, यज्ञ करनेवाले पुरोहितोकी आसानीके लिए सारी प्रक्रियाको व्यवस्थित रीतिसे जमा कर देना। यजुर्वेदके कात्यायन श्रौतसूत्रको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोने यज्ञ-पद्धतियाँ बनानेकी कोशिश की। अपने-अपने वक्तके लिए वह पर्याप्त थी, किन्तु, ईसवी सन्‌के शुरू होनेके साथ सिर्फ पद्धतियोसे काम नही चल सकता था, बल्कि वहाँ जरूरत थी उठती हुई शकाओको दूर कर यज्ञ और कर्मकाडके महत्त्वको समझानेकी। इसी कामको अप्रत्यक्ष रूपसे कणादने करना चाहा, किन्तु यूनानी दर्शनने दिमाग पर भारी असर किया था, जिससे धर्मके लौकिक व्याख्यान द्वारा अदृष्टकी पुष्टिकी जगह दृष्टपर जोर ज्यादा दिया, जिससे वह लक्ष्यसे वहक गए। जैमिनिने, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, यज्ञ और कर्मकाडके लौकिक पारलौकिक लाभके रूपमे पुरोहितोकी आमदनीके एक भारी व्यवसायकी रक्षा करनेके ख्यालसे पहिले तो यह सिद्ध करना चाहा कि सत्यकी प्राप्तिके लिए वेद ही एक मात्र अभ्रान्त प्रमाण है। इसके बाद फिर उसने भिन्न-भिन्न यज्ञो, उनके अगो तथा दूसरी कर्मकाडसबधी प्रक्रियाओका विवेचन किया।

मीमासा-सूत्रमे १२ अध्याय तथा प्राय २५०० सूत्र है। इसके भाष्यकार शवर स्वामी (४०० ई०)ने योगाचार मतका जिस तरहसे खडन

किया है, उससे उसको असगका समकालीन या पश्चात्कालीन होना चाहिए। मीमासाके शब्द प्रामाण्यवाद तथा कर्मकांडका खडन दिङ्नाग और दूसरे आचार्योने किया, उसके उत्तरमे छठी सदीमे कुमारिल भट्ट (५५० ई०)ने कलम उठाई, और जैमिनिका समर्थन करते हुए मीमासाके भिन्न-भिन्न भागोपर क्रमश **श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक** और **टुप्टीका** तीन ग्रथ लिखे, जिनमे श्लोकवार्तिक विशेषकर तर्क-निर्भर है। कुमारिलके शिष्य प्रभाकर (जिसकी प्रतिभाके कारण कहा जाता है उसके गुरु कुमारिलने उसे गुरुका नाम दे दिया, और तबसे प्रभाकरका मत गुरुमत कहा जाने लगा)ने शबर-भाष्यपर दूसरी टीका **बृहती** लिखी। मीमासापर और भी ग्रथ लिखे गए, किन्तु शबर और कुमारिलके ही ग्रथ ज्यादा महत्त्व रखते है। हम यहाँ जैमिनि ही के दर्शनपर कहेगे, कुमारिलका दार्शनिक मत धर्मकीर्तिके प्रकरणमे पूर्वपक्षके रूपमे आ जायेगा।

(२) **मीमांसासूत्र-संक्षेप**--मीमासाने अपने १२ अध्याय तथा ढाई हजार सूत्रोमे निम्न विषयोपर विवेचन किया है---

अध्याय	विषय
१	प्रमाण---विधि (=यज्ञका विधान), अर्थवाद, मन्त्र स्मृति, नामधेयकी प्रामाणिकता।
२	अर्थ---कर्मभेद उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद, प्रयोगभेद।
३	श्रुति, लिग, वाक्य, प्रकरण, स्थान समाख्या (=नाम)के विरोध, प्रधान(-यज्ञ)के उपकारक और कर्मोका चिन्तन।
४	प्रधान (=मुख्य) यज्ञ, तथा अप्रधान (=अग यज्ञ)की प्रयोजकता, जूहू (=पात्र)के पत्ते आदिके होनेका फल, राजसूय यज्ञके भीतर जूआ खेलने आदि कर्मोपर विचार।
५	श्रुति, लिग, आदिके क्रम, उनके द्वारा विशेपका घटना-बढना और मजबूती तथा कमजोरी।
६	अधिकारी उसका धर्म, द्रव्य-प्रतिनिधि, अर्थलोपनप्रायश्चित्त, सत्रदेय वह्निपर विचार।

अध्याय	विषय
७.	प्रत्यक्ष (=श्रुतिमे) न कथन किये गए अतिदेशोमेसे नाम-लिग-अतिदेशपर विचार।
८.	स्पष्ट, अस्पष्ट प्रबल लिग वाले अतिदेशपर विचार।
९.	ऊहपर विचारारम्भ—साम-ऊह, मत्र-ऊह।
१०	निषेधके अर्थोपर विचार।
११	तत्रके उपोद्घात, अवाप, प्रपन्चन अवाय, प्रपचन चितन।
१२.	प्रसग, तत्र निर्णय, समुच्चय, विकल्पपर विचार।

यह सूची पूर्ण नही है। यहाँ दिये विषयोसे यह भी पता लग जाता है कि **मीमांसा**का दर्शनसे बहुत थोड़ा सा सबध है, बाकी तो कर्मकाड-सबधी प्रश्नो, विरोधों, सन्देहोको दूर करनेके लिए कोशिश मात्र है।—वस्तुत जैमिनिने कल्प-सूत्रो (=प्रयोगशास्त्रो)के लिए वही काम किया है, जो कि वेदान्तने उपनिषदोके लिए।

(३) दार्शनिक विचार—जैमिनिने पहिले सूत्रमे धर्म-जिज्ञासाको मीमासा शास्त्रका प्रयोजन बतलाया। धर्म क्या है। इसका उत्तर दिया—"चोदनालक्षणार्थो धर्म"[1]—(वेदकी) प्रेरणा जिसके लिए हो वह बात धर्म है। कणादने धर्मकी व्याख्या करते हुए उसे अभ्युदय और नि श्रेयस (=पारलौकिक समृद्धि)का साधन बतलाया था। जैमिनिने यहाँ धर्मका स्वरूप बतलाना चाहा, और उसके लिए तर्क और बुद्धिपर जोर न देकर वेदके उन वाक्योको मुख्य बतलाया जिनमे कर्मकी प्रेरणा (=चोदना या विधि) पाई जाती है। ऐसे प्रेरणा (=चोदना) वाक्य ब्राह्मणोमे सत्तरके करीब है। इन्हे ही जैमिनि कर्मकाडके लिए सबसे बडा प्रमाण तथा उसके साफल्यकी गारटी बतलाता है।

मीमासाने बुद्धिवादकी चकाचौधमे आये भारतमे किस मतलबसे पदार्पण किया, इसे आचार्य श्चेर्बास्कीके ये वाक्य बहुत अच्छी तरह बत-

---

[1] मीमांसा-सूत्र १।१।२

लाते है[१]—

"मीमासक पुराने ब्राह्मणी यज्ञवाले धर्मके अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्री थे। यज्ञके सिवाय किसी दूसरे विषयके तर्क-वितर्कके वह सख्त खिलाफ थे। शास्त्र—वेद—उन ७०के करीब **उत्पत्ति विधियोंके** सग्रहके अतिरिक्त और कुछ नही। ये विधियाँ यज्ञोका विधान करती है और बतलाती है कि उनके करनेसे किस तरहका फल मिलेगा। (मीमासाके) इस धर्ममे न कोई धार्मिक भावुकता है और न उच्च भावनाएँ। उसकी सारी बाते इस सिद्धान्तपर स्थापित है—ब्राह्मणोको उनकी दक्षिणा दे दो, और फल तुम्हारे पास आ मौजूद होगा। लेकिन इस धार्मिक क्रय-विक्रय—व्यापार—पर जो प्रहार (बुद्धिवादियोकी ओरसे) हो रहे थे, उनसे अपनी रक्षा करना मीमासकोके लिए जरूरी था, और (सारे व्यापारकी भित्ति) वेदकी प्रामाणिकताको दृढ करनेके लिए 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्तकी कल्पना थी। जिन गकार आदि (वर्णो)से हमारी भाषा बनी है, वह उस तरहकी ध्वनियाँ या शब्द नही है, जैसी कि दूसरी ध्वनियाँ और शब्द। वर्ण नित्य अविकारी द्रव्य है, किन्तु सिवाय समय-समयपर अभिव्यक्त होनेके उन्हे साधारण आदमी (सदा) नही ग्रहण कर सकता। जिस तरह प्रकाश जिस वस्तुपर पडता है, उसे पैदा नही करता, बल्कि प्रकाशित (=अभिव्यक्त) करता है, इसी तरह हमारा उच्चारण वेदके शब्दोको पैदा नही बल्कि प्रकाशित करता है। सभी दूसरे आस्तिक नास्तिक दर्शन मीमासकोके इस उपहासास्पद विचारका खडन करते थे, तो भी मीमासक अपनी असाधारण सूक्ष्म तार्किक युक्तियोसे उनका उत्तर देते थे। इस एक बातकी रक्षामे वह इतने व्यस्त थे, कि उन्हे दूसरे दार्शनिक विषयोपर ध्यान देनेकी फुर्सत न थी। वह कट्टर वस्तुवादी, योग तथा अध्यात्मविद्याके विरोधी और निषेधात्मक सिद्धान्तोके पक्षपाती थे। कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर नही,

---

[१] Buddhist Logic (by Dr. Th. Stcherbatsky, Leningrad 1932) Vol. I, pp. 23-24 (भावार्थ)

कोई सर्वज्ञ नही, कोई मुक्त पुरुष नही; विश्वके भीतर कोई रहस्यवाद नही, वह उससे अधिक कुछ नही है, जैसा कि हमारी (स्थूल) इन्द्रियोको दिखलाई पडता है। इसलिए (यहाँ) कोई स्वयभू (=स्वत सिद्ध) विचार नही, कोई रचनात्मक साक्षात्कार नही, कोई (मानस) प्रतिबिब नही, कोई अन्तर्दर्शन नही, एक केवल चेतना--चेतना स्मृतिकी कोरी तख्ती--है जो कि सभी बाहरी अनुभवोको अकित करती और सुरक्षित रखती है। बोले जानेवाले शब्दको नित्य माननेके लिए उन्होने जिस प्रकारकी मनोवृत्ति दिखाई, वही उनके (यज्ञके) फलोके पैसे-पैसेके हिसाबवाले सिद्धान्तमे भी पाई जाती है। यज्ञकी क्रियाएँ बहुत पेचीदा है, यज्ञ बहुतसे टुकडो(=**अंगो**)से मिलकर सम्पन्न होता है। प्रत्येक अग-क्रिया आशिक फल(=भाग-अपूर्व) उत्पन्न करती है, फिर ये आशिक फल जोडे जाते है, जिससे सम्पूर्ण फल(=समाहार-अपूर्व) तैयार होता है--यही सम्पूर्ण याग (=**प्रधान**)का फल है। 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्त तथा इससे सबध रखनेवाले विचारोको छोड देनेपर मीमासा और बुद्धि-वादी न्याय-वैशेषिक दर्शनोमे कोई भेद नही रहता। मीमासकोके सबसे जबर्दस्त विरोधी बौद्ध दार्शनिक थे। दोनोके प्राय सारे ही सिद्धान्त एक दूसरेसे उल्टे है।"

(क) **वेद स्वतः प्रमाण है**--जैसा कि ऊपरके उद्धरणसे मालूम हुआ, मीमासाका मुख्य प्रयोजन था पुरोहितोकी आमदनीको सुरक्षित करना। दक्षिणा उन्हे तभी मिल सकती थी, यदि लोग वैदिक कर्मकाडको माने वैदिक कर्मकाड तब यजमानोको प्रिय हो सकता था, जब कि उन्हे विश्वास हो कि यज्ञका अच्छा फल--स्वर्ग जरूर मिलेगा। इस विश्वासके लिए कोई पक्का प्रमाण चाहिए, जिसके लिए मीमासकोने वेदको पेश किया। उन्होने कहा--वेद अनादि है, वह किसी देवता या मानुपके नही बनाये--अपौरुषेय--है। पुरुषके वचनमे गलतीका डर रहता है, क्योकि उसमे राग-द्वेष है, जिसकी प्रेरणासे वह गलत बात भी मुँहसे निकाल सकता है। वेद यदि बना होता तो उसके कर्त्ताओका नाम सुना जाता,

कर्त्ताकी याद तक न रहनी यही सिद्ध करती है कि वेद अकृत हैं। वेद अनादि है, क्योंकि उन्हे हर एक वेदपाठीने अपने गुरुसे पढा है, और इस प्रकार यह गुरु-शिष्यकी परंपरा कभी नही टूटती। वेदमत्रोमे भरद्वाज, वशिष्ठ, कुशिक. आदि ऋषियो; दिवोदास्, सुदास्, आदि राजाओके नाम आते हैं। जैमिनि मत्र(-सहिता) और ब्राह्मण दोनोको वेद मानता है। उसने और सैकडो ऐतिहासिक नामोकी व्याख्याके फदेमे फँसनेके डरसे दयानदकी भाँति ब्राह्मणको वेदसे खारिज नही किया। भरद्वाज-वशिष्ठ और दिवोदास्-सुदास्से लेकर आरुणि-याज्ञवल्क्य और पौत्रायण-जनक तक सैकडो ऐतिहासिक नामोको वह अनैतिहासिक-वस्तुओका नाम कहकर व्याकरणके धातु-प्रत्ययोसे व्याख्या कर देना चाहता है। जैमिनिके लिए प्रावाहणि किसी प्रवहणके पुत्र का नाम नही, बहनेवाली हवाका नाम है। ऋषियोको मत्रकर्त्ता कहना गलत है। वेदके शब्द-अर्थका सबध नित्य है, जैसे लौकिक भाषामे "रेलगाडी" शब्द और पहियावाले लम्बे चौडे घर पदार्थका सबध पिता-माता-गुरु आदि द्वारा बतलाया और किसी समय बने मानुष-सकेतके रूपमे देखा जाता है, वेदमे ऐसा नही है। जैमिनिने तो बल्कि यहाँ तक कहा है कि लौकिक भाषामे भी "गाय" शब्द और गाय अर्थका जो सबध है, वह भी वैदिक शब्दार्थ-सबधकी नकलपर भ्रान्तिके कारण है।

वेद जिस कर्मको इष्टका साधक बतलाता है, वही धर्म है। वेद जिसे अनिष्टका साधक बतलाता है, वह अधर्म है। स्मृति (=ऋषियोके बनाए धर्म सबधी ग्रथ) और सदाचार भी धर्ममे प्रमाण हो सकते है, यदि वह वेद-अनुसारी हैं। स्मृति और सदाचारमे पाये जानेवाले कितने ही कर्म भी धर्म हो सकते है, यदि वेदमे उनका विरोध न मिले। किन्तु उन्हे वेदसे अलगका समझकर धर्म नही माना जायगा, बल्कि इसलिए माना जायगा कि वेदका वैसा कोई वाक्य पहिले कभी मौजूद था, जिससे स्मृति और सदाचारने उसे लिया। अब वेदकी कितनी ही शाखाओके लुप्त हो जानेसे वह प्राप्य नही है। "प्राप्य नही है" का अर्थ इतना ही लेना है, कि

उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, अन्यथा नित्य होनेसे वेदकी शब्दराशि तो कहीं मौजूद है ही।

(a) **विधि**—वेदमें भी सबसे ज्यादा प्रयोजनके हैं **विधि-वाक्य**, जिनके द्वारा वेद यज्ञ आदि कर्मोंके करनेका आदेश देता है[1]—"स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे" "सोमसे यजन करे" "पशुकी कामनावाला उद्भिद् (यज्ञ)का यजन करे।" इस तरह सत्तरके करीब विधि-वाक्य हैं, जो यज्ञ कर्मोंके करनेका विधान करते हैं। और साथ ही यजमानको उसके शुभफलकी गारंटी देते हैं। वेदके मन्त्रभागका जैमिनि, इससे ज्यादा कोई प्रयोजन नहीं मानता कि यज्ञकी क्रियाओं—पशुके पकड़ने, धोने, बध करने, मांस काटने, पकाने-बघारने, होम करने आदि—में उनके पढ़ने (=विनियोग)की जरूरत होती है। ब्राह्मणमें भी इन सत्तर-बहत्तर यज्ञ विधायक वाक्योंके अतिरिक्त बाकी सारे—ब्राह्मण—आरण्यक उपनिषद्के—पोथे सिर्फ **अर्थवाद** है।

सांगोपांग सारा यज्ञ **प्रधान** यज्ञ कहा जाता है, लेकिन सारा यज्ञ एक क्षणमें पूरा नहीं हो सकता। जैसे "गाय लाता है" यह सारा वाक्य एक अभिप्रायको व्यक्त करता है, किन्तु जब "गा-" बोला जा रहा होता है, उसी वक्त अभिप्राय नहीं मालूम होता। जब एक-एक करके "है" तक हम पहुँचते हैं, तो सारे 'गाय लाता है' वाक्यका अभिप्राय मालूम हो जाता है। उसी तरह एक यज्ञके **अंगभूत** कर्म पूरे होते-होते जब सांगो-पांग यज्ञ पूरा हो जाता है, तो उसके फलका **अपूर्व**—फल-उत्पादक संस्कार—पैदा होता है, यही अपूर्व श्रुति-प्रतिपादित फलको इस जन्म या परजन्ममें देगा।

(b) **अर्थवाद**—वेद (ब्राह्मण)के चंद विधि-वाक्योंको छोड़ बाकी सभी अर्थवाद हैं, यह बतला चुके। अर्थवाद चार प्रकारके हैं—निंदा, प्रशंसा, परकृति, पुराकल्प। निंदा आदि द्वारा अर्थवाद **विधिकी** पुष्टि

---

[1] **"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" "सोमेन यजेत"।**

करता है। जैमिनिके अनुसार आरुणि और याज्ञवल्क्यके सारे गभीर दर्शन यज्ञ-प्रतिपादक विधियोके अर्थवादको छोड और कोई महत्त्व नही रखते।

(i) **स्तुति**[१]—"उसका मुख शोभता है, जो इसे जानता है"—यहाँ जाननेकी विधिकी स्तुति है।

(ii) **निन्दा**—इस अर्थवादका उदाहरण है[२]—"आँसुओसे जन्मी (यह) चाँदी है, जो इसे यज्ञमे देता है, वर्षसे पहिलेही उसके घरमे रोते है।" यह यज्ञमे दक्षिणा रूपसे चाँदी देनेकी निदा करके "यज्ञमे चाँदी नही देनी चाहिए"[३]—इस विधि-वाक्यकी पुष्टि करता है। (iii) **परकृति**—दूसरे किसी महान् पुरुषने किसी कामको किया उसको बतलाना परकृति है, जैसे "अग्निने कामना की"[४] (iv) **पुराकल्प**—पुराने कल्पकी बात, जैसे "पहिले (जमानेमे) ब्राह्मण डरे।"[५] जैसे स्तुति और निदासे **विधि**की पुष्टि होती है, वैसे ही बडोकी कृति तथा पुराने युगकी बाते भी उसकी पुष्टि करती है। यह समझानेकी कोशिश की गई है कि वेदमे विधि-वाक्योको कम करनेसे वेदका अधिकाश भाग निरर्थक नही है। जैमिनिने एक ओर तो वेदको अनादि अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिए यह घोषित किया कि उसमे कोई इतिहास नही, दूसरी ओर अर्थवादोमे **परकृति** और **पुराकल्प** जोडकर इतिहासको मान-सा लिया, इसके उत्तरमे मीमासकोका कहना है, यह इतिहास नित्य इतिहास है, अर्थात् याज्ञवल्क्य और जनक अनित्य इतिहासकी एक बारकी घटना नही बल्कि रात दिनकी भाँति बराबर अनादिकालसे ऐसे याज्ञवल्क्य और जनक होते है, जिनका जिक्र वेदके एक अश शतपथ ब्राह्मणके अतिम खड बृहदारण्यकमे हमेशासे लिखा

---

[१] "शोभते वास्य मुख"।

[२] "अश्रुज हि रजतं यो बर्हिषि ददाति पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ति।"

[३] "बर्हिषि रजतं न देयम्"। [४] "अग्निर्वा अकामयत"।

[५] "पुरा ब्राह्मणा अभैषु.।"

हुआ है। आज हमे यह दलील उपहासास्पदसी जान पडेगी, किन्तु कोई समय था जब कि कितने ही लोग ईमानदारीसे जैमिनिके इस तरहके अपौरुषेय वेदके सिद्धान्तको मानते थे।

(ख) **अन्य प्रमाण**—मीमासाके प्रमाणोकी सूची बहुत लबी है। वह शब्द प्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, सभव, अभाव छै और प्रमाणोको मानता है, यद्यपि सबसे मजबूत प्रमाण उसका शब्द प्रमाण या वेद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान मीमासकोंके भी वैसे ही है, जैसे कि उन्हे अक्षपाद गौतम जैमिनिसे पहिले कह गए थे। **अर्थापत्तिका** उदाहरण "मोटा देवदत्त दिनको नही खाता" अर्थात् रातको खाता है। **संभव**—जैसे हजार कहनेपर सौ उसमे सम्मिलित समझा जाता है। ***अभाव या अनुपलब्धि*** भी एक प्रमाण है, क्योकि "भूमिपर घड़ा नही है" इसके सच होनेके लिए यही प्रमाण दे सकते है कि वहाँ घडा अनुपलब्ध है।

(ग) **तत्त्व**—मीमासाके अनुसार बाह्य विश्व सच है और वह जैसा दिखलाई पडता है वैसा ही है। आत्मा अनेक है। स्वर्गको भी वह मानता है, किन्तु उसके भोगोकी विश्वके भोगोमे इस बातमे समानता है, कि दोनो भौतिक है। ईश्वरके लिए मीमासामे गुंजाइश नही।[1] जैमिनिको वेदकी स्वत प्रमाणता सिद्धकर यज्ञ कर्मकाडका रास्ता साफ करना था। उसने ईश्वर-सिद्धिके बखेडेमे पडनेसे वेदको नित्य अनादि सिद्ध करना आसान समझा, और इतिहासके सबधमे उस वक्त जितना अज्ञान था, उससे यह बात आसान भी थी।

मीमासासूत्र बैसे बाकी पाँचो ब्राह्मण दर्शनोमे बहुत बडा है, किन्तु उसमे दर्शनका अश बहुत कम है।

मीमासा वैदिककालसे चले आते पुरोहित श्रेणीका अपनी जीविका (=दक्षिणा आदि) को सुरक्षित रखनेके लिए अन्तिम प्रयत्न था। उपनिषद्-

---

[1] "द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थत.। निरीश्वरेण वादेन कृत शास्त्रं महत्तरम् ॥"—पद्मपुराण, उत्तरखंड २६३

कालके आसपास (७००-६०० ई० पू०) धर्म और स्वर्गके नामपर होनेवाली मुँहबाँधकर या दूसरे ढगसे की गई पशु-हत्याओ तथा टोटके जैसी क्रियाओसे बुद्धि बगावत करने लगी थी। उपनिषद्ने यागोका स्थान थोडा नीचाकर ब्राह्मज्ञानको ऊँचे स्थानपर रख, ब्राह्मणोको नये धर्म (=ब्रह्मवाद)का पुरोहित ही नही बनाया, बल्कि पुराने यज्ञ-यागोको पितृयाणका साधन मान पुरानी पुरोहितीको भी हाथसे नही जाने दिया। अब बुद्धका समय आया। जात-पातो और आर्थिक विषमताओसे उत्पन्न हुए असन्तोषोने धार्मिक विद्रोहका रूप धारण किया। अजित केशकम्बली जैसे भौतिकवादी तथा बुद्ध जैसे प्रतीत्य-समुत्पाद प्रचारक बुद्धिवादीने पुराने धार्मिक विश्वासोपर जबर्दस्त प्रहार किये। कूपमडूकता भौगोलिक ही नही बौद्धिक क्षेत्रमे भी हटने लगी। फिर यूनानियो, शको तथा दूसरी आकर बस जानेवाली आगन्तुक जातियोने इस बौद्धिक युद्धको और उग्र कर दिया। अब याज्ञवल्क्य और आरुणिकी शिक्षाओसे, गार्गीको शिर गिरानेका भय दिखला, प्रश्न और सन्देहकी सीमाओको रोका नही जा सकता था। नवागन्तुक जातियाँ जब यहाँ बसकर भारतीय बन गई, तो फिर अपने-अपने धर्मोको बौद्धिक भित्तिपर तर्कसम्मत सिद्ध करनेकी कोशिश की गई। बुद्धके बाद भी मौर्योके उत्तराधिकारी और प्रतिद्वद्वी शुगोने अश्वमेध यज्ञ तथा दूसरे यागोको पुनरुज्जीवित करना चाहा था। मथुरामे शककालके भी यज्ञ-यूप मिले है। इस तरह जैमिनिके समय यज्ञ-सस्था लुप्त नही हो गई थी। लेकिन उसका ह्रास हुआ था, और भविष्यका सकट और भी प्रबल था, जिसको रोकनेके लिए कणादने हलका और जैमिनिने भारी प्रयत्न किया। जैमिनिके बाद गुप्तकालमे लोक-प्रसिद्धिके लिए यज्ञ राजाओ और धनियोको बडे साधक मालूम हुए, जिससे इनका प्रचार अच्छा रहा। किन्तु इसी कालने वसुबधु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०) जैसे स्वतत्रचेता तार्किकोको पैदा किया, जिससे फिर ब्राह्मणोकी यज्ञ-जीविकापर एक भारी सकट आन उपस्थित हुआ, और तब कुमारिलने जैमिनिके पक्षमे तलवार उठाई।

कुमारिलने मीमासा दर्शनमे कोई खास-तत्त्व विकास नही किया, बल्कि जैमिनिके सिद्धान्तोको युक्ति और न्यायसे और पुष्ट करना चाहा। कुमारिलके तर्ककी बानगी हम उसके प्रतिद्वदी धर्मकीर्तिके प्रकरणमे देखेगे।

यद्यपि इस प्रकार मीमासकोने वैदिक कर्मकाडको जीवित रखनेका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसके ह्रासको नही रोका जा सका। उसमे एक कारण था—ब्राह्मणोके अनुयायियोमे भी मन्दिरो और मूर्त्तियोकी अधिक सर्वप्रियता। वैदिक पुरोहित देवल या पुजारी बनकर दक्षिणा कम करनेके लिए तैयार न था, दूसरी ओर यजमान भी चद दिनोमे खिला-पिला मामूली पत्थर या गूलरके यूपको खडाकर अपनी कीर्तिको उतना चिरस्थायिनी नही होते देखता था, जितना कि उतने खर्चसे खडा किया देवबनारिक या बैजनाथ (कागडा)का मदिर उसे कर सकता था।

———

सप्तदश अध्याय

ईश्वरवादी दर्शन

नये युगके अनीश्वरवादी दर्शनोके बारेमे हम बतला चुके, अब हम इस युगके ईश्वरवादी दर्शनोको लेते हैं। इन्हे हम बुद्धिवाद, रहस्य-वाद और शब्दवाद—तीन श्रेणियोमे बाँट सकते है। अक्षपाद गौतमका न्याय-शास्त्र बुद्धिवादी है, पतजलिका योग रहस्यवादी दर्शन है, बल्कि दर्शनकी अपेक्षा उसे योग-युक्तिकी गुटका समझना चाहिए। बादरायणका वेदान्त शब्दवादी है।

§१–बुद्धिवादी न्यायकार अक्षपाद (२५० ई०)

१–अक्षपादकी जीवनी

अक्षपादके जीवनके बारेमें भी हम अन्धेरेमे है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण[१]ने मेधातिथि गौतमको आन्वीक्षिकी (=न्याय)का आचार्य बतलाते हुए उनका काल ५५० ई० पू० साबित करना चाहा है, और दर्भगाके गौतम-स्थानको[२] उनका जन्मस्थान बतला, उन्होने वहाँकी तीर्थयात्रा भी कर डाली। ऐसा गौतमस्थान सारन (छपरा जिला)मे सरयूके दाहिने तटपर गोदना भी है, जहाँ कार्तिकके महीनेमे भारी मेला लगता है।[३]

---

[१] Indian Logic, p 17 [२] दर्भंगासे २८ मील पूर्वोत्तर।
[३] गौतम-स्थानमें चैत्रमें मेला लगता है।

ऋग्वेदके ऋषि मेधातिथि गौतम, और उपनिषद्के ऋषि नचिकेता गौतमको मिला-जुलाकर उन्होने आन्वीक्षकीके मूल आचार्य मेधातिथि गौतमको तैयार किया है। तर्कविद्याको आन्वीक्षकी अक्षपादसे पहिले, कौटिल्य (३२० ई० पू०)के समय भी मुमकिन है, कहा जाता हो। "तक्की वीमसी" (=तार्किक और मीमासक) शब्द पाली ब्रह्मजाल-सुत्तमे[1] भी आता है, किन्तु इससे हम जैमिनिके "मीमासा"का अस्तित्व उस समय स्वीकार नही कर सकते। जिस न्यायसूत्रको हम अक्षपादके न्यायसूत्रोके रूपमे पाते है, उससे पहिले भी ऐसा कोई व्यवस्थित शास्त्र था, इसका कोई पता नही।

न्यायसूत्रोके कर्त्ता अक्षपाद (आँखका काम देते है जिनके पैर) है। न्यायवार्त्तिक (उद्योतकर ५५० ई०) और न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन ३०० ई०)मे न्यायसूत्रकारको इसी नामसे पुकारा गया है।[2] किन्तु श्रीहर्ष (नैषधकार ११९० ई०)के समय न्याय-सूत्रकारका नाम गोतम (? गौतम) भी प्रसिद्ध थे।[3] दोनोकी सगति गौतम गोत्री अक्षपादसे हो जाती है।

अक्षपादके समयके बारेमे हम इतना ही कह सकते है, कि वह नागार्जुनसे पीछे हुए थे। सापेक्षतावादी नागार्जुनने अपनी "विग्रहव्या-

---

[1] सुत्तपिटक, दीघनिकाय १।१

[2] "यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।"

—न्यायवार्त्तिक (आरम्भ),

"योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इति भाष्यजातमवर्त्तयत्॥"

[3] "मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्येव यथा वित्थ तथैव सः॥"

—नैषध १७।७५

वर्त्तनी"[1]मे परमार्थ रूपमे प्रमाणकी सत्ता न माननेके लिए जो युक्तियाँ दी है, अक्षपादने न्यायसूत्रोमे उनका खडन कर परमार्थ प्रमाणके साबित करनेकी चेष्टा की है, जिसका अर्थ इसके सिवाय और कुछ नही हो सकता, कि न्यायसूत्र नागार्जुनके बाद बना।

२—न्यायसूत्रका विषय-संक्षेप

न्यायसूत्रोके वर्णनकी शैली ऐसी है, कि पहले ग्रथकार प्रतिपाद्य विषयोके नामोकी गिनती और लक्षण बतलाता है, फिर पीछे युक्ति (=न्याय)-से परीक्षा करके बतलाता है, कि उसका मत ठीक है, और विरोधीका मत गलत है। न्यायसूत्रमे पाँच अध्याय और प्रत्येक अध्यायमे दो-दो आह्निक है। इनमे सूत्रोकी सख्या निम्न प्रकार है—

अध्याय	आह्निक	सूत्र-सख्या	
१	१	४१	६१
	२	२०	
२	१	६६	१३६
	२	७०	
३	१	७२	१४५
	२	७३	
४	१	६६	१२०
	२	५१	
५	१	४३	६८
	२	२५	
			५३३

अध्यायोमे कही गई बाते निम्न प्रकार है—

१ प्रतिपाद्यका सामान्य कथन अध्याय १

[1] "विग्रहव्यावर्त्तनी" J B O.R S , Vol. XXIII, Preface, pp. iv, v

(१) प्रतिपाद्य विषयोका सामान्य तौरसे वर्णन		अध्याय १
(२) प्रतिपादनके लिए युक्त और अयुक्त शैली		"
२. परीक्षाए		२-५
(१) प्रमाणोकी परीक्षा		२
(२) प्रमेयो (=प्रमाणके विषयो)की परीक्षा		३-४
	(क) स्वसम्मत वस्तुओंकी परीक्षा	३
	(ख) धार्मिक धारणाओकी परीक्षा	४
(३) अयुक्त वाद-शैलियोकी परीक्षा		५[1]

---

[1] इस संक्षेपको और विस्तारसे जाननेके लिए निम्न पंक्तियोंको अवलोकन करें—

अध्याय	आह्निक		विषय	सूत्रांक
१			न्यायसूत्रके प्रतिपाद्योंकी नाम-गणना	१
१	१		अपवर्ग (=मुक्ति) प्राप्तिका क्रम	२
		(१)	(चारों) प्रमाणोंकी नाम-गणना	३
			प्रमाणोके लक्षण	४-८
		(२)	प्रमेयों (=प्रमाणके विषयो)की नाम-गणना	९
			प्रमेयोके लक्षण	१०-२२
		(३)	संशयका लक्षण	२३
		(४)	प्रयोजनका लक्षण	२४
		(५)	दृष्टान्तका लक्षण	२५
		(६)	सिद्धान्तका लक्षण	२६
			सिद्धान्तोके भेद और उनके लक्षण	२७-३१
१	२	(७)	साधक वाक्योके अवयवोंकी नाम-गणना	३२
			उनके लक्षण	३३-३९
		(८)	तर्कका लक्षण	४०
		(९)	निर्णयका लक्षण	४१

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषय या पदार्थ सोलह है, जो कि पहिले अध्याय-के दोनो आह्निकोमे दिये है। इनमे चार प्रमाणो और ग्यारह प्रमेयोपर

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्राक
१	२	(१०) वाद (=ठीक बहस)का लक्षण	१
		(११) जल्पका लक्षण	२
		(१२) वितंडाका लक्षण	३
		(१३) गलत हेतुओं (=हेत्वाभासो)की नाम-गणना	४
		हेत्वाभासोके लक्षण	५-६
		(१४) छलका लक्षण	१०
		छलके भेद	११
		उनके लक्षण	१२-१७
		(१५) जाति(=एक तरहका गलत हेतु)का लक्षण	१८
		(१६) निग्रह-स्थान(=पराजयके स्थान)का लक्षण	१६
		जाति-निग्रहस्थानकी बहुता	२०
२	१	संशयकी परीक्षा	१-७
		(१) प्रमाण-परीक्षा (सामान्यतः)	८-१६
		(क) प्रत्यक्ष-प्रमाणके लक्षणकी परीक्षा	२०-२६
		प्रत्यक्ष अनुमान नही है	३०-३२
		[पूर्ण (=अवयवी) अपने अंशोसे अलग है]	३३-३६
		(ख) अनुमानप्रमाण-परीक्षा	३७-३८
		(काल पदार्थ है)	३६-४३
		(ग) उपमान-प्रमाणकी परीक्षा	४४-४८
		(घ) शब्द-प्रमाणकी परीक्षा	४६-६६
२	२	प्रमाण चार ही है	१-१२
		(बोले जानेवाले वर्ण नित्य नही है)	१३-५६
		पद क्या है	६०

ही बहुत जोर दिया गया है, यह इसीसे मालूम होता है, कि पाँच अध्यायोमे तीन अध्याय (२-४) तथा ५३३ सूत्रोमे ४०४ सूत्र इन्हीके बारेमे लिखे गये है।

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
		पदार्थ (=गाय आदि पदोंके विषय) क्या है ?	६१-७०
३	१	(१) आत्मा है	१-२७
		(आँखोंके दो होनेपर भी चक्षु-इन्द्रिय एक है)	(८-१५)
		(२) शरीर क्या है ?	२८-२९
		(३) इन्द्रियाँ भौतिक है	३०-५०
		(आँख आगसे बनी है)	(३०-३६)
		इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न है	५१-६०
		(४) अर्थो (=इन्द्रियोंके विषयो) की परीक्षा	६१-७१
३	२	(५) बुद्धि (=ज्ञान) अनित्य है	१-५६
		(बौद्धोंके क्षणिकवादकी परीक्षा)	(१०-१७
		(६) मनहै	५७-६०
		[=अदृष्ट (देहान्तर और कालान्तरमें भोग पानेका कारण) है]	६१-७३
		(७) प्रवृत्ति (=कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्म, या धर्म-अधर्म) की परीक्षा	१
		(८) दोष क्या है ?	२-९
		(दोषके तीन भेद—राग, द्वेष, मोह)	(३)
		(९) प्रेत्यभाव (=पुनर्जन्म) है	१०-१३
		(बिना हेतु कुछ नही उत्पन्न होता)	१४-१८
		(ईश्वर है)	१९-२१
		अ-हेतुवादका खंडन	२२-२४

३—अक्षपादके दार्शनिक विचार

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषयोपर सक्षेपसे भी लिखना यहाँ सभव नही है तो भी दार्शनिक विचारोको बतलानेके लिए हम यहाँ उसकी कुछ बातोंपर प्रकाश डालना चाहते हैं।

अध्याय	आह्निक		विषय	सूत्रांक
			(सभी अनित्य है ?)	२५-२८
			(सभी वस्तुएं नित्य है ?)	२९-३३
			(सभी वस्तुएं अपने भीतर भी अलग-अलग है ?)	३४-३६
			(सभी शून्य है ?)	३७-४०
			(प्रतिज्ञा, हेतु आदि एक नही है)	४१-४३
		(१०)	(कर्म-)फल होता है	४४-५४
		(११)	दुःख-परीक्षा	५५-५८
		(१२)	अपवर्ग (=मुक्ति) है	५९-६९
४	२		पूर्ण [=अवयवी] अंशोसे अलग है	१-१५
			परमाणु	१६-२५
			विज्ञानवादियोका बाहरी जगत्से इन्कार गलत है	२६-३७
			तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका उपाय	३८-५१
			जल्प, वितंडा जैसी गलत बहसोकी भी जरूरत है	५०-५१
५	१		जातिके भेद	१
			उनके लक्षण आदि	२-४३
	२		निग्रह-स्थानके भेद	१
			उनके लक्षण आदि	२-२५

क. प्रमाण

(१) **प्रमाण**—सच्चे ज्ञान तक पहुँचनेके तरीकेको प्रमाण कहा जाता है। अक्षपाद **प्रमाण**को सापेक्ष नही परमार्थ अर्थमे लेते है, जिस-पर (नागार्जुन जैसे) विरोधियोका पहिले हीसे आक्षेप था—[1]

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि (परमार्थ रूपेण) प्रमाण नही हो सकते, क्योकि तीनो कालो (=भूत, भविष्यत्, वर्तमान)मे वह (किसी) बात (=प्रमेय—ज्ञेय बात)को नही सिद्ध कर सकते।—(क) यदि प्रमाण (प्रमेयसे) पहिलेहीसे सिद्ध है, (तो ज्ञान-रूप प्रमाणके पहिले ही सिद्ध होनेसे) इन्द्रिय और विषय(=अर्थ)के सयोगसे प्रत्यक्ष (ज्ञान)उत्पन्न होता है, यह बात गलत हो जाती है। (ख) यदि प्रमाण (प्रमेयके सिद्ध हो जानेके) बाद सिद्ध होता है, तो प्रमाणसे प्रमेय (ज्ञातव्य सच्चा ज्ञान) सिद्ध होता है यह बात गलत है। (ग) एक ही साथ (प्रमाण और प्रमेय दोनो)की सिद्धि माननेपर (एक ही साथ दो ज्ञान(=बुद्धि) होता है यह मानना पडेगा, फिर) ज्ञान (=बुद्धि) क्रमश उत्पन्न होती है (अर्थात् एक समय मनमे सिर्फ एक ज्ञान पैदा होता है) यह (तुम्हारा सिद्धान्त) नही रहेगा।

इन चार सूत्रोमे किये गए आक्षेपोका उत्तर पाँच सूत्रोमे[2] देते हुए कहते है—

उत्तरपक्ष—(क) तीनो कालोमे (=प्रमाण) सिद्ध नही है, ऐसा माननेपर (तुम्हारा) निषेध भी ठीक नही होगा। (ख) सारे प्रमाणोका निषेध करनेपर निषेध नही किया जा सकता, (क्योकि आखिर निषेध भी प्रमाणकी सहायतासे ही किया जाता है)। (ग) उस (=अपने मतलब वाले प्रमाण)को प्रमाण माननेपर सारे प्रमाणोका निषेध नही हुआ। (घ) तीनो कालो (=पहिले, पीछे और एक कालमें जो) निषेध (आपने

---

[1] न्यायसूत्र १।१।८-१२   [2] वही १।१।१२-१६

किया है, वह) नही किया जा सकता, आखिर पीछे जिस शब्द (की सिद्धि सुनकर हमे होती है उस)से (पहिलेसे स्थित) बाजा सिद्ध होता है। (इसी तरह एक साथ होनेवाले धुए और आगमे धुएके देखनेसे आगकी सिद्धि होती है)। (ङ) प्रमेय (=ज्ञेय) होनेसे कोई किसी वस्तुके प्रमाण होनेमे बाधक नही होती, जैसे **तोला** (का बटखरा माशा या रत्तीसे तोलते वक्त प्रमेय हो सकता है, किन्तु साथही वह स्वय मान=प्रमाण है, इसमे सन्देह नही)।

इसपर फिर आक्षेप होता है—

पूर्वपक्ष[1]—(क) प्रमाणसे (दूसरे) प्रमाणोकी सिद्धि माननेपर (फिर उस पहिले प्रमाणकी सिद्धिके लिए) किसी और प्रमाणकी सिद्धि करनी पडेगी। (ख) इस (बात)से इन्कार करनेपर जैसे (बिना प्रमाणके किसी बातको) प्रमाण मान लिया उसी तरह प्रमेयको भी (स्वत) सिद्ध मान लेना चाहिए।

उत्तर-पक्ष[2]—(आपका आक्षेप ठीक) नही है, दीपकके प्रकाशकी भाँति (प्रमाण) स्वत अपनी सत्ताको सिद्ध करते हुए दूसरी वस्तुओकी सत्ताको भी सिद्ध करता है।

इस तरह अक्षपादने प्रमाणको परमार्थरूपेण प्रमाण सिद्ध करना चाहा है, यद्यपि आजके **सापेक्षतावादी** युगमे परमार्थ नामधारी किसी सत्ताको साबित करना टेढी खीर है, साथही सापेक्ष प्रमाण ऐसा सिक्का है, जिसे प्रकृति स्वीकार करती है, इसलिए व्यवहार(=अर्थक्रिया)मे बाधा नही होती।

(२) प्रमाणकी संख्या—अक्षपादने प्रमाण चार माने हैं[3]—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द। दूसरे प्रमाणशास्त्री चारसे अधिक प्रमाणोको भी मानते है—जैसे इतिहास, अर्थापत्ति (=अर्थमे ही जिसको सिद्ध समझा जाये, जैसे मोटा देवदत्त दिनको बिलकुल नही खाता,

---

[1] वही १।१।१७-१८ [2] वही १।१।१९ [3] वही १।१।३

जिसका अर्थ होता है, वह रातको खाता है), सम्भव, अभाव (घडेका किसी जगह न होना वहाँ उसके अभावसे ही सिद्ध है)। अक्षपाद इन्हे अपने चारो प्रमाणोके अन्तर्गत मानते है, और प्रमाणोकी सख्या चारसे अधिक करनेकी जरूरत नही समझते। जैसे—[1]

इतिहास	शब्द प्रमाणमे
अर्थापत्ति	
सभव	अनुमानमे
अभाव	

किन्तु साथ ही इतिहास आदिकी प्रामाणिकतामे सन्देह करनेकी वह आज्ञा नही देते।[2]

(क) **प्रत्यक्ष-प्रमाण**—"इन्द्रिय और अर्थ(=विषय)के सयोगसे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, (किन्तु इन शर्तोके साथ, यदि वह ज्ञान) कथनका विषय न हुआ हो, गलत (=व्यभिचारी) न हो और निश्चयात्मक हो (=दूर आदिसे देखी जानेवाली अनिश्चित चीज जैसी न हो)।"[3]

अक्षपाद इन्द्रियोसे परे मन और उससे परे आत्माको भी मानते है, प्रत्यक्षका लक्षण करते हुए उन्होने "आत्मासे युक्त मन, मनसे युक्त इन्द्रिय" नही जोडा इसलिए उनका लक्षण अपूर्ण(=असमग्र) है।[4] इसका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है कि (अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोसे) खास बात जो ज्यादा[5] (प्रत्यक्षमे) है, उसको यहाँ लक्षणमे दिया गया है। (ऐसा न करनेपर) दिशा, देश, काल, आकाश आदिको भी (प्रत्यक्षके लक्षणमे) देना होगा।[6]

गायका हम जब प्रत्यक्ष करते है, तो "उसके (सिर्फ) एक अगको ग्रहण करते है", एक अगके ग्रहणसे सारे गौ-शरीरका प्रत्यक्ष (ज्ञान) अनुमान होता है, इस प्रकार "प्रत्यक्ष अनुमान"[7]के अन्तर्गत है। अक्षपादका

---

[1] वही २।२।२ [2] वही २।२।३-१२ [3] वही १।१।४
[4] वही २।१।२० [5] वही २।१।२६ [6] वही २।१।२२ [7] वही २।१।३०

उत्तर है[1]।—(क) एक अशका भी प्रत्यक्ष मान लेनेपर प्रत्यक्षसे इन्कार नही किया जा सकता, (ख) और एक अशका प्रत्यक्ष ग्रहण-करना भी ठीक नही है, क्योकि आदमी गायके सिर्फ एक अश (=अवयव)का ही प्रत्यक्ष नही करता, बल्कि अवयवोके भीतर किन्तु उनसे भिन्न एक अखड अवयवी भी है, जिसका कि वह अपनी आँखसे सीधा प्रत्यक्ष करता है।

यहाँ दूसरा उत्तर एक विवादास्पद वस्तु "अवयवी"—जिसे भारतीय दार्शनिकने यवन दार्शनिकोसे लिया है,—को मानकर दिया गया, और सापेक्षको छोडकर परमार्थरूपेण ज्ञान, सत्य आदिकी सिद्धिके लिए पुराने दार्शनिक—चाहे पूर्वी हो या पश्चिमी—इस तरहकी सदिग्ध दलीलोपर बहुत भरोसा किया करते थे। अवयवीके बारेमे अक्षपादका मत क्या है इसे हम आगे बतलायेगे।

(ख) **अनुमान-प्रमाण**—अनुमान वह है, जो कि प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है—अर्थात् जहाँ कुछका प्रयत्क्ष होनेपर बाकीके होनेका ज्ञान होता है, जैसे धूएको हम प्रत्यक्ष देखते है, फिर उसके कारण आग—जो कि प्रत्यक्ष नही है—का अनुमान-ज्ञान होता है। अनुमान तीन प्रकारका है।—(a)—**पूर्ववत्** (पूर्ववाली वस्तुके प्रत्यक्षसे पीछे होनेवाली सवद्ध वस्तुका ज्ञान—कारण से कार्यका अनुमान, चीटियोके उठनेसे वर्षा आनेका अनुमान); (b) **शेषवत्** (पीछेवाली वस्तुके प्रत्यक्षसे पूर्व वीती वातका अनुमान—कार्यसे कारणका अनुमान, बिना वर्षाही हमारे यहाँकी वढी गगासे ऊपरकी ओर वृष्टिके होनेका अनुमान), और (c) **सामान्यतो-दृष्ट** (जो दो वस्तुए सामान्यत. एक साथ देखी जाती है, उनमेंसे एकके देखनेसे दूसरेका अनुमान, जैसे आगको देख आँच या आँचको देख आगका अनुमान, अथवा मोर और वादलमेंसे एकसे दूसरेका अनुमान)।[2]

अनुमानके उक्त लक्षण और भेदके सबधमे आक्षेप हो सकता है[3]— पूर्ववत् अनुमान कोई प्रमाण नही क्योकि चीटियाँ कितनी ही बार वर्षा छोड

---

[1] वही २।१।३१-३२ [2] वही १।१।५ [3] वहीं २।१।३७

किसी दूसरे त्रासके कारण भी अडा मुँहमे दाबे हजारोके झुडमे घर छोड बैठती है। **शेषवत्**[1] भी गलत है, क्योकि ऊपरकी ओर वर्षा हुए बिना आगे प्रवाह रुक जानेपर—किसी पहाडके गिरने या दूसरे कारणसे—भी नदीमे बाढ आई सी मालूम हो सकती है। **सामान्यतोदृष्ट** भी गलत है क्योकि मोरका शब्द बाज वक्त मनुष्यके स्वरसे मिल (समान हो) जाता है, फिर ऐसा सादृश्य वास्तविक नही भ्रमात्मक अनुमान पैदा कर सकता है। इसके उत्तरमे कहा है—जब हम पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट कहते है, तो सारी विशेषताओके साथ वैसा मानते है। सिर्फ नदीकी भरी धार ऊपर हुई वृष्टिका अनुमान नही करा सकती, किंतु यदि उसमे मिट्टी मिली हो, काठ और तिनके बहकर चले आ रहे हो, तो वृष्टिका अनुमान सच्चा होता है।

(ग) **उपमान-प्रमाण**—प्रसिद्ध वस्तुकी समानता (=सधर्मता)से किसी साध्य पदार्थके सिद्ध करनेको उपमान-प्रमाण कहते है।[2] जैसे गाय एक लोक-प्रसिद्ध वस्तु है। किसी शहरी आदमीको कहा गया कि जैसी गाय होती है, उसीके समान जगलमे एक जानवर होता है, जिसे नीलगाय (=घोडरोज) कहते है। शहरी आदमी इस ज्ञानके साथ जगलमें जा नीलगायको ठीकसे पहचाननेमे समर्थ होता है—यह ज्ञान उसे उपमान-प्रमाणसे हुआ।

पूर्वपक्ष[3]—किन्तु समानता एक सापेक्ष बात है, उससे अत्यन्त समानता अभिप्रेत है, या प्रायिक समानता? अत्यन्त समानता लेनेपर "जैसी गाय तैसी" गाय ही हो सकती है, फिर नया ज्ञान क्या हुआ। प्रायिक समानता लेनेपर जैसी सरसो गोल तैसी नारगी गोल, इस तरह सरसो देखे हुएको नारगी देखनेपर उसका ज्ञान नही हो सकता।

उत्तर[4]—हम न अत्यन्त समानताकी बात कहते है और न प्रायिक समानताकी, बल्कि हमारा मतलब प्रसिद्ध समानतासे—"जैसी गाय तैसी नील गाय।"

---

[1] वहीं २।१।३८ [2] वहीं १।१।६ [3] वहीं २।१।४४ [4] वहीं २।१।४५

पूर्वपक्ष[1]—फिर प्रत्यक्ष देखी गई गायसे अप्रत्यक्ष नीलगायकी सिद्धि जिस उपमानसे होती है, उसे अनुमान ही क्यो न कहा जाये ?

उत्तर[2]—यदि नीलगाय अप्रत्यक्ष हो, तो वहाँ उपमान प्रयोग करनेको कौन कहता है ?—अनुमानमे प्रत्यक्ष धूयेसे अप्रत्यक्ष आगका अनुमान होता है, उपमानमे अप्रत्यक्ष गायकी समानतासे प्रत्यक्ष नीलगायका ज्ञान होता है, यह दोनोमे भेद है।

पूर्वपक्ष—किसी यथार्थवक्ताकी बात पर विश्वास करके जो नीलगाय-का ज्ञान हुआ, उसे शब्द-प्रमाण-मूलक क्यो न मान लिया जाये ?

उत्तर[3]—"जैसी गाय तैसी नीलगाय" यहाँ "तैसी" यह खास वात है जो उपमानमे ही मिलती है, जिसे कि शब्द-प्रमाणमे हम नही पाते।

(घ) शब्द-प्रमाण—आप्त—यथार्थवक्ता (=सत्यवादी)के—उपदेशको शब्दप्रमाण[4] कहते है। शब्द प्रमाण दो[5] प्रकारका होता है, एक वह जिसका विषय दृष्ट—प्रत्यक्षसे सिद्ध—पदार्थ है, दूसरा वह जिसका विषय अ-दृष्ट—प्रत्यक्षसे अ-सिद्ध अथवा प्रत्यक्ष-भिन्न (=अप्रत्यक्ष)से सिद्ध—पदार्थ है।

पूर्वपक्ष[6]—(क) शब्द (प्रमाण) भी अनुमान है, क्योकि गाय-शब्दका वाच्य जो साकार गाय-पदार्थ है, वह नही प्राप्त होता, उसका अनुमान ही किया जाता है। (ख) किसी दूसरे प्रमाणसे भी गाय पदार्थको उपलब्ध मानने पर दो दो प्रमाणोकी एक ही बातके लिए क्या जरूरत ? (ग) शब्द और अर्थके सबधके ज्ञात होनेसे उसी सवध द्वारा गाय-पदार्थका ज्ञान होना एक प्रकारका अनुमान है, इस तरह भी शब्दको अलग प्रमाण नही मानना चाहिए।

उत्तर[7]—सिर्फ शब्दमात्रसे स्वर्ग आदिका ज्ञान नही होता, वल्कि आप्त (=सत्यवादी) पुरुषके उपदेशकी सामर्थ्यसे (इस) वाच्य—अर्थ—

---

[1] न्याय० २।१।४६ [2] वही २।१।४७ [3] वहीं २।१।४८ [4] वही १।१।७ [5] वही १।१।८ [6] वही २।१।४९-५१ [7] वहीं २।१।५२-५४

मे विश्वास होता है। शब्द और अर्थके बीचका सबध किसी दूसरे प्रमाणसे नही ज्ञात होता, अत शब्द और उसके वाच्य अर्थका कोई स्वाभाविक सबध नही है, यदि सबध होता तो लड्डू कहनेसे मुँहका लड्डूसे भर जाना, आग कहनेसे मुँहका जलना, बसूला कहनेसे मुँहका चीरा जाना देखा जाता।

पूर्वपक्ष[1]—शब्द और अर्थके बीच सबधकी व्यवस्था है, तभी तो गाय शब्द कहनेसे एक खास साकार गाय-अर्थका ज्ञान होता है, इसलिए शब्द और अर्थके स्वाभाविक सबधसे इन्कार नही किया जा सकता।

उत्तर[1]—स्वाभाविक सबध नही है, किन्तु सामयिक (=मान लिया गया) सबध जरूर है, जिसके कारण वाच्य-अर्थका ज्ञान होता है। यदि शब्द-अर्थका सबध स्वाभाविक होता, तो दुनियाकी सभी जातियो और देशोमे उस शब्दका वही अर्थ पाया जाता, जैसे आग पदार्थ और गर्मीके स्वाभाविक सबध होनेसे वे सर्वत्र एकसे पाये जाते है।

शब्द-प्रमाणको सिद्ध करनेसे अक्षपादका मुख्य मतलब है, वेद—ऋषि-वाक्यो—को प्रत्यक्ष अनुमानके दर्जेका एक स्वतत्र प्रमाण मनवाना। इसीलिए उन्होने जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानकी परीक्षाओमे क्रमश १३, २ और ४ सूत्र लिखे है, वहाँ शब्द-प्रमाणकी परीक्षामे सबसे अधिक यानी २१ सूत्र[2] लिखे है, जिनमे अन्तिम १२ सूत्रोका ढग तो करीब करीब वही है, जिसका अनुकरण पीछे जैमिनिने अपने मीमासा-सूत्रोमे बडे पैमानेपर किया है।

वेदकी कितनी ही बाते (यज्ञ-कर्म) झूठ निकलती है, कितनी ही परस्परविरोधी है, वहाँ कितनी ही पुनरुक्तियाँ भरी पडी है। अक्षपादने इसका समाधान करना चाहा है।—झूठ नही निकलती, ठीक फल न मिलना कर्म, कर्त्ता और सामग्रीके दोषके कारण होता है। परस्परविरोधी बात नही है, दो तरहकी बात दो तरहके आदमियोके लिए हो सकती है। पुनरुक्ति अनुवादके लिए भी हो सकती है।[3]

---

[1] न्याय० २।१।५५ [2] वही २।१।४९-६९ [3] वही २।१।५८-६१

फिर अक्षपादने वेदके वाक्योको विधि, अर्थवाद और अनुवाद तीन भागोमे विभक्त किया है। विधिका काम है कर्त्तव्यका विधान करना। विधिमे श्रद्धा जमानेके लिए अच्छेकी प्रशसा (=स्तुति) बुरेकी निन्दा, और दूसरे व्यक्तियोकी कृतियो तथा पुरानी बातोका उदाहरण वेदमे बहुत मिलता है, इसको **अर्थवाद** कहते है। **अनुवाद** विधिवाक्यमे बतलाये शब्द या अर्थका फिरसे दुहराना है, जो कि "जल्दी जल्दी जाओ"की भाँति विधि (=आज्ञा)को और जोरदार बनाता है, इसलिए वह व्यर्थकी चीज नही है। अन्तमे वेदके प्रमाणमे सबसे जबर्दस्त युक्ति है—वेद प्रमाण है, क्योकि उसके वक्ता ऋषि आप्त (=सत्यवादी) होनेसे प्रामाणिक है, उसी तरह जैसे कि साँप-बिच्छूके मत्रो और आयुर्वेदकी प्रामाणिकता हमे माननी पडती है।—आखिर मत्रो और आयुर्वेदके कर्त्ता जो ऋषि है, वही तो वेदके भी है।[1]

यहाँ मैने अक्षपादकी वर्णनशैलीको दिखलानेके लिए उसका अनुकरण किया है, किन्तु साथ ही समझनेकी आसानीके लिए सूत्रोको लेते हुए भी उनके अर्थको विशद करनेकी कोशिश की है।

ख. कुछ प्रमेय

आत्मा आदि ग्यारह प्रमेय न्यायने माने है, इनमे मन, आत्मा और ईश्वरके बारेमे हम यहाँ न्यायके मतको देगे, और कुछका जिक्र न्यायके धार्मिक विचारोको बतलाते समय करेगे।

(१) **मन**—यद्यपि न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन स्मृति, अनुमान, आगम, सशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊह (=तर्क-वितर्क)की शक्ति जिसमे है उसे मन बतलाया है, किन्तु अक्षपाद स्वय इस विवरणमे न जा "एक समय (अनेक) ज्ञानोका उत्पन्न न होना मन (के अनुमान)का लिग"[2] बतलाते है।—अर्थात् एक ही समय हमारी आँखका किसी रूपमे सबध है, तथा

---

[1] न्याय० २।१।६२-६९ [2] वहीं १।१।१६

उसी समय कानका शब्दसे भी, किन्तु हम एक समयमे एकका ही ज्ञान प्राप्त कर सकते है, जिससे जान पडता है, पाँच इन्द्रियोके अतिरिक्त एक और भीतरी इन्द्रिय है, जिसका ज्ञानके प्राप्त करनेमें हाथ है और वही मन है। एक बार अनेक ज्ञान न होनेसे यह भी पता लगता है, कि मन एक और अणु है।[1] जहाँ एक समय अनेक क्रिया देखी जाती है, वह तीव्र गतिके कारण है, जैसे कि घूमती बनेठीके दोनो छोर आगका वृत्ति बनाते दीख पडते है।

(२) **आत्मा**—बौद्ध-दर्शनके बढते प्रभावको कम करना न्यायसूत्रोके निर्माणमे खास तौरसे अभिप्रेत था। शब्द-प्रमाणकी सिद्धिमे इतना प्रयत्न इसीलिए है, नित्य आत्मा और ईश्वरको सिद्ध करनेपर जोर भी इसीलिए है। बौद्धोके कितने ही सिद्धान्तोका न्यायमे खडन हम आगे देखेगे। मनकी तरह आत्माको भी प्रत्यक्षसे नही सिद्ध किया जा सकता। अनुमानसे उसे सिद्ध करनेके लिए कोई लिग (=चिह्न) चाहिए, जो कि खुद प्रत्यक्ष-सिद्ध हो, साथ ही आत्मासे सबध रखता हो। अक्षपादके अनुसार[2] (१) आत्माके लिग है—"इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान।" शरीर, इन्द्रिय और मनसे भी अलग आत्माकी सत्ताको सिद्ध[3] करते हुए अक्षपाद कहते है—(२) आँखसे देखी वस्तुको स्पर्श-इन्द्रियसे छूकर जो हम एकताका ज्ञान—जिसे मैने देखा, उसीको छू रहा हूँ—प्राप्त करते है, यह भी आत्माकी सत्ताको साबित करता है। (३) एक एक इन्द्रियको एक एक विषय जो बाँटा गया है, उससे भी अनेक इन्द्रियोके ज्ञानोके एकत्रीकरणके लिए आत्माकी जरूरत है। (४) आत्माके निकल जानेपर मृत शरीरके जलानेमे अपराध नही लगता। आत्माके नित्य होनेसे उसके साथ भी शरीरके जलानेपर आत्माका कुछ नही होगा यह ठीक है; किन्तु, शरीरको हानि पहुँचा कर हम उसके स्वामीको हानि पहुँचाते है, जिससे अपराध लगना जरूरी है। (५) बाई आँखसे देखी चीजको दूसरी बार

---

[1] न्याय ३।२।५७-६० [2] वहीं १।१।१० [3] वहीं ३।१।१-१४

सिर्फ दाहिनीसे देखकर स्मरण करते है, यह आत्माके ही कारण। (६) स्वादु भोजनको आँखसे देखते ही हमारे जीभमे पानी आने लगता है, यह बात स्वादकी जिस स्मृतिके कारण होती है, वह आत्माका गुण है।

यहाँ जिन बातोसे आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन किया गया है, वह मन-पर घटित होती है।[1] इस आक्षेपका उत्तर अक्षपादने ज्ञाता (आत्मा)को ज्ञानका एक साधन (मन) भी चाहिए कहकर देना चाहा है, किन्तु, यह कोई उत्तर नही है। चूँकि आत्मा सर्वव्यापी (=विभु) है, जिससे पाँचो इन्द्रियो और उनके विषयोका जिस समय सयोग हो रहा है, उस वक्त आत्मा भी वहाँ मौजूद है, तब भी चूँकि विषय ज्ञान नही होता, इससे साबित होता है कि आत्मा और इन्द्रियोके बीच एक और अणु (=अ-सर्वव्यापी) चीज है जो कि मन है—अक्षपादकी इन्द्रिय, मन और आत्माके विषयकी यह कल्पना बहुत उलझी हुई है। अनुमानसे वह मनको सिद्ध कर सकते है, जिसकी सिद्धिमे ही सारे **लिंग** समाप्त हो जाते है, फिर उनमेसे ही कुछको लेकर वह आत्माको सिद्ध करना चाहते है, जिससे आत्मा और मन एक ही वस्तुके दो नाम भले ही हो सकते है, किन्तु उन्हे दो भिन्न वस्तु नही साबित किया जा सकता।

(३) **ईश्वर**—अक्षपादने ईश्वरको अपने ११ प्रमेयोमे नही गिना है, और न उन्होने कही साफ कहा है कि ईश्वरको भी वह आत्माके अन्तर्गत मानते है। ऊपर जो मनको आत्माका साधन कहा है, उससे भी यही साबित होता है, कि आत्मासे उनका मतलब जीवसे है। अपने सारे दर्शनमे अक्षपादका ईश्वरपर कोई जोर नही है, और न ईश्वर वाले प्रकरणको हटा देनेसे उनके दर्शनमे कोई कमी रह जाती है, ऐसी अवस्थामे न्याय-सूत्रोमे यदि क्षेपक हुए है, तो हम इन तीन सूत्रो[2]को ले सकते है, जिनमे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गई है।—डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूपणने जहाँ न्यायसूत्रके बहुतसे भागको पीछेका क्षेपक मान लिया है, फिर इन तीन सूत्रोका क्षेपक होना

---

[1] न्याय० ३।१।१६-१७ [2] वही ४।१।१९-२१

बहुत ज्यादा नही है। इन सूत्रोमे भी, हम देखते है, अक्षपाद ईश्वरको दुनियाका कर्त्ता-हर्ता नही बना सकते है। कर्म-फलके भोगमे ईश्वर कारण है, उसके न होनेपर पुरुषके शुभ-अशुभ कर्मोका फल न होता। यह सही है कि पुरुषका कर्म न होनेपर भी फल नही होता, किन्तु कर्म यदि फलका कर्त्ता है, तो ईश्वर उस फलका कारयिता (=करानेवाला) है।

४—अक्षपादके धार्मिक विचार

आत्मा और ईश्वरके बारेमे न्यायसूत्रके विचारको हम कह आये है। शब्द-प्रमाणके प्रकरणमे यह भी बतला चुके है, कि अक्षपादका वेदकी प्रामाणिकता ही नही उसके विधि-विधान—कर्मकाड—पर बहुत जोर था, यद्यपि कणादकी भाँति इन्होने धर्म-जिज्ञासापर ज्यादा जोर न दे तत्त्व-जिज्ञासाको अपना लक्ष्य बनाया।

(१) परलोक और पुनर्जन्म

एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरमे आत्मा जाता है, इसका अक्षपादने समर्थन किया है।[1] मरनेके बाद आत्मा लोकान्तरमे जाता है, इसके लिए आत्माका नित्य होना ही काफी हेतु है। परलोकमे ही नही इस लोकमे भी पुनर्जन्म होता है, इसे सिद्ध करनेके लिए अक्षपादने निम्न युक्तियाँ दी है[2]—(१) पैदा होते ही बच्चेको हर्ष, भय, शोक होते देखा जाता है, यह पहिले (जन्म)के अभ्यासके कारण ही होता है। यह बात पद्मके खिलने और संकुचित होनेकी तरह स्वभाविक नही है, क्योंकि पाँचो महाभूतोके बने पद्म आदिकी वैसी अवस्था सर्दी, गर्मी, वर्षा आदिके कारण होती है। (२) पैदा होते ही बच्चेको स्तन-पानकी अभिलाषा होती है, यह भी पूर्वजन्मके आहारके अभ्याससे ही होती है।

---

[1] न्याय० १।१।१६; ३।१।१६-२७, ४।१।१० [2] वही ३।१।१६-२७

(२) कर्म-फल

कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोसे उनका फल उत्पन्न होता है।[1] अच्छे बुरे कर्मोका फल तुरन्त नही कालान्तरमे होता है। चूँकि कर्म तब तक नष्ट हो गया रहता है, इसलिए उससे फल कैसे मिलेगा ?— ऐसी शकाकी गुजाइश नही, जब कि हम गेहूके पौधेके नष्ट हो जानेपर भी उसके बीजसे अगले साल नये वृक्षको उगते देखते है, उसी तरह किये कर्मोसे धर्म-अधर्म उत्पन्न होते है, जिनसे आगे फल मिलता है। यह धर्म-अधर्म उसी आत्मामे रहते है, जिसने किसी शरीरमे उस कामको किया है।[2]

पहिलेके कर्मसे पैदा हुआ फल शरीरकी उत्पत्तिका हेतु है।[3] महाभूतोसे जैसे ककड-पत्थर आदि पैदा होते है, वैसे ही शरीर भी, यह कहना मान्य नही है, क्योकि इसके बारेमे कुछ विचारकोका मत है, कि सारी दुनिया भले-बुरे कर्मोके कारण बनी है। माता-पिताका रज-वीर्य तथा आहार भी शरीर-उत्पत्तिका कारण नही है, क्योकि इनके होनेपर भी नियमसे शरीर (=बच्चे)को उत्पन्न होते नही देखा जाता। भला-बुरा कर्म शरीरकी उत्पत्तिका निमित्त (=कारण) है, उसी तरह वह किसी शरीरके साथ किसी खास आत्माके सयोगका भी निमित्त है।[4]

(३) मुक्ति या अपवर्ग

यज्ञ आदि कर्मकाडका फल स्वर्ग होता है, यह वेद, ब्राह्मण तथा श्रौत-सूत्र आदिका मन्तव्य था। उपनिषद्ने स्वर्गके भी ऊपर मुक्ति या अपवर्गको माना। जैमिनिने अपने मीमासा-दर्शनमे उपनिषद्की इस नई विचारधाराको छोड, फिर पुराने वेद-ब्राह्मणकी ओर लौटनेका नारा बुलन्द किया, किन्तु अक्षपाद उपनिषद्से पीछे लौटनेकी सम्मति नही देते,

---

[1] न्याय० १।१।२० [2] वही ४।१।४४-४७, ५२
[3] वहीं ३।२।६१-६६ [4] वही ३।२।६७

भारत और यूनानी राजाओके शासित प्रदेशोसे घनिष्ट सबध स्थापित करनेकी बात आती है। और मौर्य साम्राज्यकी समाप्तिके वाद उसके पश्चिमी भागका तो शासन ही हिन्दूकुशपारवाले यूनानियो (मीनान्दर)के हाथमे चला गया। ईसापूर्व दूसरी शताब्दीसे यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाके मिश्रणसे गधारकला उत्पन्न होती है, और ईसाकी तीसरी सदी तक अटूट चली आती है। कलाके क्षेत्रमे दोनो जातियोके दानादानका यह एक अच्छा नमूना है, और साथ ही यह यह भी बतलाता है कि भारतीय दूसरे देशोसे किसी बातको सीखनेमे पिछडे नही थे। पिछली सदियोमे कुछ उलटी मनोवृत्ति ज्यादा बढने लगी थी जरूर, और इसीलिए वराह-मिहिरको[1] इस मनोवृत्तिके विरुद्ध कलम उठानेकी जरूरत पडी। कला ही नही, आजका हिन्दू ज्योतिष भी यूनानियोका वहुत ऋणी है। यह हो नही सकता था, कि भारतीय दार्शनिक यूनानके उन्नत दर्शनमे प्रभावित न होते। यूनानी प्रभावके कुछ उदाहरण हम वैशेषिकके प्रकरणमे दे आए है। अक्षपादने स्तोइकोकी तर्कके वारेमे "अकुरकी रक्षाके लिए (कॉटोकी) वाड"की उपमाको एक तरह शब्दश ले लिया, इसे हमने अभी देखा। महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषणने अपने लेख[2] "अरस्तूके तर्क-सबधी सिद्धान्तोका सिकन्दरिया (मिश्र)से भारतमे आना"मे दिखलाया है, कि १७५ ई० पू०से ६०० ई० तक किस तरह अरस्तूके तर्कने भारतीय न्यायको प्रभावित किया। सिकन्दरियाके प्रसिद्ध पुस्तकालयके पुस्तकाध्यक्ष कलिमक्सुने २८५-२४७ ई० पू०मे अरस्तूके ग्रथोकी प्रतिया पुस्तकालयमे जमा की। दूसरी सदीमे स्यालकोट (=सागल) यूनानी राजा मिनान्दरकी राजधानी थी, और मिनान्दर स्वय तर्क और वादका पडित था यह हम वतला आए है। उस समय भारतके यूनानियोमे अरस्तूके तर्का

---

[1] वृहत्सहिता २।१४ "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्। ऋषिवत तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विज ॥"

[2] Indian Logic, Appendix B, p 511-13

प्रचार होना बिलकुल स्वाभाविक बात है। यूनानी स्वय बौद्ध-धर्मसे प्रभावित हुएं थे, इसलिए उनके तर्कसे यदि नागसेन, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबधु, दिड्नाग, प्रभावित हुए हो तो कोई आश्चर्य नही। अक्षपादने भी उससे बहुत कुछ लिया है, यहाँ इसके चद उदाहरण हम देने जा रहे है।—

(१) अवयवी

अवयव (=अग) मिलकर अवयवी (=पूर्ण)को बनाते है, अर्थात् अवयवी अवयवोका योग है। यूनानी दार्शनिक अवयवी[1]को एक स्वतत्र वस्तु मानते थे। अक्षपादने भी उनके इस विचारको माना है। प्रमाणसे हम सापेक्ष नही **परमार्थ** ज्ञान पा सकते है, यह अक्षपादका सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्राप्त ज्ञानको भी वह इसी अर्थमे लेते है। किन्तु प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय और विषयके सयोगसे होता है, वह सयोग विषयके सारे अवयव (वृक्षके भीतरी-बाहरी छोटेसे छोटे सभी अशो—परमाणुओ)के साथ नही होता, इसलिए जो प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वह सारे विषय(=वृक्ष)का नही हो सकता। ऐसी अवस्थामे यह नही कहा जा सकता, कि हमने सारे वृक्षका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया, हम तो सिर्फ इतना ही कह सकते है, कि वृक्षके एक बहुत थोडेसे बाहरी भागका हमे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है। लेकिन अक्षपाद इसको माननेके लिए तैयार नही है। उनका कहना है,—(वृक्षके) एक देशका ज्ञान नही (सारे वृक्षका ज्ञान होना है), क्योकि अवयवीके अस्तित्व होनेसे (हम अखड वृक्षको देख लेते है)।"[2] "अवयवी (सिद्ध नही) साध्य है, इसलिए उस (की सत्ता)मे सन्देह है।"[3] इस उचित सन्देहको दूर करनेके लिए अक्षपादने कहा—[4]

---

[1] Whole [2] न्याय० २।१।३२ [3] वही २।१।३३
[4] वही २।१।३४-३६

"सभी (पदार्थो) का ग्रहण (=ज्ञान) नही होगा, यदि हम (अवयवोसे) अवयवी (की अलग सत्ताको) न माने। थामने तथा खीचनेसे भी सिद्ध होता है (कि अवयवसे अवयवी अलग है, क्योकि थामते या खीचते वक्त हम वस्तुके एक अवयवसे ही सबध जोडते है, किंतु थामते या खीचते है सारी वस्तुको)। (यह नही कहा जा सकता कि) जैसे सेना या वन (अलग अलग अवयवो—सिपाहियो तथा वृक्षो—का समुदाय मात्र होनेपर भी उन) का ज्ञान होता है, (वैसे ही यहाँ भी परमाणु-समूह वृक्षका प्रत्यक्ष होता है), क्योकि परमाणु अतीन्द्रिय (अत्यन्त सूक्ष्म) होनेसे इन्द्रियके विषय नही है।"

अवयवीको सिद्ध करते हुए दूसरी जगह[१] भी अक्षपादने लिखा है—

पूर्वपक्ष—"(सन्देह हो सकता है कि अवयवीमे अवयव) नही सर्वत्र है न एक देशमे आ सकतेहै, इसलिए अवयवोका अवयवीमे अभाव (मानना पडेगा)। अवयवोमे न आ सकनेसे भी अवयवोका अभाव (सिद्ध होता है) अवयवोसे पृथक् अवयवी हो नही सकता, और नही अवयव ही अवयवी है।"

उत्तर—एक (अखड अवयवी वस्तु)मे (एक देश और सर्वत्रका) भेद नही होता, इसलिए भेद शब्दका प्रयोग नही किया जा सकता, अतएव (अवयवीमे सर्वत्र या एक देशका जो) प्रश्न (उठाया गया है, वह) हो नही सकता। दूसरे अवयवमे (अवयवीके) न आ सकनेपर भी (एक देशमे) न होनेसे (वह अवयवीके न होनेका) हेतु नही है।"

पूर्वपक्ष—"(एक एक अवयवके देखनेपर भी समूहमे किसी वस्तुको देखा जा सकता है)। जैसे कि तिमिरान्ध (आदमी एक एक केश नही देखता, किन्तु केश-समूहको देखता है, उसी तरह अवयव-समूहमे) उस वस्तुकी उपलब्धि (=प्राप्ति) हो सकती है (फिर अवयव-समूहसे अलग अवयवीके माननेकी क्या अवश्यकता ?)"

---

[१] न्याय० ४।२।७-१७

उत्तर—"विषयके ग्रहणमे (किसी आँख आदि) इन्द्रियका तेज मद्धिम होनेसे अपने विषयको बिना छोडे वैसा (तेजमद देखना) होता है, (उस अपने) विषयसे बाहर (इन्द्रियकी) प्रवृत्ति नही होती। (केश और केश-समूह एक तरहके विषय होनेसे वहाँ आँखकी तेजी या मद्धिमपन (=आवरण)का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु परमाणु कभी आँखका विषय ही नही है, इसलिए वहाँ तेजी मदीका सवाल नही हो सकता। अतएव अवयवीकी अलग ही सत्ता माननी पडेगी)।

(परमाणुवाद—)

पूर्वपक्ष—"अवयवोमे अवयवीका होना तभी तक रहेगा, जब तक कि प्रलय नही हो जाता।"

उत्तर—"प्रलय (तक) नही, क्योकि परमाणुकी सत्ता (अन्तिम इकाईकी भाँति उस वक्त भी रहती है)। (अवयव और अवयवीका विभाग) त्रुटि (=परमाणुसे बनी दूसरी इकाई) तक है।" परमाणुमे अवयव नही होता, अवयव तो तब शुरू होता है, जब अनेक परमाणु मिलते है, और अवयव बननेके बाद अवयवी भी आन उपस्थित होता, इसी **त्रुटिसे** अवयवीका आरम्भ होता है।

यहाँ हमने देखा **परमार्थ-ज्ञानके** फेरमे पडकर अक्षपादको अवयवोके भीतर अवयवोसे परे एक पृथक् पदार्थ सिद्ध करनेकी कोशिश करनी पडी, यदि सापेक्ष-ज्ञानसे वह सतुष्ट होते—और वह अर्थक्रिया(=व्यवहार)के लिए पर्याप्त भी है—तो ऐसी क्लिष्ट कल्पनाकी जरूरत नही पडती।

(२) काल

अक्षपादने कालको एक स्वतत्र पदार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा नही की, किन्तु, उनके अनुयायी विशेपकर उद्योतकर (५०० ई०)ने[१] कालको एक

---

[१] "न्यायवार्त्तिक" २।१।३८ (चौखम्बासिरीज, पृष्ठ २५३)

स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करना चाहा है। उनकी युक्तियाँ है—(१) कालके न होनेका कोई प्रमाण नही, (२) पहिले और पीछेका जो ख्याल है, वह किसी वस्तुके आधारसे ही हो सकता है, और वह काल है। काल एक है, उसमे पहिले, पीछे, या भूत, वर्त्तमान, भविष्यका भेद पाया जाता है, वह सापेक्ष है, जैसे कि एक ही पुरुष अनेक व्यक्तियोकी अपेक्षासे पिता, पुत्र और भ्राता कहला सकता है। वर्त्तमान (काल)को अक्षपादने पाँच सूत्रोंमे[1] सिद्ध किया है।

पूर्वपक्षीका आक्षेप है—"(ढेपसे) गिरते (फल)का (वही) काल साबित होता है, जिसमे कि वह गिर चुका या गिरनेवाला है, (बीचका) वर्त्तमान काल (वहाँ) नही मिलता।"

उत्तर—"वर्त्तमानके अभावमे (भूत और भविष्य) दोनोका भी अभाव होगा, क्योकि वर्त्तमानकी अपेक्षासे ही पहिलेको भूत और पिछलेको भविष्य कहा जाता है। वर्त्तमानके न माननेपर किसी (वस्तु)का ग्रहण नही होगा, क्योकि (वर्त्तमानके अभावमे) प्रत्यक्ष ही सभव नही।"

(३) साधन वाक्यके पाँच-अवयव

अनुमान प्रमाण (विशेषकर दूसरेको समझानेके लिए उपयुक्त अनुमान) द्वारा जितने वाक्योसे किसी तथ्य तक पहुँचा जाता है, उसके पाँच **अवयव** (=अश) होते है, उनको **अवयव** या पच-अवयव कहते है। डाक्टर विद्याभूषणने[2] इसे सविस्तारसे सिद्ध किया है, कि यह विचार ही नही बल्कि स्वय अवयव शब्द भी अरस्तूके ऑर्गनॅन्[3] का अनुवाद मात्र है। अरस्तूने पाँचके अतिरिक्त दो, तीन **अवयव** भी अपने तर्कमे इस्तेमाल

---

[1] न्याय० २।१।३९-४३

[2] Indian Logic, Appendix B, pp 500-15

[3] Organon.

किए है, जैसा कि भारतमे भी वसुबधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्तिने किया है। ये पॉच अवयव है[1]—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इनके उदाहरण है—

१ प्रतिज्ञा—यह पहाड आगवाला है,

२ हेतु—धुआँ दिखाई देनेसे,

३ उदाहरण—जैसे कि रसोईघर,

४ उपनय—वैसा ही धुऑवाला यह पहाड है;

५. निगमन—इसलिए यह पहाड भी आगवाला है।

६—बौद्धोंका खंडन

अक्षपादके दर्शनका मुख्य प्रयोजन ही था, युक्ति प्रमाणसे अपने पक्षका मडन और विरोधी विचारोका खडन। उनके अपने सिद्धान्तोके वारेमे हम कह आए है। दूसरे दर्शनोमे सबसे ज्यादा जिसके खिलाफ उन्हे लिखना पडा, वह था बौद्ध-दर्शन। यूनानी दर्शनमे जैसे हेराक्लितुके "सर्व अनित्य" (=सभी अनित्य है)-वादके विरुद्ध एलियातिक दार्शनिक "अनित्यता"से ही बिलकुल इन्कार करते थे। अरस्तूने इन दोनो वाद-प्रतिवादोका सवाद करते हुये कहा—विश्व नित्य है, किन्तु दृश्य जगत् जरूर परिवर्त्तनशील है। अक्षपादके सामने भी साख्यका "सर्व नित्यवाद" और बौद्धोका "सर्व अनित्यवाद" मौजूद था। यद्यपि अरस्तूकी भॉति अक्षपाद विश्वको मौलिक तौरसे नित्य ही साबित करना चाहते थे, और इस प्रकार बौद्ध-दर्शनसे बिलकुल उलटा मत रखते थे, तो भी उन्होने पच बन कर अरस्तूके फैसलेको दुहराया। बौद्ध इस "पक्षपातहीन" पचके फैसले-को नही मान सके, और इसका परिणाम हम देखते है नागार्जुनके आगे बराबर दोनो ओरसे मल्लयुद्ध—

---

[1] न्यायसूत्र १।१।३२-३९

(बौद्ध) (ब्राह्मण)

नागार्जुन (१७५ ई०)
↑
———————— अक्षपाद (२५० ई०)
↑
वसुबन्धु (४०० ई०) वात्स्यायन (४०० ई०)
↑
दिग्नाग (४२५ ई०) ————
↑
———————— उद्योतकर (५०० ई०)
↑
धर्मकीर्त्ति (६०० ई०) ————
↑
———————— वाचस्पतिमिश्र (८४१ ई०)

ज्ञानश्री
↑
———————— उदयन (९८४ ई०)

रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) ↑

दुर्वेक मिश्र (११०० ई०) ————

वर्धमान (१२५० ई०)
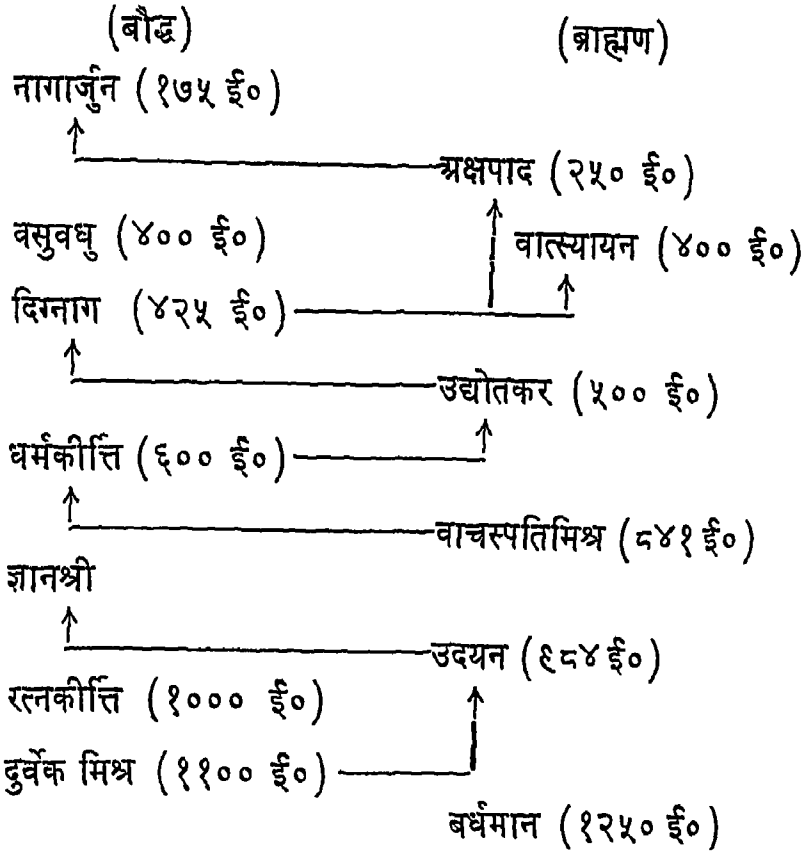
बौद्ध अनात्मवादी, अनीश्वरवादी तथा दो प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान)-वादी है, साथही वह प्रमाणको भी परमार्थ नही सापेक्ष तौरपर मानते है। अक्षपादके सिद्धान्त उनके विरुद्ध है यह हम बतला आए है। यहाँ बौद्धोके दूसरे सिद्धान्तोको अक्षपादने किस तरह खडन किया है, इसके बारेमे लिखेगे।

(१) क्षणिकवाद-खंडन[1]—'सब कुछ क्षणिक है' यह सिद्धान्त पक्का (=एकान्त) नही है, क्योकि कितनी ही चीजे क्षणिक (=क्षण क्षण परिवर्त्तनशील) देखी जाती है, और कितनी ही नही, जैसे कि शरीरमे नया नया परिवर्तन होता है, स्फटिक (=बिल्लौर) मे वैसा नही देखा जाता। परिवर्त्तन भी (बौद्धोके सिद्धान्तके अनुसार) विना कारण (=हेतु) के नही

---

[1] न्याय० ३।२।१०-१७ का भाव

होता बल्कि कारणके रहते होता है, जैसे कि कारणरूप दूध मौजूद रहनेपर ही दही उत्पन्न होता है।

(२) **अभाव अहेतुक नहीं**—बौद्ध-दर्शनका कार्य-कारणके सबधमे अपना खास सिद्धान्त है, जिसे **प्रतीत्य-समुत्पाद**[1] (=विच्छिन्न प्रवाह) कहते है, अर्थात् कार्य और कारणके भीतर कोई वस्तु या वस्तुसार नही है, जो कि कारण (दूध)की अवस्थामे भी हो कार्य (=दधि)की अवस्थामे भी। प्रतीत्य-समुत्पादके अनुसार पहिले एक वस्तु (=दूध)होकर आमूल नष्ट हो गई (इसे "कारण" कह लीजिए), फिर दूसरी वस्तु (दही) जो पहिले बिलकुल न थी, सर्वथा नई पैदा हुई, इसे "कार्य" कह लीजिए। इस प्रकार कार्य अपने प्रादुर्भावसे पहिले बिलकुल अभाव रूप था। अक्षपादने इसे "अभावसे भाव-उत्पत्ति" कह कर खडित किया, यद्यपि यहाँपर ख्याल रखना चाहिए कि बौद्ध-दर्शन अत्यन्त विनाश और सर्वथा नये उत्पादको मानते भी विनाश-उत्पत्ति-विनाश-उत्पत्ति —इस प्रवाह (=सन्तान) को स्वीकार करता है।

"अभावसे भावकी उत्पत्ति होती है, क्योकि बिना (बीजके) नष्ट हुए (अकुरका) प्रादुर्भाव नही होता"[2]—इन शब्दोमे बौद्ध विचारको रखते अक्षपादने इसका खडन इस प्रकार किया है[3]—

नष्ट और प्रादुर्भाव (मेसे एक) अभाव और (दूसरा) भावरूप होनेसे दो परस्पर-विरोधी बाते है, जो कि एक ही वस्तु (=बीज)के लिए नही इस्तेमाल की जा सकती। जो बीज वस्तुत नष्ट हो गया है, उससे अकुर नही उत्पन्न होता, इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्ति कहना गलत है। पहिले बीजका विनाश होता है, पीछे अकुर उत्पन्न होता है, यह जो क्रम देखा जाता है, वह बतलाता है, कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नही होती, यदि वैसा होता तो बीज-अंकुर क्रमकी जरूरत ही क्या थी ?

प्रवाह स्वीकार करनेसे बौद्ध क्रमको भी स्वीकार करते है, इसलिए

---

[1] देखें पृष्ठ ५१२ [2] वही ४।१।१४ [3] वहीं ४।१।१५-१८

अक्षपादका आक्षेप ठीक नही है, यह साफ है।

(३) **शून्यवाद(=नागार्जुन-मत)का खंडन**—नागार्जुनने क्षणिक-वाद और प्रतीत्य-समुत्पादके आधारपर अपने सापेक्षतावाद या शून्यवाद-का विकास किया, यह हम बतला चुके है। विच्छिन्न-प्रवाह रूपमे वस्तुओ-के निरन्तर विनाश और उत्पत्ति होनेसे प्रत्येक वस्तुकी स्थितिको सापेक्ष तौरपर ही कह सकते है। सर्दीकी सत्ता हमे गर्मीकी अपेक्षासे मालूम होती, गर्मीकी सर्दीकी अपेक्षासे। इस तरह सत्ता सापेक्ष ही सिद्ध होती है। सापेक्ष-सत्तासे (वस्तुका) सर्वथा अभाव सिद्ध करना मर्यादाको पार करना है, तो भी हम जानते है कि नागार्जुनका सापेक्षतावाद अन्तमे वहाँ तक जरूर पहुँचा, और इसीलिए शून्यवादका अर्थ जहाँ क्षणिक जगत् और उसका प्रत्येक अश किसी भी स्थिर तत्वसे सर्वथा शून्य है—होना चाहिए था, वहाँ क्षणिकत्वसे भी उसका अर्थ शून्य—सर्वथा शून्य—मान लिया गया। "भावो" (=सद्भूत् पदार्थो)मे एकका दूसरेमे अभाव (=घडेमे कपडेका अभाव, कपडेमे घडेका अभाव) देखा जाता है, इसलिए सारे (पदार्थ) अभाव (=शून्य) ही है"[१]—इस तरह शून्यवादके पक्षको रखते हुए अक्षपादने उसके विरुद्ध अपने मतको स्थापित किया[२]—'सब अभाव है' यह बात गलत है, क्योकि भाव (=सद्भूत पदार्थ) अपने भाव (=सत्ता)से विद्यमान देखे जाते है। एक ओर सब वस्तुओके अभावकी घोषणा भी करना और दूसरी ओर उसी अभावको सिद्ध करनेके लिए उन्ही अभावभूत वस्तुओमेसे कुछको सापेक्षताके लिए लेना क्या यह परस्पर-विरोधी नही है ?

(४) **विज्ञानवाद-खंडन**—यद्यपि बौद्ध (क्षणिक-) विज्ञानवादके महान् आचार्य असग ३५० ई०के आसपास हुए, किन्तु विज्ञानवादका मूल (=अविकसित) रूप उनसे पहिलेके वैपुल्य-सूत्रोमे पाया जाता है,

---

[१] न्याय० ४।१।३७ [२] वही ४।१।३८-४० (भावार्थ)।

यह हम बतला आए हैं, [1] इसलिए विज्ञानवादके खडनसे अक्षपादको असगसे पीछे खीचनेकी जरूरत नही।

"बुद्धिसे विवेचन करनेपर वास्तविकता (=याथात्म्य)का ज्ञान होता है, जैसे (मूल) सूतोको (एक एक करके) खीचनेपर कपडेकी सत्ताका पता नही रहता, वैसे ही (बाहरी जगत्‌का भी परमाणु और उससे आगे भी विश्लेषण करनेपर) उसका पता नही मिलता।"—इस तरह विज्ञान-वादी पक्षको रखकर अक्षपादने उसका खडन किया है[2]—एक ओर बुद्धिसे बाहरी वस्तुओके विवेचन करनेकी बात करना दूसरी ओर उनके अस्तित्वसे इन्कार करना यह परस्परविरोधी बाते है। कार्य (=कपडा) कारण (=सूत)के आश्रित होता है, इसलिए कार्यके कारणसे पृथक् न मिलनेमे कोई हर्ज नही है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोसे हमे बाहरी वस्तुओका पता लगता है। स्वप्नकी वस्तुओ, जादूगरकी माया, गधर्वनगर, मृगतृष्णाकी भाँति प्रमाण, प्रमेयकी कल्पना करनेके लिए कोई हेतु नही है, इसलिए बाह्य जगत् स्वप्न आदिकी भाँति है, यह सिद्ध नही होता। स्वप्नकी वस्तुओका ख्याल भी उसी तरह वास्तविक बाह्य दुनिया पर निर्भर है, जैसे कि स्मृति या सकल्प, यदि बाहरी दुनिया न हो, तो जैसे स्मृति और सकल्प नही होगा, वैसे ही स्वप्न भी नही होगा। हाँ, बाह्य जगत्‌का मिथ्या-ज्ञान भी होता है, किन्तु वह तत्त्व(=यथार्थ)-ज्ञानसे वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नकी वस्तुओका ख्याल। इस तरह बाहरी वस्तुओकी सत्तासे इन्कार नही किया जा सकता।

§२–योगवादी पतंजलि (४०० ई०)

जहाँ तक योगमे वर्णित प्राणायाम, समाधि, योगिक क्रियाओका सबध है, इनका पता हमे **सति-पट्ठान**[3] जैसे प्राचीनतम बौद्ध सुत्तो तथा कठ,

---

[1] देखो पृष्ठ ५२० [2] न्याय० ४।२।२६-३५ (का भावार्थ)।

[3] दीघनिकाय २।६

श्वेताश्वतर जैसी पुरानी उपनिषदो तकमे लगता है। बुद्धके वक्त तक योगिक क्रियाये काफी विकसित ही नही हो चुकी थी, बल्कि मौलिक बातोमे योग उस वक्त जहाँ तक बढ चुका था, उससे ज्यादा फिर विकसित नही हो सका--हाँ, जहाँ तक सिद्धि, महातमको बढा चढाकर कहनेकी बात है, उसमे तरक्की ज़रूर हुई। इस प्रकार योगको, ईसा-पूर्व चौथी सदीमे हम बहुत विकसित रूपमे पाते है। योगका आरभ कब हुआ—इसका उत्तर देना आसान नही है। यद्यपि पाणिनि (ईसा-पूर्व चौथी सदी)ने युज् धातुको समाधिके अर्थमे लिया है, किन्तु वह इस अर्थमे हमे बहुत दूर तक नही ले जाता। खुद बौद्ध सुत्तोमे योग शब्द अपरिचितसा है और उसकी जगह वहाँ समाधि "समापत्ति", स्मृतिप्रस्थान (=सतिपट्ठान) आदि शब्दोका ज्यादा प्रयोग है। प्राचीन हिन्दी-युरोपीय भाषामे युज् धातुका अर्थ जोडना ही मिलता है योग नही।[1] चाहे दूसरे नामसे देवताकी प्राप्तिकी ऐसी क्रिया--जिसमे सामग्री नही मनका सबध हो—ही से योगका आरभ हुआ होगा। दूसरे देशोमे भी योग-क्रियाओका प्रचार हुआ। नव्य-अफलातूनी दर्शनके साथ योग भी पश्चिममे फैला, और वह पीछे ईसाई साधको और मुसलमान सूफियोमे प्रचलित हुआ था, किन्तु योगका उद्गम स्थान भारत ही मालूम होता है।

पतंजलि (२५० ई०)--पहिलेसे प्रचलित योग-क्रियाओको पतजलिने अपने १९४ सूत्रोमे सगृहीत किया। पतजलिके कालके बारेमे हम इतना कह सकते है, कि उन्होने वेदान्त-सूत्रोसे पहिले अपने सूत्र लिखे थे, क्योकि वादरायणने "एतेन योग प्रत्युक्त"[2]मे उसका जिक्र किया है। वादरायणका समय हमने ३०० ई० माना है। डाक्टर दासगुप्त[3]ने व्याकरण महाभाष्य-

---

[1] जर्मन भाषामें Joch, अंग्रेजीमे Yoke, लातिनमें Jugum, संस्कृतमें युग=जुआ, युग्य=जुयेका वैल। [2] वेदान्तसूत्र २।१।३

[3] A History of Indian Philosophy *by* S. N Das gupta, 1922, Vol. I, p. 238

कार पतजलि (१५० ई० पू०) और योग-सूत्रकार पतजलिको एक करके उनका समय ईसा-पूर्व दूसरी सदी माना है। मै समझता हूँ, किसी भी हमारे सूत्रबद्ध दर्शनको नागार्जुनसे पहिले ले जाना मुश्किल है। चाहे योगसूत्रमे नागार्जुनके शून्यवादका खडन नही भी हो, किन्तु उसके अन्तिम (चतुर्थ) पादमे **विज्ञानवाद**का खडन आया है, जिसे डाक्टर दासगुप्तने क्षेपक मानकर छुट्टी ले ली है, लेकिन वैसा माननेके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिए है, वे बिलकुल अपर्याप्त है। हाँ, उनके इस मतसे मै सहमत हूँ, कि पतजलिने जिस विज्ञानवादका खडन किया है, वह असगसे पहिले भी मौजूद था।

दूसरे दर्शन-सूत्रकारोकी भाँति पतजलिकी जीवनीके बारेमे भी हम अन्धकारमे है।

१—योगसूत्रोंका संक्षेप

योग-दर्शन छओ दर्शनोमे सबसे छोटा है, इसके सारे सूत्रोकी सख्या सिर्फ १९४ है, इसीलिए इसे अध्यायोमे न बॉटकर चार **पादो**मे बॉटा गया है, जिनके सूत्रोकी सख्या निम्न प्रकार है—

पाद	नाम	सूत्र-सख्या
१	समाधिपाद	५१
२	साधनपाद	५५
३	विभूतिपाद	५४
४	कैवल्यपाद	३४

पादोके नाम, मालूम होता है, पीछेसे दिये गये है। कुल १९४ सूत्रोमे से चौथाई (४९) योगसे मिलनेवाली अद्भुत शक्तियोकी महिमा गानेके लिए है। इन सिद्धियो (=विभूतियो) मे "सारे प्राणियोकी भाषाका ज्ञान"[1] "अन्तर्द्धान"[2], "भुवन (=विश्व)-ज्ञान"[3], "क्षुधा-प्यासकी निवृत्ति"[4] "दूसरे-

[1] योगसूत्र ३।१७ [2] वही ३।२१ [3] वही ३।२६ [4] वहीं ३।३०

के शरीरमे घुसना,"[1] "आकाशगमन,"[2] "सर्वज्ञता"[3] "इष्ट देवतासे मिलन"[4] जैसी बाते है। सूर्यमे सयम करके, न जाने, कितने योगियोने "भुवन (=विश्व) ज्ञान" प्राप्त किया होगा, किन्तु हमारा पुराना भुवन-ज्ञान कितना नगण्यसा है, यह हमसे छिपा नही है—जहाँ दूसरे देशोने अपने पचागोको आधुनिक उन्नत ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार सुधार लिया है, वहाँ अपने "भुवन-ज्ञान"के भरोसे हम अभी तालमीके पचागको ही लिए बैठे है।

२—दार्शनिक विचार

सिद्धियोकी बात छोड देनेपर योग-सूत्रमे प्रतिपादित विषयोको मोटे तौरसे दो भागोमे बाँटा जा सकता है—दार्शनिक विचार और योग-साधना-सबधी विचार। दार्शनिक विचारोके (१) चित्त-चेतन, (२) बाह्य (=दृश्य) जगत् और (३) तत्त्वज्ञान इन तीन भागोमे बाँटा जा सकता है, तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि योगसूत्रका प्रतिपाद्य विषय दर्शन नही योगिक साधनाये है, इसलिए उसने जो दार्शनिक विचार प्रकट किये है, वह सिर्फ प्रसगवश ही किये है।

(१) जीव (=द्रष्टा)

"द्रष्टा चेतनामात्र (=चिन्मात्र) शुद्ध निर्विकार होते भी बुद्धिकी वृत्तियोके द्वारा देखता है (इसलिए वह बुद्धिकी वृत्तियोसे मिश्रित मालूम होता है।) दृश्य (=जगत्)का स्वरूप उसी (=द्रष्टा)के लिए है।"[5] पुरुष (=चेतन, जीव)की निर्विकारिताको बतलाते हुए कहा है[6]—"उस (=भोग्य बुद्धि)का प्रभु पुरुष अपरिणामी (=निर्विकार) है, इस-लिए (क्षण क्षण बदलती भी) चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती है।"

यद्यपि इन सूत्रोमे चेतनका स्वरूप पूरी तौरसे व्यक्त नही किया गया

---

[1] योग० ३।३८ [2] वही ३।४२ [3] वहीं ३।४८
[4] वही २।४४ [5] वहीं २।२०, २१ [6] वही ४।१८

है, किन्तु इनसे यह मालूम होता है, कि चेतन (=पुरुष) चेतनाका आधार नही बल्कि चेतना-मात्र तथा निर्विकार है। उसकी चेतनामे हम जो विकार होते देखते है, उसका समाधान पतजलि बुद्धिकी वृत्तियोसे मिश्रित होनेकी बात कह कर देते है। बुद्धिको साख्यकी भाँति पतजलि भी भोग्य, विकारशील (प्रकृति)से बनी मानते है। बुद्धिसे प्रभावित हो पुरुष जो विकारी मालूम होता, उसीको हटाकर उसे "अपने (चेतना मात्र), केवल स्वरूपमे स्थापित करना"[1] योगका मुख्य ध्येय है, इसी अवस्थाको कैवल्य कहते है।

(२) चित्त (=मन)

चित्तसे पतजलिका क्या अभिप्राय है, इसे बतलानेकी उन्होने कोशिश नही की है, उनका ऐसा करनेका कारण यह भी हो सकता है, कि साख्यके प्रकृति-पुरुष-सबधी दर्शनको मानते हुए उन्होने योग-सबधी पहलूप ही लिखना चाहा। चित्तको वह भोक्ता (=चेतन)की भोग्य वस्तुओमे मानते है—"यद्यपि चित्त (मल, कर्म-विपाकवाली) असख्य वासनाओ-से युक्त होनेसे (देखनेमे भोक्ता जैसा मालूम होता है), तथापि (वह) दूसरे (अर्थात् भोक्ता जीव)के लिए है, क्योकि वह सघातरूपमे होकर (अपना काम) करता है, (वैसे ही जैसे कि घर, ईट, काठ, कोठरी, द्वार आदिका) सघात बनकर जो अपनेको वसने योग्य वनाता है, वह किसी दूसरेके लिए ही ऐसा करता है।[2]

(३) चित्तकी वृत्तियाँ

पतजलिके अनुसार[3] योग कहते ही है चित्तकी वृत्तियोके निरोध-को। जब तक चित्तकी वृत्तियोका निरोध (=विनाश) नही होता, तब तक पुरुष (=जीव) अपने शुद्ध रूप (=कैवल्य)मे नही स्थित होता,

---

[1] योग० १।३ [2] वही ४।२४ मिलाइये "प्रयोजनवाद"से (ह्वाइटहेड पृ० ३६३) [3] वही १।२

चित्तकी वृत्तियाँ जैसी होती है, उसी रूपमे वह स्थित रहता है।[1] चित्तके बारेमे ज्यादा न कहकर भी चित्तकी वृत्तियोको पतजलिने साफ करके बतलाया है,[2] और यह वृत्तियाँ चूँकि चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थाये है, इसलिए उनसे हमे चित्तका भी परिज्ञान हो सकता है। चित्त-वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी है, जो कि (राग आदिके कारण) मलिन और निर्मल दो भेद और रखती है। वह पाँच वृत्तियाँ निम्न है—

(क) प्रमाण—यथार्थज्ञानके साधन, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोके रूपमे जब चित्त वृत्ति क्रियाशील होती है, उसे प्रमाण-वृत्ति कहते है।

(ख) विपर्यय—(किसी वस्तुका ज्ञान) जो अपनेसे भिन्न रूपमे होता है, वही मिथ्या-ज्ञान विपर्यय-वृत्ति है (जैसे रस्सीमे साँपका ज्ञान)।

(ग) विकल्प—वस्तुके अभावमे सिर्फ उसके नाम (=शब्द)के ज्ञानको लेकर (जो चित्तकी अवस्था, कल्पना होती है) वही विकल्प (=सकल्प-विकल्पकी) वृत्ति है।

(घ) निद्रा—(दूसरी किसी तरहकी वृत्तिके) अभावको ही लिए हुए, जो चित्तकी अवस्था होती है, उसे निद्रावृत्ति कहते है।

(ङ) स्मृति—प्रमाण आदि वृत्तियोसे जिन विषयोका अनुभव होता है, उनका चित्तसे लुप्त न होना स्मृति-वृत्ति है।

यहाँ पतजलिने स्वप्नका जिक्र नही किया है, जिसे कि विकल्पवृत्तिके लक्षणको जरा व्यापक—वस्तुके अभावमे सिर्फ वासनाको लेकर जो चित्तकी अवस्था होती है—करके प्रकट किया जा सकता है, किन्तु सूत्रकार केवल चित्त द्वारा निर्मित वस्तुको उतना तुच्छ नही समझते, बल्कि चित्तकी ऐसी निर्माण करनेकी शक्तिको एक बडी सिद्धि मानते है,[3] यह भी ख्याल रखना चाहिए।

---

[1] योग० १।४ [2] वही १।५-११ [3] वही ४।४-५

(४) ईश्वर

पतजलिके योगशास्त्रको सेश्वर (=ईश्वरवादी) साख्य भी कहते है, क्योकि जहाँ कपिलके साख्यमे ईश्वरकी गुजाइश नही है, वहाँ पतजलिने अपने दर्शनमे उसके लिए "गुजाइश बनाई" है। "गुजाइश बनाई" इसलिए कहना पडता है, कि पतजलिने उसे उपनिषत्कारोकी भाँति सृष्टिकर्त्ता नही बनाना चाहा और न अक्षपादकी भाँति कर्मफल दिलानेवाला ही। चित्तवृत्तियोके निरोध (=बद) करनेके (योग-सबधी साधनोका) अभ्यास, और (विषयोसे) वैराग्य दो मुख्य उपाय बतलाये[1] है; उसीमे "अथवा ईश्वरकी भक्तिसे"[2] कहकर ईश्वरको भी पीछेसे जोड दिया। ईश्वर-भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है, यह भी आगे कहा है।[3] पतजलिके अनुसार "ईश्वर एक खास तरहका पुरुष है, जो कि (अविद्या, राग, द्वेष आदि) मलो, (धर्म, अधर्म रूपी) कर्मो, (कर्मके) विपाको (=फलो), तथा सस्कारोसे निर्लेप है।"[4] इस परिभाषाके अनुसार जैनो और बौद्धोके अर्हत् तथा कैवल्यप्राप्त कोई भी (मुक्त) पुरुष ईश्वर है। हाँ, ईश्वर बननेवालोकी सूची कम करनेके लिए आगे फिर शर्त्त रक्खी है—'उस (=ईश्वर)मे बहुत अधिकताके साथ सर्वज्ञ बीज है।"[5] लेकिन जैन और उनकी देखादेखी पीछेवाले बौद्ध भी अपने मत-प्रवर्त्तक गुरुको सर्वज्ञ (=सब कुछ जाननेवाला) मानते है। इस खतरेसे बचनेके लिए पतजलिने फिर कहा[6]—"वह पहिलेवाले (गुरुओ=ऋषियो)का भी गुरु है, क्योकि जब वह न हो ऐसा काल नही है।" बुद्ध और महावीर ऐसे सनातन पुरुष नही है यह सही है, तो भी पतजलिके कथनसे यही मालूम होता है, कि ईश्वर कैवल्यप्राप्त दूसरे मुक्तो जैसा ही एक पुरुष है; फर्क इतना ही है, कि जहाँ मुक्त पुरुष पहिले बद्ध रह कर अपने प्रयत्नसे मुक्त हुए है,

---

[1] योग० १।१२ [2] वही २।४५ [3] वहीं १।२३
[4] वही १।२४ [5] वही १।२५ [6] वहीं १।२६

वहाँ ईश्वर सदासे (=नित्य) मुक्त है। उसका प्रयोजन यही है, कि उसकी भक्ति या प्रणिधानसे चित्त-वृत्तियोंका निरोध होता है।[1] "उसका वाचक प्रणव (=ओम्) है, जिसके अर्थकी भावना उस (=ओम्)का जप कहलाता है, जिस (=जप)से प्रत्यक्-चेतन (=बुद्धिसे भिन्न जो जीव है उस)का साक्षात्कार होता है, तथा (रोग, सशय, आलस्य आदि चित्त विक्षेपरूपी) अन्तरायो (=बाधाओ)का नाश होता है।

(५) भौतिक जगत् (=दृश्य)

पतजलिने जहाँ पुरुषको द्रष्टा (=देखनेवाला) कहा है, वहाँ भौतिक जगत् या साख्यके प्रधानके लिए **दृश्य** शब्दका प्रयोग किया है। **दृश्यका** स्वरूप बतलाते हुए कहा है[2]—"(सत्त्व, रज, तम, तीनो गुणोके कारण) प्रकाश, गति और गति-राहित्य (-स्थिति) स्वभाववाला, भूत (पाँच महाभूत और पाँच तन्मात्रा) तथा इन्द्रिय (पाँच ज्ञान-, पाँच कर्म-इन्द्रिय, बुद्धि, अहकार, मन तीन अन्त करण) स्वरूपी **दृश्य** (=जगत्) है, जो कि (पुरुषके) भोग, और मुक्ति (=अपवर्ग)के लिए है।"

(क) प्रधान—साख्यने पुरुषके अतिरिक्त **प्रकृति**(=प्रधान) के २४ तत्त्वोको प्रकृति, प्रकृति-विकृति, और विकृति इन तीन कोटियोंमे बाँटा है, जिन्हे ही पतजलिने चार प्रकारसे बाँटा है।—[3]

साख्य	तत्त्व	योग
प्रकृति १	प्रधान (त्रिगुणात्मक)	अ-लिग १
प्रकृति-विकृति ७	१ महत्तत्व (=बुद्धि)	लिग १
	+ ५ तन्मात्रा + १ अहकार	अ-विशेष ६
विकृति १६	५ महाभूत + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + १ मन	विशेष १६

---

[1] योग० १।२७-३० [2] वहीं २।१८, २१, २२ [3] वही २।१९

दोनोके जन्य-जनक संबंधमे निम्न अन्तर है—
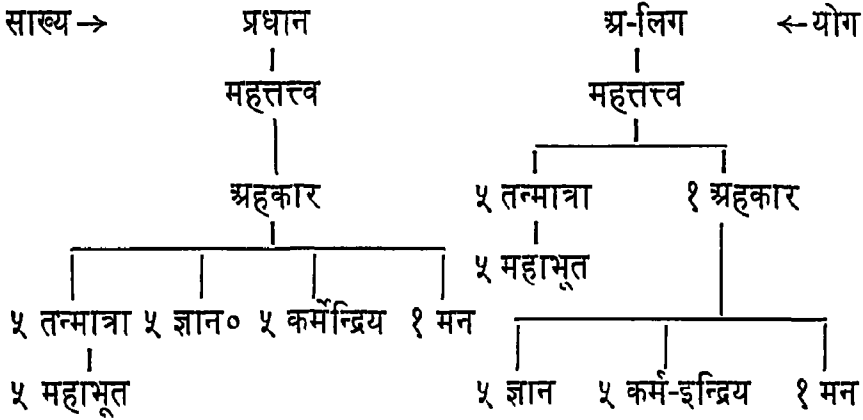
पाँच तन्मात्राये है—गधतन्मात्रा, रस०, रूप०, स्पर्श०, शब्दतन्मात्रा

पाँच भूत है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ है—नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श, श्रोत्र

पाँच कर्म-इन्द्रियाँ है—वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रय, मूत्र-इन्द्रिय

अनीश्वरवादी साख्य २४ प्राकृतिक तत्त्वो तथा पुरुष (जीव)को लेकर २५ तत्त्वोको मानता है, और ईश्वरवादी योग उसमे पुरुषविशेष (=ईश्वर)को जोड कर २६ तत्त्वोको।

"पुरुषके लिए ही दृश्य (जगत्)का स्वरूप है,"[1] इसका अर्थ है, कि पुरुषके कैवल्य (=मुक्ति) प्राप्त हो जानेपर ससारका अस्तित्व खतम हो जायेगा, किन्तु अनादिकालसे आज तक कितने ही पुरुष कैवल्यप्राप्त हो गए तो भी जगत् इसलिए जारी है, कि कैवल्यप्राप्तोसे भिन्न—बद्ध पुरुषो—की भी वह साझेकी भोग्य वस्तु है।"[2]

(ख) परिवर्त्तन—पाँचो महाभूतो, दशो इन्द्रियाँ और मन (=चित्त) मे निरन्तर परिवर्त्तन (=नाश, उत्पत्ति) होता रहता है, जिनमेसे महाभूतो और इन्द्रियोके परिवर्त्तन (=परिणाम) तीन प्रकारके होते है—धर्म-परिणाम (=मिट्टीका पिडरूपी धर्म छोड घटरूपी धर्ममे परिणत

---

[1] योग० २।२१ [2] वही २।२२

होना), 'लक्षण-परिणाम (=घडेका अतीत, वर्त्तमान, भविष्यके मबध=लक्षणसे अतीत घडा, वर्त्तमान घडा, भविष्य घडा बनना); अवस्था-परिणाम (=वर्त्तमान घडेका नयापन, पुरानापन आदि अवस्थामे बदलना)। मिट्टीमे चूर्ण और पिड, पिड और घडा, घडा और कपाल (=खपडा) यह जो पहिले पीछेका क्रम देखा जाता है, वह एक ही मिट्टीके भिन्न-भिन्न धर्म-परिवर्त्तनोको जतलाता है, इसी अतीत, वर्त्तमान और भविष्यकालके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न लक्षण, तथा दुर्दृश्य, सूक्ष्म, स्थूलके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न अवस्थाका परिवर्त्तन मालूम पडता है।[1]

इस तरह पतजलि परिवर्त्तन होता है, इसे स्वीकार करते है। यद्यपि वह स्वय इस बातको स्पष्ट नही करते, तो भी साख्यकी दूसरी कितनी ही बातोकी भाँति उनके मतमे भी परिवर्त्तन होता है भावसे भाव रूपमे (=सत्कार्यवाद)मे ही।

"(सत्त्व रज, तम ये तीन) गुण स्वरूपवाले (प्रधानसे नीचेके २३ तत्त्व) व्यक्त होते है (जब कि वे वर्त्तमानकालमे हमारे सामने होते है), और सूक्ष्म होते है (जब कि वे आँखसे ओझल भूत, या भविष्यमे रहते है)। (गुणोके तीन होनेपर भी उनके धर्म, लक्षण, या अवस्था-) परिणाम (=परिवर्त्तन) चूँकि एक होते है, इसलिए (परिणामसे उत्पन्न बुद्धि, अहकार आदि वस्तुओका) एक होना देखा जाता है।"[2] इस प्रकार नाना कारणो (=गुणो) से एक कार्यकी उत्पत्ति पतजलिने सिद्ध की। साख्य और योगके तीनो गुण प्रकृतिकी तीन स्थितियोको बतलाते है। यह स्मरण रखना चाहिए, वह स्थितियाँ है—सत्त्व=प्रकाशमय अवस्था, रज=गतिमय अवस्था, तम=गतिशून्यतामय अवस्था।

(६) क्षणिक विज्ञानवाद खंडन

नाना कारणसे एक कार्यका उत्पन्न होना विज्ञानवादके विरुद्ध है,

---

[1] योग० ३।१३-१५ [2] वही ४।१३-१४

क्योकि विज्ञानवादी एक ही विज्ञानसे जगत्‌की असख्य विचित्रताओको उत्पन्न मानते है। इसका खडन करते हुए पतजलि कहते है कि "वे (चित्त=विज्ञान=मन और भौतिक तत्त्व) दोनो भिन्न भिन्न है, क्योकि एक (स्त्री) वस्तुके होनेपर भी (जिस चित्तसे उसकी उत्पत्ति विज्ञानवादी बतलाते है, वह) चित्त (एक नही) अनेक है।"[1] विज्ञानवादके अनुसार वहाँ जो स्त्री शरीर है, वह विज्ञान (=चित्त)का ही बाहरी क्षेपण (=फेकना) है, किंतु जिस चित्तके क्षेपणका परिणाम वह स्त्री है, वह एक नही है—किसीके चित्तके लिए वह सुखदा प्रिया पत्नी है, किसीके चित्तके लिए वह दु खदा सौत है। फिर ऐसे परस्परविरोधी अनेक विज्ञानो (=चित्तो)से निर्मित स्त्री एक विज्ञानसे बनी नही कही जा सकती, इसकी जगह यही मानना चाहिए कि विज्ञान और भौतिक तत्त्व भिन्न-भिन्न है, और वही मिलकर एक वस्तुको बनाते है। और भी[2] "यदि वस्तुको एक चित्त (=विज्ञान)से बनी माना जाये, तो (उस चित्तके किसी दूसरे कपडे आदिके निर्माणमे) व्यस्त होनेपर, उस वस्तुका क्या होगा-(—निर्माण कर्त्ता चित्तके अभावमे उसका अभाव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता, इसलिए वस्तु चित्तसे बनी) नही है, बल्कि उसकी स्वतत्र सत्ता है। अकेला चित्त सारी वस्तुओ (=भौतिक पदार्थो)का कारण होनेसे आपके तर्कानुसार उसे सर्वज्ञ होना चाहिए, किन्तु वैसा नही देखा जाता, इसलिए विज्ञान सबका मूलकारण है, यह मत गलत है। हमारे मतमे तो "वस्तुके ज्ञात होनेके लिए (इन्द्रिय-द्वारा) चित्तका उस (वस्तु)से 'रँगा जाना' (=मनपर सस्कार पडना) जरूरी है, (जब वह वस्तुसे रँगा नही होता, तो वस्तु) अज्ञात होती है।" चित्त परिवर्त्तनशील है, किन्तु "चित्तकी वृत्तियाँ लगातार (=सदा) ज्ञात रहती है, यह इसीलिए कि उस (=भोग्य-वस्तु)का स्वामी (=पुरुष) अ-परिवर्त्तनशील है।" "दृश्य (=जगत्‌का एक भाग होनेसे चित्त स्वप्रकाश (=स्वयचेतन) नही है" बल्कि उसे प्रकाश

---

[1] योग० ४।१५ [2] वही ४।१६-१९

पुरुषके सपर्कसे मिलता है। इसीलिए चित्तमात्रसे जगत्की उत्पत्ति माननेसे चेतनाकी गुत्थी भी नही सुलझ सकती।

यद्यपि उपरोक्त आक्षेप शकर और बर्कले जैसे नित्य (=स्थिर) विज्ञान-वादियोपर भी लागू होता है, किंतु पतजलिका मुख्य लक्ष्य यहाँ क्षणिक विज्ञानपर है, इसीलिए अपने अभिप्रायको और स्पष्ट करते हुए कहते है[1]—"और (बौद्धोके अनुसार चित्तके क्षणिक होने तथा उससे परे पुरुषके न होने-पर) एक समयमे (चित्त और चेतन पुरुष) दोनोकी स्मृति (=अवधारण) नही हो सकती" यद्यपि ऐसा होते देखा जाता है—घडा देखते वक्त 'मैंने घडा देखा'से मैका भी स्मरण होता है। "यदि (दूसरे क्षणवाले) अन्य चित्तसे (उसे) देखा जानेवाला माने, तो उस बुद्धिसे दूसरी, उससे दूसरी, इस प्रकार कही निश्चित स्थानपर नही पहुँच सकेंगे, और स्मृतियोमे गडबडझाला (=सकरता) होगा।" इसलिए क्षणिक विज्ञान स्मरणकी समस्याको हल नही कर सकता, और वस्तुओकी उत्पत्तिकी समस्याको भी नही कर सकता यह अभी कह आये है, इस प्रकार विज्ञानवाद युक्ति-सगत नही है।

(७) योगका प्रयोजन

अविद्या, प्रत्ययालम्बन, क्लेश, सविचार, निर्विचार, शुक्ल, कृष्णकर्म, आशय (=आस्रव), चित्त, समापत्ति, वासना, वैशारद्य, प्रसाद, भव-प्रत्यय, मृदु-मध्य-अधिमात्र, मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा, श्रद्धा-वीर्य . आदि बहुतसे पारिभाषिक शब्दार्थ पतजलिने ज्योके त्यो बौद्धोसे तो ले लिए ही है, साथ ही मौलिक सच्चाई जिसपर पतजलि जोर देना चाहते है, उसे भी जब देखते है, कि वह बौद्धोके चार आर्य-सत्योका ही रूपान्तर है, तो पता लग जाता है, कि पतजलि बौद्ध विचारोसे कितने प्रभावित हुए थे। बौद्ध आर्यसत्य है—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय (=दुःख-हेतु), (३) दुःख-निरोध (=दुःखका विनाश) और (४) दुःख-

[1] योग० ४।२०-२१

निरोध-गामिनी-प्रतिपद् (=दु ख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग या उपाय)। इसकी जगह देखिये पतजलिके[1] (१) हेय (=त्याज्य), (२) हेय-हेतु, (३) हान (=नाश) और (४) हान-उपायको। हेयसे उनका क्या मतलब है, इसे खुद ही "हेय आनेवाला दु ख" है[2] कह कर साफ कर दिया है, इसलिए इसमे सन्देह ही नही रह जाता कि योगने बौद्ध चार आर्यसत्तोको ले लिया है। योगके इन चार मौलिक सिद्धान्तो—जो ही वस्तुत योगशास्त्रके मुख्य प्रयोजन है—के बारेमे यहाँ कुछ और कहना जरूरी है।

(क) हान—हान दु खको कहते है, और दु ख पतजलिका भी उतना ही व्यापक सत्य है जितना बौद्धोका—"सारे (भोग) ही दु ख"[3] है।

(ख) हेय (=दुःख)-हेतु—इस दु खका कारण क्या है ? "जीव (=द्रष्टा) और जगत् (=दृश्य)का सयोग।"[4] "(यही) सयोग मिल्कियत (=जगत्) और मालिक (=जीव)की शक्तियोके (जो) अपने-अपने स्वरूप है, उनकी उपलब्धि (=अनुभव)का हेतु है।"[5] इनमे जगत्के स्वरूपका अनुभव भोगके रूपमे होता है, पुरुष (=जीव)के स्वरूपका अनुभव अपवर्ग (=कैवल्य)के रूपमे। भोगके रूपमे होनेवाले अनुभवका कारण जो सयोग है, वही दु खका हेतु है।

(ग) हान (=दुःख)से छूटना—जीव और जगत्के भोक्ता और भोग्यके रूपमे जिस सयोगको अभी दु खका हेतु बतलाया गया है, उस सयोगका कारण अविद्या है। उसीके अभावसे उस सयोगका अभाव होता है। यही सयोगका अभाव हान है, और वही द्रष्टा (=पुरुष)का कैवल्य है।[6]

(घ) हान (=दुःख)से छूटनेका उपाय—पुरुषका प्रकृतिके सयोगसे मुक्त हो अपने स्वरूपमे अवस्थित होना हान या कैवल्य है, यह तो ठीक है,

---

[1] योग० २।१६, १७, २५, २६ [2] वही २।१६ [3] वही २।१५
[4] वही २।१७ [5] वही २।२३ [6] वही २।२४-२५

किंतु यह सयोगसे मुक्त होना (=हान) किस उपायसे हो सकता है ? इसका उत्तर पतजलि देते है—"(पुरुष और प्रकृतिके) विवेक (=भिन्न-भिन्न होने) का निर्भ्रान्त ज्ञान हानका उपाय है ।"[1]

योगके अगोके अनुष्ठानसे (चित्तके) मलोका नाश होता है, जिससे ज्ञान उज्वल होता जाता है, यहाँ तक कि विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।[2]

३–योगकी साधनायें

योगसूत्रका मुख्य प्रयोजन है, उन साधनो या अगोके बारेमे बतलाना, जिनसे पुरुष कैवल्य प्राप्त कर सकता है । ये योगके अग आठ है, इसीलिए पतजलिके योगको भी अष्टाग-योग कहते है । ये आठ अग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, जिनमे पहिले पाँच बहिरग कहे जाते है, और अन्तिम तीन चित्तकी वृत्तियोसे विशेष सबध रखनेके कारण अन्तरग कहे जाते है । योगसूत्रके दूसरे और तीसरे पादमे इन आठो योग-अगोका वर्णन है ।

(१) **यम**[3]—अहिसा सत्य, चोरी-त्याग, (=अस्तेय), ब्रह्मचर्य और अ-परिग्रह (=भोगोका अधिक सग्रह न करना) ।

(२) **नियम**[4]—शौच (=शारीरिक शुद्धता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (=ईश्वरभक्ति) ।

(३) **आसन**[5]—सुखपूर्वक शरीरको निश्चल रखना (जिसमे कि प्राणायाम आदिमे आसानी हो) ।

(४) **प्राणायाम**[6]—आसनसे बैठे श्वास-श्वासकी गतिका विच्छेद करना ।

(५) **प्रत्याहर**[7]—इन्द्रियोका उनके विषयोके साथ योग न होने दे चित्त (=मन)का अपने रूप जैसा रहना ।

---

[1] योग० २।२६ [2] वही २।२८ [3] वही २।३० [4] वही २।३२
[5] योग० २।४६ [6] वही २।४९ [7] वही २।५४

(६) **धारणा**[1]—(किसी खास) देश (=नासाग्र आदि) मे चित्तको रोकना।

(७) **ध्यान**[2]—उस (धारणाकी स्थिति) मे (चित्तकी) वृत्तियोकी एकरूपता।

(८) **समाधि**[3]—वही (ध्यान) जब (ध्यानके) स्वरूप (के ज्ञानसे) रहित, सिर्फ (ध्येय) अर्थ (के स्वरूप) मे प्रकाशमान होता है (तो उसे समाधि कहते है)। —अर्थात् ध्येय, ध्याता और ध्यानके ज्ञानोमे जहाँ ध्येय मात्रका ज्ञान प्रकट होता है, उसे समाधि कहते है।

धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अन्तरग योगागोको **सयम** भी कहते है।

§३–शब्दप्रमाणक ब्रह्मवादी वादरायण (३०० ई०)

१–वादरायणका काल

यूनानियो और शकोके चार शताब्दियोके शासन और सस्कृति-सबधी प्रभाव तथा बौद्धोके तीक्ष्ण तर्क प्रहारसे ब्राह्मणोके कर्मकाडकी ही नही उनके उपनिषदीय अध्यात्म दर्शनका प्रभाव भी क्षीण होने लगा। जहाँ तक युक्ति-सगत सिद्धान्तोके सबधमे उत्तर हो सकता था वह उन्होने न्याय, वैशेषिक, योग और साख्य द्वारा दिया, किन्तु वह काफी नही था। यदि वेद-मूलक ज्ञान और कर्मकाडके सबधमे उत्पन्न हुई शकाओका वह उत्तर नही दे सकते थे, तो ब्राह्मणधर्मकी जड खुद चुकी थी, इसीलिए उनकी रक्षाके लिए वादरायण और जैमिनिने कलम उठाई। जैमिनिकी कर्म-मीमासाके बारेमे हम लिख चुके है। वहाँ हमने यह भी वतलाया था, कि एक दूसरेकी राय उद्धृत करनेवाले जैमिनि और वादरायण समकालीन थे, जिसका अर्थ हुआ, वादरायण भी ३०० ई० मे मौजूद थे। पौराणिक परपरा वादरायण

[1] योग० ३।१ [2] वही ३।२ [3] वहीं ३।३

तथा व्यासको एक मानती है, और पाँच हजारसे कुछ साल पहिले महाभारत कालमे उनका होना वतलाती है, किन्तु, इसका खडन स्वयं वेदान्त सूत्रकारके वे सूत्र करते है, जिनमे सिर्फ बुद्धके दर्शनका ही नही, बल्कि उनकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)से छै-सात सदियोसे भी पीछे अस्तित्वमे आनेवाले बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो—वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक—का खडन है। अफलातूँके प्रभावसे प्रभावित हो बौद्धोने अपने विज्ञानवादका विकास नागार्जुन (१७५ ई०)से पहिले भी किया था जरूर, किन्तु उसका पूर्ण विकास दो पेशावरी पठान भाइयो—असग और वसुवधु (३५० ई०)—ने किया। यद्यपि विज्ञानवाद (=योगाचार)का जिस प्रकार खडन सूत्रोंमे किया गया है, उससे काफी सदेहकी गुजाइश है, कि वेदान्तसूत्र असग (३५० ई०)से पीछे बने, तो भी और निश्चयात्मक प्रमाणोके अभावमे अभी हम यही कह सकते है, कि वादरायण, कणाद (१५० ई०), नागार्जुन (१७५ ई०), योगसूत्रकार पतजलि (२५० ई०), के पीछे और जैमिनि (३०० ई०)के समकालीन थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि ३५० ई० से पहिले के दर्शन-समालोचक बौद्ध-दार्शनिकोके ग्रथोसे पता नही लगता, कि उनके समयमे वेदान्तसूत्र या मीमासासूत्र मौजूद थे।

२—वेदान्त-साहित्य

वेदान्तसूत्रोपर बौधायन और उपवर्षने वृत्तियाँ (=छोटी टीकाये) लिखी थी, जिनमे बौधायन वृत्तिके कुछ उद्धरण रामानुज (जन्म १०२७ ई०)ने दिये है, किन्तु ये दोनो वृत्तियाँ आज उपलब्ध नही है। परम्परासे यही पता लगता है, कि बौधायन शारीरकवादी द्वैतवादके समर्थक थे, जो ही वेदान्त सूत्रोंका भी भाव मालूम होता है, जैसा कि आगे प्रकट होगा, और उपवर्ष अद्वैतवादके। वेदान्तसूत्रोपर सबसे पुराना ग्रथ शकर (७८८-८२० ई०)का भाष्य है। हर्षबर्धन (६४० ई०)के शासन और धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)के दर्शनके वाद, सदियोसे कलपर रख छोडी

गई सामाजिक और आर्थिक समस्याओंकी उलझनों, उनके कारण पैदा हुई विषमताओं, बहुसख्यक जनताकी पीडा-प्रताडनाओं, तथा अल्पसख्यक शासकों-शोषकोंकी मानसिक विलासिताओं, अनिश्चित भविष्य सबधी आशकाओंसे भारतीय मस्तिष्क वस्तुस्थितिको लेते हुए किसी हलके ढूँढनेमे इतना असमर्थ था, कि उसे विज्ञानवाद, परलोकवाद, मायावादकी हवामे उडकर आत्मसन्तोष या आत्मसम्मोह—आँख मूँदना—एक मात्र रास्ता सूझता था। असग, वसुवधुके विज्ञानवाद द्वारा बौद्धोंको शिक्षित शासक-शोषक वर्गमे प्रिय और सम्मानित बननेका मौका मिला था, तो भी बौद्ध विज्ञानवाद उस समय अति तक न पहुँच सका, यह तो इसीसे मालूम होता है, कि दिडनाग (४५० ई०) और धर्मकीर्त्ति (६०० ई०) विज्ञानवादी सम्प्रदायके होते भी उनपर वस्तुवादका जितना प्रभाव था, उतना विज्ञानवादका नही—धर्मकीर्त्तिको तो बल्कि स्वातन्त्रिक (=वस्तुवादी)-विज्ञानवादी साफ तौरसे कहा गया है। बौद्धोंकी सफलताको देखकर शकरने भी उपनिषद्के दर्शनको शुद्ध विज्ञानवादके रूपमे परिणत करनेकी इच्छासे अपने वेदान्तभाष्यको लिखा। उन्हे इसमे आशातीत सफलता हुई, यह तो इसीसे मालूम है, कि आजके शिक्षित हिन्दुओमे—जिन्हे दर्शनकी ओर कुछ भी शौक है—सबसे अधिक सख्या शकर-वेदान्तके अनुयायियो—"वेदान्तियो"की है, शकर-वेदान्तसे सबध रखनेवाली तथा खुद शकरभाष्य-पर लिखी गई पुस्तकोकी सख्या हजारो है। शकर-भाष्यके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) की **भामती** (शकरभाष्यकी टीका) तथा कन्नौज-राज जयचन्दके दर्बारी कवि और दार्शनिक श्रीहर्ष (११६० ई०)का **खडनखंडखाद्य** है।

शकरकी सफलताने बतला दिया, कि ब्राह्मण (=हिन्दू)-धर्मी किसी सम्प्रदायको यदि सफलता प्राप्त करनी है, तो उसे शकरके रास्तेका अनुकरण करना चाहिए। इस अनुकरणका परिणाम यह हुआ है, कि आज सभी प्रधान-प्रधान हिन्दू सम्प्रदायोंके पास अपनी दार्शनिक नीव

मजबूत करनेके लिए अपने-अपने वेदान्त-भाष्य हैं[1]—

संप्रदाय	भाष्यकार	काल
शकर (शैव)	शकर (मलबार)	७८८-८२० ई०
रामानुजीय (वैष्णव)	रामानुज (तामिल)	१०२७ (जन्म)
निम्बार्क (वैष्णव)	निम्बार्क (तेलगू)	११ वी सदी
माध्व (वैष्णव)	आनन्दतीर्थ (कर्नाट)	११९८ (जन्म)
राधावल्लभी (वैष्णव)	वल्लभ (तेलगू)	१४०१ (जन्म)

३—वेदान्तसूत्र

वेदान्तसूत्रोको शारीरकसूत्र भी कहा जाता है, क्योकि इसमे जगत् और ब्रह्मको शरीर और शरीरधारी=शारीरकके तौरपर वर्णित किया है,—जो कि शकरके मतके खिलाफ जाता है। दूसरा नाम ब्रह्ममीमासा है, जो कि कर्ममीमासा (=मीमासा)की तुलनासे रखा गया है। वेदान्त-सूत्रमे चार अध्याय और हर अध्यायमे चार-चार पाद है, जिनमे सूत्रो-की सख्या इस प्रकार है—

अध्याय	पाद	सूत्र-सख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
१	१	३२	११	उपनिषद् सिर्फ ब्रह्म-को जगत्की उत्पत्ति स्थिति प्रलयका कारण मानती है।
	२	३३	६	
	३	४४	१०	
	४	२९	८	युक्तिसे भी जगत् कारण ब्रह्म है, प्रधान आदि नही।
		१३८		

[1] इनके अतिरिक्त श्रीकठ, बलदेव और भास्करके भी भाष्य है, यद्यपि उनका आज कोई धार्मिक सप्रदाय मौजूद नही है। हालमें जब रामा-

अध्याय	पाद	सूत्र-सख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
२	१	३६	१०	दूसरे दर्शनोका खडन
	२	४२	८	
	३	५२	७	चेतन और जड
	४	१९	३	प्राण और इन्द्रियाँ
		१४९		
३	१	२७	६	पुनर्जन्म
	२	४०	८	स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें।
	३	६४	२६	उपनिषद्के सभी उपदेशो (विद्याओ)का प्रयोजन ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति,
	४	५१	१५	किन्तु कर्म भी सहकारी।
		१८२		
४	१	१९	११	ब्रह्मज्ञानका फल शरी-
	२	२०	११	रान्तके वाद मुक्तकी यात्रा।
	३	१५	५	अन्तिम यात्राका मार्ग
	४	२२	६	मरनेके वाद मुक्तकी
	१६	७६	१५१	अवस्था और अधिकार।
		५४५		

४. वेदान्तका प्रयोजन उपनिषदोका समन्वय—जिस तरह जैमिनिने ब्राह्मण और उसके कर्मकाडका अन्धाधुध समर्थन किया है, वही

नन्दी वैष्णवोने अपनेको रामानुजी वैष्णवोसे स्वतत्र सप्रदाय साबित करनेका प्रयास किया, तो किसी विद्वान्के वेदान्तभाष्यको रामानन्द-भाष्यके नामसे प्रकाशित करना जरूरी समझा।

काम वादरायणने उपनिषद्के सबधमे अपने ऊपर लिया। पहिले अध्यायके चतुर्थ पाद तथा दूसरे अध्यायके प्रथम और द्वितीय पाद——५४५ सूत्रोमेसे १०७——को छोड बाकी सारा ग्रथ उपनिषद्की शिक्षाओ, और विद्याओ (=विशेष उपदेशो) पर बहस करनेमे लिखा गया है और इन १०७ सूत्रोमे भी अधिकतर उपनिषद्-विरोधी विचारोका खडन किया गया है।

वेदान्तका प्रथम सूत्र है "अब यहाँसे ब्रह्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है, इसकी तुलना कीजिये मीमासाके प्रथम सूत्र——"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है——से। ब्रह्म क्या है, यह दूसरे सूत्रमे बतलाया है——"इस (=जगत्)का जन्म आदि (स्थिति और प्रलय) जिससे (वही ब्रह्म है)।"[1] यहाँ सूत्रकारने ब्रह्मकी सिद्धिमे अनुमान प्रमाणका प्रयोग किया है, 'हर वस्तुका कोई कारण होता है, इसलिए जगत्का भी कारण होना चाहिए' इस तर्कसे उन्होने जगत्-स्रष्टा ब्रह्मको सिद्ध किया। तो भी वादरायण ब्रह्मको तर्कसे सिद्ध करनेपर उतने तुले हुए नही मालूम होते, इसलिए सबसे भारी हेतु ब्रह्मके होनेमे तीसरे सूत्रमे दिया है——"क्योकि शास्त्र (=उपनिषद्) इसका प्रमाण है" (शब्दार्थ है "क्योकि शास्त्र उसकी योनि है"), "और वह (शास्त्रका प्रमाण होना, सारे उपनिषदोका) सर्वसम्मत (=समन्वय)[2] है।" बाकी सारा वेदान्त-सूत्र एक तरह इसी चौथे सूत्रकी विस्तृत व्याख्या है।

सर्व-सम्मत या समन्वय साबित करनेमे वादरायणने एक तो उपनिषद्के भीतरी विरोधोका परिहार करना चाहा है, दूसरे यह साबित किया है कि भिन्न-भिन्न उपनिषद्-वक्ताओने जो ब्रह्मज्ञान-सबधी खास-खास उपदेश (=विद्याये) दिए है, वह सभी उसी एक ब्रह्मके बारेमे है। ब्रह्म, जीव, जगत् आदिके बारेमे अपने सिद्धान्त क्या है, और विरोधी दार्शनिक सिद्धान्त युक्तिसगत नही है, इतना और ले लेनेपर वेदान्तसूत्रमे प्रति-

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१।१ में "जिससे ये प्राणी पैदा हुए "के आशयको इस सूत्रमें व्यक्त किया गया है। [2] वेदान्तसूत्र १।१।४

पादित सारी बातें आ जाती है, जैसा कि पहिले दिए नक्शेसे मालूम होगा।

(विरोध-परिहार)—उपनिषद्के ऋषियोने जगत्के मूलकारणके ढूँढनेका प्रयास किया था, और सभी एक ही रायपर नही पहुँचे—उदाहरणार्थ सयुग्वा रैक्व जल (=आप)को मूलकारण मानता था, पिछले उपनिषदोमे कपिल भी ऋषि माने गए है, वह प्रधानको मूलकारण मानते थे। इसलिए वादरायणके लिए यह जरूरी था, कि उपनिषद्के ऐसे वक्तव्योके पारस्परिक विरोधको दूर करे। ग्रथकारने पहिले अध्यायके पहिले पादके पाँचवे सूत्रसे विरोध-परिहारको शुरू किया है।

(१) प्रधान (=प्रकृति)को उपनिषद् मूलकारण नहीं मानता—उद्दालक आरुणिने अपने पुत्रको ब्रह्मका उपदेश करते हुए कहा था[1]—"सौम्य! यह पहिले एक अद्वितीय सद् (=अस्ति रूप) था। उसने ईक्षण (=कामना) किया कि 'मै बहुत सा होऊँ'।" यहाँ जिस सद्, एक, अद्वितीय तत्त्वके अस्तित्वको सृष्टिसे पहिले आरुणि स्वीकार करते है, वह कपिल-प्रतिपादित प्रधान (=प्रकृति) पर भी लागू हो सकता था, फिर कही जगत्का जन्म ब्रह्मसे मानना कही प्रधानसे, यह परस्पर-विरोधी बात होती, इसी विरोधको दूर करते हुए वादरायणने कहा है[2]—"अ-शब्द (=उपनिषद्के शब्दोसे न प्रतिपादित प्रधान, यहाँ अभिप्रेत) नही है, क्योकि यहाँ ईक्षण (का प्रयोग किया गया है, और वह जड प्रधानके लिए इस्तेमाल नही हो सकता)।" प्रश्न हो सकता है, शब्दोका प्रयोग कितनी ही बार मुख्य नही गौण अर्थमे भी किया जाता है, उसी तरह आगे होनेवाली वातको काव्यकी भाषामे ऋषिने "ईक्षण किया" कहा होगा। उसका उत्तर है—"गौण नही है, क्योकि (वहाँ उसी सत्के लिए) आत्म शब्द (का प्रयोग आया है, जो कि जड प्रधानके लिए नही हो सकता)।" यही नही "उस (सत्य)मे निष्ठावालेको मोक्ष पानेकी

---

[1] छान्दोग्य ६।२।१; देखो पृष्ठ ४५२ भी। [2] वे० सू० १।१।५-८

बात कही है। (प्रधान अभिप्रेत होता तो मुमुक्षु श्वेतकेतुके लिए अन्तमे उस प्रधानको हेय=त्याज्यके तौरपर बतलाना चाहिए था) "हेय होना न कहना भी (यही सिद्ध करता है, कि आरुणि सत्से प्रधानका अर्थ नही लेते थे)। आरुणिने उपदेशके आरम्भ ही मे "एकके जाननेसे सबका ज्ञान"[1] होता है, इसे मिट्टीके पिड और मिट्टीके भाडोके उदाहरणसे बतलानेकी प्रतिज्ञा (=दावा) की थी, चेतन (=पुरुष) उसी तरह प्रधानका कारण नही हो सकता, इसलिए[2] "(उस) प्रतिज्ञाके विरोध (का ख्याल करने)से" भी यहाँ सद्से **प्रधान** अभिप्रेत नही है। आगे[3] इसी उपदेशमे स्वप्नमे पुरुष (=जीव)के उस सत्के पास जानेकी बात कही है, इस[4] "स्वप्नमे जाने (की बात)से" भी प्रधान अभिप्रेत नही मालूम होता। यही नही जैसे यहाँ "सद् ही अकेला पहिले था" कहा गया है, उसी तरह ऐतरेय उपनिषद्मे[5] "आत्मा ही अकेला पहिले था" कहा गया है, इस "एक तरहकी (वर्णन) गति (=शैली)से"[6] भी हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। और खुद आत्माका शब्द भी सत्के लिए वही[7] "सुना गया (श्रुतिने कहा) है इससे भी।"[8]

इसी तरह "आनन्दमय"मे **मय** (धातुमय)से जीवात्मा अभिप्रेत नही है, बल्कि वहाँ भी यह ब्रह्मवाचक है।

(२) जीवात्मा (और प्रधान) भी मूल कारण नहीं—तैत्तिरीय उपनिषद्मे[9] कहा है—"उसी इस आत्मासे आकाश पैदा हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे आग, आगसे जल, जलसे पृथिवी विज्ञान (=आत्मा)को यदि ब्रह्म जानता है तो सभी कामनाओको प्राप्त करता है। उस (=विज्ञान)का यह शरीर(मे रहने) वाला ही आत्मा है, जो कि पहिलेका

---

[1] छां० ६।१।१, देखो पृष्ठ ४५१ भी। [2] वे० सू० १।१।६
[3] छा० ६।८।१ [4] वे० सू० १।१।१० [5] ऐतरेय १।१
[6] वे० सू० १।१।११ [7] छा० ६।३।२ "अनेन जीवेनात्मना"।
[8] वे० सू० १।१।१२ [9] २।१, ५

है। उसी इस विज्ञानमयसे अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है, उससे यह (विश्व) पूर्ण है।" यहाँ आत्मासे आकाश आदिकी उत्पत्ति बतलाई है, जिससे आत्मा मूलकारण मालूम होता है, और उसी आत्माके लिए "आनन्दमय", "शरीरवाला" भी प्रयुक्त हुआ है, जिससे जान पडता है, सृष्टिकर्तासे यहाँ ब्रह्म नही जीवात्मा अभिप्रेत है। इसका उत्तर वेदान्तके आठ सूत्रोमे दिया गया है[1]—

"आनन्दमय (यहाँ जीवके लिए नही ब्रह्मके लिए है) क्योकि (तैत्तिरीय उपनिषद्के इसी प्रकरण—ब्रह्मानदवल्ली—मे आनन्द शब्दको ब्रह्मके लिए) बार-बार दुहराया गया है।"

"मय (सिर्फ) विकार (मिट्टीका विकार घडा मृन्मय, सोनेका विकार कुडल सुवर्णमय) वाचक नही है, बल्कि (वह) अधिकता (जैसे सुखमय)के लिए भी होता है।"

"और (वही तैत्तिरीयमे[2]) उस (आनन्द)का (इस आत्माको) हेतु भी बतलाया गया है।"

"और (उसी उपनिषद्के) मन्त्राक्षरमे[3] (जो 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म') आया है, वही (आनन्दमयसे यहाँ) गाया (=वर्णित किया) गया है।"

"(ब्रह्मसे) दूसरा (जीवात्मा) यहाँ सभव नही है (क्योकि उसमे जगत्के उत्पादनके लिए आवश्यक सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ है?)।"

"और (यदि कहो कि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही है, तो यह गलत है) क्योकि (दोनोमे) भेद बतलाया गया है।"—('उसी इस विज्ञानमय (जीव)से अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है')।

"उसने कामना की" यहाँ जो "कामना करना आया है, उससे (शब्द-प्रमाण-बहिष्कृत) अनुमान-गम्य (=प्रधान) भी नही लिया जा सकता।"

---

[1] वे० सू० १।१।१३-२०　[2] तै० उ० २।६　[3] तै० उ० २।१

"और फिर इस (आत्मा)के भीतर उस (आनन्द)का इस (जीव)के साथ योग (=मिलना) भी कहा[1] गया है ।"

इस प्रकार आत्मा शब्दसे यहाँ न जीवको लेकर उसे मूलकारण माना जा सकता है, और न "मय" प्रत्ययके विकार अर्थको ले **सांख्यवाले प्रधान**को लिया जा सकता । इस तरह उपनिषद् ब्रह्मको ही विश्वके जन्म आदिका कर्त्ता मानते है, यह बात साफ है ।

"अन्तर", "आकाश", "प्राण", "ज्योति" शब्दोको भी छान्दोग्य उपनिषद्मे[2] जन्मादि-कर्त्ताके तौरपर कहा गया है । उनके बारेमे भी प्रकृति (=प्रधान) या प्राकृतिक पदार्थका भ्रम हो सकता है, जिसको सूत्रकारने इस पादके आठ सूत्रोमे यह कह कर दूर किया है, कि इनमे शब्दोके साथ जो विशेषण आदि आए है, वह ब्रह्मपर ही घट सकते है, जीव या प्रकृति-पर नही ।

(३) जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर—उपनिषद्के कुछ उपदेश ऐसे भी है, जिनसे मालूम होता है, कि वक्ता जीव और ब्रह्मको एकसा समझता है, बादरायण **शारीरकवाद** (=जीव और जगत शरीर है, और ब्रह्म शरीरवाला=शारीरक, शरीर और शरीरवालेको अभिन्न समझना आम-तौरसे प्रचलित है, अथवा तीनो मिलकर एक पूर्ण ब्रह्म है) को मानते जरूर थे, किन्तु वह जीव ही ब्रह्म है इसे माननेके लिए तैयार न थे, इसलिए जहाँ कही ऐसे भ्रमकी सभावना हुई है, उसे उन्होने बार-बार हटानेकी कोशिश की है, इसे हम आगे बतलायेगे। कौषीतकि उपनिषद्[3]मे इसी तरहका एक प्रकरण आया है, जिसमे "प्राण"को लेकर ऐसे भ्रमकी गुजाइश है—'दिवोदास्का पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-सग्राममे) युद्ध(-विजय) तथा

---

[1] तै० २।७ "वह (ब्रह्म) रस है, इसको ही पाकर यह (जीव) आनन्दी होता है ।"

[2] क्रमश. निम्नस्थलोमें—छा० १।३।६; छा० १।६।१; छा० १।११।५; छा० १।११।४ [3] कौ० उ० ३।१,६

पराक्रमसे इन्द्रके प्रिय धाम (इन्द्रलोक)मे पहुँचा। उसे इन्द्रने कहा—'....तुझे वर देता हूँ।' उसने उत्तर दिया—'मनुष्योके लिए जो हिततम वर हो ऐसे वरको तुम ही चुन दो।' ...इन्द्रने कहा—'मेरा ही ज्ञान प्राप्त कर . मै प्रज्ञात्मा (=प्रज्ञास्वरूप) **प्राण** हूँ; मुझे आयु, अमृत समझ उपासना कर।" यहाँ प्राणकी उपासना कहनेसे जान पडता है कि वह ब्रह्मकी भाँति उपास्य है, तथा इन्द्र (एक जीव)के कहनेसे वह जीवात्माका वाचक भी मालूम होता है। सूत्रकारने इस सन्देहको दूर करते हुए कहा[1]—

"(यहाँ) प्राण (पहिले) जैसा ही (ब्रह्मवाचक) है, क्योकि (आगे कहे गए विशेषण तभी) सभव है।"

"वक्ता (इन्द्र) अपने (जीवात्माकी उपासना)का उपदेश करता है, यह (माननेकी जरूरत) नही, क्योकि (वक्ता इन्द्र)मे आत्माका आन्तरिक सबध बहुत अधिक (ब्रह्मसे व्याप्त है, इसलिए ब्रह्मभूतके तौरपर वहाँ इन्द्रने अपने भीतर प्राण ब्रह्मकी उपासना करनेका उपदेश दिया, न कि अपने जीवको ब्रह्म सिद्ध करनेके लिए)।"

"शास्त्रकी दृष्टिसे भी (ऐसा) उपदेश होता है, जैसे कि वामदेव (ने कहा है)।" बृहदारण्यकमे[2] कहा है—"इसीको देखते हुए ऋषि वामदेवने कहा[3]—'मै मनु हुआ था और मै सूर्य हुआ था।' सो आज भी जिसे ज्ञान हो गया है—'मै ब्रह्म हूँ' वह यह सब (=विश्व) होता है इन सबका वह आत्मा होता है।" वामदेवने जैसे ब्रह्मको अपने आत्माके तौरपर समझकर उसके नाते मनु और सूर्यको अपना रूप (=शरीर) बतलाया, वैसे ही इन्द्रका प्राण और अपनी उपासानके बारेमे कहना भी है।

(४) उपनिषद्मे अस्पष्ट और स्पष्ट जीववाची शब्द भी ब्रह्मके लिए प्रयुक्त—कितने ही जीव-वाचक शब्द है, जिन्हे उपनिषद्के

[1] वे० सू० १।१।२९-३२ [2] बृ० उ० १।४।१० [3] ऋक्० ३।६।१५

ऋषियोंने ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया है, इसलिए उन शब्दोके कारण इस भ्रममे नही पडना चाहिए कि उपनिषद् जीवको ही जन्मादिकारण तथा उपास्य मानती है। ऐसे शब्दोमे कुछ साफ साफ जीव-वाचक नही है, ऐसे अ-स्पष्ट जीववाचक शब्दोके बारेमे सूत्रकारने दूसरे पादमे कहा है, स्पष्ट जीववाचक शब्द भी ब्रह्मके अर्थमे प्रयुक्त हुए है, यह तीसरे पादमे बतलाया है।

मनोमय[1], अत्ता (=भक्षक), अन्तर (=भिन्न), अन्तर्यामी, अदृश्य (=आँखसे न दिखाई देनेवाला), वैश्वानर ऐसे शब्द है, जो कि कितनी ही बार जीवके लिए भी प्रयुक्त हुए है, किन्तु ऐसे स्थल[1] भी है, जहाँ उन्हे ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया गया है, इसलिए विरोधका भ्रम नही होना चाहिए। पहिले अध्यायके दूसरे पादमे[2] इन्ही छै शब्दोको ब्रह्मवाची साबित किया गया है।

द्यौ और पृथिवीमे रहनेवाला भूमा (=बहुत), अन्तर, ईक्षण (=चाह) करनेवाला, दहर (=छोटासा), अगुष्ठमात्र, देवताओका मधु, अगुष्ठ, आकाश जैसे जीवात्मावाची शब्द कितने ही उपनिषदो[3]मे आए है, इनमे भी जन्मादि कर्त्ता जैसे विशेषण आए है, तीसरे पादमें[4] इन्हे ब्रह्म-वाची सिद्ध कर विरोध-परिहार किया गया है।

इस प्रकार पहिले अध्यायके प्रथम तीन पादोमे ब्रह्म ही जिज्ञास्य

---

[1] देखो क्रमशः छां० ३।४।१; कठ० १।२।२; छा० ४।१५।१; बृह० ३।७।३; मुंडक १।१।५-६; छां० ५।११।६

[2] क्रमशः निम्न सूत्र १–८, ९-१२, १३-१८, १९-२१, २२-२४, २५-३३

[3] क्रमशः मुंडक २।२।५; छां० ७।२४।१; बृह० ५।८।८; प्रश्न ५।५; तै० ८।१।१; कठ २।४।१२; छां० ३।१।१; कठ २।४।१२, २।६।१७; छां० ८।१४।१

[4] क्रमशः १-६, ७-८, ९-११, १२, १३-२२, २३-२४, ३०-३२, ४०-४१, ४२-४४

(=ज्ञानका विषय) तथा जगत्‌का जन्म-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता उपनिषद्‌मे बतलाया गया है, इस पक्षका सूत्रकारने समर्थन तथा पारस्परिक विरोधो-का परिहार किया है। वेदान्त-सूत्रोमे जिन उपनिषदोके बचनोपर ज्यादा बहस की गई है, वह ये है—कठ, प्रश्न, मुड, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांन्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकि, जिनमे छान्दोग्यके वाक्य एक दर्जनसे अधिक सूत्रोमे बहसके विषय बनाए गए है।

५. वादरायणके दार्शनिक विचार—वादरायणने उपनिषदोके सिद्धान्तोकी व्याख्या करनी चाही, किन्तु वादरायणके सूत्रोको लेकर आजकल, द्वैत, अद्वैत, द्वैत-अद्वैत, शुद्ध-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत, त्रैत आदि कितने ही वाद चल रहे है, और सभी दावा करते है, कि वही भगवान् वादरायणके एकमात्र उत्तराधिकारी है। वादरायणने स्वय उपनिषद्‌के भिन्न-भिन्न ऋषियोके मतभेदोको हटाकर सर्व-समन्वय करना चाहा था, किन्तु उपनिषद्‌मे मतभेदके काफी बीज थे, जिसके कारण अनुयायियोने गुरुकी सर्वसमन्वय नीतिको ठुकरा दिया, और आज वेदान्तके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोमे उससे कही जबर्दस्त मतभेद है, जितना कि रैक्व, आरुणि या याज्ञवल्क्यमे हमने देखा है। यहाँ ब्रह्म, जगत्, जीव आदिके बारेमे हम वादरायणके अपने विचार देते है, जिससे पता लगेगा, कि उनके सिद्धान्तोके सबसे समीप यदि किसीका वेदान्त है, तो वह रामानुजका।

(१) ब्रह्म उपादान-कारण—"जगत्‌का जन्म आदि जिससे है"[1] इस सूत्रसे ब्रह्मके कर्म—सृष्टिका उत्पादन, धारण और विनाशन—को बतलाया है, साथही अगले सूत्रोमे उपनिषद्‌के वाक्योकी सहायतासे सूत्रकारने यह भी बतलाना चाहा, कि जैसे मिट्टी घडे आदिका उपादान कारण है, वैसे ही विश्वका (निमित्त ही नही उपादान-) कारण भी ब्रह्म है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—ब्रह्म, चेतन, शुद्ध, ईश्वर स्वभाववाला है, जब कि जगत् अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर (=पराधीन) है, फिर कारणमे

---

[1] वे० सू० १।१।२

कार्य इतना विलक्षण (=अ-समान) स्वभाववाला क्यो ? इसका समाधान करते हुए वादरायण कहते है[1]—(कारणसे कार्यका विलक्षण होना) देखा जाता है। मक्खियाँ या तितलियाँ अपने अडोसे जिन कीडोको पैदा करती है, वह अपनी मातृव्यक्तिसे विलकुल ही विलक्षण होते है, और इन कीडोमे जो फिर मक्खी या तितली पैदा होती है, वह अपने मातृस्थानीय कीडोसे विलक्षण होती है। (देखिये वैज्ञानिक भौतिकवादका गुणात्मक-परिवर्त्तन कैसे स्वीकारा जा रहा है!) सृष्टिसे पहिले उसका "असद् होना जो कहा है वह सर्वथा अ-भावके अर्थमे नही है, वल्कि जिस रूपमे कार्य-रूप जगत् है, उसका प्रतिषेध करके कार्यसे कारणकी विलक्षणताको ही यह पुष्ट करता है। उपादानकारण माननेपर कार्य (जगत्)की अशुद्धता, परवशता आदिके ब्रह्मपर लागू होनेका भय नही है, क्योकि उसका दृष्टान्त यह हमारा शरीर मौजूद है,—यहाँ शरीरके दोषसे आत्मा लिप्त नही है, इसी तरह जगत्के दोषसे उसका शारीरक (=आत्मा) लिप्त नही होगा। ब्रह्मसे भिन्न **प्रधान**को कारण माननेसे और भी दोष उठ खडे होगे।—प्रधान जड है, पुरुष बिलकुल निष्क्रिय है, फिर प्रधान, पुरुषका न योग हो सकता है, और न उससे सृष्टि ही उत्पन्न हो सकती है। तर्कसे हम किसी एक निश्चयपर नही पहुँच सकते, तर्क एक दूसरेको खडित करते रहते है, इस लिये उपनिषद्के वचनको स्वीकार कर ब्रह्मको जगत्का उपादान-कारण मान लेना ही ठीक है।

[2]ब्रह्मसे जगत् भिन्न नही है, यह उद्दालक आरुणिके[3] "मिट्टी ही सच है, (घडा आदि तो) वात कहनेके लिए नाम है" इस वचनसे स्पष्ट है, क्योकि (जिस तरह मिट्टीके होनेपर ही घडा मिलता है, वैसे ही ब्रह्मके) होनेपर ही (जगत्) प्राप्त होता है, और कार्यके कारण होनेसे भी ब्रह्मसे जगत भिन्न नही। जैसे (सूत) पटसे (भिन्न नही) वैसे ही ब्रह्म जगत्से

---

[1] वे० सू० २।१।६-७, ६-१२ भावार्थ।
[2] वे० सू० २।१।१५-२० भावार्थ। [3] छा० ६।१।४

भिन्न नही। जैसे (वही वायु) प्राण अपान आदि कितने ही रूपोमे देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्‌के नाना रूपोमे दिखाई पडता है।

जगत्‌को ब्रह्मसे अभिन्न कहते हुए जीवको भी वैसा ही कहना पडेगा, फिर यदि जीव ब्रह्म है, तो अपनेको बधनमे डालकर वह स्वय क्यो अपने हितका न करनेवाला हो गया ? यह प्रश्न नही हो सकता; क्योकि ब्रह्म जीव भर ही नही उससे अधिक भी है, यह भेद करके बतलाया[1] गया है।—"जो आत्मामे रहते भी आत्मासे भिन्न है, जिसे आत्मा नही जानता, जिसका कि आत्मा शरीर है।"[2] पत्थर आदि (भौतिक पदार्थों)मे उस (=ब्रह्म)के विशेष गुण सभव नही, वैसे ही जीवमे भी वह सम्भव नही है। इसलिए जहाँ जीव जगत्‌से ब्रह्मके अनन्य होनेकी बात कही गई है, वहाँ आत्मा और आत्मीय (=शरीर) भावको लेकर ही समझना चाहिए। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म जगत्‌की सृष्टि करनेमे साधनोका मुहताज नही है, बल्कि जैसे दूध स्वय दही रूपमे बदल सकता है, वैसे ही ब्रह्म भी अपने सकल्प (=कामना) मात्रसे जगत्‌की सृष्टि कर सकता है, देव आदि अपने-अपने लोकोमे ऐसा करते है यह शास्त्रसे मालूम है।

प्रश्न हो सकता है, ब्रह्म तो एक अखड पदार्थ है, यदि वह जगत्‌के रूपमे परिणत होता है, तो सपूर्ण शरीरसे परिणत होगा, अन्यथा उसे अखड नही कहा जा सकता। किन्तु इसका उत्तर यह है कि उस परमात्मामे ऐसी बहुत सी विचित्र शक्तियाँ है, जिन्हे कि श्रुति हमे बतलाती है। उसी विचित्र शक्तिसे यह सब सभव है और इतना होनेपर भी वह निर्विकार रहता है।

(२) **सृष्टिकर्त्ता**[3]—ब्रह्म स्रष्टा (=जन्मादि कर्त्ता) कहा गया है; किन्तु सवाल होता है, उस नित्य मुक्त तृप्त ब्रह्मको सृष्टि करनेका प्रयोजन क्या है ? उत्तर है—लोकमे जैसे अपेक्षाकृत "नित्य मुक्त तृप्त"

---

[1] वे० सू० २।१।२१-३१ [2] बृह० ५।७।२२-३१ भावार्थ।
[3] वे० सू० २।१।३२-३६ भावार्थ।

महाराजा भी लीला (=खेल) मात्रके लिए गेंद आदि खेलते है, वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टिको लीलाके लिए करता है। जगत्की विषमता या क्रूरताको देखकर ब्रह्मपर आक्षेप नही करना चाहिए, क्योकि ब्रह्म तो जीवोके कर्मकी अपेक्षासे वैसा जगत् बनाता है, और यह कर्म अनादि कालसे चला आया है, इसलिए जगत्की सृष्टि भी अनादिकालसे जारी है। प्रधान या परमाणुको जगत्का कारण मानकर जो बाते देखी जाती है, वह अधिक पूरे निर्दोष रूपमे सिद्ध हो सकती है, यदि ब्रह्मको ही एकमात्र निमित्त-उपादानकारण माना जाये।

इस तरह बादरायण जगत्, जीव, ब्रह्मको एक ऐसा शरीर मानते है, जो तीनोको मिलकर पूर्ण होता है, और जो सारा मिलकर सजीव सशरीर ब्रह्म ही नही है, बल्कि जिसमे एक "अवयव"के दोष उस अखंड ब्रह्मपर लागू नही होते। कैसे ? इसका जो उत्तर बादरायणने दिया है, वह बिलकुल असन्तोषजनक है, तथा उसका आधार शब्द छोड दूसरा प्रमाण नही है।

(३) **जगत्**—जगत् ब्रह्मका शरीर है, जगत्का उपादानकारण ब्रह्म है, दोनोमे विलक्षणता है, किन्तु कार्य कारणकी यह विलक्षणता बादरायण स्वीकार करते है, यह बतला चुके है। बादरायणने कही भी जगत्को माया या काल्पनिक नही माना है, और न उनके दर्शनसे इसकी गध भी मिलती है कि "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।"[1]

किन्तु जगत् उत्पत्तिमान् है, पृथिवी, जल, तेज, वायु ही नही आकाश भी उत्पत्तिमान् है। बादरायण दूसरे दर्शनोकी भाँति आकाशको उत्पत्तिरहित नही मानते, इसे उन्होने "उसी आत्मासे आकाश पैदा हुआ"[2] आदि उपनिषद्-वाक्योसे सिद्ध किया है। आकाशकी भाँति दूसरे महाभूत—पृथिवी, जल,[3] तेज, वायु तथा इन्द्रियाँ और मन भी उत्पन्न है, और उनका कारण ब्रह्म है।

---

[1] "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" [2] तैत्तिरीय २।१

[3] वे० सू० २।३।१-१७

(४) **जीव (क,ख) नित्य और चेतन**—जगत् ब्रह्मका शरीर है, वैसे ही जीव भी ब्रह्मका शरीर है, ब्रह्म दोनोका ही अन्तर्यामी आत्मा है—याज्ञवल्क्यका यह सिद्धान्त[1] वादरायणके ब्रह्मवादका मौलिक आधार मालूम होता है, साथ ही वह जगत्को ब्रह्मसे उत्पन्न मानते है, यद्यपि उत्पन्नका अर्थ वह माया या रस्सीमे साँप जैसा भ्रम नही मानते। ब्रह्म और जगत्के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी है, जिसकी सत्ताको वह स्वीकार करते है, वह है जीवात्मा जो कि सख्यामे अनेक है। इनमे ब्रह्म स्वरूपसे ही अनादि कूटस्थ नित्य है। जगत् अनादि है क्योकि जिन कर्मोकी अपेक्षासे ब्रह्म लीलाके लिए उसे बनाता है, वह अनादि है। जगत् स्वरूपसे नही प्रवाहसे अनादि है, इसीको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा[2] है —"श्रुतिसे आत्मा (पृथिवी आदिकी भाँति उत्पत्तिमान्) नही (सिद्ध होता), बल्कि उनसे (उसका) नित्य होना (पाया) जाता है।" "(वह) चेतन न जन्मता है न मरता है।"[3] "नित्योमे (जीवोमे वह ब्रह्म) नित्य है।"[4] —आदि बहुतसे उपनिषद्-वाक्य इस बातके प्रमाण है।"[5] आत्मा ज्ञ (=चेतन) है।

(ग) **अणु-स्वरूप आत्मा**—जीवके शरीर छोडकर शरीरान्तर लोकान्तरमे जानेकी बातसे उसका अणु (=सूक्ष्म) रूप होना सिद्ध होता। "यह आत्मा अणु है"[6] यह स्वय श्रुतिने कहा है। श्रुति (=उपनिषद्) मे यदि कही महान्का शब्द आया है, तो वह जीवात्माके लिए नही परमात्मा (=ब्रह्म)के लिए है। अणु तथा हृदयमे अवस्थित होते भी आत्मा चन्दन या प्रकाशकी भाँति सारे देहमे अपनी चेतनासे व्याप्त कर सकता है। "जैसे गध (अपने द्रव्य पृथिवीका गुण होते भी उससे भिन्न है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मासे) भिन्न है।" कही-कही यदि आत्माको ज्ञान या विज्ञान कहा

---

[1] बृह० ३।७।३-२३ [2] वे० सू० २।३।१८ [3] कठ २।१८
[4] श्वेताश्वतर ६।१३ [5] वे० सू० २।३।१९-३२ भावार्थ।
[6] मुंडक ३।१।९

गया है, तो इसलिए कि ज्ञान आत्माका सारभूत गुण है, और इसलिए भी कि जहाँ जहाँ आत्मा है, वहाँ विज्ञान (=ज्ञान) ज़रूर रहता है। यदि कभी विज्ञान नही दीख पडता, तो मौजूद होते भी बाल्यावस्थामे जैसे (शिशुमे) पुरुषत्व नही प्रकट होता, वैसे समझना चाहिए। ज्ञान शरीरके भीतर तक ही रहता है, इससे भी आत्मा अणु (=एक-देशी) सिद्ध होता है।

(घ) कर्त्ता आत्मा[1]—आत्मा कर्त्ता है, इसके प्रमाण श्रुति[2]मे भरे पडे हैं। और उसके कर्त्ता न होनेपर भोक्ता मानना भी गलत होगा, फिर (साख्य-योग-सम्मत) समाधिकी क्या जरूरत? आत्माको कर्त्ता माननेपर उसे किसी वक्त क्रिया करते न देखनेसे कोई दोष नही, बढईमे अपने काम करनेकी (=कर्तृत्व) शक्ति है, किन्तु वह किसी वक्त उसको इस्तेमाल करता है, किसी वक्त न इस्तेमाल कर चुप बैठा रहता है। जीवकी यह कर्तृत्व शक्ति परमात्मासे मिली है, यह श्रुतिसे[3] सिद्ध है। शक्तिके ब्रह्मसे मिलनेपर भी चूँकि जीवके किए प्रयत्नकी अपेक्षासे वह कार्यपरायण होती है, इसलिए पुण्य-पापके विधि-निषेध फजूल नही, और न जीवको बेकसूर दड भोगनेकी बात उठ सकती है।

(ङ) ब्रह्मका अंश जीव है[4]—जीवात्मा ब्रह्मका अश है, यह उपनिनिषद्-सम्मत विचार वादरायणको भी स्वीकृत है। प्रश्न हो सकता है, शुद्ध ब्रह्मका अश होनेसे जीव भी शुद्ध हुआ, फिर उसके पुण्य-पापके सबंधमे विधि-निषेधकी क्या आवश्यकता? (वादरायण छुआछूत जात-पाँतके कट्टर पक्षपाती है, इस बारेमे उन्हे वेदान्त कुछ भी सिखलानेमे असमर्थ है,) इसीलिए वह समाधान करते है, कि देह-सबधसे विधि-निषेध की जरूरत होती है, जैसे आगके एक होनेपर भी अग्निहोत्री ब्राह्मणके घरकी आग ग्राह्य है और श्मशानकी त्याज्य। जीव ब्रह्मका अश है, साथ ही अणु भी है, इसलिये एक जीवके भोगके दूसरेमे मिल जानेका डर

---

[1] वे० सू० २।३।३३-४१
[2] बृह० ४।१।१८; तैत्ति० २।५।१
[3] बृह० ३।७।२२
[4] वे० सू० २।३।४२-४८

नही है, क्योकि प्रत्येक जीव एक दूसरेसे भिन्न है ।

(च) जीव ब्रह्म नहीं है—यद्यपि शरीर शरीरी भावसे वादरायण जीवको ब्रह्मके अन्तर्गत उसका अभिन्न अश मानते है, किन्तु जीव और ब्रह्मके स्वरूपमे भेदको साफ रखना चाहते है।[1] "और (जीव तथा ब्रह्म के) भेद को (उपनिषद्मे) कहनेसे (दोनो एक नही[2] है)।" इस सूत्रको वादरायणने पहिले अध्यायमे ही तीन बार दुहराया है। "भेदके कहनेसे (ब्रह्म जीवसे) अधिक है"[3] भी कहा है, और अन्तमे[3] मुक्त होनेपर भी जगत् बनाने आदिकी बात छोड जीव और ब्रह्ममे सिर्फ भोग भरकी समानता होती है, कह कर वह ब्रह्म और जीवको एकताको किसी अवस्थामे सभव नही मानते ।

(छ) जीवके साधन—अणु-परिमाणवाले जीवके क्रिया और ज्ञानके साधन ग्यारह इन्द्रियाँ है[4]—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्—पाँच ज्ञान-इन्द्रिय, वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रिय, मूत्र-इन्द्रिय—पाँच कर्म-इन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन। ये सभी इन्द्रिय उत्पत्तिमान् (=अनित्य) और अणु (=एकदेशी) है।[5]

इन ग्यारह इन्द्रियोके अतिरिक्त प्राण (=श्रेष्ठ) भी जीवके साधनोमे है, और वह भी अनित्य तथा अणु है'।[6]

(ज) जीवकी अवस्थायें[7]—स्वप्न, सुषुप्ति, जागृत, मूर्छा जीवकी भिन्न-भिन्न अवस्थाये है। स्वप्नकी वस्तुये माया मात्र है। स्वप्न ब्रह्मके सकल्पसे होता है, तभी तो स्वप्नसे अच्छी वुरी घटनाओकी पूर्व-सूचना मिलती है। स्वप्नका अभाव सुषुप्तिमे होता है। वातोकी अनुस्मृतिसे सिद्ध है, कि सुषुप्तिके वाद जागनेवाला पहिला ही आत्मा होता है। मूर्छा आधा मरण है ।

---

[1] वे० सू० १।१।८; १।१।२२; १।३।४ [2] वे० सू० २।१।२२
[3] वे० सू० ४।४।१७, २१ [4] वही २।४।४-५ [5] वही २।४।१, २।४।६
[6] वही २।४।७ [7] ब्रे० सू० ३।२।१-१०

(झ) **कर्म**—पहिले बतला चुके है[1], कि जगत् बनानेमे ब्रह्मको भी जीवके कर्मकी अपेक्षा पडती है। वस्तुत जगत्मे—मानव समाजमे—जो विषमता देखी जा रही, जिस तरह हजार मे ९९० मनुष्य श्रम करते करते भूखे मरते है, और १० बिना काम किये दूसरेकी कमाईसे मौज करते है, जिनको ही देखकर पुरोहितोने देवलोककी कल्पना की। फिर प्राणि-जगत्—मनुष्यसे लेकर सूक्ष्मतम कीटो तक—मे जिस तरहका भीषण सघार मचा हुआ है, वह जगत्के रचयिता ब्रह्मको भारी हृदयहीन, क्रूर ही साबित करेगा, इससे बचनेके लिए उपनिषद्ने (पूर्वजन्मके) कर्मवाले सिद्धान्तको निकाला। समाजकी तत्कालीन अवस्था—शोषक और शोषित, दास और स्वामी प्रथा—के जबर्दस्त पोषक वादरायणने उसे दुहरा दिया। कर्म तो एक समयमे किए जाते है, फिर उससे पहिले जगत् कैसे ? इसके उत्तरमे कह दिया,[2] कर्म अनादि है।

(ञ) **पुनर्जन्म**—पुनर्जन्मके बारेमे भी वादरायणने उपनिषद्के विचारोको सुव्यवस्थित रूपसे एकत्रित किया है।[3] प्रवाहण जैवलिके[4] "पानीके पुरुष रूप धारण करने"के उपदेशको सामने रख वादरायण कहते है—जब जीव शरीर छोडता है, तो सूक्ष्म भूतो (=सूक्ष्म शरीर)के साथ जाता है। कृत कर्मोके भोगके समाप्त हो जानेपर, वह कुछ बचे अनुशय (-कर्म)के साथ लौटता है।—वादरायणके पिता वादरिके मतसे उपनिषद्मे आये **चरण**[5] शब्दसे सुकृत दुष्कृत अभिप्रेत है, जिसके साथ कि परलोकसे लौटा पुरुष इस लोकमे फिरसे जीवन आरम्भ करता है। चन्द्रलोक वही जाते है, जिन्होने कि पुण्य किया है। नये शरीरमे आनेके लिए चन्द्रमासे मेघ, जल, अन्न आदिका जो रास्ता उपनिषद्[6]ने बतलाया है, उसमे देरी नही होती। जिन धान आदि अनाजोके साथ हो जीव मातृगर्भ तक पहुँचता है, उनमे वह स्वय नही दूसरे जीवके अधिष्ठाता होते समय ऐसा

---

[1] वही २।१।३४ [2] वे० सू० २।१।३४, ३५ [3] वही ३।१।१-२७
[4] छान्दोग्य ५।३।३ [5] छां० ६।१०।७ [6] छा० ५।१०।६

करता है। उस अनाजके खानेके बाद फिर रज-वीर्यका योनिमे सयोग होता है, जिसके बाद शरीर बनता है।

(५) **मुक्ति**[१]—ब्रह्मको प्राप्त हो जीवके अपने रूपमे प्रकट होनेको मुक्ति कहते है। जीवका अपना स्वरूप अविद्यासे ढँका रहता है, जिसके खोलनेके लिए उपनिषद्-विद्याकी जरूरत पडती है।

(क) **मुक्तिके साधन**—वादरायण **विद्या** (=ब्रह्मज्ञान)को मुक्तिका खास साधन मानते है, जिसमे कर्म भी सहायक है।

(a) **ब्रह्म-विद्या**—उपनिषद्के भिन्न भिन्न ऋषियोने ब्रह्मको सत्, उद्गीथ, प्राण, भूमा, पुरुष, दहर, वैश्वानर, आनन्दमय, अक्षर, मधु, आदिके तौरपर ज्ञान द्वारा उपासना करनेकी बात कही है, इन्हीके नामपर इनके बारेमे किए गए उपदेश सद्-विद्या, उद्गीथ-विद्या, प्राण-विद्या आदि नामोसे पुकारे जाते है। वादरायण इसी (=विद्या)से **पुरुषार्थ** (=मोक्ष)-की प्राप्ति मानते है।[२] जैमिनि पुरुषार्थ (=स्वर्ग)मे कर्मकी प्रधानता मानते है और विद्याको **अर्थवाद**;[३] इसके लिए वह अश्वपति कैकय जैसे ब्रह्मवेत्ता[४]का उदाहरण देते हुए कहते है कि ब्रह्मवेत्ताओका यज्ञ करनेका आचार भी देखा जाता है। वादरायण जैमिनिसे मतभेद प्रकट करते हुए कहते है[५]—(स्वर्गसे कही) अधिक (ब्रह्मके) उपदेशसे (=विद्यासे ही) वैसा (मोक्ष मिलता है)। ब्रह्मवेत्ताके लिए यागादि कर्म करना सर्वत्र नही देखा जाता। कोई कोई उपनिषद्के ऋषि गृहस्थ आदिके कर्मकाडको ऐच्छिक भी बतलाते है।[६] और कुछ तो कर्मके क्षयको भी बतलाते है।[७] सन्यास (=ऊर्ध्वरेता) आश्रम भी है, जिसमे कर्मकाड नही है, तो भी **विद्या** (=ब्रह्मज्ञान) प्रयुक्त होती है। जैमिनि जरूर ऐसे आश्रमोको

---

[१] वे० सू० ४।४।१ [२] वे० सू० ३।४।१
[३] वे० सू० ३।४।२-७ और मीमांसा-सूत्र ४।३।१
[४] छा० ५।११।५ [५] वे० सू० ३।४।८-२० [६] वृह० ६।४।१२
[७] मुंडक २।२।८

माननेसे इन्कार करते है, किन्तु वादरायण इन आश्रमोको भी श्रुतिपादित होनेसे अनुष्ठेय स्वीकार करते है ।

विद्या—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्म-साक्षात्कार-रूपी ब्रह्म-उपासनासे जीवको अपने स्वरूपमे अवस्थित-रूपी मुक्ति होती है, यह कह चुके। लेकिन सद्-, उद्गीथ-, प्राण-आदि विद्याये अनेक है, इसलिए भ्रम हो सकता है, कि इनके उपासनाके विषय (=उपास्य) भी भिन्न-भिन्न हो सकते है। वादरायण इसका समाधान करते हुए सभी विद्याओको एक ब्रह्मपरक मानते है।[1]

(b) **कर्म**—विद्या (=ब्रह्मज्ञान)की प्रधानताको मानते हुए भी **वादरायण** यज्ञ आदि कर्मकाडको कितने ही उपनिषद्के ऋषियोकी भाँति तुच्छ नही समझते, बल्कि कर्मवाले गृहस्थ आदि आश्रमोमे वह अग्निहोत्र आदि सारे कर्मोकी विद्या (=ब्रह्मज्ञान)मे जरूरत समझते है,[2] ज्ञानीको शम-दम आदिसे युक्त भी होना चाहिए। कर्म ठीक है, किन्तु ब्रह्मविद्याके साथ वह बलवत्तर होता है।[3]

यज्ञ-याग आदि इष्ट कर्म ही नही खानपान सबधी छूतछातके नियमोसे भी वादरायण ब्रह्मवादीको मुक्त करनेके लिए तैयार नही है, हाँ, प्राणका भय हो, तो उषस्ति चाक्रायणकी भाँति सबके (हाथके) अन्नको खानेकी अनुमति देते है, किन्तु जानबूझकर करनेकी नही।[4] आश्रम (=गृहस्थ आदि)के कर्त्तव्य (=धर्म)को ब्रह्मज्ञानीके लिए भी ब्रह्मविद्याके सहकारीके तौरपर कर्त्तव्य मानते है।[5] हाँ वह आपत्कालमे नियमोको शिथिल करनेके लिए तैयार है, किन्तु आश्रमहीन रहनेसे आश्रममे रहनेको बेहतर बतलाते है।[6]

---

[1] वे० सू० ३।३।१-४ [2] वे० सू० ३।४।२६-२७; बृह० ६।४।२२ "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।"

[3] वे० सू० ४।१।१८ [4] वे० सू० ३।४।२८-३१

[5] वही ३।४।३२-३५ [6] वही ३।४।३९

(c) **उपासनाके ढंग**—भिन्न-भिन्न विद्याओंसे ब्रह्मकी उपासना किस तरह की जाये, यह उपनिषद्के प्रकरणमे हम बतला चुके है। आत्मामे ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, ब्रह्मसे भिन्न पदार्थों (=प्रतीकों—मूर्त्ति आदि)मे ब्रह्मकी उपासना नही करनी चाहिए, क्योंकि वह (=प्रतीक) ब्रह्म नही है।

आसनसे बैठकर, शरीरको अचल रख ध्यानके साथ जहाँ चित्तकी एकाग्रता हो, वहाँ ब्रह्मोपासना करनी चाहिए।[1]

विद्या (=ब्रह्मोपासना)की आवृत्ति यावत्जीवन करते रहना चाहिए।[2]

(ख) मुक्तकी अन्तिम यात्रा—ब्रह्मविद्याके प्राप्त हो जानेपर भोगोन्मुख न हुए पहिले और पीछेके पाप-पुण्य विनष्ट हो जाते है, और वह ब्रह्मवेत्ताको नही लगते।[3] किन्तु जो पुण्य-पाप भोगोन्मुख (=प्रारब्ध) हो गए है, उन्हे भोगकर मोक्षको प्राप्त करना होता है।[4] इस तरह सपूर्ण कर्मराशिको नष्ट कर मुक्त जीव निम्न क्रमसे शरीर छोड़ता है[5]—वाणी मनमे लीन होती है, मन प्राणमे, प्राण जीवमे, और वह महाभूतोमे। इस साधारण गतिसे मुक्तिकी गतिमे विशेषता यह है[6]—ब्रह्मविद्याके सामर्थ्यसे सौसे ऊपर सख्याकी नाड़ियोमेसे मूर्धावाली नाडी द्वारा जीव अपने आसन हृदयको छोड निकलता है, फिर सूर्य-किरणका अनुसरण करते हुए आगे प्रस्थान करता है। चाहे रात हो या दक्षिणायन, किसी वक्त मरनेपर मुक्त पुरुषकी मुक्तिमे बाधा नही।

मुक्त पुरुषको मरनेके बाद एक दूरदेशकी यात्रा करनी पड़ती है, यह उपनिषद्मे हम देख आए है। उपनिषद्की बिखरी सामग्रीको जमाकरके वादरायणने खगोलकी कल्पना की है। क्रमश अर्चि (=किरण)-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-सवत्सर-सूर्य-चन्द्र-विद्युत् (=बिजली) तक मुक्त पुरुष

---

[1] वे० सू० ४।१।७-११ [2] वहीं ४।१।१,१२
[3] वही ४।१।१३-१५ [4] वहीं ४।१।१९
[5] वही ४।२।१-५, १४ [6] वही ४।२।१६-१९

जाता है। वहाँ अ-मानव पुरुष आ उस मुक्त पुरुषको ब्रह्मके पास भेजता है।[1] बृहदारण्यकमे[2] कहा है "जब पुरुष इस लोकसे प्रयाण करता है तो वायुको प्राप्त करता है। उसे वह वहाँ छोड ऊपर चढता है और सूर्यमे पहुँचता है।" दोनो तरहके पाठोको ठीकसे लगाते बादरायणने सवत्सरसे वायुमे जाना बतलाया।[3] इसी तरह कौषीतकि[4]के पाठको जोडते हुए विद्युत्लोकसे ऊपर वरुण लोकमे जानेकी बात कही। इस प्रकार उपरोक्त रास्ता हुआ—अर्चि-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-सवत्सर-वायु-सूर्य-चन्द्र-वरुण -(अमानव पुरुष-) ब्रह्मलोक। गोया बादरायण अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके ज्योतिष-ज्ञानको करीब करीब अक्षुण्ण मानते हुए, खगोलमे वायुलोकसे सूर्य, उससे आगे चन्द्र, उससे आगे वरुण, उससे आगे ब्रह्मलोकको मानते है। ब्रह्म और ब्रह्मलोक तकका ज्ञान इन ऋषियोके बाँये हाथका खेल था, मगर वास्तविक विश्वके ज्ञानमे बेचारोकी सर्वज्ञता पिछड जाती थी।

(ग) मुक्तका वैभव—मुक्त जीव ब्रह्ममे जब प्राप्त होता है, तो उससे जुदा हुए विना रहता है।[5] उस वक्तके उस जीवके रूपके बारेमे जैमिनिका कहना है कि वह ब्रह्मवाले रूपके साथ होता है, औडुलोमि आचार्य कहते है कि वह चैतन्यमात्र स्वरूपवाला होता है। बादरायण इन दोनो मतोमे विरोध नही पाते।

मुक्तकी भोग-सामग्री उसके सकल्पमात्रसे आन उपस्थित होती है, इसलिए वह अपना स्वामी आप है।[6]

[7]ब्रह्मके पास रहते मुक्तका शरीर होता है या नही?—इसके बारेमे बादरि 'नही' कहते है, जैमिनि उसका सद्भाव मानते है, बादरायण कहते है—शरीर नही होता और सकल्प करते ही वह आ मौजूद भी होता है। शरीरके अभावमे स्वप्नकी भाँति वह ईश्वर-प्रदत्त भोगोको भोगता है और

---

[1] छां० ४।१५।३ [2] बृह० ७।१०।१
[3] वे० सू० ४।३।२ [4] कौषी० १।३ [5] वे० सू० ४।४।४-७
[6] वे० सू० ४।४।८-९ [7] वही ४।४।१०-१४

शरीरके मौजूद होनेपर जाग्रत अवस्थाकी तरह।

मुक्त जीव फिर जन्म आदिमे नही पडता, ब्रह्मके पाससे फिर उसका लौटना नही होता।[1]

मुक्त ब्रह्मकी भाँति सृष्टि नही बना सकता, उसकी ब्रह्मसे सिर्फ भोगकी समानता होती है, यह बतला चुके है।

(६) वेद नित्य हैं—यद्यपि वादरायण जैमिनिकी भाँति वेदको अपौरुषेय (किसी भी पुरुष—जीव या ब्रह्म—द्वारा न बनाया) नही मानते, किन्तु वेदको नित्य मनवानेकी उनको भी बहुत फिक्र है। वह समझते है, कि यदि वेद भी दूसरे शास्त्रोकी भाँति अनित्य साबित हो गए, तो युक्ति-तर्कके बलपर साख्य, वैशेषिक, न्याय, बौद्ध जैसे तार्किकोके सामने अपने पक्षको नही साबित कर सकेंगे। ब्रह्मकी उपासना करनेके लिए मनुष्यके वास्ते अपने हृदयमे अगुष्ठ मात्र ब्रह्मको उपनिषद्मे बतलाया गया।[2] इसी प्रकरणमे देवताओकी भी चर्चा चल गई[3], और वादरायणने कहा—मनुष्यके ऊपरवाले देवता भी ब्रह्मकी उपासना करते है, क्योकि यह (बिलकुल) सभव है। इस प्रकार तो देवता साकार साबित होगे, फिर एक ही इन्द्र एक ही समय अनेक यज्ञोमे कैसे उपस्थित हो सकता है? उत्तर है—वह अनेक रूप धारण कर सकता है। इन्द्र जैसे शरीरधारी अनित्य देवताका नाम वेदमे आनेसे वेद भी अनित्य होगा, यह शका नही करनी चाहिए, क्योकि इन्द्रसे वेदने इस शब्दको नही लिया, वल्कि वेदके शब्दसे इन्द्रको यह नाम मिला, इसीलिए वेद नित्य है। इन्द्र आदिके एक ही नाम और रूपवाला होनेसे उनकी बार-बार आवृत्ति होते रहनेसे भी वेदकी नित्यतामे कोई क्षति नही।

(७) शूद्रोपर अत्याचार—वादरायणके छुआछूतके पक्षपातकी बात अभी हम बतला आए है[4]। वर्णाश्रम धर्मपर उनका बहुत जोर था।

---

[1] वे० सू० ४।४।१६, २२ [2] वे० सू० १।३।२४

[3] वही १।३।२५-२६ [4] वही ३।४।२८-३१

ऐसे व्यक्तिसे शूद्रोके सबधमे उदार विचारकी हम आशा नही रख सकते थे। वादरायण ब्रह्मविद्यापर कलम उठा रहे थे। वह याज्ञवल्क्यके अन्तर्यामी ब्रह्म, शारीरक ब्रह्मके दार्शनिक विचारका प्रचार करना चाह रहे थे, ऐसी अवस्थामे भारतीय मानवोमे नीच समझे जानेवालोके प्रति अधिक सहानुभूतिकी आशा की जा सकती थी। किन्तु नही, वादरायण जैसे दार्शनिक यह प्रयत्न एक खास मतलबसे कर रहे थे।

(क) वादरायणकी दुनिया—भारतमे आर्य आये, उन्होने पहिलेके निवासियोको पराजित किया। फिर रग और परतन्त्रताके बहानेसे उन्हे दबाया और समाजमे नीचा स्थान स्वीकार करनेके लिए मजबूर किया। ज्यादा समय तक रह जानेपर रग-मिश्रण (=वर्णसकरता) बढने लगा। आर्योके भीतरी द्वद्वने अनार्योके हितैषी पैदा किए। बुद्ध जैसे दार्शनिकों और धार्मिक नेताओने इसका कुछ समर्थन किया। एक हद तक वर्णभेदपर प्रहार हुआ—कमसे कम प्रभुता और सपत्तिके मालिक हो जाने वालोके लिए वह कडाई तेजीसे दूर होने लगी। ई० पू० चौथी सदीसे यवन, शक, जट्ट, गुर्जर, आभीर जैसी कितनी ही विदेशी गोरी जातियाँ भारतमे आकर बस गई। उस वक्तकी भारतीय सामाजिक व्यवस्थामे उनको क्या स्थान दिया जाये—यह भारी प्रश्न था। वर्ण-व्यवस्था-विरोधियो—बौद्धो—ने अपना नुसखा दे उन्हे अपने वर्ग (=शोषक-शोषित)-युक्त किन्तु वर्णहीन समाजकी कल्पनाको पूरा करनेके लिए इन आगन्तुकोपर प्रभाव डालना चाहा, और उसमे कुछ सीमा तक उन्हे सिर्फ इसी बातमे सफलता हुई, कि उनमेसे कितने ही अपनेको बौद्ध कहने लगे, कार्ला और नासिकके गुहा-विहारोमे दान देने लगे। किन्तु ब्राह्मण भी अपने आसपासकी इस घटनाओको देख बिना शकित हुए नही रह सकते थे। उन्होने वर्ण-सहारकोके विरोधमे अपने वर्णप्रदायक हथियारका इस्तेमाल शुरू किया—"बौद्ध तो गोरे, सुन्दर, वीर, शासक लोगोको वर्णहीन बना चाडालोकी श्रेणीमे रखना चाहते है, हम तो उनके उच्च वर्ण होनेको स्वीकार करते है। ये आगन्तुक क्षत्रिय जातियाँ है, जो कि ब्राह्मणोके दर्शन न करनेसे

म्लेच्छ हो गई थी; अब ब्राह्मण दर्शन हुआ, हम इन्हे सस्कारके द्वारा फिर क्षत्रिय बनाते हैं, इन्हे चाडालोके बराबर करना ठीक नही।" जादू अन्तमे ब्राह्मणोका ही जबर्दस्त निकला। एक ओर इन आगन्तुकोको क्षत्रिय, कुछको ब्राह्मण भी बनाया गया, दूसरी ओर अपनी उच्चवर्ण-भक्तिको और पक्का साबित करनेके लिए शूद्रोके लिए अत्याचार और अपमानकी मात्रा और बढा दी। ऐसे समयके ऋषियोमे है, ये प्रात. स्मरणीय वेदान्त-सूत्रकार भगवान् वादरायण।[1]

(ख) प्रतिक्रियावादी वर्गका समर्थन—"रैक्वके पास भारी भेटके साथ ब्रह्मविद्या सीखनेके लिए आनेपर जानश्रुति पौत्रायणको गाडीवाले रैक्वने पहिले "हटा रे शूद्र! इन सबको"[2] कहा, फिर पौत्रायणको ब्रह्म-विद्या भी बतलाई, जिससे जान पडता है, शूद्रको भी ब्रह्मविद्याका अधि-कार है। वादरायण ब्रह्मविद्यामे शूद्रका अधिकार न मानते हुए सिद्ध करते है, कि पौत्रायण शूद्र नही था, हसोसे इतना दानी होनेपर भी अपने लिए अनादर, रैक्वके लिए प्रशसाके शब्द सुनकर तथा रैक्वके पास एकसे अधिक बार दौडनेसे पौत्रायणको शोक हुआ था, इसीलिए शोकसे दौडनेवाला (=शुक्द्र) इस अर्थमे रैक्वने उसे शूद्र कहा था। छादोग्यके उस प्रकरणसे पौत्रायणके क्षत्रिय होनेका पता लगता है। उसी प्रकरणमे रैक्वके 'वायु ही सवर्ग (=मूल कारण) है' इस सवर्ग-विद्याके सीखनेवालोमे शौनक, कापेय, अभि-प्रतारी, काक्षसेनि तथा एक ब्रह्मचारीकी बात आती है; जिनमे शौनक और ब्रह्मचारी ब्राह्मण थे, और अभिप्रतारीके क्षत्रिय सिद्ध होनेमे दूसरे प्रमाण है।—कापेय (=कपि-गोत्री) पुरोहित चैत्ररथको यज्ञ कराते थे,[3] और "चैत्ररथ नामक एक क्षत्रपति (=क्षत्रिय) पैदा

---

[1] वे० सू० १।३।३३-३६ भावार्थ।

[2] छा० ४।२।५, देखो पृष्ठ ४८० भी।

[3] "एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्"—ताण्डच-ब्राह्मण २।१२।५

हुआ था,"[१]। चूँकि कापेयोका यज्ञ-सबधी चैत्ररथ क्षत्रिय था, और यहाँ शौनक, कापेय, अभिप्रतारी काक्षिसेनके साथ ब्रह्मविद्या सीख रहा है, इसलिए यहाँ भी पुरोहित यजमान-वशज शौनक और अभिप्रतारी क्रमश ब्राह्मण और क्षत्रिय है। इस तरह गाडीवाले रैक्वकी ब्रह्मविद्याको सीखनेवाले दो ब्राह्मणोके अतिरिक्त तीसरा क्षत्रिय ही है, फिर पौत्रायण शूद्र होगा यह सभव नही। सत्त्यकाम जाबालके बापका ठिकाना न था, उसको कैसे हारिद्रुमत गौतमने ब्रह्मविद्या सिखाई ?[२] इसका उत्तर वादरायणकी ओरसे है, वहाँ "समिधा ला, तेरा उपनयन करूँगा" कहनेसे साफ है कि हारिद्रुमतने उसे ब्राह्मण समझा, क्योकि शूद्रको उपनयनका "अभाव (मनुने) ′बतलाया है"—"शूद्रको पातक नही, उसे (उपनयन आदि) सस्कारका अधिकार नही।"[३] यही नही सत्त्य-कामके अब्राह्मण (=शूद्र) न होनेके निर्धारणकी भी हारिद्रुमत गौतम कोशिश करते है—"अब्राह्मण ऐसे (साफ साफ अपने अनिश्चित पितृत्वको) नही कह सकता।" इससे भी साफ है कि ब्रह्मविद्यामे शूद्र ("अब्राह्मण" ?)का अधिकार नही। शूद्रको वेदके सुनने पढनेका निषेध श्रुतिमे मिलता है—"शूद्र श्मशान सा है, इसलिए उसके समीप (वेद) नही पढना चाहिए,[४]" "शूद्र बहुत पशु और (धन) वाला भी हो तो भी वह यज्ञ करनेका अधिकारी नही।"[५] यही नही स्मृति भी इसका निषेध करती है—"उस (=शूद्र)को पाससे वेद सुनते पा (पिघले) सीसे और लाखसे उसके कानको भरना चाहिए, (वेदका) पाठ करनेपर उसकी जिह्वाको काटना चाहिए, याद (=धारण) करनेपर (उसके) शरीरको

---

[१] "चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत।"—शतपथ-ब्राह्मण ११।५।३।१३

[२] छां० ४।४।१-५, देखो पृष्ठ ३७२ [३] मनुस्मृति १०।१२६

[४] "पद्यु हवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"।

[५] "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीयः।"

काट देना चाहिए ।"[1]

(ग) वादरायणीयोंका भी वही मत—ब्रह्मज्ञानकी फिलासफीने भी वर्ग-स्वार्थपर आधारित वर्ण-व्यवस्थाके नामसे शूद्रो (किसी समय स्वतत्र फिर आर्य-समाज-वहिष्कृत पराजित दास और तब कितने ही वादरायणोकी नसोमे अपना खून तक दौडानेवालो)के ऊपर होते शुद्ध सामाजिक अत्याचारको नरम करनेकी तो बात ही क्या, उसे और पुष्ट किया । वादरायणके ब्रह्मज्ञानने धर्मसूत्रकर्त्ता गौतमकी कठोर आज्ञाको—नरम करना तो अलग उसे—आदर्शवाक्य बनाया । शकरके सारे अद्वैतवादने गौतमकी इन क्रूर पक्तियोके एक भी बज्राक्षरको विचलित करनेकी हिम्मत न की । रामानुजके गुरु तथा परदादा-नगडदादा-गुरु स्वय अतिक्षूद्र थे, तो भी वेदान्त-भाष्य करते वक्त वह धर्मसूत्रकार गौतम, वादरायण और शकरसे भी आगे रहनेकी कोशिश करते है । "शूद्रको अधिकार नही" इस प्रकरणके अन्तिम सूत्र[2]पर उनका भाष्य तीन सवातीन पक्तियोमे समाप्त होता है, किंतु उसके बाद ५२ पक्तियोके एक लच्छेदार व्याख्यानमे रामानुजने उसे वर्ण-व्यवस्था-विरोधी आदि बतला शकरके दर्शन (मायावाद)पर आक्षेप करते हुए अपने (विशिष्टाद्वैत) दर्शनके द्वारा वास्तविक शूद्र-अनधिकार सिद्ध किया है, "जो (शकर आदि)—(सर्व-विशेषण-रहित अद्वैत) चेतनामात्र (स्वरूपवाले) ब्रह्मको ही परमार्थ (=वास्तविक तत्त्व), और सब (=जीव, जगत्)को मिथ्या, और (जीवके) बधको अ-वास्तविक .. कहते है", वह "ब्रह्मज्ञानमे शूद्र आदिका अधिकार नही"—यह नही कह सकते । तर्ककी सहायतासे प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाण)से भी (उस तरहके ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर) शूद्र आदि भी मुक्ति पा जायेगे । इसी तरह ब्राह्मण आदिको भी ब्रह्मविद्या मिल जायेगी

---

[1] "अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद· ।"—गौतम-धर्मसूत्र २।१२।३

[2] "स्मृतेश्च"—वे० सू० १।३।३६

फिर उपनिषद् बेचारीको तो तिलाजलि (=दत्तजलाजलि) ही दे दी गई।

किन्तु (रामानुजकी तरह) जिनके (दर्शनमें) वेदान्त-वाक्यो द्वारा उपासनारूप (ब्रह्म-)ज्ञानको मोक्षके साधनके तौरपर माना गया है, और वह (उपासना) परब्रह्म-रूपी परमपुरुषको प्रसन्न करना है। और यह एकमात्र शास्त्र (=उपनिषत्)से ही हो सकता है। और उपासना (=ज्ञान-)-शास्त्र (=उपनिषद्) उपनयन आदि सस्कारके साथ पढे स्वाध्याय(=वेद)से उत्पन्न ज्ञानको . . . ही अपने लिए उपायके तौरपर स्वीकार करता है। इस तरहकी उपासनासे प्रसन्न हो पुरुषोत्तम (=ब्रह्म) उपासकको आत्माके स्वाभाविक वास्तविक आत्मज्ञान दे कर्मसे उत्पन्न अज्ञानको नाश करा बधसे (उसे) छुडाता है।—ऐसे मतमे पहिले कहे ढगसे शूद्र आदिका (ब्रह्मज्ञानमे) अनधिकार सिद्ध होता है।"

यह है भारतके महान् ब्रह्मज्ञानका निचोड, जिसका कि ढिढोरा आज तक कितने ही लोग पीटते रहे है, और पीट रहे है, वादरायण, शकर और रामानुजकी दुहाईके साथ!

६. दूसरे दर्शनोंका खंडन

वादरायणने उपनिषद्-सिद्धान्तके समन्वय तथा विपक्षियोके आक्षेपोके उत्तरमे ही ज्यादा लिखा है, किन्तु साथ ही उन्होने दूसरे दर्शनोकी सैद्धान्तिक निर्बलताओको भी दिखलानेकी कोशिश की है। ऐसे दर्शनोमे साख्य और योग तो ऐसे है जिनके मूल कर्त्ता—कपिल—को उस वक्त तक ऋषि माना जा चुका था, इसलिए ऋषिप्रोक्त होनेसे उनके मतमे स्मृतिकी कोटिमे गिने जाते थे। पाशुपत और पाँचरात्र सम्भवत आर्योंके आनेके पहिलेके भारतीय धर्मो और परपराओकी उपज थे, इसलिए ईश्वरवादी होनेपर भी अन्-ऋषि प्रोक्त होनेसे उन्हे वैदिक आर्यक्षेत्रमे सन्मान दृष्टिसे नही देखा जाता था। वैशेषिक, बौद्ध और जैन अन्-ऋषि प्रोक्त तथा अनीश्वरवादी होनेसे वादरायण जैसे आस्तिकके लिए और भी घृणाकी चीज थे।

क, ऋषिप्रोक्त विरोधी दर्शनोंका खंडन

(१) **सांख्य-खंडन**—कपिलके साख्य-दर्शन और उसके प्रकृति (=**प्रधान**) तथा पुरुषके सिद्धान्तके बारेमे हम कह चुके है। उपनिषद्के ब्रह्मकारणवादसे साख्यका प्रधानकारणवाद कई बातोमे उलटा था। वादरायण कारणसे कार्यको विलक्षण मानते थे, जब कि सत्कार्यवादी साख्य कार्य-कारणको स-लक्षण=अभिन्न मानता था। साख्यका पुरुष निष्क्रिय था, जब कि वेदान्तका पुरुष सक्रिय। साख्यके सस्थापक कपिलको श्वेताश्वतर उपनिषद् तकने ऋषि मान लिया था, इसलिए शब्द प्रमाणको अधाधुन्ध माननेवाले वादरायण जैसोके लिए भारी दिक्कत थी, ऊपरसे साख्यवाले—यदि सब नही तो उनकी एक शाखा अपनेको वेद माननेवाला—अतएव उपनिषद्के वाक्योसे पुष्ट करनेके लिए तत्पर दीख पडते थे। वादरायणने यह बतलानेकी कोशिश की[1] है, कि उपनिषद् न साख्यके प्रधान (=प्रकृति)को मानती है, और नही उसके निष्क्रिय पुरुषको। साथ ही साख्य अपने दर्शनको सिर्फ शब्द-प्रमाणपर ही आधारित नही मानता था वह उसके लिए युक्ति तर्क भी देता था, जिसका उत्तर देते हुए वादरायण कहते है[2]—

अनुमान (-सिद्ध प्रधानका मानना युक्तिसगत) नही है, क्योकि (जड होनेसे विश्वकी विचित्र वस्तुओ)की रचना (उससे) सम्भव नही है, और (न उसमे प्रधानकी) प्रवृत्ति (ही हो सकती है)। (जड) दूध जैसे (दही वन जाता), पानी जैसे (वर्फ वन जाता है, वैसे ही विना चेतन ब्रह्मकी सहायताके भी प्रधान विश्वको वना सकता है, यह कहना ठीक नही) क्योकि वहाँ भी (विना ब्रह्मके हम दही, हिमकी रचना सिर्फ दूध और जलसे नही मानते)। तृण आदि जैसे (गायके पेटमे जा दूध वन जाते है, वैसे ही प्रधानसे भी विचित्र विश्व वन जाता है, यह भी कहना

---

[1] वे० सू० १।४।१-२२   [2] वही २।२।१-९ भावार्थ।

ठीक नही है) क्योंकि (गायसे) अन्यत्र (तृण आदिका दूध बनना) नही (देखा जाता)। यदि (कहो—जैसे अधा और पगु) पुरुष (आँख और पैरसे हीन भी एक दूसरेकी सहायतासे देखने और चलनेकी क्रियाको कर सकते है, अथवा जैसे लोहा तथा चुम्बक पत्थर दोनो स्वत. निष्क्रिय होते भी एक दूसरे की समीपतासे चल सकते है, वैसे ही प्रकृति और पुरुष स्वतत्र रूपसे निष्क्रिय होते हुए भी एक दूसरेकी समीपतासे विश्व-वैचित्र्य पैदा करनेवाली क्रियाको कर सकते है)। (उत्तर है—) तब भी (गति सभव नही, क्योंकि प्रकृति और पुरुषकी समीपता आकस्मिक नही नित्य घटना है, फिर तो सिर्फ गति ही निरन्तर होती रहेगी, किन्तु वस्तुके निर्माणके लिए गति और गति-रोध दोनो चाहिए)। (सत्त्व, रज, तम, गुणोके अग तथा) अगीपन (की कमी वेशी मानने) से भी (काम नही) चल सकता (क्योंकि सर्वदा पुरुषके पास उपस्थित प्रकृतिके इन तीन गुणोमे कमी-वेशी करनेवाला कौन है, जिससे कि कभी सत्त्वकी अधिकतासे हल्कापन और प्रकाश प्रकट होगा, कभी रजकी अधिकतासे चलन और स्तम्भन होगा, और कभी **तम**की अधिकतासे भारीपन तथा निष्क्रियता आ मौजूद होगी ?)।

यदि **प्रधान**को मान भी लिया जाये, तो भी उससे कोई मतलब नही, (क्योंकि पुरुष—जीव—तो स्वत. निष्क्रिय निर्विकार चेतन है, **प्रधान**के कार्यके कारण उसमे कोई खास बात नही होगी।) फिर साख्य-सिद्धान्त परस्पर-विरोधी भी है—वहाँ एक ओर पुरुषके मोक्षके लिए प्रकृतिका रचना-परायण होना बतलाया जाता है,[1] और दूसरी जगह यह भी कहा जाता है,[2]—न कोई बद्ध होता न मुक्त होता है न आवागमनमे पडता है।

(२) **योग-खंडन**—साख्यके प्रकृति, पुरुषमे पुरुष-विशेष, ईश्वरके जोड देनेसे वह ईश्वरवादी (सेश्वर) साख्य-दर्शन हो जाता है, यह वतला

---

[1] सांख्यकारिका ५७ [2] वहीं ६२

आए है। वादरायणको योगके खडनके लिए ज्यादा परिश्रमकी जरूरत न थी, क्योकि साख्य-सम्मत प्रधान, तथा पुरुषके विरुद्ध दी गई युक्तियाँ यहाँ काम आ सकती थी। योग ईश्वरको विश्वका उपादान-कारण (=प्रकृति) नही मानता था, वादरायणने[1] उपनिषद्के प्रमाणसे उसे निमित्त-उपादान-कारण सिद्ध कर दिया। ईश्वर (=ब्रह्म) जगत्के रूपमे परिणत होता है, यह उसकी विचित्र शक्तिको बतलाता है, और वह योग-सम्मत निर्विकार ईश्वर नही है।

प्रश्न उठता है, उपनिषद्[2]ने जिस कपिलको ऋषि कहा है, उसके प्रतिपादित साख्यका खडन करके हम स्मृति (=ऋषि-वचन)की अवहेलना करते है। उत्तर है[3]—यदि हम उसे मानते है, तो दूसरी स्मृतियो (=ऋषिवाक्यो)की अवहेलना होती है। इसी उत्तरसे वादरायणने योग-दर्शनकी ओरसे उठनेवाली शकाका भी उत्तर दे दिया है।[4]

ख. अन्-ऋषिप्रोक्त दर्शन-खंडन

पाशुपत और पाचरात्र ऐसे दर्शन है, यह बतला चुके है।

(क) ईश्वरवादी दर्शन—

(१) पाशुपत-खंडन—शिवका नाम पशुपति है। यद्यपि शिव वैदिक (आर्य) शब्द है, किन्तु शिव-पूजा जिस लिंग (=पुरुप-जननेन्द्रिय-चिह्न)को सामने रखकर होती है, वह मोहन्-जो-डरो काल (आजसे ५००० वर्ष पूर्व)के अन्-आर्योंके वक्तसे चली आती है, और एक समय था जब कि इसी लिंग (=शिश्न) पूजाके कारण अन्-आर्योको शिश्नदेव कहकर अपमानित भी किया जाता था, किन्तु इतिहासमे एक वक्त

---

[1] वे० सू० १।४।२३-२७

[2] श्वेताश्वतर ५।२—"ऋषि प्रसूत कपिलम्"।

[3] वे० सू० २।१।१

[4] "एतेन योग' प्रत्युक्त."—वे० सू० २।१।३

अपमान समझी जानेवाली बात दूसरे वक्त सम्मानकी हो जाये, यह दुर्लभ नही है। यही लिग-पूजा-धर्म कालान्तरमे पाशुपत (=शैव) मतके रूपमे विकसित हुआ और उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्त भी तैयार किए। आजके शैव यद्यपि पूजामे पाशुपतोके उत्तराधिकारी है, किंतु दर्शन-मे वह शकरके मायावादी अद्वैतवादका अनुसरण करते है। वादरायणके समय उनका अपना एक दर्शन था, जिसके खडनमे उन्हे चार सूत्रों[1]की रचना करनी पडी।

पाशुपत आजकलके आर्यसमाजियोकी भॉति त्रैतवाद—जीव (=पशु) जगत् और ईश्वर (=पशुपति)—को मानते थे। वह कहते थे—जिनमे पशुपति जगत्का निमित्त कारण है, फिर वह वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मकी भॉति निमित्त और उपादान दोनो कारण नही है।

वादरायणने पाशुपत दर्शनपर पहिला आक्षेप यह किया कि वह "(वेद-)सगत नही है" (=असामंजस्य)। (घडा या घर रूपी कार्यका जैसे कोई देवदत्त अधिष्ठाता होता है, वैसे ही जगत्का भी कोई अधिष्ठाता है, इस तरह अनुमानसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। क्योकि (निराकार ईश्वरका) अधिष्ठाता होना सिद्ध नही हो सकता। (निराकार जीव) जैसे (इन्द्रिय, शरीर आदि) साधनो (का अधिष्ठाता है, वैसे ही पशुपति भी है, यह कहना ठीक नही; क्योकि जीवको अधिष्ठाता होना पडता है, फल-) भोगादिके कारण, (कर्म-बधन-मुक्त पशुपतिके लिए न फल-भोग है, न उसके कारण शरीर-धारणकी जरूरत पड सकती है)। और (यदि पाशुपतिके भोगादिको मान लिया जाये, तो उसे) अन्तवान् और अ-सर्वज्ञ (मानना पड़ेगा)।

(२) पाँचरात्र-खंडन—पाशुपत मतकी भाँति पाचरात्र मतका भी स्रोत अन्-आर्य भारतका पुराना काल है। पाशुपतने शिव और शिवलिंगको अपना इष्ट देव माना, पॉचरात्रोने विष्णु—भगवान्—वासुदेवको अपना

---

[1] वही २।२।३५-३८

इष्ट बनाया; और इसीलिए इन्हे वैष्णव और भागवत भी कहते है। शिवकी लिग-मूर्ति मोहन-जो-डरो काल तक जरूर जाती है, किन्तु शिवकी मूर्ति उतनी पुरानी नही मिलती। वासुदेवकी मूर्त्तियोकी कथा ईसा-पूर्व चौथी सदी तक तथा मूर्त्तियोके प्रस्तरखड ईसा-पूर्व तीसरी सदी तकके मिलते है। ईसा-पूर्व दूसरी सदीमे भगवान् वासुदेवके सम्मानमे एक यूनानी (हेलियोदोर) भागवत द्वारा खडा किया पाषाण-स्तम्भ आज भी भिलसा (ग्वालियर राज्य)मे खडा है।

भागवत धर्मके मूल ग्रथको ही पचरात्र कहते है, जो कि एक पुस्तक न हो कई पुस्तकोका सग्रह है। इनमे अहिर्बुध्न्य-, पौष्कर-, सात्वत, परम-सहिता जैसे कुछ ग्रथ अब भी प्राप्य है। जिस तरह पाशुपतोकी पूजा और धर्म आज शैवोके पूजा और धर्मके रूपमे परिणत मिलते है, यद्यपि दर्शन बिलकुल नया है, उसी तरह पाचरात्र भागवत-धर्म आजके विष्णु-पूजक वैष्णव धर्मके रूपमे मौजूद है, यद्यपि वह गुप्तकाल—अपने वैभवके समय—मे जितना बदला था, उससे आज कही ज्यादा बदला हुआ है। तो भी आजके अनेक वैष्णव मतोमे रामानुजका वैष्णव मत अभी पच-रात्र-आगमको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है, और एक तरहसे उसका उत्तराधिकारी भी है। कैसी विडबना है ? उसी सम्प्रदायके एक महान् सारथी रामानुज वादरायणके द्वारा पॉचरात्र मतपर किए गए प्रहा-रका अनुमोदन करते है, और पॉचरात्र दर्शनकी जगह वादरायणके दर्शनको स्वीकार करते है।

पाँचरात्र दर्शनके अनुसार[1] वासुदेव, सकर्पण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, क्रमश ब्रह्म, जीव, मन और अहकारके नाम है।—ब्रह्म (=वासुदेव)से जीव (=सकर्षण) उत्पन्न होता है, उससे मन और उससे अहकार। इस

---

[1] "परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् सकर्षणो नाम जीवो जायते, सकर्षणात् प्रद्युम्नसज्ञ मनो जायते, तस्माद् अनिरुद्धसज्ञोऽहकारो जायते"—परमसहिता।

सिद्धान्तका खडन करते हुए वादरायण कहते है[1]—

(श्रुतिमे जीवके नित्य कहे जानेसे उसकी) उत्पत्ति सभव नही। (मन कर्त्ता जीवका करण=साधन है) और कर्त्तासे करण नही जन्मता (इसलिए जीव=सकर्षणसे मनकी उत्पत्ति कहना गलत है)। हाँ, यदि (वासुदेवको) आदि विज्ञानके तौरपर (लिया जाये) तो (पॉचरात्रके) उस (मत)का निषेध नही। परस्पर-विरोधी (बातोंके) होनेसे भी (पॉच-रात्र दर्शन त्याज्य है)।

(ख) अनीश्वरवादी दर्शन-खंडन—

कणादको यद्यपि पीछे कपिलकी भॉति ऋषि मान लिया गया, किन्तु वादरायणके वक्त (३०० ई०) अभी कणादको हुए इतना समय नही हुआ था कि वह ऋषि-श्रेणीमे शामिल हो गए होते। अनीश्वरवादी दर्शनोंमे वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शनोंपर ही वादरायणने लिखा है, चार्वाक दर्शनका विरोध उस वक्त क्षीण पड गया था, इसलिए उसकी ओर ध्यान देनेकी जरूरत नही पडी।

(१) वैशेषिक दर्शनका खंडन—कणाद परमाणुको छै पार्श्ववाला परिमडल—गोलसा—कण मानते है, और कहते है, कि यही छ पासेवाले परमाणु दो मिलकर ह्रस्व (=छोटे) परिमाणवाले द्वचणुकको बनाते है। इन्ही ह्रस्व-परिमडलोंके योगसे महद् (=बडे) और दीर्घ परिमाणवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति होती, तथा जगत् बनता है। वादरायण कहते है[2]—(वैशेषिक कारणके गुणके अनुसार कार्यके गुणकी उत्पत्ति मानता है, फिर अवयव-रहित परमाणुसे सावयव ह्रस्व द्वचणुककी उत्पत्ति सभव नही) और (महद्, दीर्घ परिमाणसे रहित) ह्रस्व तथा परिमडल (द्वचणुक कग)से (आगे) महद् दीर्घ (परिमाण) वाले (पदार्थोंकी उत्पत्ति सभव नही)।

---

[1] वे० सू० २।२।३९-४२ [2] वे० सू० २।२।१०

जड परमाणु वस्तुओंका उत्पादन तभी कर सकते है, जब कि उनमे क्रिया (=गति) हो। कणादके मतसे जगत्की उत्पत्तिके लिए **अदृष्ट**[1] (=अज्ञात नियम) की प्रेरणासे परमाणुमे कर्म (=क्रिया) उत्पन्न होता है; जिससे दो परमाणु एक दूसरेसे सयोग कर द्वचणुकका निर्माण करते है, और साथ ही अपने कर्म (=क्रिया) को भी उसमे देते है, यही सिलसिला आगे चलता जगत्को निर्माण करता है। प्रश्न उठता है—परमाणुमे जो आदिम क्रिया (=कर्म) उत्पन्न होती है, क्या वह परमाणु (=जड) के अपने भीतरके अदृष्टसे उत्पन्न होती है, या आत्मा (=चेतन) के भीतरसे ? वादरायण कहते है[2]—"दोनो तरहसे भी कर्म (सभव) नही। क्योकि अदृष्ट पूर्व-जन्मके कर्मसे उत्पन्न होता है, आत्माके किए कर्मका अदृष्ट परमाणुमे कैसे जायेगा ? और परमाणुओंमे क्रियाके विना जगत् ही नही उत्पन्न होगा, फिर आत्मा कर्म कैसे करेगा ?" "इसलिए (अणुमे) कर्म नही हो सकता।" यदि कहा जाये कि सदा एक साथ रहनेवाले पदार्थोंमे जो **समवाय** (नित्य-) सबध होता है, उससे अदृष्टका परमाणुमे होना मानेगे, तो[3] "समवायके स्वीकारसे भी वही बात है (समवाय सबध क्यो वहाँ है ? उसके लिए दूसरा कारण फिर उसके लिए भी दूसरा कारण . . .इस प्रकार) अनवस्था (=अन्तिम उत्तरका अभाव) होगी।" यही नही, **समवाय**-सबध नित्य होता है, इसलिए परमाणु और उसका अदृष्ट दोनो नित्य ही मौजूद रहेगे, फिर जगत्का[4] "नित्य रहना ही" सावित होगा, और यह जगत्की सृष्टि और प्रलय माननेवालोके लिए ठीक नही है।

परमाणुको एक ओर वैशेपिक नित्य, सूक्ष्म, अवयव-रहित मानता है, दूसरी ओर उसीसे तथा 'कारणके गुणके अनुसार कार्यमे गुण उत्पन्न होता है' इस नियमके अनुसार, उत्पन्न घडेमे रूप आदिके[5] "देखनेमे" और पृथ्वी,

---

[1] "अग्नेरूर्ध्वज्वलन वायोस्तिर्यग्गमन अणुमनसोश्चाद्य कर्मेति अदृष्ट-कारितानि।" [2] वही २।२।११

[3] वे० सू० २।१।१२ [4] वही २।१।१३ [5] वही २।१।१४

जल, आग, हवाके परमाणुओमे "रूप आदि (रस, गध, स्पर्श गुणों)के होने (की बातके स्वीकार करने)से भी "परस्पर-विरोधी" (बात होती है)। परमाणुओंको यदि रूप आदिवाला माने, चाहे रूपादिरहित[1]; दोनो तरहसे दोष मौजूद रहता है। पहिली अवस्थामे अवयव-रहित होनेकी बात नही रहेगी, दूसरी अवस्थामे 'कारणके गुणके अनुसार कार्यमे गुण उत्पन्न होता है', यह बात गलत हो जायेगी।

इस तरह युरोपके यान्त्रिक भौतिकवादियोकी भाँति कारणमे गुणात्मक परिवर्त्तन हो कार्यके बननेको न माननेसे परमाणुवादमे जो कमजोरियाँ थी, उनका वादरायणने खडन किया। निर्विकार ब्रह्म उपादान-कारण बन जगत्को अपनेमेसे बनाकर सविकार हो जायेगा, और अपनेमेंसे जगत्की उत्पत्ति नही करेगा तो वह उपादानकारण नही निमित्तकारण मात्र रह जायेगा, फिर उपनिषद्के "एक (मिट्टीके) विज्ञानसे ही सारे (मिट्टीसे बने पदार्थोके) विज्ञान"की बात कैसे होगी—आदि प्रश्नोका उत्तर वादरायण (और उनके अनुयायी रामानुज भी) कैसे देते है, इसे हम देख चुके है, और वह लीपापोतीसे बढकर कुछ नही है।

तर्क-युक्तिसे परमाणुवादपर प्रहार करना काफी न समझ, अन्तमे वादरायण अपने असली रगमे उतर आते है[2]—"चूँकि (आस्तिक वैदिक लोग वैशेषिकको) नही स्वीकार करते, इसलिए (उसका) अत्यन्त त्याग ही ठीक है।"

(२) **जैनदर्शन-खडन**—जैनोके अपने दो मुख्य सिद्धान्त—स्याद्वाद[3] और जीवका शरीरके अनुसार घटना-बढना (मध्यमपरिमाणी होना)—है, जिनके ही ऊपर वादरायणने प्रहार किया है। स्याद्वादमे "है भी नही भी " आदि सात तरहकी परस्पर-विरोधी बाते मानी गई है, वादरायण कहते है[4]—"एक (ही वस्तुमे इस तरहकी परस्पर-

---

[1] वही २।१।१५
[2] वे० सू० २।२।१६
[3] देखो पृष्ठ ४९६-९७
[4] वे० सू० २।२।३१

विरोधी बाते) सभव नही है ।"

जीवका आकार अनिश्चित है, वह जैसे छोटे बडे (चीटी हाथीके) देहमे जाता है, उतने ही आकारका होता है, इसका खडन करते हुए सूत्र-कार कहते है[1]—"ऐसा (माननेपर) आत्मा अ-पूर्ण होगा, और (सकोच विकासका विषय होनेसे) विकारी (अतएव अनित्य) आदिके (होनेके) कारण किसी तरह भी (नित्यता अनित्यता आदि) विरोधको हटाया नही जा सकता। अन्तिम (मोक्ष-अवस्थाके जीव-परिमाण)के स्थायी रहने, तथा (मोक्ष और) इस वक्तके जीव-परिमाण—दोनोके नित्य होनेसे (बद्ध-अवस्थामे भी) वैसा ही (होना चाहिये, फिर उस वक्त देहके परिमाणके अनुसार होता है, यह बात गलत होगी)।

(३) **बौद्धदर्शन-खंडन**—वादरायणने बौद्धदर्शनकी चारो शाखाओ—वैभाषिक, सौत्रातिक, योगाचार और माध्यमिकका खडन किया है, जिससे साफ है, कि उस वक्त तक ये चारो शाखाये स्थापित हो गई थी, और यह समय असग-वसुवधु (३५० ई०)का है, इससे वादरायणका ४०० ई०के आसपास होना सिद्ध होता है, किन्तु जैसा कि हमने पहिले कहा है, अभी '३०० ई०से पहिले नही' इसीपर हम सन्तोष करते है। खडन करते वक्त वादरायणने पहिले वैशेषिक दर्शनको लिया, जिसके वाद सभी बौद्ध-दर्शन-शाखाओके समान सिद्धान्तोकी भी आलोचना की है, फिर भिन्न-भिन्न दर्शन-शाखाओके अपने जो खास-खास सिद्धान्त है, उनका खडन किया है।

(क) **वैभाषिक-खंडन**—वैभाषिक वाहरी जगत् (=वाह्य-अर्थ) और भीतरी वस्तु चित्त=विज्ञान तथा चैत्त (=चित्त-सवधी अव-स्थाओ)के अस्तित्वको स्वीकार करते है। सर्व (=भीतरी वाहरी सारे पदार्थोके)-अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही उनका पुराना नाम सर्वा-स्तिवादी भी प्रसिद्ध है। लेकिन सवके अस्तित्वको वह वुद्धके मौलिक

---

[1] वे० सू० २।२।३२-३४

सिद्धात अनित्यता=क्षणिकताके साथ मानते है। वादरायणने मुख्यत उनकी इस क्षणिकतापर प्रहार किया है। यद्यपि बुद्धके वक्त परमाणुवाद अपनी जन्मभूमि यूनानमे पैदा नही हुआ था, उसके प्रवर्त्तक देमोक्रितुके पैदा होनेके लिए बुद्धकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)के बाद और तेईस वर्षोंकी जरूरत थी। यूनानियोके साथ वह भारत आया जरूर, तथा उसे लेनेवालोमे भारतकी सीमासे पार ही उनसे मिलनेवाले मानवतावादी (=अन्तर्राष्ट्रीयतावादी) बौद्ध सबसे पहिले थे। यूनानमे देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)का परमाणुवाद स्थिरवादका समर्थक था, और वह हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)के क्षणिकवादसे समन्वय नही कर सका था, किन्तु भारतमे परमाणुवादके प्रथम स्वागत करनेवाले बौद्ध स्वय बुद्ध-समकालीन हेराक्लितुकी भाँति क्षणिकवादी थे। यह भी सभव है, बुद्धके वक्तसे चले आए उनके अनित्यवादका नया नामकरण, क्षणिकवाद, इसी समय हुआ हो। बौद्धोंने परमाणुवादका क्षणिकवादसे गँठजोडा करा दिया। सभी भौतिकतत्त्वो (=रूप)की मूल इकाई अविभाज्य (=अ-तोम्) परमाणु है, किन्तु वह स्वय एक क्षणसे अधिककी सत्ता नही रखते—उनका प्रवाह (=सन्तान) जारी रहता है, किन्तु प्रवाहके तौरपर इस क्षणिकताके कारण हर क्षण विच्छिन्न होते हुए। अणुओंके संयोग—अणु-समुदाय—से पृथिवी आदि भूतोका समुदाय पैदा होता है, और पृथिवी आदिके कारणोंसे शरीर-इन्द्रिय-विषय-समुदाय पैदा होता है। वादरायण इसका खडन करते हुए कहते है[1]—

"(परमाणु हेतु, या पृथिवी आदि हेतु) दोनो ही हेतुओके (मानने) पर भी जगत् (का अस्तित्वमे आना) नही हो सकता, (क्योकि परमाणुओके क्षणिक होनेसे उनका सयोग ही नही हो सकता फिर समुदाय कैसे?)।" (प्रतीत्य-समुत्पाद[2]के अविद्या आदि १२ अगोके) एक दूसरेके

---

[1] वे० सू० २।२।१७-२४ [2] देखो पृष्ठ ५१२-१५

प्रत्यय[1]से (समुदाय) हो सकता है, यह (कहना) ठीक नही, क्योकि (वे अविद्या आदि पृथिवी आदिके) सघात बननेमे कारण नही हो सकते, (चाहे वह दिमागमे भले ही गलत ज्ञान आदि पैदा कर सकते हो)। (क्षणिकवादके अनुसार) पीछे (की वस्तुके) उत्पन्न होनेपर पहिलेवाली नष्ट हो गई रहती है; (फिर पिछली वस्तुका कारण पहिली—नष्ट हो गई—वस्तु कैसे हो सकती है, क्योकि उस वक्त तो उसका अत्यन्त अभाव हो चुका है ?) यदि (हेतुके) न होनेपर भी (कार्य उत्पन्न होता है, यह मानते है, तो प्रत्ययके बिना कोई चीज नही होती यह) प्रतिज्ञा (आपकी) छूटती है, और (होनेपर होता है, कहते है,) तो (कार्य और कारण दोनोके) एक समय मौजूद होनेसे (क्षणिकवाद गलत होता है)।

धर्मो (=वस्तुओ या घटनाओ)को बौद्धोने सस्कृत (=कृत) और असस्कृत (=अ-कृत) दो भागोमे बाँटा है। जिनमे रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान—ये पाँचों स्कन्ध (१२ आयतन या १८ धातु) सस्कृत **धर्म** है, और निरोध (=अभाव) तथा आकाश असस्कृत। निरोध (=अभाव, विनाश) भी दो प्रकारका है, एक प्रतिसख्या-निरोध या स्थूल-निरोध, दूसरा अप्रतिसख्या-निरोध प्रतिक्षेण हो रहा अतिसूक्ष्म निरोध। दोनोमे वह मानते है, कि विनाश विच्छिन्न (=निरन्वय) होता है। बादरायणका कहना है, कि जिस तरहका निरन्वय "प्रतिसख्या-अप्रतिसख्या-निरोध (तुम मानते हो, वही) नही सिद्ध हो सकता, क्योकि विच्छेद (होता) ही नही, घट वस्तुके नाश होनेपर भी मूल-उपादान मिट्टी घटके टुकडोमे भी अविच्छिन्न भावसे मौजूद रहती है। (कारणके बिलकुल अभाव—शून्य—हो जानेपर कार्यकी उत्पत्ति तथा कार्यका नाश हो बिलकुल अभाव—शून्य—हो जाना) दोनो ही तरहसे दोष है (शून्यसे उत्पन्न तथा अन्तमे शून्य हो जानेवाला शून्य ही रहेगा),

---

[1] जिसके होनेके बाद दूसरी चीज होती है, वह इस होनेवाली चीजका प्रत्यय है।

जिससे (जगत्‌की उत्पत्तिकी व्याख्या नही की जा सकती)। (प्रतिसख्या-अप्रतिसख्या-निरोधके) समान ही (विरोधी युक्तियोके कारण) आकाशमे भी (शून्य रूप माननेसे दोष आयेगा, वस्तुत वह शून्य—अभाव—नही पाँचों भूतोमे एक भूत है)।

क्षणिकवादी बौद्ध विज्ञान (=चित्त)को भी क्षणिक मानते है, और उसके परे किसी आत्माकी सत्ता नही स्वीकार करते। वादरायण उनके मतको असंगत कहते हुए बतलाते है, कि इस तरहकी क्षणिकता गलत है, "क्योकि (पहिली बातका) अनुस्मरण" (हम साफ देखते है, यदि कोई स्थायी वस्तु नही, तो अनुस्मरण कैसे होता है)।"

(ख) सौत्रान्तिक खंडन—सौत्रातिक वाह्यार्थवादी—बाहरकी वस्तुओंकी क्षणिक सत्ताको वास्तविक स्वीकार करते—है। उनका कहना है—बाहरी वस्तुये क्षणिक है यह ठीक है, और इसी वजहसे जिस वक्त किसी वस्तु (=घडे)का अस्तित्व हमे मालूम हो रहा है, उस वक्त वह वस्तु (=घडा) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, और उसकी जगह दूसरा—किन्तु बिलकुल उसी जैसा—घडा पैदा हुआ है। इस तरह इस वक्त जिस घडेके अस्तित्वको हम अनुभव कर रहे है, वह है पहिले निरन्वय (=विच्छिन्न) विनष्ट हो गए घडेका। यह कैसे होता है, इसका उत्तर सौत्रातिक देते है—घडा आँखसे प्राप्त होनेवाले विज्ञानमे अपने आकार (=लाल आदि)को छोडकर नष्ट हुआ, उसी विज्ञानमय आकारको पा उससे घडेकी सत्ताका अनुमान होता है। वादरायणका आक्षेप है—अविद्यमान (=विनष्ट घडे)का (यह लाल आदि आकार) नही है, क्योकि (विनष्ट वस्तुके लाल आदि गुणका किसी दूसरी वस्तुमे स्थानान्तरित होना) नही देखा जाता। (यदि विनष्टसे भी) इस तरह (वस्तु उत्पन्न होती जाय) तो उदासीनों (=जो किसी बातको प्राप्त करनेके लिए कोई प्रयत्न भी नही करते उन)को भी (वह बात) प्राप्त हो जाये, (फिर तो निर्वाणके लिए भारी प्रयत्न करना ही निष्फल है)।

(ग) योगाचार-खंडन—वैभाषिक वाह्यार्थ और विज्ञान दोनोको

मानते है, सौत्रांतिक बाह्यार्थको ही मुख्य मानते है, विज्ञान उसीका भीतरकी ओर निक्षेप है। विज्ञानवादी योगाचारका मत सौत्रांतिकसे बिलकुल उलटा है। क्षणिक विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, बाह्य वस्तुये, जगत्, उसीके बाहरी निक्षेप है। वादरायण विज्ञानवादपर आक्षेप करते हुए कहते है—"(बाहरी वस्तुओका) अभाव (कहना ठीक) नही है, क्योकि (विज्ञानसे परे वस्तुये साफ) पाई जाती है। स्वप्न आदिकी तरह (पाई जाती है, यह कहना ठीक) नही है, क्योकि (स्वप्नके ज्ञान और जागृत-अवस्थाके ज्ञानमे भारी) भेद है। (पदार्थोके बिलकुल न रहनेपर ज्ञानका) होना नही (सभव है), क्योकि (यह बात कही) नही देखी जाती।"

(घ) माध्यमिक-खंडन—शून्यवादी माध्यमिक दर्शनके खडनमे वादरायणने एक सूत्र[1]से अधिक लिखनेकी जरूरत न समझी, और उसमे नागार्जुनके सबसे मजबूत पक्ष—सापेक्षतावाद—को न छूकर उनके सबसे कमजोर पक्ष—शून्यवाद (वस्तुकी क्षणिक वास्तविकतासे भी इन्कार)—को लिया। शायद पहिले पक्षका जवाब वह क्षणिकवादके खडनसे दे दिया गया समझते थे। क्षणिकवादको एक समान मानते हुए वैभाषिक जड, अजड दोनो तत्वोके अस्तित्वको स्वीकार करते है, सौत्रान्तिक सिर्फ बाह्य जड तत्वका, योगाचार सिर्फ आभ्यन्तर अ-जड (=विज्ञान) तत्वको, लेकिन माध्यमिक, बाह्य आभ्यन्तर सभी तत्वोके अस्तित्वके ज्ञानके परस्पर-सापेक्ष होनेसे सबको शून्य मानते है। इसके खिलाफ वादरायणका कहना है—"सर्वथा असगत (=युक्ति-अनुभव-विरुद्ध) होनेसे (शून्यवाद गलत है)।"

———

[1] वे० सू० २।२।३०

अष्टादश अध्याय

भारतीय दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

§१–असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जबर्दस्त प्रयत्न असग और वसुवधु दो पेशावरी पठान भाइयोने किया। बडे भाई असगने योगाचार भूमि[1], उत्तरतन्त्र[1] जैसे ग्रन्थोको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुवधुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होने एक ओर वैभाषिक-सम्मत, तथा बुद्धके दर्शनसे बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बडा भाष्य[1] लिखा, दूसरी ओर विज्ञानवादके सबधमे विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विंशिका (बीस कारिकाये) और त्रिंशिका (तीस कारिकाये) लिख अपने वडे भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमे दार्शनिकोके सामने पेश किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्त्वपूर्ण था **वादविधान** नामक न्याय-ग्रथका लिख, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना, और सबसे बडी बात थी "भारती मध्ययुगीन न्यायके पिता" दिग्नाग जैसे शिष्यको पढाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक बड़े प्रवाहके रूपमे ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शकराचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी है, यह हम वतलानेवाले है। वस्तुत गौड-

---

[1] ये दोनो ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी है। अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथ मै पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी माडूक्य-कारिका "अलात शान्ति प्रकरण" प्रच्छन्न नही प्रकट रूपसे एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असगका एक दूसरे-के साथ कितना सबध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा "योगाचार दर्शन"के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगा-चार शब्द असगके सबसे बडे ग्रथ "योगाचार-भूमि"से लिया गया है।

१—जीवनी

असगका जन्म पेशावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमे हुआ था। उनके छोटे भाई वसुबधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोमे थे। वसुबधुके कितने ही मौलिक ग्रथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ ग्रथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुश्रृखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमे विशेष नही लिखा। वसुबधुने अभिधर्मकोश-पर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओमे मुझे सस्कृतमे मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामे फोटो रूपमे पडा है। अपने बडे भाई असंगके विज्ञानवादपर "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" नामके "विशिका" और "त्रिशिका" नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिल-कर प्रकाशित हो चुके है। वसुबधु "मध्यकालीन न्याय-शास्त्र"के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होने स्वय भी "वादविधान" नामसे न्यायपर एक ग्रथ लिखा था किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गई। वसुबधु समुद्रगुप्तके पुत्र चद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमे मौजूद थे।[1]

असगकी जीवनीके बारेमे हम इससे अधिक नही जानते कि वह योगा-चार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रथोके लेखक, वसुबधुके बडे भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०मे जरूर मौजूद रहे होगे। यह समय नागार्जुनसे पौन सदी पीछे पडता है। नागार्जुनके ग्रथ भारतीय न्याय-शास्त्रके प्राचीनतम ग्रथ है—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

---

[1] देखो मेरी "वादन्याय" और "अभिधर्मकोश"की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असग-वसुबधुसे मिलानेवाली कडी उसी तरह हमे मालूम नही है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोंको भारतीय दर्शनो तक सीधे पहुँचनेवाली कड़ियाँ अभी उपलब्ध नही हुई है। असगको वादशास्त्र (= न्याय) का काफी परिचय था, यह हमे "योगाचार-भूमि"से पता लगता है।

२—असंगके ग्रंथ

महायानोत्तर तत्र, सूत्रालकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसग्रहणी, बोधि-सत्त्व-पिटकाववाद ये पॉच ग्रथ अभी तक हमे असगकी दार्शनिक कृतियोमे मालूम है, इनमे पिछले दोनोका पता तो "योगाचार-भूमि"से ही लगा है। पहिले तीनो ग्रथोके तिब्बती या चीन अनुवादोका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असगका यह विशाल ग्रथ निम्न सत्रह भूमियोमे विभक्त है—

१ . विज्ञान भूमि
२ मन भूमि
३ सवितर्क-सविचारा भूमि
४ अवितर्क-विचारमात्रा भूमि
५ अवितर्क-अविचारा भूमि
६ समाहिता भूमि
७ असमाहिता भूमि
८ सचित्तका भूमि
९ अचित्तका भूमि
१० श्रुतमयी भूमि
११ चिन्तामयी भूमि
१२ भावनामयी भूमि
१३ श्रावक भूमि[1]
१४ प्रत्येकबुद्ध भूमि
१५ बोधिसत्त्व भूमि[1]
१६ सोपधिका भूमि
१७ निरुपधिका भूमि[2]

---

[1] श्रावक भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली "योगाचारभूमि" की तालपत्र पोथी (दसवी सदी) में नही है। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगीहारा (जापान १९३०) प्रकाशित कर चुके है। अलग भी मिल चुकी है।

[2] "योगाचारभूमि"में आचार्यने किन-किन विषयोपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूचीसे मालूम हो जायेगा।

भूमि १

§ १. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियाँ ।

§ २. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (= ज्ञान)

१. आँखका विज्ञान
   (१) विज्ञानोंके स्वभाव
   (२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, बीज)
   (३) उनके आलबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (=क्रिया)
   (४) उनके सहाय (=सहयोगी)
   (५) कर्म
      (क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (= विज्ञप्ति)
      (ख) अपने स्वरूप (= स्वलक्षण)की विज्ञप्ति
      (ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति
      (घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति
      (ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (=पीछे आना)
      (च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (=त्वक् इन्द्रिय)का विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

§ ३. पाँचो विज्ञानोका उत्पन्न होना

§ ४. पाँचो विज्ञानोके साथ सबद्ध चित्त

§ ५. पाँचो विज्ञानोके सहाय आदिकी 'एक काफिलेवाला' आदि होनेकी उपमा ।

भूमि २

मनकी भूमि

§ १. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलवन (=विषय)

४. मनका सहाय (=सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म
   (१) आलवन विज्ञप्ति
   (२) विशेष कर्म
      (क) विषयकी विकल्पना

(ख) उपनिध्यान
(ग) मत्त होना
(घ) उन्मत्त होना
(ङ) सोना
(च) जागना
(छ) मूर्च्छित होना
(ज) मूर्च्छासे उठना
(झ) कायिक, वाचिक काम कराना
(ञ) विरक्त होना
(ट) विरागका हटना
(ठ) भली अवस्थाकी जड़का कटना
(ड) भली अवस्थाकी जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति
(१) शरीरसे च्युति (= छूटना, मृत्यु)
(२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (=अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति
(१) उत्पत्तिवाले स्थानमें जानेकी अभिलाषा
(२) गर्भमें प्रवेश करना
(क) गर्भाधानमें सहायक
(ख) गर्भाधानमें बाधक
(a) योनिका दोष
(b) बीजका दोष
(c) पुरविले कर्मका दोष
(ग) अन्तराभवकी दृष्टिमें परिवर्तन
(घ) पापी और पुण्यात्माके जन्मकुल
(ङ) गर्भाशयमें आलय-विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढग
(च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
(a) कलल-अवस्था
(b) अर्बुद-अवस्था
(c) पेशी ,,
(d) घन ,,
(e) प्रशाख ,,
(f) केश - रोम - नखकी अवस्था
(g) इन्द्रियोका प्रकट होना
(h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना
(छ) शरीरमें विकार

४. द्रव्य चौदह
५. भूतोका साथ या अलग रहना
§ ७. चित्त
§ ८. चित्त-संबंधी (=चैतस) तत्त्व (विज्ञानकी उत्पत्ति)
१. चैतस मनस्कार आदि
(१) उनके स्वभाव
(२) उनके कर्म
§ ९. तीन काल (जन्म, जरा आदि)
§ १०. छ प्रकारके विज्ञान
१. विज्ञानोके चार प्रत्यय
(१) प्रत्यय
(२) प्रत्ययोके भेद
२. आयतनोके छ भेद
(१) इन्द्रियोके भेद
(क) चक्षुके भेद
(ख) श्रोत्र ,,
(ग) घ्राण ,,
(घ) जिह्वा ,,
(ङ) काया ,,
(च) मन ,,
(२) आलंबनोके छ भेद
(क) रूपके भेद
(ख) शब्द ,,
(ग) गन्ध ,,
(घ) रस के भेद
(ङ) स्पर्श ,,
(च) धर्म ,,
§ ११. नव वस्तुवाले बुद्ध-वचन

भूमि ३, ४, ५

(सवितर्क-सविचारा भूमि, अवितर्क-विचारमात्रा भूमि, अवितर्कअविचारा भूमि)

(सवितर्क-सविचारा भूमि)

§ १. धातुकीप्रज्ञप्तिसे
१. धातुके प्रज्ञापन द्वारा
(१) काम (=स्थूल) धातु (=लोक)
(२) रूप धातु
(३) आरूप्य धातु
२. परिमाणके प्रज्ञापन द्वारा
(१) शरीरका परिमाण
(२) आयुका परिमाण
३. भोगके प्रज्ञापन द्वारा
(१) दुखभोग
(1) नरक
(a) महानरक (आठ)
(b) छोटे (=सामन्त) नरक (चार)
(c) ठंडे नरक (आठ)
(d) प्रत्येक नरक

(ख) तिर्यक्‌योनि
(ग) प्रेतयोनि
(घ) मनुष्ययोनि
(ङ) देवयोनि
(२) सुख-भोग
(क) नरक-योनिमें
(ख) तिर्यक् (=पशु-पक्षी) योनिमें
(ग) मनुष्य-योनिमें (चक्रवर्ती बनकर)
(घ) देव-योनिमें
(a) स्वर्गमें इन्द्र और देवपुर, उत्तरकुरु और असुर
(b) रूपलोकके देवता
(c) अरूपलोकके देवता
(३) दुःख सुख विशेष
(४) आहारभोग
(५) परिभोग
४. उपपत्ति(=जन्म)के प्रज्ञापन द्वारा
५. आत्मभाव
६. हेतु और फलकी व्यवस्था
(१) हेतु और फल (=कार्य) के लक्षण
(२) हेतु-प्रत्ययके अधिष्ठान
(३) हेतु-प्रत्ययके भेद
(क) हेतुके भेद
(ख) प्रत्ययके भेद
(ग) फलके भेद
(७) हेतु-प्रत्यय-फलव्यवस्था
(क) हेतु-प्रज्ञापन
(ख) प्रत्यय-प्रज्ञापन
(ग) फल-प्रज्ञापन
(घ) हेतु-व्यवस्था

§ २. लक्षण-प्रज्ञप्तिसे
१. शरीर आदि
(१) शरीर
(२) आलंबन (=विषय)
(३) आकार
(४) समुत्थान
(५) प्रभेद
(६) विनिश्चय
(७) प्रवृत्ति
२. वितर्क-विचारा गतिके भेदसे
(१) नारकोकी गति
(२) प्रेत और तिर्यकोकी गति
(३) देवोकी गति
(क) कामलोकके देव
(ख) प्रथमध्यायनकी भूमि वाले देव

§ ३. योनिशोमनस्कारकी प्रज्ञप्तिसे
  १. अधिष्ठान
  २. वस्तु
  ३. एषणा
  ४. परिभोग
  ५. प्रतिपत्ति

§ ४. अयोनिशोमनस्कार प्रज्ञप्तिसे
  १. दूसरोंके वाद (=मत)
    (१) सद्वाद (सांख्य)
    (२) अनभिव्यक्ति-वाद (सांख्य और व्याकरण)
    (३) द्रव्यसद्वाद (सर्वास्ति-वादी)
    (४) आत्मवाद (उपनिषद्)
    (५) शाश्वतवाद (कात्यायन)
    (६) पूर्वकृत हेतुवाद (जैन)
    (७) ईश्वरादि-कर्त्तावाद (नैयायिक)
    (८) हिंसाधर्मवाद (याज्ञिक और मीमांसक)
    (९) अन्तानन्तिकवाद
    (१०) अमराविक्षेपवाद (बेल-ट्ठिपुत्त)
    (११) अहेतुकवाद (गोशल)
    (१२) उच्छेदवाद (लोका-यत)
    (१३) नास्तिकवाद (केश-कम्बल)
    (१४) अग्रवाद (ब्राह्मण)
    (१५) शुद्धिवाद (,,)
    (१६) ज्योतिषशकुन (=कौ-तुक-मंगल) वाद

§ ५. संक्लेश-प्रज्ञप्तिसे
  १. क्लेश (=चित्तके मल)
    (१) क्लेशोंके स्वभाव
    (२) क्लेशोंके भेद
    (३) क्लेशोंके हेतु
    (४) क्लेशोंकी अवस्था
    (५) क्लेशोंके मुख
    (६) क्लेशोंकी अतिशयता
    (७) क्लेशोंके विपर्यास
    (८) क्लेशोंके पर्याय
    (९) क्लेशोंके आदीनव
  २. कर्म
  ३. जन्म
    (१) कर्मोंके भेद
    (२) कर्मोंकी प्रवृत्ति

§ ६. प्रतीत्यसमुत्पाद

भूमि ६

(समाहिता भूमि)

§ १. ध्यान
  १. नाम-गिनाई

(१) ध्यान
(२) विमोक्ष
(३) समाधि
(४) समापत्ति
२. व्यवस्थान
§ २. विमोक्ष
§ ३. समाधि
§ ४. समापत्ति

भूमि ७

(असमाहिता भूमि)

भूमि ८, ९

अचित्तका भूमि

भूमि १०

सचित्तका भूमि
(श्रुतमयी भूमि)
पाँच विद्याएं-

§ १. अध्यात्मविद्या
१. वस्तुप्रज्ञप्ति
(१) सूत्र वस्तु
(२) विनय वस्तु
(३) मातृका वस्तु
२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति
(१) पद
(२) भ्रान्ति
(३) प्रपञ्च
(४) स्थिति
(५) तत्त्व
(६) शुभ
(७) वर
(८) प्रशम
(९) प्रकृति
(१०) युक्ति
(११) संकेत
(१२) अभिसमय
३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति
४. बुद्ध-वचनके ज्ञेयोका अधिष्ठान
§ २. चिकित्सा विद्या
§ ३. हेतु (=वाद) विद्या
१. वाद
(१) वाद
(२) प्रतिवाद
(३) विवाद
(४) अपवाद
(५) अनुवाद
(६) अववाद
२. वादके अधिकरण
३. वादके अधिष्ठान (दस)
(१) दो प्रकारके साध्य
(२) आठ प्रकारके साधन
(क) प्रतिज्ञा
(ख) हेतु

(ग) उदाहरण
(घ) सारूप्य
(a) लिंगमें सादृश्य
(b) स्वभावमें सादृश्य
(c) कर्ममें सादृश्य
(d) धर्ममें सादृश्य
(e) हेतुफल (=कार्य-कारण) में सादृश्य
(ङ) वैरूप्य
(च) प्रत्यक्ष
(a) अ-परोक्ष
(b) अनभ्यूहित अनभ्यूह्य
(c) अ-भ्रान्त
(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, संख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिसे संबंध रखनेवाली)
(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, शुद्ध (=योगि)-प्रत्यक्ष
(छ) अनुमान
(a) लिंगसे
(b) स्वभावसे
(c) कर्मसे
(d) धर्मसे
(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण) से
(ज) आप्तागम (=शब्द)

४. वादके अलंकार
(१) अपने और पराये वाद की अभिज्ञता
(२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)
(क) अग्राम्य भाषण
(ख) लघु (=मित)-भाषण
(ग) ओजस्वी भाषण
(घ) पुर्वापरसंबद्ध भाषण
(ङ) अच्छे अर्थोवाला भाषण
(३) विशारद होना
(४) स्थिरता
(५) दाक्षिण्य (=उदारता)

५. वादका निग्रह
(१) कथात्याग
(२) कथामाद
(३) कथादोष
(क) बुरा वचन
(ख) संरब्ध (=कुपित) वचन
(ग) अ-गमक वचन

(घ) अ-मित वचन
(ङ) अनर्थ-युक्त वचन
(च) अ-काल वचन
(छ) अ-स्थिर वचन
(ज) अ-दीप्त वचन
(झ) अ-प्रबद्ध वचन

६. वाद-निःसरण
(१) गुणदोष-परीक्षा
(२) परिषत्-परीक्षा
(३) कौशल्य (=नैपुण्य)-परीक्षा

७. वादमें उपकारक बातें

§ ४. शब्द-विद्या
१. धर्म-प्रज्ञप्ति
२. अर्थ-प्रज्ञप्ति
३. पुद्गल-प्रज्ञप्ति
४. काल-प्रज्ञप्ति
५. संख्या-प्रज्ञप्ति
६. अधिकरण-प्रज्ञप्ति

§ ५. शिल्प-कर्मस्थान विद्या

भूमि ११

(चिन्तामयी भूमि)

§ १. स्वभावशुद्धि

§ २. ज्ञेयो (=प्रमेयो)का संचय
१. सद् (वस्तु)
(१) स्वलक्षण सत्
(२) सामान्यलक्षण सत्
(३) संकेतलक्षण सत्
(४) हेतुलक्षण सत्
(५) फल(=कार्य)-लक्षण सत्

२. असद् (वस्तु)
(१) अनुत्पन्न असत्
(२) निरुद्ध असत्
(३) अन्योन्य असत्
(४) परमार्थ असत्

३. अस्तित्व
४. नास्तित्व

§ ३. धर्मोका सचय
१. सूत्रार्थोका संचय
२. गाथार्थोका संचय
(यहाँ पिटकोकी सैकडो गाथा-ओका सग्रह है)

भूमि १२

(भावनामयी भूमि)

§ १. स्थानतः सग्रह
१. भावनाके पद
२. भावना-उपनिषत्
३. योग-भावना
४. भावना-फल

§ २. अंगतः सग्रह
१. अभिनिर्वृत्ति-सपद्

२. सद्धर्मश्रवण-सपद्
(१) ठीक उपदेश करना
(२) ठीक सुनना
(३) निर्वाण-प्रमुखता
(४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परि-पाक
(५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३

(श्रावक भूमि)

भूमि १४

(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§१. गोत्र
१. मन्द-रजवाला गोत्र
२. मन्द-करुणावाला गोत्र
३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§२. मार्ग

§३. समुदागम
१. गैंडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला
२. जमातके साथ विहरनेवाला

§४. चार

भूमि १५

(बोधिसत्त्व भूमि)

भूमि १६

(उपाधि-सहिता भूमि)

तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति
२. उपशम-प्रज्ञप्ति
३. उपधि-प्रज्ञप्ति
(१) प्रज्ञप्ति उपधि
(२) परिग्रह उपधि
(३) स्थिति प्रज्ञप्ति
(४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति
(५) अन्तराय प्रज्ञप्ति
(६) दु:ख प्रज्ञप्ति
(७) रति प्रज्ञप्ति
(८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७

(उपधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे
२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे
(१) व्युपशमा निर्वृति
(२) अव्याबाध-निर्वृति
३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

"योगाचार भूमि" (संस्कृत) को महामहोपाध्याय विधु-शेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं।

३—दार्शनिक विचार

असग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असगके पहिले भी "लकावतार सूत्र", "सधिनिर्मोचन सूत्र" जैसे महायान सूत्रोमे मौजूद था। इन सूत्रोको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकाश महायान-सूत्रोकी भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र है, लकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमे लका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट?)पर उपदेश दिया था। वस्तुत उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमे गधारकी पर्वतावलीमे ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोका विज्ञानवाद बुद्धके "सव्व अनिच्च" (=सब अनित्य है) या क्षणिकवादका अफ्लातूंके (स्थिर) विज्ञान-वादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गधारमे किया गया, जहाँ यूनानियोकी कलाके मिश्रण द्वारा गधार मूर्त्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह बतला आये है, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोके पाँच विज्ञानो तथा छठे मन-विज्ञानके अति-रिक्त एक सातवे **आलयविज्ञान**को मानता है। यही **आलयविज्ञान** वह तरगित समुद्र है, जिससे तरगोकी भाँति विश्वकी सारी जड-चेतन वस्तुए प्रकट और विलीन होती रहती है।

यहाँ हम असगके दार्शनिक विचारोको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते है। स्मरण रहे "योगाचार-भूमि" कोई सुमबद्ध दार्शनिक ग्रथ नही है, वह बुद्धघोषके "विसुद्धिमग्ग" (=विशुद्धिमार्ग)की भाँति ज्यादा-तर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रथको नही लिखा है। "गाथार्थ-प्रविचय"[1]मे जरूर १७८ गाथाए—हीनयान महायान दोनो पिटकोकी—एकत्रित कर दी है। बुद्धघोषकी भाँति असगने भी सूत्रोंकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

[1] योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १०)

वाज़ वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसस्कृत सस्कृतके कालमे न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको सस्कृत-शब्दान्तरके रूपमे पढ रहे है। बुद्धघोष अपने ग्रथको पालीमे लिख रहे थे, जिसे वसुबधु-कालिदास-कालीन सस्कृतकी भाँति सस्कृत बननेका अभी मौका नही मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे; मगर असगको ऐसी कोई मजबूरी न थी, न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर उन्होने क्यो ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमे किसी बातको सक्षेपमे कहा ही नही जा सकता ? सभव है, सूत्रोकी शैली से परिचित अपने पाठकोके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होने ऐसा किया हो।

हम यहाँ "योगाचार भूमि"का पूरा सक्षेप नही देना चाहते, इसलिए उसमे आये असगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (=वाद)विद्या, परवाद-खडन और द्रव्य-परमाणु-सबधी विचारोको देने ही पर सन्तोष करते है।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

[१]ज्ञेय कहते है परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते है, सत् या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है, (१) स्वलक्षण(=अपने स्वरूपमे) सत्, (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूपमे) सत्; (३) सकेतलक्षण (=सकेत किये रूपमे) सत्, (४) हेतु लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमे) सत्, (५) फल लक्षण (=परिणामके रूपमे) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) अनुत्पन्न (=जो पदार्थ उत्पन्न नही हुआ, अतएव) असत्, (२) निरुद्ध (=जो उत्पन्न

---

[१] 'योगाचारभूमि' (चिन्तामयी भूमि ११)

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत्, (३) अन्योन्य (= गाय घोडा नही घोडा गाय नही, इस तरह एक दूसरेके रूपमे) असत्, (४) परमार्थ (=मूलमे जानेपर) असत्, और (५) (=बध्या-पुत्र की भाँति) अत्यन्त असत्।

(ग) अस्तित्व—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परिनिष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व कि परमार्थत है (जैसे कि असगके मतमें विज्ञान, भौतिकवादियोंके मनमे मूल भौतिकतत्त्व), (२) परतत्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न ("अमुकके होनेके वाद अमुक अस्तित्वमे आता है") अस्तित्वको कहते है, (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, सकेत (Convention) वश जिसको माना जाये, (४) विशेषलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके सबधसे माना जानेवाला अस्तित्व, और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे "हाँ" या "नही" मे दो टूक नही कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमे पुद्गल=चेतनाको स्कन्धोसे न अलग कहा जा सकता, न एक ही कहा जा सकता)।

(घ) नास्तित्व—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व; (२) स्वतत्ररूपेण नास्तित्व, (३) सर्वसर्वारूपसे नास्तित्व, (४) अविशेष रूपसे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व।

परमार्थत सत्, असत्, अस्तित्व या नास्तित्वको वतलानेके लिए असगने **परमार्थ-गाथा**के नामसे महायान-सत्रोकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की है। इनमे (१) वस्तुओके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हे **शून्य** (=सार-शून्य) कहा गया है, वाह्य और मानस तत्त्वोको सार-शून्य कहते हुए उन्हे क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) वतलाया गया है, और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नही है, वल्कि जगतीके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावत) भगुर है। रूप (=Matter), वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोमे स्थिरताका भास सिर्फ भ्रममात्र है, वस्तुत वे फेन, वुलवुले, मृगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा मायाकी भाँति निस्सार

है ।[1]—

"आध्यात्मिक (=मानसजगत) शून्य है, बाह्य भी शून्य है ।
ऐसा कोई (आत्मा) भी नही है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥
अपना (कोई) आत्मा ही नही है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है । यहाँ कोई सत्त्व या आत्मा नही है, ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण है ॥४॥
सारे सस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक है । . ॥५॥
उसे कोई दूसरा नही जन्माता और न वह स्वय उत्पन्न होता है । प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नही बिल्कुल नये-नये जनमते है ॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वय नष्ट होता है । प्रत्यय (=पूर्वकारण)के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते है। उत्पन्न हो स्वरस ही क्षणभगुर है ॥६॥ **रूप** (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिड समान है, **वेदना** (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ **संज्ञा** (मृग)-मरीचिका सदृशी है, **संस्कार** कदली जैसे, और **विज्ञान**को माया-समान सूर्यवशज (=बुद्ध)ने बतलाया है ॥१८॥"

(२) विज्ञानवाद

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान-समष्टिको **आलयविज्ञान**, कहते है, इसीसे वीचि-तरगकी भॉति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई है । इस विश्व-विज्ञान[2] या आलय-विज्ञानसे जैसे जड-जगत् उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्ति-विज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पॉचो इन्द्रियोके विज्ञान और छठॉ मन पैदा हुआ ।

(ख) पॉंच इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है । अपने आश्रयो चक्षु

---

[1] योगाचार-भूमि, (चिन्तामयी भूमि ११) [2] देखो, रोश्द, पृष्ठ २४०

(=आँख) आदि पाँचो इद्रियोके अनुसार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते है।—

(a) **चक्षु-विज्ञान**[1] (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख)के आश्रय (=सहारे)से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है। यह है चक्षु-विज्ञानका **स्वभाव** (=स्वरूप)।

(ii) **आश्रय**—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन है चक्षु, जो कि साथ साथ अस्तित्वमे आता तथा विलीन होता है, अतएव **सहभू** आश्रय है, मन जो इस विज्ञान (की सन्तति)का बादमे आश्रय होता है, अतएव **समनन्तर** आश्रय है, रूप-इन्द्रिय, मन तथा सारे जगत्‌का बीज जिसमे मौजूद रहता है, वह **सर्वबीजक** आश्रय है **आलय-विज्ञान**। इन तीनमे आश्रयोमे चक्षु रूप (=भौतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और बाकी अरूपी।

(iii) **आलंबन** या विषय है—वर्ण (=रग), **संस्थान** (=आकृति) और **विज्ञप्ति** (=क्रिया)। (a) **वर्ण** है—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्धकार, मद्र, धूम, रज, महिका और नभ। (b) सस्थान है—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमडल, अणु, स्थूल, सात, विसात, उन्नत और अवनत। (c) **विज्ञप्ति** है—लेना, फेकना सिकोडना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौडना इत्यादि।

(iv) **सहाय**—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलंबन-के चैतसिक धर्म है।

(v) **कर्म**—छे है (१) स्वविषय-अवलबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल, (४) एक क्षण, (५) शुद्ध (=कुशल) अशुद्ध मनके विज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोमे अनुवृत्ति, (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण।

(b-e) **श्रोत्र आदि विज्ञान**—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काया (=त्वग्) इन्द्रियोके इन्द्रिय-विज्ञान है।

---

[1] योगाचार-भूमि (१)

(ग) **मन-विज्ञान**—यह छठा-विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि है—

(a) **स्वभाव**—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) है। सारे बीजो (=मूल कारणो) वाला आश्रय स्वरूप **आलय-विज्ञान** चित्त है, (२) मन सदा अविद्या "मै आत्मा हूँ" इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=शोपनहारकी तृष्णा) इन चार क्लेशो (=चित्तमलो)से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलबन (=विषय) क्रियामे उपस्थित होता है।

(b) **आश्रय**—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियो-के विज्ञानोकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोंका आश्रय होता है, बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोंका रखनेवाला **आलय-विज्ञान** है।

(c) **आलम्बन**—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचो इन्द्रियोके पाँचो विज्ञान—जिन्हे धर्म भी कहा जाता है—है।

(d) **सहाय**—मनके सहाय(=साथी) बहुत है, जिनमेसे कुछ है—मनस्कार, स्पर्श[1], वेदना, सज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) **कर्म**—पहिला है अपने पराये विषयो सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमश छ आकारोमे प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति, (२) फिर उसके तीनो कालोकी विज्ञप्ति, (३) फिर क्षणोके क्रमकी विज्ञप्ति, (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोकी विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण, (६) दूसरे विज्ञान-समुदायोंका उत्थापन। दूसरी तरहपर लेनेसे मनके विशेष (=वैशेषिक) कर्म होते है—(१) विषयकी विकल्पना, (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन), (३) मदमें होना, (४)

---

[1] Contact

उन्मादमें होना, (५) निद्रामें जाना, (६) जागना, (७) मूर्च्छा खाना, (८) मूर्च्छासे उठना, (६) कायिक-वाचिक कर्मोंका करना, (१०) वैराग्य करना, (११) वैराग्य छोडना, (१२) भलाईकी जडोको काटना, (१३) भलाईकी जडोको जोडना, (१४) शरीर छोडना (=च्युति) और (१५) शरीरमें आना (=उत्पत्ति)।

इन कर्मोंमेंसे कुछके होनेके बारेमें असग कहते हैं[1]—

पुरविले कर्मोंसे अथवा शरीरधातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमें चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोसे निद्रा होती है।

वात-पित्तके बिगाड, अधिक पाखाना और खूनके निकलनेसे मूर्च्छा होती है।

(मनकी च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नही मानता। मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (=शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है)से एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति)का च्युत होना। उसी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमें उत्पन्न होना।

(a) **च्युति (=मृत्यु)**—मृत्यु तीन कारणोसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमें न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा सेवन न करना, अकालचारी अब्रह्मचारी होना।

मृत्युके वक्त पापियोके शरीरका हृदयसे ऊपरी भाग पहिले ठडा पडता है, और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर।

---

[1] योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(**अन्तराभव**)—एक शरीरके छोडने, दूसरे शरीरमे उत्पन्न होने तक जो बीचकी अवस्थामे मन (=जीव) रहता है, इसीको **अन्तराभव**, गन्धर्व, मनोमय कहते है। अन्तराभवको जैसे शरीरमे उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमे सप्ताह भर तक लगा सकता है।

(b) **उत्पत्ति (=जन्म)**—मरणकालमे मन अपने भले बुरे कर्मो-को साकार देखता, और वैसा ही **अन्तराभवीय** रूप धारण करता है। मनके किसी शरीरमे उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गधर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हो।

(**गर्भमें लिंगभेद**)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है, तो उसकी पुरुषमे आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष बननेवाला होता है, तो स्त्रीमे।

(1) **गर्भाधान**—मैथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका विन्दु भी। बीज और शोणित विन्दु दोनो माँकी योनि ही मे मिश्रित हो, एक पिंड बनकर उबलकर ठंडे हो गए दूधकी भाँति स्थित होते है, इसी पिंडमे सारे बीजोको अपने भीतर रखनेवाला **आलय-विज्ञान** समा जाता है, अन्तराभव उसमे आकर जुड जाता है। इसे गर्भकी कलल-अवस्था कहते है। *कललके जिस स्थानमे विज्ञान जुडता है, वही उसका हृदय स्थान होता है।* (१) कललसे आगे बढते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यजन (=लिगभेद)-अवस्था। इनमे अर्बुद-अवस्थामे गर्भ दही जैसा होता है, वही मासावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी शिथिल माससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर घन, शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फूटना प्रशाख होता है।

(11) **रंग आदि**—बुरे कर्मोके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण-रसवाले अन्न-पानके सेवनसे बालकके केशोमे नाना रग होते है। बालकके केश काले-गोरे होनेमे पूर्व जन्मके अतरिक्त निम्न कारण है—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा धूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा। यदि माँ बहुत ठडे कमरेमे रहती है, तो लडका गोरा। बहुत गर्म खाना खानेपर लडका लाल होगा। चमडेमे दाद, कुष्ट आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है। माताके बहुत दौडने-कूदने, तैरनेसे बच्चेके अग विकृत होते है।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमे बाई ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर। प्रसवके वक्त माताके उदरमे असह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके शिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देती है।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

"इसे कोई दूसरा नही जनमाता और न वह स्वय उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (=वस्तुएँ) पुराने नही बिल्कुल नये-नये जनमते है। प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते है और उत्पन्न हो स्वरस (=स्वत) ही क्षणभंगुर है।"[1]

महायानसूत्रकी इन गाथाओ द्वारा असगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है। "क्षणिकके अर्थको लेकर **प्रतीत्य-समुत्पाद**[2]" कहते हुए उन्होने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए असग कहते है[3]—प्रतिगमन करके (=खतम करके एक चीजको दूसरीकी उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।) प्रत्यय अर्थात गतिशील अत्यय (=विनाश)के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

---

[1] देखो पृष्ठ १६ [2] यो० भू० (भूमि ३,४,५) "प्रत्ययत इत्य-रात्ययसगत उत्पाद प्रतीत्य-समुत्पादः क्षणिकार्यमधिकृत्य।" [3] वहीं।

अथवा प्रत्यय अर्थात अतीत (=खतम हुई चीज)से अपने प्रवाहमे उत्पाद। 'इसके होनेके बाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नही', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमे। अथवा अतीत कालमे प्रत्यय (=खतम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमे उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।

और भी[1]—

"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? नि सत्त्व (=अन्-आत्मा)के अर्थमे . . .। नि सत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमे। अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमे। गतिशील होनेपर परतन्त्रताके अर्थमे। परतन्त्र होनेपर निरीहके अर्थमे। निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खडित हो जानेके अर्थमे। (कार्य-कारण-)व्यवस्थाके खडित होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमे। अनुरूप कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमे।

अनित्य, दु ख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना)के अर्थमे होनेसे भगवान् (बुद्ध)ने प्रतीत्य-समुत्पादके बारेमे कहा[2] "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।"

"(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमे जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती है। प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभगुर है।[3]

(४) हेतु विद्या

असगने विद्या (=ज्ञान)को पाँच प्रकारकी माना है[4]—(१) अध्यात्मविद्या जिसमे बुद्धोक्त सूत्र, विनय और मातृका (=अभि-धर्म) अर्थात त्रिपिटक तथा उसमे वर्णित विषय सम्मिलित है, (२) चिकित्सा-

---

[1] वही कुछ पहिले। [2] संयुत्तनिकाय २।९२; दीघनिकाय २।५५

[3] "प्रतिक्षणं च नव लक्षणानि प्रवर्त्तन्ते। क्षणभगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पाद"।

[4] यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र, (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र, (४) शब्दविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुदगल (=जीव), काल, सख्या और सखिलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र)का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र)।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए असग उसे छ भागोमे बाँटते है--(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४)वाद-अलकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेबहुकर (=वाद-उपयोगी) बाते।

(क) वाद—वाद बहस या सलाप छ प्रकारके होते है।

(a) **वाद**—जो कुछ मुँहसे बोला जाये, वह वाद है।

(b) **प्रवाद**—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है।

(c) **विवाद**—भोगोके रखने-छीननेके सम्वन्धमे अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके सबधमे परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है।[1]

(d) **अपवाद**--निन्दा।

(e) **अनुवाद**—धर्मके बारेमे उठे सन्देहोके दूर करनेके लिए जो बात की जाये।

(f) **अववाद**—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद।

इनमे विवाद और अपवाद त्याज्य है, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय।

(ख) वाद-अधिकरण—वादके उपयुक्त अधिकरण या स्थान दो

---

[1] "कामेषु तद्यथा नट-नर्त्तक-लासक-हासकाद्युपसहितेषु वा वैश्या-जनोपसहितेषु वा पुन सदर्शनाय वा उपभोगाय वा विगृहीतानां ... नानावाद. ।. दृष्टेर्वा पुनः आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, विषमहेतुदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, वार्षगण्यदृष्टि, मिथ्यादृष्टिमिति वा .नानावाद. ।"

हैं, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थमे निपुण ब्राह्मणो या श्रमणोकी सभा।

(ग) वाद्-अधिष्ठान—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) है दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन। इसमे साध्यके सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप), तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते है।

(आठ साधन)—साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके है—

(a) **प्रतिज्ञा**—स्वभाव या विशेषवाले दोनो प्रकारके साध्योको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है। वही प्रतिज्ञा है। यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र(-मत)की स्वीकृतिसे हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारसे या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुश्रव)से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकपासे भी हो सकता है।

(b) **हेतु**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रथ-प्रमाण)से युक्तिका कहना हेतु है।

(c) **उदाहरण**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए हेतुपर आश्रित दुनियामे उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बात करना उदाहरण है।

(d) **सारूप्य**—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है।—(१) वर्तमान या पूर्वमे देखे हेतुसे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य **लिंग-सादृश्य** है, (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य **स्वभाव-सादृश्य** कहा जाता है, (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको **कर्म-सादृश्य** कहते है, (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य **धर्म-सादृश्य** कहा जाता है, जैसे अनित्यमे दु ख-धर्मताका सादृश्य दु खमे नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोमे जन्म-धर्मताका इत्यादि, (५) **हेतुफल-सादृश्य,** परस्पर कार्य-कारण बननेका सादृश्य है।

(e) **वैरूप्य**—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है। यह भी लिग–, स्वभाव–, कर्म–, धर्म–, और हेतुफल–वैसादृश्योके तौरपर पाँच प्रकारका होता है।

(f) **प्रत्यक्ष**—प्रत्यक्ष उसे कहते है, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियसे परेका नही) अनभ्यूहितअनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है।[1] यहाँ जो कल्पना नही, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,[2] उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते है। अभ्रान्त उसे कहते है जो कि पाँच भ्रान्तियोसे मुक्त है। यह पाँच भ्रातियाँ है—

(i) **संज्ञा भ्रान्ति**—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामे पानी की सज्ञा (=ज्ञान)।

(ii) **संख्या-भ्रान्ति**—जैसे धुन्धवालेका एक चन्द्रमे दो चन्द्रको देखना।

(iii) **संस्थान-भ्रान्ति**—जैसे बनेठी (=अलात)मे (प्रकाश-) चक्रकी भ्रान्ति सस्थान(=आकार)-सबधी भ्रान्ति है।

(iv) **वर्ण-भ्रान्ति**—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-पीली चीजे भी पीली दिखलाई पडती है।

(v) **कर्म-भ्रान्ति**—जैसे कडी मुट्ठी बाँधकर दौडनेवालेको वृक्ष पीछे चले आते दीख पडते है।

---

[1] "प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्त"—धर्मकीर्त्ति, पृ० ७६५ (असगानुज वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत)।

[2] "यो ग्रहणमात्रप्रसिद्धोपलब्ध्याश्रयो विषय यश्च विपयप्रतिष्ठोपलब्ध्याश्रयो विषय।" यो० भू०

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमे चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमे जो रुचि, स्थिति, मगल मानना, आसक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते है।

प्रत्यक्ष चार प्रकारका होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष।[1] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष, है, यह असग खुद मानते है।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही है, जिन्हे धर्मकीर्त्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुबन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते है। हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी सख्या पूरी कर देते है, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पनापोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रथकारो ज्ञानश्री आदिसे लेकर असग तक पाते है। असगसे पौन शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक उसे जोडनेका हमारे पास साधन नही है।

(g) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क)से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है। इसके पाँच भेद होते है—(१) **लिग** से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजामे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=उड्ढा)-सीगसे बैलका अनुमान, (२) स्वभाव-से अनुमान यह एक देश (=अश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हाँडीके पकनेका अनुमान; (३) कर्मसे अनुमान, जैसे हिलने, अग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोडे, होकडनेसे साँडका अनुमान, देखनेमे आँख, सुननेसे

---

[1] शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है "यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषय.।"

[2] "तदुभयमेकध्यमभिसक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते।" यो० भू०

कान, सूँघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान, पानीमे देखनेकी रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे आग, वनस्पतिके हिलनेसे हवा। (४) **धर्म** (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान। (५) **कार्य-कारण** (=हेतु-फल)से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणसे कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान, बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन, विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान।

धर्मकीर्त्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोको बतलाया है, वे असगके इन भेदोमे भी मौजूद है।

(h) **आप्तागम**—यही शब्द प्रमाण है।

(घ) वाद-अलंकार—वादमे भूषण रूप है वक्ताकी निम्न पाँच योग्यताए—(१) **स्व-पर-समयज्ञता**—अपने और पराये मतोकी अभिज्ञता। (२) **वाक्कर्म-संपन्नता**—बोलनेमे निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, सबद्ध (=परस्पर अ-विरोधी और अशिथिल) और सु-अर्थ शब्दोके प्रयोगको कहते है। (३) **वैशारद्य**—सभामे अदीनता, निर्भीकता, न-पीला मुख होने, गद्गद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते है। (४) **स्थैर्य**—काल लेकर जल्दी किये बिना बोलना। (५) **दाक्षिण्य**—मित्रकी भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढग।

(ङ) वाद-निग्रह—वादमे पकडा जाना जिसमे कि वादी पराजित हो जाता है। ये तीन है—कथा-त्याग कथा-माद (=इधर-उधरकी बाते करने लगना) और कथा-दोष। बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-सबद्ध बोलना ये कथा-दोष है।

(च) वाद-निःसरण—गुण-दोष, कौशल्य (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादको न करना वाद-निःसरण है।

(छ) वादेबहुकर बातें—ये है वादकी उपयोगी बाते स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता ।

(५) परमत-खंडन

असगने "योगाचार-भूमिमे सोलह पर-वादो (=दूसरोके मतो)को देकर उनका खडन किया है । ये पर-वाद है—

(क) हेतु-फल-सद्वाद—हेतु (=कारण)मे फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि **वार्षगण्य** (साख्य) मानते है । वे अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद)को आगम (=ग्रथ)पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते है । वे कहते है, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है, इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नही । यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नही रेत आदि किसी भी चीज)का भी उपयोग करता ।

खंडन—मगर उनका यह वाद गलत है । आप हेतु (=कारण) को फल(=कार्य)-स्वरूप मानते है या भिन्न स्वरूप ? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनों अभिन्न है, तो हेतु और फल, हेतुसे फल यह कहना गलत है । यदि भिन्न स्वरूप है, तो सवाल होगा—वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न ? उत्पन्न माननेपर, 'हेतुमे फल है' कहना ठीक नही । यदि उत्पन्न मानते है, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमे "है" कैसे कहा जायेगा ? इसलिए हेतुमे फलका सद्भाव नही होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है । अतएव "नित्य काल सनातनसे हेतुमे फल विद्यमान है" यह कहना ठीक नही है । यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है ।

(ख) अभिव्यक्तिवाद—अभिव्यक्ति या अभिव्यजनावादके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नही होते, वल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते है । हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले साख्यो और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोका

यही मत है। हेतु-फल-सद्वादके अनुसार फल(=कार्य)यदि पहिलेहीसे मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या ज़रूरत ? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पडता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमे आवरण करनेवाले कारणके होनेको मानते है या न होनेको ? "आवरण-कारणके न होनेपर" यह कह नही सकते। "होनेपर" भी नही कह सकते, क्योकि जब वह हेतुको नही ढॉक सकता, जो कि सदा फल-सयुक्त है, तो फलको कैसे ढॉक सकता है ? हेतु-फल-सद्वाद वस्तुत गलत है, वस्तुओंके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण है[1]—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोसे ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-सबधी ज्ञानोके न पानेसे।

जिस तरह साख्योका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैयाकरणों (और मीमासकोका भी) शब्द-अभि-व्यक्तिवाद भी गलत है। "शब्द नित्य है" यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योका सद्वाद—यह बौद्ध सर्वास्तिवादियोका मत है, अश्वघोष (५० ई०) से असगके वक्त तक गधार (असगकी जन्म-भूमि) सर्वास्तिवादियोका गढ चला आया था। असगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रथ अभिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभाषिक) के ही ग्रथ है। लेकिन अब गधार तथा सारे भारतमे इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध सप्रदायोका लोप होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते "अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनो उसी तरह लक्षण-सपन्न है जैसे कि वर्तमान द्रव्य।"

---

[1] ईश्वरकृष्णने भी साख्य-कारिकामें इन हेतुओंको गिनाया है। ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम विंध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वंद्विता असगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोंसे मालूम है।

खंडन—असग इसका खडन करते हुए कहते है—इन (अतीत-अनागत) काल-सबधी वस्तुओ (=धर्मो)को नित्य मानते हो या अनित्य ? यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-सबद्ध नही बल्कि कालातीत होगे। यदि अनित्य लक्षण (=स्वरूप) मानते हो, तो "तीनो कालोमे वैसा ही विद्यमान है" यह कहना ठीक नही।

(घ) आत्मवाद—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोष या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है, (उपनिषदका यह प्रधान मत है)। असग इसका खडन करते है–जो देखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नही। आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमे होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमे ही। यदि चेष्टा (=शरीर-क्रिया)को बुद्धि-हेतुक माने, तो 'आत्मा चेष्टा करता है' यह कहना ठीक नही। नित्य आत्मा चेष्टा कर नही सकता। नित्य आत्मा सुख-दु खसे भी लिप्त नही हो सकता।

वस्तुत धर्मो (=सासारिक वस्तु-घटनाओ)मे आत्मा एक कल्पना मात्र है। सारे "धर्म" अनित्य, अध्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म-जरा-व्याधिवाले है, दु.ख मात्र उनका स्वरूप है। इसीलिए भगवान्ने कहा—"भिक्षुओ ! ये धर्म(=वस्तुएँ) ही आत्मा है। भिक्षु ! यह तेरा आत्मा अ-ध्रुव, अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (=विकारी) है।" यह सत्त्वकी कल्पना सस्कारो (=कृत वस्तुओ, घटनाओ)मे ही समझनी चाहिए, दुनियामे व्यवहारकी आसानी[1] के लिए ऐसा किया जाता है। वस्तुत. सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नही है। आत्मवाद युक्तिहीन वाद है।

(ङ) शाश्वतवाद[2]—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है। कितने ही (यूनानी दार्शनिकोकी) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते है। परमाणु नित्यवादके बारेमे आगे कहेगे।

---

[1] "सुख-सव्यवहारार्थम् ।" [2] प्रकुध कात्यायन, पृष्ठ ५९०

(च) पूर्वकृतहेतुवाद[1]—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण है, इसे कहते हैं पूर्वकृत-हेतुवाद, यह जैनोंका मत है। दुनियामे ठीकसे काम करनेवालोको दु ख पाते, झूठे काम करनेवालोंको हम सुख पाते देखते हैं। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल है।

असग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नही करते, हॉ, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते है।

(छ) ईश्वरादिकर्तृत्ववाद—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी सवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है; स्वर्गलोकमे जानेकी कामना करता है, नरकमे चला जाता है, सुख भोगनेकी इच्छा रखते दु ख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पडता है कि भावोका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितासा ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरमे जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है ही, फिर ईश्वरका क्या काम? यदि कर्मके कारण नही, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नही। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नही? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नही है, यदि अन्तर्भूत नही है, तो (जगत्से) मुक्त (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नही। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेबस) है फिर जगदीश्वर कैसे? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नही (यह तो मूर्ख चेष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है, तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

---

[1] महावीर, पृष्ठ ४६४

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नही; (क्योकि दोनो तब अनादि होगे)। ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है, इसमे भी वही दोष है। इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्मे अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है।

(ज) हिंसाधर्मवाद—जो यज्ञमे मत्रविधिके अनुसार हिंसा (= प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमे सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते है—यह याज्ञिको (और मीमासकों)का मत हिंसाधर्मवाद है। कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड मास खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म)का विधान किया।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मत्रप्रणेताके सबधसे विचार करनेपर यह वाद अयुक्त ठहरता है।

(झ) अन्तानन्तिकवाद—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते है। बुद्धके उपदेशो[1]मे भी इस वादका ज़िक्र आया है।

(ञ) अमराविक्षेपवाद—यह वाद भी बुद्ध-वचनोमे मिलता है, और पहिले इसके बारेमे कहा जा चुका है।[2]

(ट) अहेतुकवाद—आत्मा और लोक अहेतुक (=विना हेतुके) ही है, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है।[3] अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्मे निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पडता है।

(ठ) उच्छेदवाद[4]—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोसे बना है, वह रोग-, गड-, शल्य-सहित है। मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

---

[1] देखो दीघनिकाय १।१
[2] देखो पीछे, पृष्ठ ४९१
[3] देखो पीछे, पृष्ठ ४८७
[4] देखो पीछे, पृष्ठ ४८५-६

नष्ट हो जाता है, फिर नही रहता। जिस तरह टूटे कपाल (बर्त्तनके टुकडे) जुडने लायक नही होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिसन्धिक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके बारेमे) भी समझना चाहिए।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) स्कन्ध है, तो स्कन्ध (स्वरूपसे नाशमान होते भी) परपरासे चलते रहते है, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए। रूपी, औदारिक चातुर्महाभूतिक, सराग, सगड, सशल्य आत्मा होता, तो देवलोकोसे वह इससे भिन्न रूपमे कैसे दीख पडता है ?

उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादके विरुद्ध बस इतनी ही युक्ति दे असगने मौन धारण किया है।

(ड) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नही, यह लोक परलोक कुछ नही, सुकृत दुष्कृतका फल नही होता—यह नास्तिकवाद, पहिले[1] भी आ चुका है।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन है ब्राह्मण शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण है ब्राह्मण शुद्ध होते है, अब्राह्मण नही, ब्राह्मण ब्रह्माके औरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद है, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिमे उत्पन्न हुए देखे जाते है, (फिर ब्रह्माका औरस पुत्र कहना ठीक नही), अत "ब्राह्मण अग्रवर्ण है" कहना ठीक नही। क्या योनिमे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और सदाचारकी भी जरूरत समझते हो ? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यज्ञमे श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मणके लेनेकी बात क्यो करते हो ? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार) को मानते हो, तो 'ब्राह्मण अग्र वर्ण है' कहना ठीक नही।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमे नहाता है, उसके सारे पाप धुल जाते है, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गगामे नहानेसे पाप

[1] देखो पृष्ठ ४८५

छूटता है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते है। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोसे शुद्धि मानते है, इसे शुद्धिवाद कहते है।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है?

(त) **कौतुकमंगलवाद**—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहो-नक्षत्रोकी विशेष स्थितिसे आदमीके मनोरथोकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इस-लिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते है, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, बेल(=विल्व), शख आदि चढाते है, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते है।

खंडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते है या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मसे? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नही।

४—अन्य विचार

असगने स्कध, द्रव्य, परमाणुके बारेमे भी अपने विचार प्रकट किए है।

(१) स्कंध—

(क) **रूप-स्कंध या द्रव्य**—रूप-समुदाय (=रूपस्कध)मे चौदह द्रव्य है—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य पाँच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत-घ्राण-जिह्वा-काय(=त्वक्) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कही-कही अकेले मिलते है, जैसे हीरा-शख-शिला-मूँगा आदिमे

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चश्मा-सार-तडाग-नदी-प्रपात आदिमे सिर्फ अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमे अकेला अग्नि, पुरवा-पछवाँ आदिमे अकेला वायु। कही दो-दो द्रव्य इकट्ठा मिलते है, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमे और मणि आदिमे भी। कही-कही वृक्षादिके तप्त होनेपर तीन भी। और कही-कही चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशसे लेकर मल-मूत्र तकमे। खक्खट (=खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, बहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका। जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए। सभी रूप-समुदायमे सारे महाभूत रहते है, इसीलिए तो सूखे काठ (=पृथिवी)को मथनेसे आग पैदा होती है, अतिसतप्त लोहा-रूपा-सुवर्ण पिघल जाते है।

(ख) **वेदना**—वेदना अनुभव करनेको कहते है।

(ग) **संज्ञा**—सज्ञा सजानन, जाननेको कहते है।

(घ) **सस्कार**—चित्तमे सस्कारको कहते है।

(ङ) **विज्ञान**—विज्ञानके बारेमे पहिले कहा जा चुका है।

(२) **परमाणु**—बीजकी भाँति परमाणु सारे रूपी स्थूल द्रव्योका निर्माण करते है, वह सूक्ष्म और नित्य होते है। असग ऐसे परमाणुओकी सत्ताका खडन करते है।—

परमाणुके सचयसे रूपसमुदाय नही तैयार हो सकता, क्योकि परमाणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (=कल्पना)पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नही)। परमाणु अवयव-रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योका निर्माण कैसे कर सकता है? परमाणु अवयव-सहित है, यह नही कह सकते, क्योकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होता है, परमाणुका नही।

परमाणु नित्य है, यह कहना ठीक नही क्योकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नही किया। सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नही, क्योकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अतएव भगुर) होगा।

§ २–दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुवधुकी तरह दिग्नागको भी छोडकर आगे बढना नही चाहिए, यह मै मानता हूँ, किंतु मै धर्मकीर्त्तिके दर्शनके वारेमे उनके प्रमाणवार्त्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्त्तिक वस्तुत आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रथ **प्रमाणसमुच्चय**की व्याख्या (वार्त्तिक) है—जिसमे धर्मकीर्त्तिने अपनी मौलिक दृष्टिको कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रथविस्तार होगा। दिग्नागके वारेमे मैंने अन्यत्र[1] लिखा है—

"दिग्नाग (४२५ ई०) वसुवन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परपरासे मालूम होता है। और तिव्वतमे इस सबधकी यह परपराए आठवी शताब्दीमे भारतसे गई थी, इसलिए उन्हे भारतीय-परपरा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनी परपरामे दिग्नागके वसुवधुका शिष्य होनेका उल्लेख नहीहै, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नही पाया जाता। दिग्नागका काल वसुवधु और कालिदासके बीचमे हो सकता है, और इस प्रकार उन्हे ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रथ **प्रमाणसमुच्चय** है, जो सिर्फ तिब्वती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामे प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपजिका (=न्यास)के कर्त्ता जिनेन्द्रवुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है। .. "

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कजीवरम्)के पास "सिहवक्त्र" नामके गाँवमे एक-ब्राह्मण घरमे हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय[2] बौद्धसप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके सपर्कमे आ भिक्षु वने। कुछ समय पढनेके वाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा)के वारेमे

---

[1] पुरातत्त्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५

[2] वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्मवादका समर्थन करना चाहता था।

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होने मठको छोड दिया, और वह उत्तर भारतमे आ आचार्य वसुवधुके शिष्योमे दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्र-का विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होने शास्त्रार्थोमे प्रतिद्वदियोपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोडेसे किंतु गभीर ग्रथोके लिखनेमे समय विताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रथ प्रमाणसमुच्चयमे परिच्छेदो और श्लोको (=कारिकाओ)की सख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक सख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		२४७

प्रमाण-समुच्चयका मूल सस्कृत अभी तक नही मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्वत-यात्राओमे इस ग्रथके ढूँढनेमे वहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमे सफलता नही मिली, किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्वतके किसी मठ, स्तूप या मूर्त्तिके भीतरसे जरूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमे दिग्नागने ग्रथ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है[1]—

"जगत्के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा बुद्धको नमस्कार कर, जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोको यहाँ एक जगह प्रमाणसिद्धिके लिए जमा किया जायेगा।"

---

[1] "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसितादिहैकक'।"

दिग्नागने अपने ग्रथोंमे दूसरे दर्शनो और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देनेके लिए **न्यायवार्त्तिक** लिखना पडा।[1]

§ ३–धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वास्कीके शब्दोमे धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वदी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०)के "न्यायवार्त्तिक"को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशरसे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका[2] करके (धर्मकीर्त्तिके) "तर्कपकमे-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढी गायोके उद्धार करने"का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रथोके कडे आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने, तथा उनके प्रयत्नको "जगदभिभव-धीर" माना।[3] अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११९२ ई०)ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको "दुराबाध"[4] कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया। वस्तुत धर्म-

---

[1] यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतर्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्त्तिक १।१।१

[2] न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१

[3] इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः।
—न्यायमंजरी, पृ० १००

[4] दुराबाध इव चायं धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति॥
—खण्डनखण्डखाद्य १

कीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा तबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमे उसके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते है ।

१. जीवनी—धर्मकीर्त्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल)प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममे एक ब्राह्मणके घरमे हुआ था । उनके पिताका नाम तिब्बती परपरामे कोरुनन्द (?) मिलता है, और किसी-किसीमे यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भाजे थे । यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम सभावना है—तो मामाके तर्कोंका भाजेने जिस तरह प्रमाण-वार्त्तिकमे खडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हे सजीव हास्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमे हमारे सामने ला रखता है । धर्मकीर्त्ति वचपनसे ही बडे प्रतिभाशाली थे । पहिले उन्होने ब्राह्मणोके शास्त्रो और वेदो-वेदागोका अध्ययन किया । उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमे फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुवधु, दिग्नागका वौद्धदर्शन विरोधियोमे प्रतिष्ठा पा चुका था । धर्मकीर्त्तिको उसके बारेमे जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्वती परपराके अनुसार उन्होने वौद्ध गृहस्थोके वेषमे वाहर आना जाना शुरू किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणोने उनका वहिष्कार किया । उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतसे दूर-दूर तक फैली हुई थी । धर्मकीर्त्ति नालदा चले आये और अपने समयके महान् विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके सघ-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य वन भिक्षुसघमे सम्मिलित हुए ।

धर्मकीर्त्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमे ज्यादा रुचि थी, और उसे उन्होने दिग्नागकी शिष्य-परपराके आचार्य ईश्वरसेनसे पढा ।

विद्या समाप्त करनेके वाद उन्होने अपना जीवन ग्रथ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढनेमे विताया ।

(धर्मकीर्त्तिका काल ६०० ई०)[१]—"चीनी पर्यटक इ-चिडने धर्म-

---

[१] मेरी "पुरातत्त्वनिवधावली", पृष्ठ २१५-१७

कीर्त्तिका वर्णन अपने ग्रथमे किया है, इसलिए धर्मकीर्त्ति ६७९ ई०से पहिले हुए, (इसमे सदेह नही)।. . धर्मकीर्त्ति नालदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेडके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी। ऐसी अवस्थामे धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्त्ति ६३५ ई०मे बच्चे नही हो सकते थे। . (धर्मकीर्त्तिके बारेमे) युन्-च्वेडकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन्-च्वेडके नालन्दा-निवासके समयसे पूर्वही धर्मकीर्त्तिका देहान्त हो चुका होना हो। "

यह और दूसरी बातोपर विचारते हुए धर्मकीर्त्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है।

२. धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ—धर्मकीर्तिने अपने ग्रथ सिर्फ प्रमाण-सबद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे हैं। इनकी सख्या नौ है, जिनमे सात मूल ग्रथ और दो अपने ही ग्रथोपर टीकाए है।

	ग्रथनाम	ग्रथपरिमाण (श्लोकोमे)	गद्य या पद्य
१	प्रमाणवार्त्तिक	१४५४½	पद्य
२	प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३	न्यायविन्दु	१७७	गद्य
४.	हेतुविन्दु	४४४	गद्य
५	सबध-परीक्षा	२९	पद्य
६	वाद-न्याय	७९८	गद्य-पद्य
७	सन्तान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
		४३१४½	

टीकाए—

१.	(८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्त्तिक १ परिच्छेदपर।
२	(९) वृत्ति	१४७	गद्य	सबधपरीक्षापर
		३६४७		

गोया धर्मकीर्त्तिने मूल और टीका मिलाकर (४३१४½+३६४७) ७९६१½ श्लोकों[1] के बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, यह इसीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनुवादित बौद्ध न्यायके कुल संस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।[2]

---

[1] श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

[2] टीकाएं इस प्रकार हैं—

मूल ग्रंथ	टीकाकार	किस परिच्छेदपर	ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण-	१. देवेन्द्रबुद्धि (पंजिका)T	२-४	८,७४८
वार्त्तिक	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका)T	२-४	१७,०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य)TS	२-४	१६,२७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका)T	२-४	१८,१४८
	५ यमारि (भाष्यटीका)T	२-४	२६,५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका)T	२-४	७,५५२
	७. मनोरथनन्दी (वृत्ति)S	१-४	८,०००
	८. धर्मकीर्त्ति (स्ववृत्ति)TS	१	३,५००
	९. शंकरानंद (स्ववृत्ति-टीका)T (अपूर्ण)	१	७,५७८
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका)S	१	१०,०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्तिटीका)T	१	
२ प्रमाण-	१. धर्मोत्तर (टीका)T	१-३	१२,४६३
विनिश्चय	१. ज्ञानश्री (टीका)T		३,२७१
३. न्याय-	१. विनीतदेव (टीका)T	१-३	१,०३०
बिन्दु	२. धर्मोत्तर (टीका)TS	१-३	१,४७७
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका)S	१-३	
	४. कमलशील (टीका)T		२२१

	५. जिनमित्र (टीका)T		३१
४. हेतुविन्द	१. विनीतदेव (टीका)T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण)TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका)T	१-४	,,
५. संबंध-परीक्षा	१. धर्मकीर्त्ति (वृत्ति)T		१४७
	५. विनीतदेव (टीका)T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका)T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका)T		६०९
	२. शान्तरक्षित (टीका)TS		२,९००
७. सन्ताना-न्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका)T		४७४

I T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध, S=संस्कृत मूल, मौजूद।

II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोका क्रम इस प्रकार है—
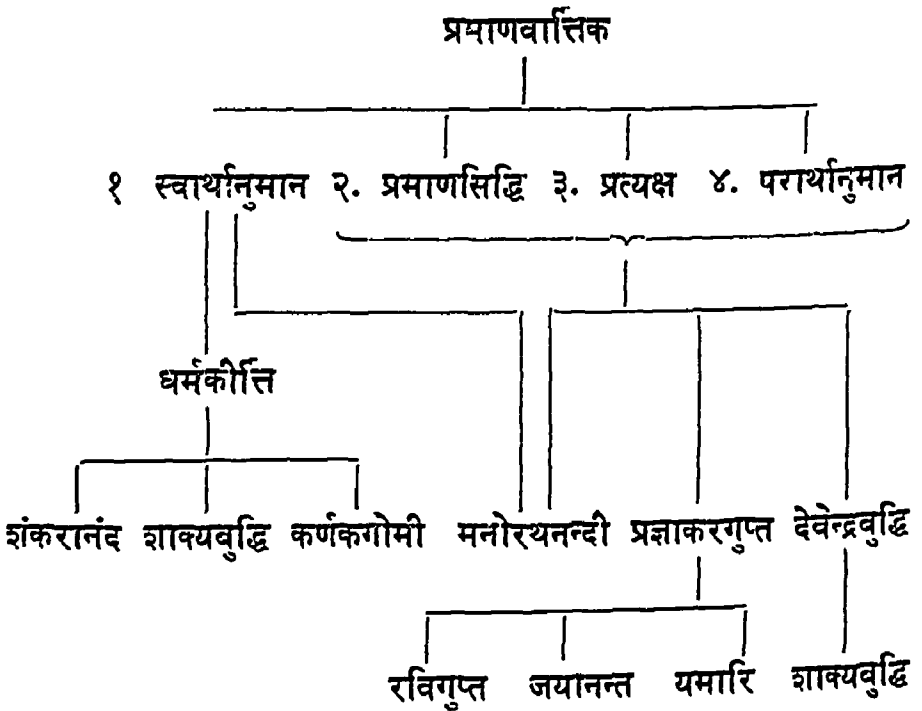
(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके है, कि धर्मकीर्त्तिका प्रमाण-वार्त्तिक दिग्नागके **प्रमाणसमुच्चय**की एक स्वतत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छै परिच्छेदोको हम बतला चुके है। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण है, किन्तु आमतौरसे पुस्तकोमे यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमे दिक्कत नही होती, जब हम देखते है कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रमसे है। इसके लिए देखिए, प्रमाणसमुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिकको—
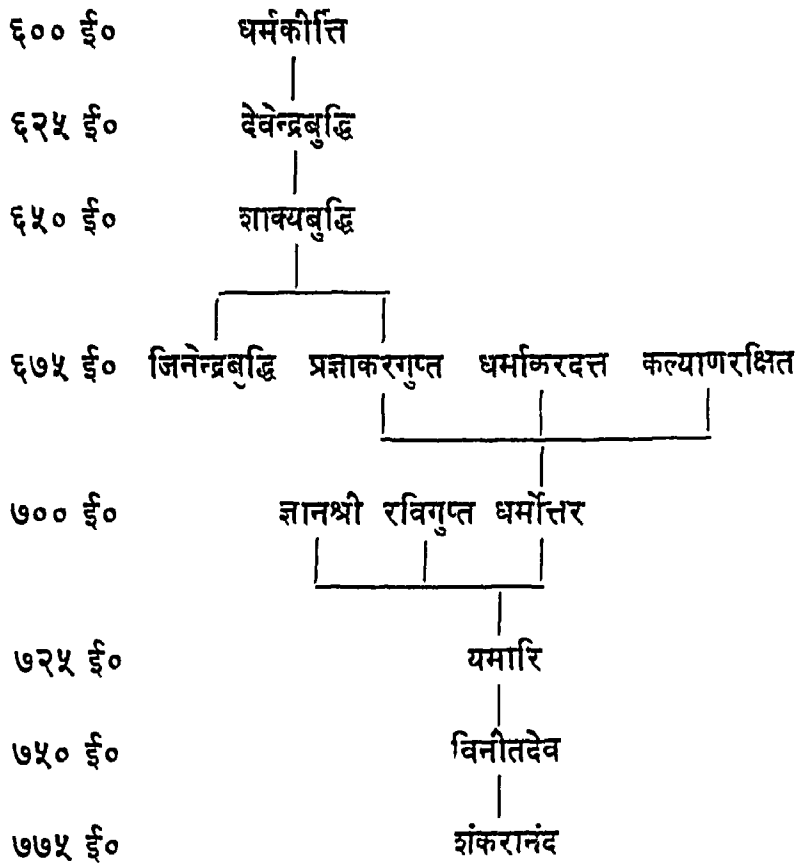
प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्त्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मगलाचरण[1]	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके बाकी परिच्छेदो—दृष्टान्त-,[2] अपोह[3]-, जाति[4] (=सामान्य)-परीक्षाओ—के बारेमे अलग परिच्छेदोमे न लिखकर धर्म-कीर्त्तिने उन्हे प्रमाणवार्त्तिकके इन्ही चार परिच्छेदोमे प्रकरणके अनुकूल बॉट दिया है ।

न्यायविन्दु तथा धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रथोमे भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसगत क्रमको ही माना गया है, और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिमे भी यही क्रम स्वीकार किया है, इसलिए भाष्यो, पजिकाओ, टीकाओ या मूलपाठोमे सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रथकारका क्रम यह नही बल्कि मनोरथनदी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है । क्रममे उलटपुलट हो जानेका कारण धर्मकीर्त्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है । उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेदको छोडकर अपनी पजिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पजिकाको अलग-अलग रखनेके लिए प्रमाणवार्त्तिकको दो भागोमे कर दिया गया । इस विभागको और स्थायी रूप देनेमे प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पजिकावाले तीनो परिच्छेदोके चुनावने सहायता की । इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देखकर मूल कारिकाकी प्रतियोमे भी लेखकोको वही क्रम अपना लेना पडा ।

---

[1] देखो पृ० ६६० फुटनोट ६ [2] प्र० वा० ३।३७, ३।१३६

[3] वही २।१६३-७३ [4] वही २।५-५५, २।१४५-६२, ३।५५-१६१, ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मैंने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है, तो भी मूल प्रमाणवार्त्तिकको मैंने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमे मिले क्रमसे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य (वार्त्तिकालकार) उसी क्रमसे सस्कृतमे मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इसलिए मैंने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमे उसी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है ।

धर्मकीर्त्तिके दार्शनिक विचारोपर लिखते हुए प्रमाणवार्त्तिकमे आए मुख्य-मुख्य विषयोपर हम आगे कहने ही वाले है, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रमसे मुख्य विषयोको दे देते है—

विषय	परिच्छेद कारिका
पहिला परिच्छेद (स्वार्थानुमान)	
१. ग्रथ का प्रयोजन	१।१
२. हेतुपर विचार	१।३
३ अभावपर विचार	१।५ (+४।१२६)
४. शब्दपर विचार	१।१८६
५ शब्द प्रमाण नही	१।२१४
६ अपौरुषेय वेद प्रमाण नही	१।२२५
दूसरा परिच्छेद (प्रमाणसिद्धि)	
१ प्रमाणका लक्षण	२।१
२ बुद्धके वचन क्यो माननीय है ।	२।२९

विषय	परिच्छेद कारिका
तीसरा परिच्छेद (प्रत्यक्षप्रमाण)	
१ प्रमाण दो ही— प्रत्यक्ष, अनुमान	३।१
२ परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य	३।३
३ सामान्य कोई वस्तु नही	३।३ (+४।१३१)
४ अनुमान प्रमाण	३।५५
५ प्रत्यक्ष प्रमाण	३।१२३
६ प्रत्यक्षके भेद	३।१९१
७ प्रत्यक्षाभास कौन है ?	३।२८८
८ प्रमाणका फल	३।३००

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

३—धर्मकीर्त्तिका दर्शन

धर्मकीर्त्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातो ग्रथ लिखे है, और उन्हे दर्शनके बारेमे जो कुछ कहना था, उसे इन्ही प्रमाणशास्त्रीय ग्रथोमे कह दिया। इन सात ग्रथोमे **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४½ "श्लोक") **प्रमाण-विनिश्चय** (१३४० "श्लोक"), **हेतुविन्दु** (४४४ "श्लोक"), **न्यायविन्दु** (१७७ "श्लोक")के प्रतिपाद्य विषय एक ही है, और उनमे सबसे बडा और सक्षेपमे अधिक बातोपर प्रकाश डालनेवाला ग्रथ प्रमाणवार्त्तिक है। **वादन्याय**मे आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोकी भारी भरकम सूचीको फजूल बतलाकर, उसे आधे श्लोकमे कह दिया है[1]—

"निग्रह (=पराजय) स्थान है (वादके लिए) अ-साधन, बातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकडना।"

सम्बन्ध-परीक्षाकी २९ कारिकाओमे धर्मकीर्त्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण सबध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है, यह विषय प्रमाणवार्त्तिकमे भी आया है।

---

[1] "असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।"—वादन्याय, पृष्ठ १

सन्तान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोमे धर्मकीर्त्तिने पहिले तो इस मन-सन्तान (मन एक वस्तु नही बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान=घटना है)से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्ताने (सन्तानान्तर) है इसे सिद्ध किया है, और अन्तमे बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्ताने किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर क्षेप करती है। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवार्त्तिकमे भी धर्मकीर्त्तिने की है।

धर्मकीर्त्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्त्ति दिग्नागकी भाँति असगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। वसुवधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् तार्किकोका शून्यवाद छोड विज्ञान-वादसे सबध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेलकी तरह इन्हे भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोके लिए विज्ञानवादकी बडी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्त्ति शुद्ध योगाचार नही सौत्रातिक (या स्वातत्रिक) योगा-चारी माने जाते है। सौत्रातिक बाहरी जगत्की सत्ताको ही मूलतत्व मानते है और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। सौत्रातिक (या स्वातत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामे होगा जड (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमे मूलतत्व विज्ञान (चित्त) का विश्लेषण करके उसे दो भागोमे बॉटा गया था—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै है—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचो ज्ञान-इद्रियोके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके सपर्क होते वक्त रग, आकार आदिकी कल्पना उठनेसे पहिले भान होते है, और छठा है मनका विज्ञान आलय-विज्ञान उक्त छओ विज्ञानोके साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान)मे सारे प्रवृत्ति-विज्ञानोका आलय (=घर) है। इसीमे पहिलेके सस्कारोकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोकी वासना

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय विज्ञानमे ब्रह्म या आत्माका भ्रम नही हो सकता था, तो भी यह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्व बन जाता था, जिससे विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्त्ति जैसे कितने ही विचारक इसमे प्रच्छन्न आत्मतत्वकी शका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धातको अँधेरेमे तीर चलानेकी तरह खतरनाक समझते थे।[1] धर्मकीर्त्तिने **आलय** (-विज्ञान) शब्दका प्रयोग **प्रमाणवार्त्तिक**[2]मे किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमे, उसके पीछे वहाँ किसी अद्भुत् रहस्यमयी शक्तिका ख्याल[3] नही है।

सन्तान रूपेण (क्षणिक या विच्छिन्नप्रवाहरूपेण) भौतिक जगत्की वास्तविकताको साफ तौरसे इन्कार तो नही करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु बेचारोको था कुछ धर्मसकट भी, यदि अपने तर्कोमे जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वोकी वास्तविकताको साफ स्वीकार करते है, तो धर्मका नक़ाब गिर जाता है, और वह सीधे भौतिकवादी बन जाते है, इसीलिए स्वातत्रिक ही सही कितु उन्हे विज्ञानवादी रहना जरूरी था। युरोपमे भौतिकवादको फूलने-फलनेका मौका तब मिला, जब कि सामन्तवादके गर्भसे एक होनहार जमात—व्यापारी और पूँजीपति—बाहर निकल साइसके आविष्कारोकी सहायतासे अपना प्रभाव

---

[1] तिब्बती नैयायिक जम्-यड-शद्-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०) अपने ग्रंथ "सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धि" (अलंकार-सिद्धि) में लिखते हैं—"जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्त्तिके) सात निबंधों (=ग्रंथो) के मन्तव्योमें "आलय-विज्ञान" भी है, वह अन्धे है, अपने ही अज्ञानान्धकार-में रहनेवाले है।"—डाक्टर श्चेर्वात्स्कीकी Buddhist Logic Vol. II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत।

[2] ३।५२२

[3] "आलय" शब्द पुराने पाली सूत्रोमें भी मिलता है। किंतु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो "महाहत्थिपदोपम सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८), बुद्धचर्या, पृष्ठ १७९

बढा रही थी, और हर क्षेत्रमे पुराने विचारोको दकियानूसी कह भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमे अभी यह अवस्था आनेमे १४ सदियोकी जरूरत थी, किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्त्ति) जर्मनीके हेगेल (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियो पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योकि दर्शन चाहे कितना ही हाड-माससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे, किन्तु, है वह भी हाड-मासकी ही उपज। वसुबधुसे धर्मकीर्त्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्ष-वर्द्धनके महान् तथा दृढ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेगे, किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमे नही लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमे छिपा देते है। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बडे सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशो नये लोगोको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमे न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते, और अपने शासनमे पहिलेसे मोजूद या नवागत जनतामे "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनो प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धचा नही होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी सख्या लडनेवालोमे ही नही मरनेवालोमे भी सबमे ज्यादा थी—को

---

[1] काव्य—कालिदास, दडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाग; मूर्त्तिकला—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजता, एलोराकी गुहा, देव, बर्नारकके मन्दिर।

ज़रूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पडता था, किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोसे आनेके कारण पहिले हीसे बडी सपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बडे वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमे मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बडे-बडे अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नही थे, वह प्रजासे भेट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओंपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियो तक कायम रह सकती है। और इनमे भी अधिकाश सदियोसे गुजरते कालके ध्वसात्मक कृत्योसे ही नही बर्बर मानव के क्रूर हाथोसे नष्ट हो जाती है। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे है, अथवा कालिदासकी कृतियो और बाण भट्टकी कादम्बरीमे जिन नगर-अट्टालिकाओ राजप्रासादोका वर्णन मिलता है, उनके देखनेसे पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजे महँगी मिलती है, किन्तु इस मशीनयुगमे यह चीजे मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती है—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोको काम करना पडता है, गुप्तकालमे उससे कई गुना अधिक हाथोकी जरूरत पडती।

साराश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओंके लिए ही नही बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी सख्याको अपना सारा श्रम देना पडता था। कितनी सख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमे भारत जितना धन अपने, अग्रेज शासकोके लिए सालाना उनके

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै करोड आदमियो—या सारी जनसख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अग्रेज कर्मचारी भारतमे रहते खर्च करते थे।

यही नही कि जनताके आधे तिहाई भागको शासकोके लिए इस तरहकी वस्तुओको अपने श्रमसे जुटाना पडता था, बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखो स्त्रियोको वैध या अवैधरूपसे अपना शरीर बेचना पडता था, उनकी एक बडी सख्याको दासी बनकर बिकना पडता था। मनुष्यका दास-दासीके रूपमे सरेबाजार बिकना उस वक्तका एक आम नजारा था।

अर्थात् इस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी सारी भव्यता मनुष्यकी पशुवत् परतत्रता और हृदयहीन गुलामीपर आधारित थी—यह हमे नही भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिसे क्रान्तिकारीसे क्रान्तिकारी विचारकको भी अपनी विचार-सबधी क्रान्तिको उस सीमाके अन्दर रखना जरूरी था, जिसके बाहर जाते ही शासक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदडके रूपमे, उसकी कृपासे वचित होनेके रूपमे, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमे स्थान न पानेके रूपमे—होना पडता। उस वक्त "शान्ति और व्यवस्था"की बॉह आजसे बहुत लबी थी, जिससे बचनेमे धार्मिक सहानुभूति ही थोडा बहुत सहायक हो सकती थी, जिसने उसको खोया उसके जीवनका मूल्य एक घोषित डाकूके जीवनसे अधिक नही था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गॉवो और नगरके रूपमे बडे-बडे दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमे काफी मिले है। युन्-च्वेडके समय (६४० ई०)मे वहाँके दस हजार विद्यार्थियो और पडितोपर जिस तरह खुले हाथो धन खर्च किया जाता था, यह हो नही सकता था, कि प्रमाणवार्त्तिककी पक्तिया उन हाथोको भुलाकर उन्हे काटनेपर तुल जाती, इसीलिए स्वातत्रिक (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दु खकी व्याख्या आध्यात्मिक तलमे ही करके छुट्टी ले लेते

है। विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड विश्वमे, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोंकी क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमे ढूँढनेवाले धर्मकीर्त्ति दु खके कारणको अलौकिक रूपमे—पुनर्जन्ममे—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दु खके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोडते है। यदि जनताके एक तिहाई उन दासो तथा सख्यामे कम-से-कम उनके बराबरके उन आदमियोको—जो कि सूद और व्यापारके नफेके रूपमे अपने श्रमको मुफ्त देते थे—दासतासे मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमे वह खुद भी शामिल थे—के हितोमे लगाया जाता, यदि सामन्त परिवारो और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हे भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती। हॉ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नही था, यह स्वप्नचारिणी योजना उस वक्त असफल होती, इसमे सन्देह नही। किन्तु यही बात तो उस वक्तकी सभी दार्शनिक उडानोमे सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओंके बारेमे थी। सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक अच्छे कामकी ओर होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद दी जाती, यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियॉ नष्ट हो जाती, तो भी खडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखरतीर सदियोको चीरकर मानवताके पास पहुँचते, और उसे नया सदेश देते।

(३) **विज्ञानवाद**—सहृदय मस्तिष्कसे वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद)को भुलाने-भुलवानेमे दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराबकी बोतल कामसे चूर मजदूरको अपने कष्टोको भुलवानेमे। चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमे अपने साथी प्राणियोके लिए सवेदना आना स्वाभाविक सी बात थी। आसपासके लोगोकी दयनीय दशाको देखकर हो नही सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगत्को झूठा कह इस विकलताको दूर करनेमे दार्शनिक

विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी "दार्शनिकोका काम जगत्‌की व्याख्या करना था, उसे बदलना नही ।"

धर्मकीर्त्ति बाह्यजगत्—भौतिक तत्वो—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त)को असली तत्व साबित करते है—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (=कपडे)को देखते है, तो वहाँ हमे नीला, पीला रग तथा लबाई, चौडाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदिको छोड केवल रूप (=भौतिक-तत्व) नही दिखाई पडता।[1] दर्शन नील आदिके तौरपर होता है, उससे रहित (वस्तु)का (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) ग्रहण ही नही हो सकता और नीलादिके ग्रहणपर ही (उसका) ग्रहण होता है । इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके तौरपर है, केवल बाह्यार्थ (=भौतिक तत्व)के तौरपर नही है ।[2] जिसको हम भौतिक तत्त्व या बाह्यार्थ कहते है, वह क्या है इसका विश्लेपण करे तो वहाँ आँखसे देखे रग-आकार, हाथसे छुए सख्त-नरम-चिकनापन, आदि ही मिलता है, फिर यह इद्रियाँ इनके इस स्थूल रूपमे अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, स्पर्श-विज्ञान) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नही प्रदान करती । मनका निर्णय इन्द्रिय चर्वित ज्ञानके पुन चर्वणपर निर्भर है, इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उस मनमे तथा जिनकी दी हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोके विज्ञानोमे भी, बाह्य-अर्थ (=भौतिक तत्त्व)का पता नही, निर्णायक स्थानपर हमे सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है, इसलिए "वस्तुओ द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिससे कि विचारक कहते है—'जैसे-जैसे अर्थो (=पदार्थो)पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह छिन्न-भिन्न हो लुप्त हो जाते है (—उनका भौतिक रूप नही सिद्ध होता) ।'"[3]

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान हीके दो रूप—विज्ञान-का भीतरी आकार चित्त—सुख आदिका ग्राहक—है, यह तो स्पष्ट है, किन्तु

---

[1] प्रमाण-वार्त्तिक ३।२०२ [2] प्र० वा० ३।३३५ [3] प्र० वा० ३।२०६

जो बाहरी पदार्थ (=भौतिक तत्त्व घडा या कपडा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नही बल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और बाहरमे अवस्थित सा जान पडता है—इसे अभी बतला आए है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक, और बाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है। "विज्ञान जब अभिन्न है, तो उसका (भीतर और बाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमे) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नही (भ्रम) है।"[1] "ग्राह्य (बाह्य पदार्थके रूपमे मालूम पडनेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्तके रूपमे विज्ञान) मेसे एकके भी अभावमे दोनों ही नही रहते (ग्राहक नही रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा? इस तरह किसी एकके अभावमे दोनो नही रहते), इसलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (=अभिन्नता)।"[2] जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थोंके मौजूद है, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारको छोड (और किसी आकारमें) नही मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो रूप है), इसलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए है।"[3]

प्रश्न हो सकता है यदि बाह्य पदार्थोंकी वस्तुसत्ताको अस्वीकार करते है, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पडेगा, फिर बाहरी अर्थोंके बिना "यह घडा है, यह कपडा" इस तरह ज्ञानोका भेद कैसे होगा? उत्तर है—

"किसी (घडे आदि आकारवाले ज्ञान) का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (=पूर्व संस्कार) को जगाता है, उसी (वासनाके जगने) से ज्ञानों (की भिन्नता) का नियम देखा जाता है, न कि बाहरी पदार्थकी अपेक्षासे।"[4]

---

[1] प्र० वा० ३।२१२ [2] प्र० वा० ३।२१३
[3] प्र० वा० ३।२१५ [4] प्र० वा० ३।३३६

"चूँकि बाहरी पदार्थका अनुभव हमे नही होता, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय)रूपोवाला (देखा जाता) है, और दोनो रूपोमे स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानके बाह्य-अन्तर दोनो आकारोके होने)का परिणाम है, स्व-सवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।"[1]

फिर प्रश्न होता है—"(वह जो बाह्य-पदार्थके रूपमे) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (वाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड देनेपर पदार्थ (=घडे)का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा ? (आखिर अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारसे ही तो पदार्थोंका अपना अपना ग्रहण है ?)—(प्रश्न) ठीक है, मै भी नही जानता कैसे यह होता है। जैसे मन्त्र (हेप्नाटिज्म) आदिसे जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोको बाँध दिया गया है, उन्हे मिट्टीके ठीकरे (रुपया आदि) दूसरे ही रूपमे दीखते है, यद्यपि वह (वस्तुत) उस (रुपये)के रूपसे रहित है।"[2]

इस तरह यद्यपि अन्तर, वाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु "तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीकी तरह आँख मूँदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोको (कितनी ही बार) वाहरी (पदार्थों)का चिन्तन (=वर्णन) करना पडता है।"[3]

(४) **क्षणिकवाद**—बुद्धके दर्शनमे "सब अनित्य है" इस सिद्धातपर बहुत जोर दिया गया है, यह हम वतला आए है। इसी अनित्यवादको पीछेके बौद्ध दार्शनिकोने **क्षणिकवाद** कहकर उसे अभावात्मकसे भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्त्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्रमे नाश (=धर्म) पाया जाता है।"[4] इस भावको पीछे ज्ञानश्री (७००

[1] प्र० वा० ३।३३७

[2] प्र० वा० ३।३५३-५५ [3] वहीं ३।२१९

[4] प्र० वा० १।२७२—"सत्तामात्रानुवन्धित्वात् नाशस्य"

ई०)ने कहा है—"जो (जो)सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।"[1] "सभी सस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य है" इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीत्तिने कहा है[2]—"जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाला है।" अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है—"पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नही रहता, वह अनित्य है।"[3]

इस प्रकार बिना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोमे है।

(५) **परमार्थ सत्की व्याख्या**—अफलातूँ और उपनिषद्के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते है, किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी गतिसे परे किसी तत्त्वको माननेकी जरूरत न थी, इसलिए धर्मकीत्तिने परमार्थ सत्की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रियामे जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थक्रियामे असमर्थ) है, वह सवृति (=फर्जी) सत् है।"[4] घडा, कपडा, परमार्थ सत् है, क्योकि वह अर्थक्रिया-समर्थ है, उनसे जल-आनयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है, किन्तु घडापन, कपडापन जो **सामान्य** (=जाति) माने जाते है, वह सवृति (=काल्पनिक या फर्जी) सत् है। क्योकि उनसे अर्थक्रिया नही हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। "(वस्तुत सारे) भाव (=पदार्थ) स्वय भेद (=भिन्नता) रखनेवाले है, किन्तु उसी सवृत्ति (=कल्पना)से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घडो)को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घडापन) रूपसे अभिन्नसे मालूम होने लगते है।"

---

[1] "यत् सत् तत् क्षणिक"—क्षण भग ११ (ज्ञान श्री)
[2] प्र० वा० २।२८४-५ [3] वही ३।११० [4] वही ३।३
[5] प्र० वा० १।७१

(६) **नाश अहेतुक होता है**—क्षणिकता सारे भावो (=पदार्थो)मे स्वभावसे ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है, फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओकी जरूरत नही—अर्थात् नाश अहेतुक है, वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या वहुतसे हेतु (=हेतु-सामग्री) चाहिए, जिससे कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमे आवे। चूँकि एक मौजूद वस्तुका नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भापामे कहनेकी यह गलत परिपाटी पड गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड नष्टसे जोड देते है। इसी तथ्यको सावित करते हुए धर्मकीर्त्ति कहते है—

(क) अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए—"यदि कोई कार्य (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिए किसी (=कारण)की जरूरत हो सकती है, (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेसे) कोई वस्तु ही नही है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?"[1]

"जो कार्य (=कारणसे उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नही उत्पन्न) है, वह अ-विनाशी (=नित्य) है। (वस्तुका विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य= अ-हेतुक है, फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेसे वह (=नाश) स्वभावत (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है।"[2] और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नही।

(ख) नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओमे भावके नाशके लिए हेतु नही चाहिए—"यदि (हम उसे अनश्वर मान ले, तब) दूसरे किसी (हेतु)मे भावका नाश न मानेगे, फिर ऐसे (अनश्वर भाव)की स्थिति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतुक हो जायेगा)। (यदि हम भावको नश्वर मान ले, तो) वह दूसरे (हेतुओ=कारणो) के विना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) स्थितिके लिए हेतु असमर्थ होगे।"

---

[1] प्र० वा० ११२८२ [2] वही ११११६५ [3] वही २।७०

"जो स्वय अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापककी जरूरत नही, जो स्वय नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी जरूरत नही।"[1] इस तरह विनाशको नश्वर स्वभाववाला माने या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतोमे उसे स्थित रखनेवाले हेतुकी जरूरत नही।

(a) **भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनो अवस्थाओंमे नाश अहेतुक**—आग और लकडी एकत्रित होती है, फिर हम लकडीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते हैं। इसीको हम व्यवहार-की भापामे "आगने लकडीको जला दिया—नप्ट कर दिया" कहते है, किंतु वस्तुत कहना चाहिए "आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया।' चूँकि लकडी हमारी नजरमे कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसीलिए यहाँ भापा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुको खो देनेपर ज्यादा जोर देते है। यदि कोयला-राख लकडीसे ज्यादा उपयोगी होते तो हम "आगने लकडीका नाश कर दिया"की जगह कहते "आगने कोयला-राखको बनाया।" वस्तुत जगलोमे जहाँ मजदूर लकडीकी जगह कोयला बनाकर बेचनेमे ज्यादा लाभ देखते है, वहाँ "क्या काम करते हो" पूछनेपर यह नही कहते कि "हम लकडीका नाश करते है," बल्कि कहते है "हम कोयला बनाते है।" ताताके कारखानेमे (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फौलाद-का उत्पादन होता है, किन्तु वहाँ नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी बात न कह, यही कहा जाता है, कि ताता प्रति वर्ष इतने करोड मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद बनाता है। इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकडीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति? आप कहते है, लकडीका विनाश करती है। फिर सवाल होता है विनाश लकडीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न? अभिन्न माननेपर

---

[1] वहीं २।७२

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है, वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो "विनाश" होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नही हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहो) वही (आगसे उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है (इसलिए काष्ठका दर्शन नही होता, तो फिर प्रश्न होगा—)"कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ)का विनाश होगा ? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यो नही दिखाई देता ?"[1]

(b) विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता—यदि कहो, विनाश (सिर्फ काष्ठका अभाव नही बल्कि)एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है, और "उस (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ)के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमे नही दिखलाई देता); (तो यह भी ठीक नही) उस (एक दूसरे भाव=नाश)मे (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नही हो सकता, क्योकि (ऐसा माननेपर नाशको वस्तुका आवरण मानना पडेगा, फिर तो वह) विनाश ही नही रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)"[2] और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कर्मके अभावमे यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति माने, तो "उत्पन्न होनेके कारण" उसे नाशमान मानना पडेगा, क्योकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) है, सभी नाशमान होते है। "और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है)तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हन्ता है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश रामको फाँसी चढा देता है, किंतु रामके फाँसी चढा देने—"हन्ताके नाश हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम)का फिरसे अस्तित्वमे आना नही होता, उसी तरह यहाँ

---

[1] प्र० वा० १।२७३ [2] वही १।२७४

भी"[1] (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अस्तित्वमे नही आता) ।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है ? राम श्यामके नाशमे "हन्ता (=राम) =(श्यामका) मरण नही है,"[2] बल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना । यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जाये, तो श्याम जरूर अस्तित्वमे आ जायगा । किन्तु यहाँ आप 'नाश पदार्थ=काष्ठका मरण' मानते है, इसलिए नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठको फिरसे अस्तित्वमे आना चाहिए ।

(c) **'नाश=एक अभिन्न भावरूपी वस्तु' यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा**—"यदि (माने कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो 'नाश=काष्ठ' है । तो (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत्, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नही हो सकती ।"

"नाशको (काष्ठसे) भिन्न या अभिन्न दो छोड और नही माना जा सकता," और हमने ऊपर देख लिया कि दोनो ही अवस्थाओमे नाशके लिए हेतु (=कारण)की जरूरत नही, अतएव नाश अहेतुक होता है ।

यदि कहो—"नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाश दोनो एक साथ रहनेवाले मानने पडेगे ।" तो यह शका ही गलत बुनियाद पर है, क्योकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी,"[2] नित्य-अनित्य होनेका सवाल भाव पदार्थके लिए होता है, गदहेकी सीग—अ-सत् पदार्थ—के लिए नही ।

(७) कारण-समूहवाद—कार्य एकसे नही बल्कि अनेक कारणोके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते है । इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्मे प्रयोगत सिद्ध वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते है, वहाँ किसी एक

---

[1] प्र० वा० १।२७४, २७५ [2] प्र० वा० १।२७५-२७७

ईश्वरके कर्त्तापनका भी खंडन करते है। साथ ही यह भी बतलाते है कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओंका हो या ईश्वरका—कारणोकी **सामग्री** (=इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमे नही ला सकता, यह क्षणिकवाद ही है, जो कि भावोकी क्षणिकता—देश और कालमे गति—की वजहसे कारणोकी सामग्री (=इकट्ठा होना) करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण)से नही उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुतसे कारणोके इकट्ठा होने)से (एक या अनेक) सभी कार्योकी उत्पत्ति होती है।"[1]

"कार्योके स्वभावो (=स्वरूपो)मे जो भेद है, वह आकस्मिक नही, बल्कि कारणो (=कारण-सामग्री)से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणोके बिना, किसी दूसरेसे) उत्पन्न होना (मानें तो कार्यके) रूप (=कोयले)को उस (आग)से उत्पन्न कैसे कहा जायगा ?"[2]

"(चूँकि) सामग्री (=कारण-समुदाय)की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती है, (अत) उन्हीकी वजहसे वस्तुओ (=कार्यो)मे भिन्न-रूपता दिखलाई पडती है। यदि वह (अनेक कारणोकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नही) एक-रूप होता।"[3]

मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग (किसी घडे जैसे भिन्न रूपवाले) कार्यके करनेमे असमर्थ है, किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर कार्य होता है, इससे मालूम होता है, कि सहत (=एकत्रित) हुई उन (=क्षणिक वस्तुओ)मे हेतुपन (=कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नही, क्योकि (ईश्वर आदिमे क्षणिकता न होनेसे) अभेद (=एक-रसता) है।"[4]

(८) **प्रमाणपर विचार**—मानवका ज्ञान जितना ही बढता गया, उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षेत्रमे मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यही ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगसिद्ध

---

[1] प्र० वा० ३।५३६ [2] वही ४।२४८ [3] वही ४।२४६
[4] वहीं २।२८

नही कल्पना-सिद्ध रूपमे धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमे परिणत हुई, यह हम उपनिषद्कालमे देख चुके है ? उपनिषद्के दार्शनिकोंका जितना जोर ज्ञानपर था, बुद्धका उससे भी कही अधिक उसपर जोर था, क्योकि अविद्याको वह सारी बुराइयोकी जड मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोष ज्ञानको बहुत जरूरी समझते थे। पिछली शताब्दियोमे जब भारतीयोको अरस्तूके तर्कशास्त्रके सपर्कमे आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदिके वर्णनमे देख आए है। वसुबधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्तिने इसी बातको अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की। दिग्नागने अपने प्रधान ग्रथका नाम "प्रमाणसमुच्चय" क्यो रखा, धर्मकीर्त्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रथका नाम प्रमाणवार्त्तिक क्यो घोषित किया, इसे हम उपरोक्त बातोपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्त्तिने उत्तर दिया[1]—"(दूसरे जरिएसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते है।" अ-विसवाद क्या है ?—"(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नही) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना।" इसीलिए किसी ज्ञानकी "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया)से होती है।"[2]

(प्रमाण-संख्या)—हम देख चुके है, अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोंको भी मानते है। धर्मकीर्त्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिए वह ऐसे ही प्रमाणोको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हों।

"(पदार्थ—अलग-अलग लेनेपर स्व-लक्षण—शब्द आदिके प्रयोगके बिना केवल अपने रूपमे—मिलते है, अथवा कइयोके बीचके सादृश्यको

---

[1] प्र० वा० २।१ [2] वहीं २।४

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोमे उनके आकारकी समानता—मे मिलते है, इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकार-का ही होता है। (इनमे पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्षका आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रियामे समर्थ होता है, (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओमे समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामे) असमर्थ होता है।"[1]

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—ज्ञानके साधन दो ही है प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है ?—"(इन्द्रिय, मन और विषयके सयोग होनेपर) कल्पनासे बिलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नही) सिर्फ प्रति-अक्षसे ही सिद्ध होता है।" इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसवादी (=अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थका प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषयके सपर्कसे उस पहिले क्षणमे होता है, जब कि कल्पनाने वहाँ दखल नही दिया। धर्मकीर्त्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसवेदन-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष असगके लोक-प्रत्यक्षका पता नही।

(a) इंद्रिय-प्रत्यक्ष—"चारो ओरसे ध्यान (=चिन्तन)को हटाकर (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (=स्तिमित) चित्तके साथ स्थित (पुरुष) रूपको देखता है, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।"[2] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जानेके "पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और वह जानता है—मेरे (मनमे) ऐसी कल्पना (=यह खास आकार प्रकारका होनेसे घडा है) हुई थी, किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रियसे (उत्पन्न) ज्ञानके वक्त नही होती।"[3] "इसीलिए सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (व्यक्ति-)विशेष (मात्र)के बारेमे होते है, विशेष (वस्तुओका स्वरूप

---

[1] प्र० वा० ३।१ [2] वहीं ३।१२४ [3] वही ३।१२४

सामान्यसे मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिए उन)मे शब्दोका प्रयोग नही हो सकता।"[1] "इस (=घट वस्तु)का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो) सबध (है, उस)मे जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे है, उन्ही (वाच्य-वाचक पदार्थों)का (वह) सबध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक सबधकी ओर मन कल्पना दौडाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रियके सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने सस्कारके भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दो कल्पना-चित्रोको मिलाकर नाम देनेकी कोशिशमे रहता है)।"[2]

"(शकर स्वामी जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज. होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वचित) छोटे बच्चेके ज्ञानकी भाँति कल्पना-रहित (ज्ञान) बतलाते है, और बच्चेके (ज्ञानको इस तरह) कल्पना-रहित होनेमे (वाच्य-वाचक रूपसे शब्द-अर्थ सबधके) सकेतको कारण कहते है। ऐसोके(मतमे) कल्पनाके (सर्वथा) अभावके कारण बच्चोका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा, और (बच्चोको) सकेत (जानने)के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बडे होनेपर) भी वह (=सकेत-ज्ञान) नही हो सकेगा।"[3]

(b) **मानस-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने **प्रमाणसमुच्चयमे** मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा[4]—"पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस(-प्रत्यक्ष) है।" मानस प्रत्यक्ष स्वतत्र प्रत्यक्ष नही रहेगा, यदि "पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञात (अर्थ)को ही ग्रहण करे, क्योकि ऐसी दशामे (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नही अतएव वह) प्रमाण नही होगा। यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अधे आदिको भी

[1] प्र० वा० ३।१२५, १२७ [2] वही ३।१२६
[3] वही ३।१४१-१४२ [4] "मानसं चार्थरागादि।"

(रूप आदि) अर्थोका दर्शन (होता है यह) मानना होगा।"[1] इस सबका ख्याल कर धर्मकीर्त्ति **मानस-प्रत्यक्ष**की व्याख्या करते है—

"(चक्षु आदि) इन्द्रियसे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उसीको अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (=चेतना) उत्पन्न हुआ है वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियोसे ज्ञात रूप आदि ज्ञानसे) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमे) ग्रहण करता है (इस-लिए वह ज्ञात अर्थका प्रकाशन नही, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान इन्द्रियसे ज्ञात उन रूप आदिकोसे सबद्ध है जिन्हे कि अधे आदि नही देख सकते, इसलिए) आँखके अधोकी (रूप) देखनेकी बात नही आती।"[2]

(c) **स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने इसका लक्षण करते हुए कहा—"(चक्षु-इन्द्रियसे गृहीत रूपका ज्ञान मनसे गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेके बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (द्वेष) आदिका सवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पना-रहित (ज्ञान) स्वसवेदन (-प्रत्यक्ष) है।"[3] इसके अर्थको अपने वार्त्तिकसे स्पष्ट करते हुए धर्म-कीर्त्तिने कहा—

"राग (सुख) आदिके जिस स्वरूपको (हम अनुभव करते है वह) किसी दूसरे (इन्द्रिय आदिसे) सबध नही रखता, अत उसके स्वरूपके प्रति (वाच्य-वाचक) सकेतका प्रयोग नही हो सकता (और इसीलिए) उसका जो अपने भीतर सवेदन होता है, वह (वाचक शब्दसे) प्रकट होने लायक नही है।"[4] इस तरह अज्ञात अर्थका प्रकाशक, कल्पनारहित तथा अवि-सवादी होनेसे राग-सुख आदिका जो अनुभव हम करते है, वह स्वसवेदन-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-और मानस-प्रत्यक्षसे भिन्न एक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-

---

[1] प्र० वा० ३।२३९ [2] वही ३।२४३

[3] "अर्थरागादि स्वसवित्तिरकल्पिका"—प्रमाण-समुच्चय।

[4] प्र० वा० ३।२४९

मे हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गध)का ज्ञान प्राप्त करते है, मानस प्रत्यक्ष हमे उससे आगे बढकर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका सबध विषयसे जुडा हुआ है। किन्तु, स्वसवेदन प्रत्यक्षमे हम इन्द्रियके (रूप-)ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुख .का प्रत्यक्ष करते है।

(d) **योगि-प्रत्यक्ष**[1]—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोके अतिरिक्त बौद्धोने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञात-प्रकाशक अविसवादी—प्रत्यक्षोके ये विशेषण यहाँ भी लिए गए है. साथ ही कहा है—"उन (योगियो)का ज्ञान **भावना**से उत्पन्न कल्पनाके जालसे रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम, शोक, भय. उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रममे पडे (व्यक्ति) अ-भूत (=अ-सत्) पदार्थोको भी सामने अवस्थितकी भाँति देखते है, लेकिन वह स्पष्ट नही होते)। जिस (ज्ञान)मे विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमे भासित नही होता। स्वप्नमे (देखा पदार्थ)भी स्मृतिमे आता है, किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामे) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नही स्मरणमे आता।"[2]

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान है, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमे नही आते, बल्कि "उनमे वही भावनासे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञात-प्रकाशक आदि) की भाँति सवादी (=अर्थक्रियाको अनुसरण करनेवाला) हो, बाकी (दूसरे, **भावना**से उत्पन्न ज्ञान) भ्रम है।"[3]

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है, क्योकि वहाँ हम देखते है कि सामने घडा देखनेपर नेत्रपर पडे

---

[1] Intuition [2] प्र० वा० ३।२८१-२८३ [3] प्र० वा० ३।२८६

घडेके प्रतिबिंबका जो पहिला दबाव ज्ञानतंतुओं द्वारा हमारे मस्तिष्कपर पडता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दबावके बाद एक छाप (=प्रतिबिंब) मस्तिष्कपर पडता है, फिर मस्तिष्कमें संस्काररूपमें पहिलेके देखे घडोंके जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-संतान) मौजूद है, उनसे इस नए प्रतिबिंब (या लगातार पड रहे प्रतिबिंब-संतान)को मिलाया जाता है—अब यहाँ कल्पनाका आरम्भ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंबसे यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके वाचक नामका स्मरण होता है, फिर इस नए प्रतिबिंबवाले पदार्थका नामकरण किया जाता है। यहाँ कहाँ तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और कहाँसे कल्पना शुरू हुई, यह समझना उस प्रथम दबावके द्वारा आसान है, किंतु जहाँ बाहरी वस्तुके दबावकी बात नही रहती, वहाँ कल्पनाके आरंभकी सीमा निर्धारित करना—खासकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमें—बहुत कठिन है। इसीलिए **कल्पना**की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्त्तिने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु)में जो (ज्ञान, दूसरेसे पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के संबंध)को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उस (विषय)में कल्पना है। (वस्तुका) अपना रूप शब्दार्थ (=शब्दका विषय) नही होता, इसलिए वहाँका सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[1]

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी **विज्ञान**, जब तक समानता असमानताको लेकर प्रयुक्त होनेवाले शब्दार्थ-को अवकाश नही मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्षकी सीमाके भीतर रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चार प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानको बतला चुके। किन्तु ज्ञान ऐसे भी है, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नही है, और देखनेमें प्रत्यक्षसे लगते है, ऐसे प्रत्यक्षाभासोंका भी परिचय होना जरूरी है, जिसमें कि हम गलत रास्ते पर न चले जायँ। दिग्नागने ऐसे प्रत्यक्षाभासोंकी संख्या चार बतलाई

[1] प्र० वा० ३।२८७

है[1]—"भ्रान्तिज्ञान, सवृत्तिमत्-ज्ञान, अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक और तैमिरि ज्ञान।" (१) भ्रान्तिज्ञान मरुभूमिकी बालुकामे जलका ज्ञान है। (२) सवृतिवाला ज्ञान फर्जी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—"यह अमुक द्रव्य है अमुक गुण है।" (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग)के सकेतवाली स्मृतिके अभिलाप (=वचनके विषय) वाला ज्ञान—"यह घडा है।" (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमे किसी तरहके विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजे पीली मालूम होती है। इनमे पहिले "तीन प्रकारके प्रत्यक्षाभास कल्पना-युक्त ज्ञान है, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नही गिने जा सकते), और एक (=तैमिरि) कल्पना-रहित है किंतु आश्रय (=इद्रिय)मे (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है (इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमे नही आसकता—ये है चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास।"[2]

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपने स्वरूपसे, जैसा कि **प्रत्यक्ष**से देखनेपर होता है, दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेपर एक दूसरी (=रसोईघरकी) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे इस धुएँके लिग (=चिह्न) वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूँकि पदार्थका "स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसें ज्ञान होता है, अत प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते है"[3]—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विषय।

किन्तु "(जो पररूपसे, अनुमान ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नही लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने-नही) पर-रूपसे

---

[1] "भ्रान्तिसंवृत्तिसज्ज्ञानं अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाण-समुच्चय।

[2] प्र० वा० ३।२८८ [3] प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नही कह सकते (क्योकि वह अविसवादी नही होगी)। (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थसे है, उस अर्थ)से अ-विसवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये, क्योकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थका सवादी) देखा जाता है।"[1] यही पहाडमे देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपसे नही पा, रसोईघर वाली आगके रूपके द्वारा पाते है, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाडकी आग) है, उससे उसका विरोध नही है।

(a) **अनुमानकी आवश्यकता**—"वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमे कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बतला चुके है), किन्तु (अनेक वस्तुओके भीतर जो) सामान्य है, उसे कल्पनाके बिना नही ग्रहण किया जा सकता, इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान)मे अनुमानकी जरूरत पडती है।"[2]

(b) **अनुमानका लक्षण**—किसी "सबधी (पदार्थ, धूमसे सबध रखनेवाली आग)के धर्म (=लिग, धूम)से धर्मी (=धर्मवाली, आग)के विषयमे (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"[3]

पहाडमे हम दूरसे धुआँ देखते है, हमे रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि "जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है" फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते है कि पर्वतमे आग है। यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमे नही होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमे होता है, दूसरी बात है, कि हमे यह ज्ञान सद्य नही होता, बल्कि उसमे स्मृति, शब्द-अर्थ-सबध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

---

[1] वही ३।५५, ५६ [2] प्र० वा० ३।७५

[3] वही ३।६२ "अटूट संबधवाले (दो) पदार्थो (मेसे एक)का दर्शन उस (=संबंध)के जानकारके लिए अनुमान होता है" (अनन्तरीयकार्य-दर्शन तद्विदोऽनुमानम्"—वसुबन्धुकी वादविधि)।

लेना पडता है।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते है। इनमे पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड और कोई (तीसरा) प्रमेय सभव नही है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते है। दो तरहके प्रमेयोके देखनेसे (प्रमाणोकी) सख्याको (बढाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"[1]

(c) अनुमानके भेद—कणाद, अक्षपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए अपने पूर्ववर्त्ती "ऋषियो"के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोडेसे अपवादोके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एकही मानते आ रहे है। अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिलेपहिल आचार्य दिग्नागने किया।[2] दो प्रकारके अनुमानोमे स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमे तीन प्रकारके हेतुओ (=लिगो, चिह्नो, धूम आदि)मे किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है।[3] परार्थानुमानमे उन्ही तीन प्रकारके हेतुओ द्वारा दूसरेके लिए (=परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है।

(d) हेतु (=लिंग) धर्म—पदार्थ (=प्रमेय)के जिस धर्मको हम देख कर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते है, वह हेतु है। अथवा "पक्ष (=आग)का धर्म हेतु है, जो कि पक्ष (=आग)के अश (=धर्म, धूम)मे व्याप्त है।"[4]

"हेतु सिर्फ तीन तरहके होते है"—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु। हम किसी पदार्थका अनुमान करते है उसके कार्यसे—"पहाडमे आग है धुआ होनेसे"। यहा धुआ आगका कार्य है इस तरह

---

[1] प्र० वा० ३।६३, ६४

[2] धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु, पृ० ८२)

[3] देखो, न्यायबिन्दु २।३

[4] प्र० वा० १।३ वही

कार्यसे उसके कारण (=आग) का हम अनुमान करते हैं। इसलिए "धुआँ होनेसे" यह हेतु **कार्य-हेतु** है।

"यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है शीशम होनेसे", यहाँ 'शीशम होनेसे" हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझते है, तो उसे इस **स्वभाव-हेतुके** कारण वृक्ष भी मानना पडेगा।

"मेजपर गिलास नही है", "उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे" यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने)का मतलब है, कि वह मेजपर नही है। गिलासकी **अनुपलब्धि** यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानसे किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुपलब्धिके रूपमे तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते है, क्योकि हेतुवाले इन धर्मोके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नही होता—इस धर्मका धर्मीके साथ अ-विनाभाव संबध है। हम जानते है "जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है," "जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है," "आँखसे दिखाई पडनेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नही होना।"

(९) मन और शरीर (क) एक दूसरेपर आश्रित—मन और शरीर अलग है या एक ही है, इसपर भी धर्मकीर्त्तिने अपने विचार प्रकट किए है। बौद्ध-दर्शनके बारेमे लिखते हुए हम पहिले बतला चुके है, और आगे भी बतलायेगे, कि बौद्ध आत्माको नही मानते, उसकी जगह वह चित्त, मन और **विज्ञान**को मानते है, जो तीनोही पर्याय है। मन शरीर नही है, किन्तु साथ ही "मन कायाके आश्रित है।"[1] इन्द्रियाँ काया (=शरीर)मे होती है, यह हम जानते है, और "यद्यपि इन्द्रियोके बिना बुद्धि (=मन ज्ञान)

---

[1] प्र० वा० २।४३

नही होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके बिना नही होती, इस तरह दोनों (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर है), और इससे (मन और काया)का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)"।

(ख) मन शरीर नहीं—मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोमे अविनाभाव सबध होना—हमे इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नही है, वह शरीरका ही एक अश है, अथवा मन और शरीर दोनों उन्ही भौतिक तत्त्वोके विकास है, अत तत्त्वत. उनमे कोई भेद नही—भूतसे ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्त्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोकी भाँति भूत-चैतन्यवाद (भौतिकवाद या जडवाद)का खडन करते हुए कहते है—"प्राण=अपान (=श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन)की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके बिना केवल शरीरसे ही नही होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरसे उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूतसे जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धि वाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले बीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस बातकी दलील है, कि मन (=चेतना) केवल भूतोकी उपज नही है। कही-कही जीवन-बीजके बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसेकि वर्षामे क्षुद्रकीट, इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते है—

"पृथिवी आदिका ऐसा कोई अश नही है, जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हों, इससे मालूम होता है, सब (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएँ) बीजात्मक है।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवनमुक्त कारण)के बिना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमे) परिणत

---

[1] प्र० वा० २।३५ [2] वही २।३७

हो जाते है, उसी तरह सभी (भूत परिणत हो जाने चाहिए); क्योकि (पहिले जीवन-शून्य होनेसे सभी) एकसे है, (लेकिन हर ककड और ढलेको सजीव आदमीके रूपमे परिणत होते नही देखा जाता)।"[1]

"बत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोषो द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नही, ऐसा होता तो मरनेके बाद भी (कफ, पित्त आदि) दोषोका शमन हो जाता है (फिर तो दोषोके शमनसे विगुणता हट जानेके कारण मृतकको) फिर जी जाना चाहिए।

"यदि कहो (जलाकर) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख)की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमे परिणति) नही होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होनेपर भी सजीव शरीरके रूपमे) परिणति नही होती—यह कहना ठीक नही, क्योकि चिकित्साके प्रयोगसे (जव दोषोको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु यह शरीरके सजीव होते ही होते)।

"(दोषोसे होनेवाले विकारोकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एक सी नही है) कोई वस्तु कही-कही न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकार की जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके बारेमे (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है, और कही उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमे। पहिले (काष्ठकी आग)का थोडा भी विकार (=काला आदि पड जाना) अनिवर्त्य (=न लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु दूसरे सोना-आगमे जो) लौटाया जा सकने-वाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिछले) ठोस सोनेकी तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगो और मृत्युके कारण कफ आदि दोषोके) निवारक (औषधो)के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

---

[1] प्र० वा० २।३८

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्युके कारण हो) तो (ऐसे दोषोंका हटाना) असाध्य नहीं हो सकता।

"(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है तब तक विष सारे शरीरमे फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है, इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानो) अथवा कटे (स्थान)के काट डालनेसे (बाकी शरीरमे निर्जीवतारूपी) विकारके हेतु (=विष)के हट जानेसे वह (शरीर) क्यो नही साँस लेने लगता ? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नही है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है, यद्यपि दोनो एक दूसरेके आश्रित होनेसे अलग-अलग नही रह सकते)।

"(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर)के विकारके बिना उपादेय (=चेतना)मे विकार नही किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमे विकार विना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमे (विकार नही किया जा सकता)। किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ)का उपादान नही (हो सकती), जैसे कि (एकके विकारके बिना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमे (एक दूसरेका उपादान नही हो सकती), इसी तरह मन और शरीरकी भी (बात है, दोनोमेसे एकके विकार-युक्त हुए विना भी दूसरेमे विकार देखा जाता है)।"[1]

(ग) मनका स्वरूप—"स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार)है, (उसमे पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमे अधकार, कुहरा आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) है।"[2]

---

[1] प्र० वा० २।५४-६२ [2] वही २।२०८

४. दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ प्रमाण-वार्त्तिकमे अपने दार्शनिक सिद्धान्तोका समर्थन और प्रतिपादन ही नही किया है, बल्कि उन्होने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगतिकी आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोके ग्रथोको सामने रखकर उन्होने यह आलोचना की है, उनमे उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी है। हमने पुनरुक्ति और ग्रथ-विस्तारके डरसे उनके बारेमे अलग नही लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्त्तिकी आलोचनासे उनके विचारोको हम जान सकते है।

(१) नित्यवादियोका सामान्यरूपसे खंडन—पहिले हम उन सिद्धातोको ले रहे है, जिन्हे एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते है।

(क) नित्यवादका खंडन—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद)का घोर पक्षपाती होनेसे बौद्धदर्शन नित्यवादका जबर्दस्त विरोधी है। भारतके बाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमे नित्यवादको मानते है, जैन और मीमासक जैसे आत्मवादी ही नही चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य) कहनेके लिए तैयार नही थे, जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वकी मूल ईंटो—परमाणुओ—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्नाग कहते है[1]—"कारण (स्वय) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज)का कारण हो सकता है।" धर्मकीर्त्तिने कहा—"जिसके होनेके बाद जिस (वस्तु)का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु)मे विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु)का कारण कहते है।"[2]

इस प्रकार कारण वही हो सकता है जिसमे विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु) मे यह (बात) नही हो सकती, अत ईश्वर आदि (जो नित्य

---

[1] "कारण विकृति गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्"।

[2] प्र० वा० २।१८१-८२

पदार्थ) है, उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नही हो सकती।"[१]

"जिसे अनित्य नही कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का हेतु नही हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप)को नित्य कहते है जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नही होता।"[२]

यह भी बतला चुके है कि धर्मकीर्त्ति परमार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते है, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने) मे समर्थ हो। नित्यमे विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नही सकती। आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर है, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी है, इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोषणा करना यह साहस मात्र है।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और बौद्ध-दर्शनको छोड बाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ मानते है। बौद्ध अनात्मवादी है, अर्थात् आत्माको नही मानते। आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-सतति) एकसे दूसरे शरीरसे जुडता (=प्रतिसधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके है। चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है। जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका सबध नही है, मरनेवाला क शरीर भूलोकपर है और उसके बादका सजीव बननेवाला ख शरीर मगललोकमें, ऐसी अवस्थामे क शरीरको छोड ख शरीर तक पहुँचनेमे बीचकी एक अवस्था होगी, जिसमे विज्ञानको कायासे बिलकुल स्वतत्र मानना पडेगा, फिर "मन कायाश्रित है"—कहना गलत होगा। इसका उत्तर बौद्ध कह सकते है, कि हम मनको एक नही बल्कि प्रवाह मानते है, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नही, बल्कि, हर क्षण अपने रूपसे विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके बाद उसी तरहकी किन्तु बिलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति .से एक विच्छिन्न प्रवाहका

---

[१] वही २।१८३ [२] वही २।२०४

जारी रहना। चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-विन्दुओकी पाँती। फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेनेपर "मन कायाश्रित"का मतलब मनके हर एक "विन्दु"को विना कायाके नही रहना चाहिए। क शरीर—जो कि स्वय क्षण-क्षण परिवर्तन-शील शरीर-निर्मापक मूल विन्दुओ (=कणो)का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-विन्दु नष्ट होता है, उसका उत्तराधिकारी ख शरीरके साथ होता है। क शरीर(-प्रवाह)के अन्तिम और ख शरीर(-प्रवाह)के आदिम चित्त-विन्दुओ (क-चित्त, ख-चित्त)के बीच यदि किसी ग चित्त-विन्दुको माने तब न आक्षेप किया जा सकता है, कि ग चित्त-विन्दु कायाके बिना है। इस तरह स्थिर (=नित्य या चिरस्थायी) नही वल्कि बिजलीकी चमकसे भी बहुत तेज गतिसे "आँख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाहके (अनात्म तत्त्व)को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरो (=शरीर-प्रवाहो)मे उसका जाना सिद्ध करते है।

(a) **नित्य आत्मा नहीं**—आत्माको नित्य माननेवाले वैसा मानना सबसे जरूरी इस बातके लिए समझते है, कि उसके विना बंध—जन्म-मरणमे पडकर दु ख भोगना, और मोक्ष—दु खोसे छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—दोनों सभव नही। इसपर धर्मकीर्ति कहते है—

"दु खकी उत्पत्तिमे कारण (=कर्म) बंध है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? दु खकी उत्पत्ति न होनेमे कारण (कर्मसे उत्पन्न बधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? (वस्तुत) जिसे अ-नित्य (=क्षणिक) नही कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का कारण नही हो सकता। नित्य उस स्वरूपको कहते है, जो कि नष्ट नही होता। इस लज्जाजनक दृष्टि (=नित्यताके सिद्धान्त)को छोडकर उसे (=आत्माको) (अत) अनित्य कहो।"[1]

[1] प्र० वा० २।२०२-२०५

(b) नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयोंकी जड़—"मै सुखी होऊँ या दुखी नही होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुष)को जो 'मै' ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। 'मै' ऐसी धारणाके बिना कोई आत्मामे स्नेह नही कर सकता, और आत्मामे (इस तरहके) स्नेहके बिना सुखकी कामना करनेवाला बन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड नही सकता है।"[1]

"जब तक आत्मा-सबधी प्रेम नही छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दुखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नही हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नही है, तो भी ('मै, मेरा', जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप)को हटानेके लिए यत्न करना पडता है।"[2]

"यह (क्षणिक मन-, शरीर-प्रवाहसे) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिससे उससे उलटे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि)मे राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।"[3]

"आत्माका ख्याल (केवल) मोह, और वही सारी बुराइयोकी जड (=दोषोका मूल) है।"[4]

"(यह) मोह **सत्काय दृष्टि** (=नित्य आत्माकी धारणा) है, मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) है।"[5]

धर्मके माननेवालोके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसको "मै" इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोको ढाँक देती है। (दोषोके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा (सुख)' ऐसी (चाह करते) उस (की प्राप्ति)के लिए साधनो (=पुनर्जन्म आदि)को ग्रहण करता है।

---

[1] प्र० वा० २।२०१-२ [2] वही २।१९१-९२
[3] प्र० वा० १।१९५ [4] वही २।१९६ [5] वही २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर)में है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए (=मन)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुषमें) आता है, तो लेना, छोडना (=राग, द्वेष) होता है, इन्ही (लेने छोडने)से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते है। जो नियमसे आत्मामे स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधनो)से रागरहित नही हो सकता।"[1]

"आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमे) स्नेहको दृढ करती है। आत्मीयोके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोको) वैसा ही कायम रखेगा।"[2]

"(वस्तुत आत्मा नही नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमे जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह हो गया, तो उससे (=आत्मस्नेहसे कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमे) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बडा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नही आता, जैसे) मत्तकासिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी)के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुमे भी कामतृप्ति करता है।"[3]

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नही हो सकता है, और धर्म, परलोक, मुक्तिमे भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्का कर्त्ता मानते है। धर्मकीर्त्ति ईश्वरके अस्तित्वका खडन करते हुए कहते है—

"जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेमे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूपसे एकरस होनेसे दोनो अवस्थामे उसमे भेद नही हो सकता, फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह)से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नही माना गया?

---

[1] प्र० वा० २।२१७-२२० [2] वही २।२३५, २३६ [3] वही २।२३३

"(कारक और अकारक दोनों अवस्थाओमे एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर)मे शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है), शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते है, इसलिए उनके लिए यह सम्भव है, किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) सबध-रहित ठूँठमे ही क्यो न विश्वकी कारणता मान लेते ?

"(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थासे अकारक अवस्थामे विशेषता होती है, तो प्रश्न होगा—ऐसा होनेमे उसके स्वरूपमे परिवर्तन हो जायगा, क्योकि) स्वरूपमे परिवर्तन हुए विना (वह कारक नही हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नही कर सकता। और (साथ ही) जो नित्य है, वह तो अलग नही (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-सबधी) सामर्थ्यके बारेमे यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नही)।

"जिन (कारणो)के होनेपर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणो) से अन्यको उस (कार्य)का कारण माननेपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नही पडेगा, बल्कि) सर्वत्र कारणोका खातमा ही नही होगा (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और कारण ढूँढने पडेगे।)

"(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमे कार्यके उत्पादनके समय परिवर्तन होता है) भूमि आदि अकुर पैदा करनेमे कारण अपने स्वरूप-परिवर्तन करते हुए होते है, क्योकि उन (=भूमि आदि)के सस्कारसे अकुरमे विशेषता देखते है। (ईश्वर अपने स्वरूपमे परिवर्तन किए विना कारण नही बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नही रह सकता)।"[1]

---

[1] प्र० वा० २।२१-२५

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जबर्दस्त युक्ति समझते है—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार)की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घडेको देखकर उसके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते है—

"किसी वस्तु (=घट)के बारेमे (पुरुषकी उपस्थितिमे सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है)की समानतासे (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नही, जैसे कि (एक जगह कही) पीले रगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रगको देखकर आगका अनुमान करते चले। यदि ऐसा न माने तव तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घडे आदिको बनाया, इसलिए दीमकोके 'टीले'को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।"[1]

पहिले **सामग्रीकारणवाद**के वारेमे कहते वक्त धर्मकीर्त्ति वतला चुके है, कि कोई एक वस्तु कार्यको नही उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमे समर्थ होती है।

(२) न्याय-वैशेषिक खंडन—वैशेषिक और न्याय-दर्शनमे जगत्को बाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिको—खासकर अरस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, वाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्वो—चेतन और जड मूल तत्वोकी सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। बौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नही था, इसीलिए हम प्रमाणवार्त्तिकमे धर्मकीर्त्तिको मुख्यत ऐसे सिद्धान्तोका जबर्दस्त खडन करते देखते है। वैशेषिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—छै पदार्थोको स्वीकृत किया है, इनमे कर्म और विशेष ही है जिनके माननेमे बौद्धोको आनाकानी

[1] वही २।१२, १३

नही हो सकती थी, क्योकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और **हेतु-सामग्री** तथा **अपोह** (जिसके बारेमे आगे शब्दप्रमाणपर बहस करते वक्त लिखेंगे)के सिद्धान्तोंको माननेवाले होनेसे **विशेष**को भी वह स्वीकार कर लेते थे। बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य गुण आदिका खंडन—बौद्धोकी परमार्थसत् और व्यवहारसत् की परिभाषाके बारेमे पहिले कहा जा चुका है, उसमे परमार्थ सत्की कसौटी उन्होने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमे जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियासे व्याप्त है, जो अर्थक्रियाकारी नही है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्)नही हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओ"के बारेमे ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुत "वस्तु"को ही नही मान सकते थे, क्योकि "वस्तु"से साधारण जनके मनमे स्थिर पदार्थका ख्याल आता है, इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोने वस्तुके स्थानमे "धर्म" या "भाव" शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। "धर्म"को मजहब या मजहबी स्थिर-सत्यके अर्थमे नही, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन विन्दुओके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमे हमे दिखलाई पडते है। "भाव" (=होना) को वह इसलिए पसन्द करते है, क्योकि वस्तु-स्थिति हमे "है"का नही बल्कि "होने"का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोका समूह नही है कि हम "है"का प्रयोग करे, बल्कि वह उन घटनाओका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही है। वैशेपिककी द्रव्य, गुणकी कल्पना **भाव**के पीछे छिपे **विच्छिन्न-प्रवाह** वाले विचारके विरुद्ध है।

वैशेपिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजे (पदार्थ) है, जिनमे गुण वह है जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व)के आधारपर देखते है, रसको जल (तत्त्व)के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते है, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते है, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है, और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमे गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोका कहना है—प्रकृति इस द्रव्य गुणके भेदको नही जानती, यह तो हम समझनेकी आसानीके लिए अलग करके कहते है, जिस तरह प्रकृति दस आमोमेसे एकको पहिला, एकको दूसरा इस तरह नबर देकर हमारे सामने उपस्थित नही करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न है—बस वह इतना ही जानती है। "भाव प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे है, भावोके प्रवाहकी उस तरह की (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिसे (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्त्ती भावके होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमे लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमे (आश्रय, आधार या द्रव्यका मानना) अ-युक्त है।"[1]

जैसे जलका आधार घडेको मानते है, उसी तरह गधका आधार पृथिवी (-तत्व) है, यह कहना गलत है "जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योकि (गतिशील जलके) गमनका (घडेसे) प्रतिबध होता है। गुण, सामान्य (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमे गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते है, फिर ऐसे) गतिहीनोको आधार लेकर क्या करना है?"[2]

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साबित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमे रहता है, अर्थात् दोनोके बीच समवाय (=नित्य) सबध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य सबध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेमे गलत है।

---

[1] प्र० वा० २।६७ [2] प्र० वा० २।६८

(ख) सामान्यका खंडन—गाये करोडो है, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोंपर विचार करते है, तो वह अनगिनत मालूम होती है। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोमे एक बात हम सदा पाते है, वह है गाय-पन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोके मरते रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमे पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोमे एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ **सामान्य** या **जाति** है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमे वैशेषिककी युक्ति, जिसके बारेमे पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमे आसानीके लिए हमे यहाँ फिर कहना पडा है।

अनुमानके प्रकरणमे धर्मकीर्त्ति कह चुके है, कि **सामान्य** अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत् नही बल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहारका सबध है, उसके माननेसे वह इन्कार नही करते इसीलिए वह कहते है—

"बाहरी अर्थ (=पदार्थ)की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमे) उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दको नियत करते है, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

"(एक स्त्रीके लिए भी सस्कृतमे बहुवचन) दारा, (छ नगरोके बहु-वचनवाले अर्थके लिए सस्कृतमे एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपो)मे एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोमें एक होता है, आकाश तो ख सिर्फ एक है फिर) खका स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यो माना जाता है?"[1]

इसका अर्थ यही है, शब्दोके प्रयोगमे वस्तुकी पर्वाह नही करके वक्ता बहुत जगह स्वतत्रता दिखलाते है, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी "स्वतत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावो (=वस्तुओ)को

---

[1] प्र० वा० १।६८, ६९

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि=ज्ञान पैदा होती है, जिस)के द्वारा उन (भावो)का (वास्तविक) रूप ढँक (=सवृत हो) जाता है, (इसलिए ऐसे ज्ञानको) संवृति (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली) कहते है।

"ऐसी संवृतिसे (भावो=गायो . .)का नानापन ढँक गया है, (इसीलिए) भाव (=गाये आपसमे) स्वय भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पडते है।

"उसी (सवृति या कल्पनावाली बुद्धि)के अभिप्रायको लेकर सामान्यको सत् कहा जाता है, क्योकि परमार्थमे वह अ-सत् (और) उस (सवृति बुद्धि)के द्वारा कल्पित है।"[1]

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोमे है, यह ख्याल गलत है, क्योकि—

"व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गाये एक दूसरेमे) अनुगत नही है, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियो)मे (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पडता है (,जो दीखती है, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ है)। ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है ?

"इसलिए (अनेक) पदार्थोमे एकरूपता (=सामान्य)का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना)का मूल (व्यक्तियोंका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) सज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है।"[2]

"यदि (सज्ञाओ शब्दो द्वारा पदार्थोका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हे क्या (लेना) है ?"[3]

वस्तुत गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए है।

---

[1] प्र० वा० १।७०-७२ [2] प्र० वा० १।७३-७४ [3] वहीं १।८८

"एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावों (='वस्तुओं')मे उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञा (की जरूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनेवाली गायोमे उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञाकी, किन्तु गाय-व्यक्तियोंके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिकी अलग-अलग सज्ञा रखनेपर नाम) बहुत बढ जाता, (वह) हो भी नही सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोंने उस (गायवाले) कार्यसे फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (=गाय नाम) प्रयुक्त किया।"[१]

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी ? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात् अपनेसे सबध रखनेवाली गाय-व्यक्तिमे ही रहता है, तो—

"(एक गायमे स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायके उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमे) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश)मे (पहिलेसे) था (, क्योकि वह सिर्फ व्यक्तियोमे ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके)पीछे (तो जरूर) है, (क्योकि सामान्यके बिना व्यक्ति हो नही सकती), यदि (सामान्यको) अशवाला (मानते हो, जिसमे कि उसका एक अश=छोर पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिसे सबद्ध हो)। और (अशरहित माननेपर यह नही कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधारको छोडता है (क्योकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जब पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पडेगा, इस प्रकार बेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीबतोका अन्त नही।

"दूसरी जगह वर्त्तमान (सामान्य)का अपने स्थानसे बिना हिले उस (पहिले स्थान)से दूसरे स्थानमे जन्मनेवाले (पिड)मे मौजूद होना युक्ति-युक्त बात नही है।

---

[१] प्र० वा० १।१३९-१४०

"जिस (देश)मे वह भाव (=खास गाय) वर्तमान है, उस (देश=स्थान)से (सामान्य गायपन) सबद्ध भी नही होता (क्योकि तुम मानते हो कि सामान्य देशमे नही व्यक्तिमे रहता है), और (फिर कहते हो, देशमे रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ—गाय-व्यक्ति)मे व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार सा है ।।

"यदि सामान्यको (एक देशी नही) सर्वव्यापी (सर्वज्ञ) मानते हो, तो एक जगह एक गाय-व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जानेपर उसे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योकि सर्वव्यापी सामान्यमे) भेद न होने (=एक होने)से व्यक्तिकी अपेक्षा नही ।

"(और ऊपरकी बातसे यह भी सिद्ध होता है, कि गायपन सामान्य सर्वत्र है। फिर वह दिखलाई देता क्यो नही, यह पूछनेपर आप कहते है—क्योकि उसके लिए व्यजक (=प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है। इसका अर्थ हुआ—) "(पहिले) व्यजकके ज्ञान हुए बिना व्यग्य (=सामान्य) ठीकसे नही प्रतीत होता। तब फिर सामान्य (=गायपन) और सामान्यवान् (=गायपनवाली गाय-व्यक्ति)के सबधमे उलटा क्यो मानते हो।—अर्थात् गायपन-सामान्य गाय-व्यक्तिकी उत्पत्तिमे पहिले भी मौजूद था ?"[1]

अतएव सामान्य है ही नही—

"क्योकि (व्यक्तिसे भिन्न) केवल जातिका दर्शन नही होता, और (गाय-)व्यक्तिके ग्रहणके वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप ('गाय') से भिन्न (कुछ) नही दिखाई देता।"[2]

"इसलिए सामान्य अ-रूप (=अ-वस्तु) है, (और वह) रूपो (=गाय-व्यक्तियो)के आधारपर नही कल्पित किया गया है, बल्कि (वह व्यक्तियोकी क्रिया-सबधी) उन-उन विशेषताओके जतलानेके लिए शब्दो द्वारा प्रकाशित किया जाता है ।

---

[1] प्र० वा० ३।१५४-५८ [2] प्र० वा० ३।४९

"ऐसे (सामान्य)मे वास्तविकता (=रूप)का अवभास अथवा सामान्यके रूपमे अर्थ (=पदार्थ गाय-व्यक्ति)का ग्रहण भ्रान्ति (मात्र) है, (और वह भ्रान्ति) चिरकालसे (वैसे प्रयोगको) देखते रहनेके अभ्याससे पैदा हुई है।

"और पदार्थो (=विशेषो या व्यक्तियो)का यह (अपनेसे भिन्न व्यक्ति) से बिलगाव रूपी जो समानता (=सामान्य) है, और जिस (सामान्य)के विषयमे ये (शब्दार्थ-सबधी सकेत रखनेवाले) शब्द है, उसका कोई भी स्व-रूप (=वास्तविक रूप) नही है (क्योंकि वे शब्द-व्यवहारके सुभीतेके लिए कल्पित किए गये है)।"[1]

(ग) अवयवीका खंडन—हम बतला आए है, कि कैसे अक्षपाद अवयवों (=अगो)के भीतर किंतु उनसे अलग एक स्वतत्र पदार्थ—**अवयवी** (=अगी)—को मानते है। धर्मकीर्त्ति सामान्यकी भाँति अवयवोंको व्यवहार (=सवृति)-सत् माननेके लिए तैयार है, किंतु अवयवोंसे परे अवयवी एक परमार्थ सत् है, इसे वह नही स्वीकार करते। "बुद्धि (=ज्ञान) जिस आकारकी होती है, वही उस (=बुद्धि)का ग्राह्य कहा जाता है।"[2] हम बुद्धि (=ज्ञान)से अवयवोके स्वरूपको ही देखते है, उसमे हमे अवयवीका पता नही लगता, भिन्न-भिन्न अवयवोके प्रत्यक्ष ज्ञानोंको एकत्रित कर कल्पनाके सहारे हम अवयवीकी मानसिक सृष्टि करते है, जो कि कल्पित छोड वास्तविक वस्तु नही हो सकता। यदि कहो कि अवयवीका भी ग्रहण होता है तो सवाल होगा—

"एक ही बार अपने अवयवोके साथ कैसे अवयवीका ग्रहण हो सकता है ? गलेकी कमरी, (सीग) आदि (अवयवो)के न देखनेपर गाय (=अवयवी) नही देखी जा सकती।"[3]

जिस तरह वाक्य पढते वक्त पहिलेसे एक-एक अक्षर पढनेके साथ वाक्यका अर्थ हमे नही मालूम होता जाता, बल्कि एक-एक अक्षर हमारे

---

[1] प्र० वा० २।३१, ३२ [2] प्र० वा० ३।२२४ [3] प्र० वा० ३।२२५

सामनेसे गुजरता सकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोडता जाता है, इन्ही छापोको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सीग, गलकम्बल, पूंछको बारी-बारीसे देखते जो छाप छोडते है, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते है, किंतु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नही है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नही। यदि अवयवी वस्तुत एक स्वतत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (मेसे किसी एक)के कम्पनसे (शरीर)का कपन होता, क्योकि एक (ही अखड अवयवी)मे (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकपन दोनो) नही रह सकते, ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अकम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"[1]

अवयवोके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोके योगके साथ अवयवीके भी मिल जानेसे अवय+अवयव+अवयव =भार जितना होता है, अवयव+अवयव+अवय + अवयवी=भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योकि (यदि अवयवोके भार और उसके अनुसार तोलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।"[2]

"क्रमश (सूक्ष्म अवयवोको बढाते हुए बहुत अवयवोमे) युक्त धूलिकी राशिमे एक समय (अलग-अलग अवयवों और उनसे) युक्त (राशि)के भारमे भेद होना चाहिए, और इस (गौरवके) भेदके कारण (सोनेके या चांदी-के छोटे-छोटे टुकडोको) अलग-अलग तोलने तथा (उन टुकडोको गलाकर एक पिड बना) साथ (तोलने) पर सोनेके मापक (=माना, रत्ती) आदि (मे तोलनेकी) सख्यामे समानता नही होनी चाहिए।"[3]

---

[1] प्रा० वा० ३।२८४ [2] प्र० वा० ४।१५४

[3] प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब ९६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया गया तो उसमे ९६ मासेके ९६ टुकडोंके अतिरिक्त उससे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन ९६ मासासे ज्यादा होना चाहिए।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने सख्या, सयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोंको वस्तुसत्के तौरपर माना है, जिन्हे कि धर्मकीर्त्ति व्यवहार (=सवृति)-सत् भर माननेके लिए तैयार है, और कहते है—

"सख्या, सयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उसके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान)मे नही भासित होता। (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हे वस्तुसत् मानना गलत है)।

"शब्दके ज्ञानमे (एक घट इस) कल्पित अर्थमे वस्तुओके (पारस्परिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (सख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमे (=पाँतीमे 'एक बडी जाती है,' यहाँ एक भी गुण और बडी भी गुण, किन्तु गुणमे गुण नही हो सकनेसे एक सख्याके साथ बडा परिमाणका प्रयोग नही होना चाहिए) अथवा नष्ट या अबतक न पैदा हुओमे ('एक, दो, बहुत मर गए) या पैदा होगे'का कहना। निश्चय ही जो एक, दो सख्या मरे या न पैदा-हुए-जैसे आस्तीत्वशून्य आधारका आधेय—गुण—है, वह कल्पित छोड वास्तविक नही हो सकता।[1]"

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—साख्य-दर्शन चेतन और जड दो प्रकारके तत्वोको मानता है। जिनमे चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके सपर्कसे जडतत्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है। साख्य प्रधानमे भिन्नता नही मानता, और साथही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमे पहिलेसे ही पूर्वरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्त्ति कहते है—

---

[1] प्र० वा० २।९२

"अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (प्रधान=प्रकृति) स्वरूप होते एक कार्य (अकुर) को करते है, तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज) मे (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह), इसलिए (दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल है।

"(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोके न होनेपर बीजके रहनेसे) वह (**प्रधान**—मौलिक भौतिक तत्व तो) अ-भिन्न—(है) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नही छोडता (क्योकि वह नित्य है, और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान है (किंतु हम देखते है) एक (सहकारी जल या मिट्टी) के न होनेपर (भी) कार्य (=अकुर) नही होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अकुर, प्रधानसे नही बल्कि विशेषो (=पानी, मिट्टी आदि) मे उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थक्रियाको कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले है मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अकुरमे) एक-रूप नही होते, और जिमे (तुम) एक रूप होता (कहते हो) उस (प्रधान) मे (अकुर-) कार्यका सम्भव नही (, क्योकि सत्कार्यवादके अनुसार वह तो, जैसा अपने स्वरूपमे है, वैसा ही मिट्टी आदि बननेपर भी है)।

"(और प्रधानको हर हालतमे एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप है, फिर एक बीजके रहनेसे मिट्टी, पानी आदिके न होनेपर भी अकुरकी उत्पत्तिमे कोई हर्ज नही होना चाहिए, किन्तु हम) यह स्वभाव (देखते है कि) उस (कारण-) स्वरूपसे (बीज, मिट्टी, पानी आदि के आपसमे) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अकुरका) 'कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नही, यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि विशेषोका) अभेद होता, तो (अकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनो) एक साथ होती।"[1]

---

[1] प्र० वा० १।१६६-१७०

"(जो अर्थक्रिया करनेवाला[1] है) उसीको कार्य और कारण कहते है, वही स्व-लक्षण (=वस्तुसत्) है, (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोंकी (नाना कार्योमे) प्रवृत्ति होती है।

"जैसे (साख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वो—मिट्टी, बीज, पानी आगमे) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यो—अकुर, घडा आदि)के (करनेमे) साधन नही होते, वैसे ही, पूर्वपूर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोकी) सभी उत्तर-उत्तर कार्यो (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि)मे भिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यो)के (करनेमे) साधन नही होते।

"(यही नही, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर (सब नही) कोई-कोई ही (वस्तुए) अपनी विशेषता (=धर्म)की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती है। किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणमे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुए अभिन्न है, फिर उनमेसे) एकका (कही) क्रिया (=कार्य)कर सकना और (कही) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (बाते) है।"[2]

इस प्रकार साख्यका सत्कार्यवाद—मूलत विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामे कोई भेद नही रखती (प्रधान=पानी, प्रधान= आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है, और बौद्धोका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नही अनेक है, और हर कार्य अपने कारणसे बिलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणका सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का

[1] अर्थक्रियाकारी=अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, सार्थक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकनेवाला—आदि इसके अर्थ है।

[2] प्र० वा० ३।१७५-१७७

भ्रम होता है ।

(४) **मीमांसाका खंडन**—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले लिख चुके हैं। मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुत क्या है इसे नहीं बतला सकते, और परलोक, स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं, उनका ज्ञान करानेमें तो वे बिलकुल असमर्थ हैं, इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-पौरुषेय किसी पुरुष (=मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नहीं बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, तथा अशत प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नहीं मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेसे वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकाड आदि ही नहीं बहुतसी दूसरी गप्पे और पुरोहितोंकी दक्षिणाके लोभसे बनाई बाते गलत साबित होती, ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियोंकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमांसा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था। बुद्धसे लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोंके जबर्दस्त हथियार वेदके कर्मकाड और ज्ञानकाडपर भारी प्रहार हो रहा था। युक्तिके सहारे ज्ञानकाडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिनपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोका प्रहार हुआ, जिससे बचानेकी कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५०० ई०)ने की, किन्तु धर्मकीर्त्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको "उद्योतकरकी बूढी गायोके उद्धार"के लिए कमर बाँधनी पड़ी।

किन्तु युक्तिवादियो (=तार्किको)की सहायतासे वैदिक ज्ञान—और कर्म-काडके ठीकेदारोका काम नहीं चल सकता था, इसलिए बादरायणको ज्ञानकाड (=ब्रह्मवाद) और जैमिनिको कर्मकाडपर कलम उठानी पड़ी। उनके भाष्यकार शबर असगके विज्ञानवादसे परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जबर्दस्त चोट की, जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमासक कुमारिल भट्ट मैदानमें आए।

धर्मकीर्त्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते है, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमासक प्रत्यभिज्ञाको भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते है, हम इन्ही दोनोके बारेमे धर्मकीर्त्तिके विचारोंको लिखेगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम)को सामने देखकर "यह वही (राम) है" ऐसी **प्रत्यभिज्ञा** (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमासकोंकी यह प्रत्यभिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको "यह वही"की कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नही मानते और "स्पष्ट मालूम होनेवाली"के बारेमे धर्मकीर्त्ति कहते है—

"(काटनेपर फिरसे जमे) केशो, (मदारीके नये-नये निकाले) गोलो, तथा (क्षण-क्षण नष्ट हो नई टेमवाले) दीपो मे भी ('यह वही है'यह) स्पष्ट भासित होता है (, किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षत) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके भ्रमवाला अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इसलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नही है।"[1]

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अतिरिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते है। मीमासक "कौन पुरुष यथार्थवक्ता है" इसे जानना असभव समझते हुए कहते है—

(a) **अपौरुषेयता फ़जूल**—"यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नही है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष)के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

---

[1] प्र० वा० ३।५०३–५०५

होनेको जानना अतिकठिन है।"[1]

और फिर—

"(किन्ही) वचनोके झूठे होनेके हेतु (ये अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमे रहनेवाले है, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होते है, और) अ-पौरुषेय सत्यार्थ ।"[2]

इसके उत्तरमे धर्मकीर्त्ति कहते है—

"(किन्ही) वचनोके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमे रहनेवाले है, (इसलिए जो वचन पुरुपके नही है, वह सत्य कैसे हो सकते है, और जो) पौरुषेय (है, वही) सत्यार्थ (हो सकते है)।[3]

"(साथ ही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ 'सीग-पूँछ-गलकम्बलवाला पिड' ऐसा) सकेत (और वह सकेत) पुरुषके ही आश्रयसे रहता (पौरुषेय) है। इस (सकेतके पौरुषेय होने) से वचनोके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठे होनेका दोष सम्भव है।

"यदि (कहो शब्द और अर्थका) सबध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँचके सबधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे सकेतसे) अजान पुरुष को भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) सकेतसे वह (सबध) प्रकट होता है, तो (सकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (सबधको व्यवस्थापित) नही कर सकती।

"यदि (वस्तुत) वचनोका एक अर्थमे नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एक वचनका एक छोड) दूसरे अर्थमे प्रयोग न होता।

"यदि (कहो—एक वचनका) अनेको अर्थों (=पदार्थों) से (वाच्य-वाचक) सबध (स्वाभाविक) है, तो (एक ही वचनमे) विरुद्ध (अर्थों-की) सूचना होगी, (फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है' इस वचनका अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरकका साधन है' भी हो सकता है।[4]

---

[1] प्र० वा० १।२२२
[2] वही १।२२७
[3] वही १।२२७,२२८
[4] वही १।२२७-२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी पिड नही छूटता, क्योकि, "(शब्द-अर्थके सबधको) पुरुष(-सकेत) द्वारा न-सस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोकी ही) बिलकुल निरर्थकता होगी, (क्योंकि शब्दार्थ-सबधके सकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य सबधसे ही जानते है, इससे इन्कार नही किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) सस्कार (होने)को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-सबधको तो पौरुषेय नही माना, किन्तु शब्दार्थ-सबधके सकेतको पुरुष द्वारा ही सस्कार्य मानकर फिर वचनसे मिलनेवाले ज्ञानके सच-झूठ होनेमे सन्देह पैदा कर दिया)।"[1]

और वस्तुत वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते है, वह बिलकुल गलत है।—

"('चूँकि वेद-वचनोके) कर्त्ता (पुरुष) याद नही इसलिए (वह) अपौरुषेय है'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले है! धिक्कार है (जगत्मे) छाये (इस जडताके) अन्धकारको!!"[2]

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए "कोई (कहता है—) 'जैसे यह (आगे-का विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद(के) क्रम (वाले वेद)को नही बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु . . .से सुने बिना नही बोल सकता, और इस प्रकार गुरुओंकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।)"[3]

(किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—"(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवश आदि) ग्रथ भी (गुरु-शिष्यके) सप्रदायके बिना (पढा) जाता नही देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायेगा।"[4]

---

[1] प्र० वा० १।२३३ [2] वहीं १।२४२, २४३
[3] वही १।२४२, २४३ [4] वही १।२४३, २४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके सबधसे हर एक तरहकी बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमासक वेदको अनादि सिद्ध करते है, फिर "वैसा तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियो) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटीसे ब्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रथ) भी अनादि (मानने पडेगे। और) अनादि होनेसे (उन्हे भी वेद) जैसे ही स्वत प्रमाण मानना होगा।"[1]

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा(, क्योंकि इससे तो सब धान बाईस-पसेरी हो जावेगा)।"[2]

(b) अपौरुषेयताकी आड़से कुछ पुरुषोका महत्त्व बढ़ाना— वस्तुत एक दूसरे ही भावसे प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एड-कोने अपौरुषेयताका नारा बुलद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नही है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नही कहते। (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते है, और वे रागादि-युक्त होते है। (उन्ही रागादिमान् पुरुषोके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है! फिर प्रश्न होता है—) वह एक (जैमिनि ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नही, यह भेद क्यो? उस (=जैमिनि)की भाँति पुरुषत्व होते भी किसी तरह किसी (दूसरेको) ज्ञानी तुम क्यो नही मानते?"[3]

(c) अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ—आप कहते है, चूँकि "(पुरुष) स्वय रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नही जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष)मे भी नही (जाना जा सकता, बेचारा) वेद (स्वय तो अपने अर्थको) जतलाता नही, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी? इस (गडबडी)से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुतिका अर्थ 'कुत्तेका मास भक्षण करे' नही है इसमे क्या प्रमाण है?

---

[1] प्र० वा० १।२४८, २४६ [2] वही १।२४६ [3] वही १।३१६

"यदि (कहो,) लोगोंमे बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नही हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले है) उनमे कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोमे 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया है ?

"स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमासको द्वारा किया गया लोक-)रूढिसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (, जैसे स्वर्गका लोकसमत अर्थ है—मनुष्यसे बहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोका वासस्थान, जहाँ अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ है, उसके विरुद्ध मीमासक कहते है, कि वह दु खसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है, उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमासक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रोका पर्याय बतलाते है), फिर उसी तरह 'जुहुयात्'का अर्थ 'कुत्ता-मास खाओ'। सभी तरहके अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दो ('अग्निहोत्र जुहुयात्')मे वैसे ही ('कुत्ता-मास खाओ' इस अर्थकी) कल्पना (भी) मानो।"[1]

अपौरुषेयताका नारा पुरोहितोकी वैसी ही परवचना मात्र है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर "कोई कहे 'यह ठूँठ कहता है कि यह मार्ग है', और दूसरा (पुरुष कहे 'यह मार्ग है' इसे) मै खुद कहता हूँ। (अब आप) इन दोनोकी (वचना और सचाईकी खुद) परीक्षा कर सकते है।"[2]

(d) वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं—वेदका एक वाक्य है "अग्निर्हिमस्य भेषज" (=आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमासक कहते है—"चूँकि 'अग्निर्हिमस्य भेषज' यह वाक्य बिलकुल सत्य (=प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम.'—स्वर्गचाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)"[3]

---

[1] प्र० वा० १।३२०-३२३ [2] वहीं १।३२८ [3] वहीं १।३३३

इसके उत्तरके बारेमे इतना ही कहना है—

"यदि इस तरह (एक बातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है? बहुभाषी (झूठे) पुरुषकी एक बात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नही।"[1]

(e) **शब्द कभी प्रमाण नही हो सकता**—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध है, उन (के साधन)मे वेद (शास्त्र)के त्याग देनेमे (कोई) क्षति नही, और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ है), वह अभी साबित ही नही हो सके है, अत उन)मे वेद (=आगम)का (उपयोग) ही ठीक नही हो सकता, अत (वहाँ इसका) ख्याल ही नही हो सकता (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनो बातोमे वेद या शब्दप्रमाण की गुजाइश नही।)"[2]

"किसने यह व्यवस्था (=कानून) बनाई कि 'सभी (बातो)के बारेमे विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद)को लेना चाहिए (और) (वेदके) सिद्धातको न जाननेवालेको धुआँ देख आग (होने की बात) न ग्रहण करनी चाहिए।'

"(वेदके फदेसे) रहित (वेद-वचनोके) गुण या दोपको न जानने-वाले सहज प्राणी (=सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता रूपी) ये सिद्धात विकट पिशाच किसने थोपे?"[3]

अन्तमे धर्मकीर्त्तिने मीमासकोके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोको छोड "अपौरुषेय वेद"के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी बातपर जोर देनेका जबर्दस्त खडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जब पतिने उसे डाटा, तो उसने पासकी स्त्रियोको सबोधन करके कहा,—'देखनी हो बहिनो! मेरे पतिकी बेवकूफीको? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (=शब्द-प्रमाण)पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोके दो बुलबुलो (=प्रत्यक्ष और अन्-

---

[1] प्र० वा० १।३३८　　[2] वही ४।१०६　　[3] वहीं १।५३,५४

मान)पर विश्वास करता है' ।"[1]

(५) अ-हेतुवाद खंडन—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमे कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नही मानते। इस्लामिक दार्शनिकोमे अश-अरीने कार्य-कारण नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामे भारी बाधा समझा, और इसे एक तरह भौतिकवादकी छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोके पैदा होनेमे कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नही, अल्ला मियाँ हर वस्तुको हर वक्त बिलकुल नई—असत्से सत्के रूपमे—बनाते है। अश्अरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी है, जो विश्वकी वस्तुओकी रचनामे किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नही मानते। वह कहते है, चीजे न किसी कारणसे बनती है, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिमे सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती है। वह कहते है—

"(जैसे) कॉटे आदिमे तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नही, उसी तरह (जगत्मे) यह सब कुछ बिना कारण (अ-हेतुक) है।"[2]

धर्मकीर्त्ति उत्तर देते है—

"जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमे) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारसे (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह इन (कॉटो)मे भी है।"[3]

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिल्कुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते है, किन्तु वह उन्हे क्षण-विनाशी विन्दुओके प्रवाहका एक विन्दु मानते है, और इस प्रकार कोई वस्तु-विन्दु ऐसा नही, जिसका पूर्व- और पश्चाद्-गामी विन्दु

---

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना 'परेण संगता त्वमि'त्युपालब्धाऽऽह—'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वनेत्रबुद्बुदयोः प्रत्येति' ।"

[2] प्र० वा० २।१८०-१८१ [3] वहीं २।१८१-१८२

न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है, यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु)के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको सावित करता है। जवतक विश्वमे सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्तिका नियम विद्यमान है, तवतक अहेतुवाद विलकुल गलत माना जायेगा।

(६) **जैन अनेकान्तवादका खंडन**—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके है। इस वादके अनुसार घडा घडा भी है और कपडा भी, उसी तरह कपडा कपडा भी है और घडा भी। इसपर धर्मकीर्त्तिका आक्षेप है—

"यदि सव वस्तु (अपना और अन्य) दोनो रूप है, तो (दही दही ही है, ऊँट नहीं, अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नही, इस तरह दहीमे) उसकी विशेषताको इन्कार करनेसे (किसीको) 'दही खा' कहनेपर (वह) क्यो ऊँटपर नही दौडता ? (—आखिर ऊँटमे भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही मे)।

"यदि (कहो, दहीमे) कुछ विशेपता है, जिस विशेपताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नही, तव तो) वही विशेपता अन्यत्र भी है, यह (वात) नही रही, और इसीलिए (सव वस्तु) दोनो रूप नही (वल्कि अपना ही अपना है, और)पर ही (पर है)।"[1]

धर्मकीर्त्तिके दर्शनके इस सक्षिप्त विवरणको उनकेही एक पद्यके साथ हम समाप्त करते है—

"वेद (=ग्रथ)की प्रमाणता किसी (ईश्वर)का (सृष्टि-)कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने)मे धर्म(होने)की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी वडी जाति-पाँत)का घमड, और पाप दूर करनेके लिए

[1] प्र० वा० १।१८०-१८२

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याए करना)—ये पाँच है, अकल-मारे (लोगो)की मूर्खता (=जडता)की निशानियाँ।"[1]

---

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३४२—
"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप.।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञाना पंच लिंगानि जाड्ये ॥"

एकोनविंश अध्याय

गौडपाद और शंकर

(सामाजिक परिस्थिति)—धर्मकीर्त्तिके बाद हम शान्तरक्षित, कमलशील ज्ञानश्री जैसे महान् बौद्ध दार्शनिकोको पाते है। वैसे ही ब्राह्मणोमे भी शकरके अतिरिक्त और कई बातोमे उनसे बढचढकर उदयन, गगेश जैसे नैयायिक, तथा पार्थसारथी जैसे मीमासक और वाचस्पति, श्रीहर्ष एव रामानुज जैसे वेदान्ती दार्शनिक हुए है। इनसे भी महत्त्वपर्ण स्थान काश्मीरके शैव दार्शनिक वसुगुप्तका है जिन्होने बौद्धोके विज्ञानवादको तोडे-मरोडे विना, उसे स्पन्द करनेवाले (=लहरानेवाले) क्षणिक विज्ञानके रूप ही मे ले लिया, और बौद्धोके **आलय-विज्ञान** (=समष्टिरूपेण विज्ञान)को शिव नाम देकर अपने दर्शनकी नीव रखी। इन दार्शनिकोके बारेमे लिखकर हम ग्रथको और नही बढाना चाहते, क्योकि अभी ही इसके पूर्वनियत आकारको हम बढा चुके है, और एकाध जगह ग्रथका जरूरतसे ज्यादा विस्तार करनेमे हम इसलिए भी मजबूर थे, कि वह विषय हिन्दीमे अभी आया नही है। अतमे हम अद्वैत वेदान्तके सस्थापक दार्शनिकोके बारेमे लिखे विना भारतीय दर्शनसे विदाई नही ले सकते।

उपनिषद्के दार्शनिको और बादरायणका क्या मत था, इसके बारेमे हम पहिले काफी लिख चुके है, वहाँ यह भी जिक्र आ चुका है, कि उन दार्शनिकोके विचारोको विशिष्टाद्वैती (भूत–चेतन-सहित-ब्रह्म-वादी) रामानुज अपेक्षाकृत अधिक ईमानदारीसे प्रकट करते है, हा, बादरा-यणके दोषोको कुछ बटाचढाकर लेते हुए। बादरायणने खुद दूसरे दर्शनो और विशेषकर बौद्धोके प्रहारसे उपनिषद्-दर्शनको बचानेके लिए अपना

ग्रथ लिखा था। न्याय-वैशेषिकके **वाद**[१] चल रहे थे, उनके खिलाफ बौद्धोंका **प्रतिवाद**[२] जारी हुआ, उपनिषद्-वेदान्तका वाद चल रहा था और उसका प्रतिवाद[३] बौद्ध कर रहे थे। सदियों तक वाद-प्रतिवाद चलते रहे, और दोनोसे प्रभावित एक तीसरा वाद—सवाद—न पैदा हो, यह हो नही सकता था। पुराने न्याय-वैशेषिक वादो तथा दिग्नाग धर्मकीर्त्ति के प्रतिवादोसे मिलाकर गगेश (१२०० ई०)को हम एक नये तर्कशास्त्र (=नव्य-न्याय, तत्त्वचिन्तामणि)के रूपमे **संवाद** उत्पन्न करते देखते है, जिसमे पुराने न्याय-वैशेषिककी बहुत सी कमजोर बातोको छोडनेका प्रयत्न किया गया है। वसुगुप्तने तो अपने शैवदर्शनमे ब्राह्मणोके ईश्वर(=शिव) और बौद्धोके क्षणिक विज्ञानको ले एक अलग **संवाद** तैयार किया। उपनिषद् और वादरायणकी परम्परामे भी वाद, प्रतिवाद बिना अपना प्रभाव जमाए नही रह सकते थे, और इसीका नतीजा था, गौडपादका बुद्धके अनुचर-दार्शनिको नागार्जुन और असगकी शरणमे जाना। गौडपाद असगको न छोडते हुए भी नागार्जुनके शून्यवादके बहुत नजदीक है, और "द्विपदाबर" (मनुष्योमे श्रेष्ठ) "सबुद्ध" के प्रति अपनी भक्ति खुले शब्दोमे प्रकट करते है। उनके अनुयायी (प्रशिष्य ?) शकर असगके नजदीक है, और साथ ही इस बातकी पूरी कोशिश करते है, कि कोई उन्हे बौद्ध न कह दे।

शकर उस युगके थोडे बाद पैदा हुए, जिसमे कालिदास-भवभूति-वाण जैसे कवि, दिग्नाग-उद्योतकर-कुमारिल-धर्मकीर्त्ति जैसे दार्शनिक हुए। राजनीतिक तौरसे यह उस युगका आरभ था, जब कि भारत पतन और चिर-दासता स्वीकार करनेकी जोरसे तैयारी कर रहा था। हर्षबर्धनका केन्द्रीकृत महान् साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था और पुराने ग्रामीण प्रजातत्र और कबीले (=प्रान्तो)तथा जातियोकी प्रतिद्वदितामे पलती मनोवृत्ति आन्तरिक विग्रहको प्रोत्साहन तथा बाहरी आक्रमणको निमत्रण दे रही थी। हम इस्लामिक दर्शनके प्रकरणमे बतला चुके है,

---

[१] Thesis. [२] Antithesis. [३] Synthesis.

कि कैसे सातवी सदीके दूसरे पादमे दुनियाकी दो खानाबदोश पशुपालक जातियाँ—तिब्बती और अरब—अपने निर्भीक, निष्ठुर तथा बहादुर योद्धाओको सगठित कर एक मजबूत सैनिक शक्ति बन, सभ्य किन्तु पुरुष-हीन देशोको परास्त कर उनके सर्वस्वपर अधिकार जमानेके लिए दौड पडे। गौडपाद और शकरका समय वह था, जब कि अरब और तिब्बतका पहिला जोश खतम हो गया था, और स्रोङ-चन्-गम्बो (६३० ६९८ ई०) तथा खलीफा उमर (६४२-४४ ई०)की विजयी तलवारे अपने म्यानोमे चिर-विश्राम कर रही थी और उनके सिहासनोको ठि-स्रोङ-दे-चन् (८०२-४५ ई०) तथा खलीफा मामूँन् (८१३-३३ ई०) जैसे कोमल-कला और दर्शनके प्रेमी अलकृत कर रहे थे। मामूँन्के समय अरबी भाषाको जिस तरह समृद्ध बनाया जा रहा था, ठि-स्रङ-दे-चन्के समय उसी तरह भारतीय बौद्ध साहित्य और दर्शनके अनुवादोमे तिब्बती भाषा मालामाल की जा रही थी। यही समय था जब कि नालदाके दार्शनिक शान्त-रक्षित—जो कि वस्तुत अपने समयके भारतके अद्वितीय दार्शनिक थे—आखिरी उम्रमे तिब्बतमे जा उस बर्बर जातिको दु खवादी दर्शनके साथ सभ्यताकी मीठी घूँट देकर सुलाना चाहते थे। फर्क इतना था जरूर कि अरबोकी तलवारको बगदादमे ठडी पडते देख, उसे उठानेवाले (मगको-वासी) बर्बर तथा मध्य-एसियाके तुर्क, मुगल जैसी जातियाँ मिल जाती है, क्योकि वहाँ इस्लामकी व्यवहारवादी शिक्षा तथा एक 'खास उद्देश्य'के लिए जगत्-विजय-आकाक्षा थी, लेकिन बेचारे स्रोङ-चन्की तलवारके साथ वैसा "खास उद्देश्य" न होनेसे वह किसी दूसरेको अपना भार वहन करने-के लिए तैयार नही कर सकी।

बगदादमे अरबी तलवारका जो शान्ति-होम किया जा रहा था, उनके पुरोहितोमे कुछ भारतीय भी थे, जिन्होने अरबोको योग, गणित, ज्योतिष, वैद्यकके कितने ही पाठ पढाये, किन्तु जैसा कि मैने अभी कहा, वह शान्त नही हुई, उसने सिर्फ हाथ बदला और किसी अरबकी जगह महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी जैसे तुर्कोके हाथमे पडकर भारतको भी अपने पजेमे दबोचा।

यह वह समय था, जब कि भारतमे तंत्र-मंत्रका जबर्दस्त प्रचार हो रहा था, और राजा धर्मपाल (७६८-८०९)के समकालीन सरहपाद (८०० ई०) जैसे तांत्रिक सिद्ध अपनी सिद्धियों और उनसे बढकर अपनी मोहक हिन्दी-कविताओंसे जनता और शासकवर्गका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। शताब्दियोंसे धर्म, सदाचारके नामपर "मानव"की अपनी सभी प्राकृतिक भूखों—विशेषकर यौन सुखों—के तृप्त करनेमे बाधा-पर-बाधा पहुँचाई जाती रही। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रहके यशोगान, दिखावा तथा कीर्ति-प्रलोभन द्वारा भारी जन-संख्याको इस तरहके अप्राकृतिक जीवनको अपनानेके लिए मजबूर किया जा रहा था। इसीका नतीजा था, यह तंत्र-मार्ग, जिसने मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा (शराबके प्याला रखने आदिके लिए हाथ द्वारा बनाए जानेवाले खास चिह्न)—इन पाँच मकारोको मुक्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाना शुरू किया। लोग बाहरी सदाचारके डरसे इधर आनेमे हिचकिचाते थे, इसलिए उसने डबल (=दुहरे) सदाचारका प्रचार किया—भैरवी-चक्रमे पंच मकार ही महान् सदाचार है, और उससे बाहर वह आचार जिसे लोग मानते जा रहे है। एक दूसरेसे बिलकुल उलटे इस डबल सदाचारके युगमे यदि शंकराचार्य जैसे डबल-दर्शन-सिद्धान्ती पैदा हो, तो कोई आश्चर्य नही।

आर्थिक तौरपर देखनेसे यह सामन्तो-महन्तो और दासो-कम्मियोका समाज था। इनके बीचमे बनिया और साहूकार भी थे, जिनका स्वार्थ शासक—सामन्त-महन्त—से अलग न था और उन्हीकी भाँति यह भी डबल सदाचारके शिकार थे। शासक और सम्पत्तिमान् वर्ग विलासके नये-नये साधनोंके आविष्कारोमे तथा दास-कम्मी वर्गके अपने खून-पसीने एक कर उसे जुटानेमे लगा था।—एक खाते-खाते मरा जा रहा था, दूसरा भूखसे तड़फते-तड़फते, एक ओर अपार ऐश्वर्य-लक्ष्मी हँस रही थी, दूसरी ओर नंगी-भूखी जनता कराह रही थी। यह नाटक दिल रखनेवाले व्यक्तिपर चोट पहुँचाए बिना नही रह सकता था; और चोट खाया दिल दिमागको कुछ करनेके लिए मजबूर कर सकता था। इसलिए दिल-दिमागको बेकाबू न होने देनेके

लिए एक भूल-भुलैयाकी जरूरत थी, जिसे कि इस तरहके और समयोमे पहिले भी पैदा किया जाता रहा और अब भी पैदा किया जा रहा है। गौडपाद तथा शकर भी उसी भूल-भुलैयाके वाहन बने।

§ १—गौडपाद (५०० ई०)

१. जीवनी—शकरके दर्शनके मूलको ढूँढनेके लिए हमे उनके पूर्व-गामी गौडपादके पास जाना होगा। शकरका जन्म ७८८ ई० और मृत्यु ८२० ई० है। म० म० विधुशेखर भट्टाचार्यने (The Āgamaśāstra of Gaudapåda)मे गौडपादका समय ईसाकी पाचवी सदी ठीक ही निश्चित किया है। गौडपादके जीवनके बारेमे हमे इससे ज्यादा कुछ नही मालूम है, कि वह नर्मदाके किनारे रहते थे। नर्मदा मध्यप्रान्त, मालवा और गुजरात तक बहती चली गई है, इसलिए यह भी कहना आसान नही है, कि गौडपादका निवास कहाँपर था।

२. कृतियाँ—गौडपादकी कृतियोमे सबसे बडे शकर ही है, जिनके दीक्षा-गुरु यद्यपि गोविद थे, किन्तु निर्माता निस्सदेह गौडपाद थे, किन्तु उनके अतिरिक्त गौडपादका एक दर्शन-ग्रथ आगम शास्त्र या माण्डूक्य-कारिका है। ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिकापर भी गौडपादकी एक छोटीसी टीका (वृत्ति) है, किन्तु वह मामूली तथा बहुत कुछ माठर वृत्तिसे ली गई है। माण्डूक्य-कारिकामे चार अध्याय है, जिनमे पहिला अध्याय ही माण्डू-क्य-उपनिषद्से सबध रखता है, नही तो बाकी तीन अध्यायोमे गौडपादने अपने दार्शनिक विचारोको प्रकट किया है।

गौडपादका माण्डूक्य-उपनिषद्पर कारिका लिखना बतलाता है कि वह उपनिषद्को अपने दर्शनमे सबद्ध मानते है, लेकिन साथ ही वह छिपाना नही चाहते, कि बुद्ध भी उनके लिए उतने ही श्रद्धा और सम्मानके भाजन है। चौथे अध्याय ("अलातशान्ति-प्रकरण' जो कि वस्तुत बौद्ध विज्ञानवादका एक स्वतत्र प्रकरण ग्रथ है) की प्रारभिक

कारिकामे ही वह कहते है—"मैं द्विपद्-वर[1] (=मनुष्य-श्रेष्ठ)को प्रणाम करता हूँ, जिसने अपने आकाश जैसे विस्तृत ज्ञानसे जाना (=सबुद्ध किया), कि सभी धर्म (=भाव, वस्तुए) आकाश-समान (=गगनोपम) शून्य है।" इसी प्रकरणकी १९वीं कारिकामे फिर बुद्धका नाम लिया गया है।[2] इसके अतिरिक्त भी उन्होने बुद्धके उपदेश करनेकी बात दूसरी कारिका (४।२)मे की है। ४२वी (४।४२) कारिकामे वह फिर बुद्ध और ९०वींमे "अग्रयान" (=महायान)का नाम लेते है। ९८वी और ९९वीमे बुद्धका नाम ले (नागार्जुनकी भाँति) कहते है कि सभी वस्तुये स्वभावत शुद्ध अनावृत्त है, इसे बुद्ध और मुक्त जानते है। अन्तिम कारिका (४।१००) मे वह फिर पर्यायसे बुद्धकी वदना करके अपने ग्रंथको समाप्त करते है।

शकरने माण्डूक्य-उपनिषद्पर भाष्य करते हुए इन स्पष्ट बौद्ध प्रभावोको हटानेकी निष्फल चेष्टा की है।

गौडपादका माडूक्य-उपनिषदको ही कारिका लिखनेके लिए चुनना खास मतलबसे मालूम होता है। (१) माण्डूक्य एक बहुत छोटी सिर्फ पच्चीस पक्तिकी उपनिषद् है, जिससे वहाँ उन्हे अपने विचारोको ज्यादा स्वतत्रतापूर्वक प्रकट करना आसान था, (२) माण्डूक्यमे सिर्फ ओम् और उसके चारो अक्षरोसे आत्मा (=जीव)की जाग्रत आदि चार अवस्थाओका वर्णन किया गया है, यह ऐसा विषय था, जिसमे उनके माध्यमिक-योगाचारी विचारोके विकृत होनेकी सभावना न थी, (३) इसमे आत्माके लिए अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य आदि जो विशेषण आए है, वह नागार्जुनके माध्यमिक-तत्त्वपर भी लागू होते है। गौडपादकी चेष्टा थी, बौद्ध दर्शनका पलडा भारी रखते हुए उपनिषद्से उसका सबध जोडना। शून्यवादके अपनानेमे उन्हे क्षणिक

---

[1] बौद्धोंके संस्कृत-और पालि-साहित्यमें द्विपदोत्तम, या दिपदुत्तम शब्द बुद्धके लिए आता है। देखो "आगमशास्त्र" (म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य-संपादित, कलकत्ता १९४३) [2] "सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता।"

अ-क्षणिकके झगडेमे पडनेकी जरूरत न थी। शकरने भी बौद्ध दार्शनिक विचारोसे पूरा फायदा उठाया, किन्तु वह उसे सोलहो आने उपनिपद्‌की चीज बनाकर वैसा करना चाहते थे। हाँ, साथ ही वह उसे बुद्धिवादके पास रखना चाहते थे, इसलिए उन्हे योगाचारके विज्ञानवादको अपनाना पडा, किन्तु, विज्ञान (=चित)-तत्त्व की घोपणा करते हुए उन्हे क्षणिक, अक्षणिकमेसे एक चुनना था, शकरने अ-क्षणिक (=नित्य) चित्त-तत्त्व स्वीकार कर अपनेको शुद्ध ब्राह्मण दार्शनिक साबित करनेका प्रयत्न किया।

३. दार्शनिक विचार—यहाँ हमे गौडपादके उन विचारोमेसे कुछके बारेमे कहना है, जिनको आधार बनाकर शकरने अपने दर्शनकी इमारत खडी की।

जगत् नही—"कोई वस्तु न अपने से जनमती न दूसरेसे ही, (जो) कोई वस्तु विद्यमान, अविद्यमान या विद्यमान-अविद्यमान है, वह (भी) नही उत्पन्न होती।"[1] जो (वस्तु) न आदिमे है, न अन्तमे, वह वर्तमान-कालमे भी वैसी ही है, झूठेकी तरह होती वह झूठी ही दिखाई पडती है।"[2]

सब माया—"वस्तुये जो जनमती कही जाती है, वह भ्रमसे ही न कि वस्तुत.। उनका जन्म मायारूपी है, और मायाकी कोई सत्ता नही।"[3] "जैसे स्वप्नमे चित्त मायासे (द्रष्टा और दृश्य) दो रूपो मे गति करता है, वैसे ही जाग्रतमे भी चित्त मायासे दो रूपोमे गति करता है।"[4]

जीव नही—"जैसे स्वप्नवाला या मायावाला जीव जनमता और मरता (सा दीखता है) उसी तरह ये सारे जीव 'है' भी और 'नही' भी है।"

परमतत्त्व—"बाल बुद्धि (पुरुप) 'है,' 'न-है,' 'है-न है' और 'न-है-न-न है' इन (चारो कोटियो) मे चल, स्थिर, चल-स्थिर, नचल-नस्थिर-के तौरपर (वास्तविकताको) छिपाते है। इन चारो कोटियोकी पकडमे

---

[1] आगमशास्त्र ४।२२ [2] वही ४।३१ [3] वही ४।५८
[4] वही ४।६१ [5] वही ४।६८-६९

भगवान् (=परमतत्त्व) सदा ढँके उन्हे नही छुवाई देते। जिसने उसे देख लिया वही सर्वद्रष्टा है।"[1]

शकरके सारे मायावादकी मौलिक सामग्री यहाँ मौजूद है। और विज्ञानवाद?—[2]

"जैसे फिरती बनेठी सीधी या गोल आदि दीखती है, वैसे ही विज्ञान द्रष्टा और दृश्य जैसा दीखता है।"[2]

गौडपाद मानते है कि (१) एक अद्वय (विज्ञान) तत्त्व है जो शकरके ब्रह्मकी अपेक्षा नागार्जुनके शून्यके ज्यादा नजदीक है, (२) जगत् माया और भ्रम मात्र है, (३) जीव नही है, जन्म, मरण, और कर्म-भोग किसीको नही होता। ये विचार "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या जीव ब्रह्म ही है"[3] से काफी अन्तर रखता है, और वह अन्तर बौद्ध शून्यवादके पक्षमे है।

§२–शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)

१. जीवनी—शकरका जन्म ७८८ ई०मे मलावार (केरल) मे एक ब्राह्मण कुलमे हुआ था। अभी शकर गर्भमे ही थे कि उनके पिता शिवगुरुका देहान्त हो गया, और उनके पालन-पोषण तथा बाल्य-शिक्षाका भार माताके ऊपर पडा। यह वह समय था जब कि बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी धर्म अधिकसे अधिक लोगोंको साधु बनानेकी होड लगाए हुए थे। आठ वर्षके बालक शकरके ऊपर किसी सन्यासी गोविन्दकी नजर पडी, और उन्होने उसे चेला बनाया। जैसा कि पहिले कह चुके है, गोविन्दके दीक्षागुरु होनेपर भी शकरके "शिक्षागुरु" गौडपाद बतलाये जाते है। एकसे अधिक शकर-दिग्विजयोमे शकरके भारी भारी शास्त्रार्थो, उनकी दिव्य प्रतिभा और

---

[1] वही ४।८३, ८४; तुलना करो "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः।"—सर्वदर्शन संग्रह (बौद्ध-दर्शन)। [2] आगम० ४।४७

[3] "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

चमत्कारोका जिक्र है, किन्तु हर एक धर्ममे अपने आचार्यके बारेमे ऐसी कथाएँ मिलती हैं। हम निश्चित तौरसे इतना ही कह सकते हैं, कि शकर एक मेधावी तरुण थे, बत्तीस वर्षकी कम आयुमे मृत्युके पहिले वेदान्त और दस प्रधान उपनिषदोपर सुन्दर और विचारपूर्ण भाष्य उनकी प्रतिभाके पक्के प्रमाण है। शास्त्रार्थके बारेमे हम इतनाही कह सकते है, कि शकरके समकालीन शान्तरक्षित ही नही, उनके बादके भी कमलशील (८५० ई०), जितारि (१००० ई०) जैसे महान् दार्शनिक उनके बारेमे कुछ नही जानते। जान पडता है, बौद्धोके तर्कशसे कुछ बाणोको लेकर शकरने अलग एक छोटा सा शस्त्रागार तैयार किया था, जिसका महत्त्व शायद सबमे पहिले वाचस्पति मिश्र[1] (८४१ ई०)को मालूम हुआ, किन्तु वह तब तक गुमनाम ही पडा रहा, जब तक कि तुर्कोके आक्रमणसे त्राण पानेके लिए बौद्ध-दर्शनके नेताओने भारतको छोड हिमालय और समुद्रपारके देशोमे भाग जाना नही पसन्द किया। हाँ, इतना कह सकते हैं, कि बौद्ध भारतके अन्तिम प्रधान आचार्य या सघराज शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)के भारत छोडने (१२०६ ई०)से पहिले शकरको श्रीहर्ष[2] (११९८ ई०) जैसा एक और जबर्दस्त वरदान मिल चुका था।

२ शंकरके दार्शनिक विचार—शकरने वैसे तो अपने विचारोकी छाप अपने सभी ग्रथोपर छोडी है, किन्तु वेदान्तसूत्रके पहिले चार सूत्रो (चतु सूत्री)के भाष्यमे उन्होने अधिक स्वतत्रताके साथ काम लिया है। बौद्धोके सवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य को अपना मुख्य हथियार बनाकर ब्रह्मको ही एकमात्र (=द्वैत) सत् पदार्थ मानते हुए उन्होने व्यवहार-सत्यके तौरपर सभी बुद्धि और अ-बुद्धि-गम्य ब्राह्मण-सिद्धातोको स्वीकार किया।

---

[1] शकरके वेदान्त-भाष्यकी टीका (भामती)के रचयिता।

[2] शकरके सिद्धान्तपर, किन्तु गौडपादकी भाँति नागार्जुनके शून्यवाद-से अत्यन्त प्रभावित-ग्रथ "खडन-खड-खाद्य"के रचयिता तथा कनउज-अधिपति जयचदके सभा-पडित।

(१) **शब्द स्वतः प्रमाण**—शब्द ही स्वत प्रमाण है, दूसरे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण शब्द (=वेद) की कृपासे ही प्रमाण रह सकते है—मीमासकोकी इस अंध-पकडको व्यवहारमे शकर भी उसी तरह मानते है; एक तार्किक किसी बातको अपने तर्कबलसे सिद्ध करता है, दूसरा अधिक तर्क-कुशल उसे गलत साबित कर दूसरी ही बातको सिद्ध कर देता है; इस तरह तर्कसे हम किसी स्थिर स्थानपर नही पहुँच सकते। सत्यकी प्राप्ति हमे सिर्फ उपनिषद्से ही हो सकती है। तर्क युक्तिको हम सिर्फ उपनिषद्के अभिप्रायको ठीकसे समझनेके लिए ही इस्तेमाल कर सकते है। शकरके अनुसार वेदान्त-सिद्धान्तोकी सत्यता तर्क या युक्ति (=बुद्धि)पर नही निर्भर करती, बल्कि वह इसपर निर्भर है कि वह उपनिषत्-प्रतिपादित है। इस प्रकार प्रमाणके बारेमे शकरके वही विचार थे, जो कि जैमिनि और कुमारिल के, और जिनके खडनमे धर्मकीर्तिकी युक्तियोको हम उद्धृत कर चुके है।

(२) **ब्रह्म ही एक सत्य**—अनादि कालसे चली आती अविद्या (=अज्ञान)के कारण यह नाना प्रकारका भेद प्रतीत होता है, जिससे ही यह जन्म जरा, मरण आदि सासारिक दु ख होते है। इन सारे दु खोकी जड काटनेके लिए सिर्फ "एक आत्मा ही सत् है" यह ज्ञान जरूरी है। इसी आत्माकी एकता या ब्रह्म-अद्वैतके ज्ञानके प्रतिपादनको ही शकर अपने ग्रथका प्रयोजन बतलाते है।[1] वह ब्रह्म सत् (=अस्तित्व)-मात्र, चित् (=चेतना) और आनन्द-स्वरूप है। सत्-चित्-, आनन्द-स्वरूपता उसके गुण है और वह उनका गुणी। यह बात ठोक नही; क्योकि गुण-गुणीकी कल्पना भेद—द्वैत—को लाती है, इसलिए वह किसी विशेषण—गुण—से रहित निर्विशेष चित्-मात्र है। सभी मानसिक और शारीरिक वस्तुए विलीन, परिवर्तित होती जाती है, और उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय परम-सत् बना रहता है। दूसरे सारे दर्शन प्रमाणोकी खोजमे है, जिसमे कि वे बाहरी वस्तुओकी सत्यताका पता लगा सके, किन्तु वेदान्त बाहरी दृश्यों (=वस्तुओ)की तहमे जो चरम

---

[1] शंकर वेदान्त-भाष्य १।३।१७

परम-सत्य है, उसकी खोज करता है, इसीलिए वेदान्तके सामने दूसरे शास्त्र तुच्छ है।[1]

(३) **जीव और अविद्या**—ब्रह्म ही सिर्फ एक तत्त्व है, भेद—नानापन—का ख्याल गलत है, इसे मान लेनेपर उससे भिन्न कोई ज्ञाता—जीव—का विचार ठीक नही रहता। "मै जानता हूँ"—यहाँ जाननेवाले "मै" का जो अनुभव हमे होता है, उससे जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है, यह कहना ठीक नही है। इस तरहका अनुभव तथा उससे होनेवाले जीवका ज्ञान केवल भ्रान्तिमात्र है, उसी तरह जैसे सीपमे चाँदी, रस्सीमे साँप, मृगतृष्णावाले बालूमे जलका प्रत्यक्ष-अनुभव तथा ज्ञान भ्रान्तिके सिवा कुछ नही। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयके भेदोको छोड सिर्फ अनुभवमात्र हम ले सकते है, क्योकि भेदके आदि और अन्त भी न होनेसे, वर्तमानमे भी अस्तित्व न रखनेके कारण अनुभव मात्र ही तीनो कालोमे एकसा रहता है, फिर अनुभवमात्र—सत्तामात्र—ब्रह्म ही है। अतएव ब्रह्मके अतिरिक्त भेद-प्रतिपादक "मै मनुष्य हूँ" इस तरहका मनुष्यता आदिसे युक्त पिडमे ज्ञाताका ख्याल केवल अध्यास (=भ्रम)मात्र है। ज्ञाता उसे कहते है, जो कि ज्ञानकी क्रिया करता है। क्रिया करनेवाला निर्विकार नही रह सकता, फिर ऐसे विकारी जीवकी सारे विकारोके बीच एकरस, साक्षी, चित-मात्र तत्त्वमे कहा गुंजाइश हो सकती है? फिर ज्ञेय (=बाहरी पदार्थो)के बिना किसीको ज्ञाता नही कह सकते। आगे बतायेगे कि ज्ञेय, दृश्य, जगत् सिर्फ भ्रममात्र है। "मै जानता हूँ" यह अनुभव सब अवस्थामे नही होता, सुषुप्ति (=गाढ निद्रा) और मूर्च्छामे उसका कही पता नही रहता, किन्तु आत्माका अहं-रहित अनुभव उस वक्त भी होता है, इसलिए अहंका ख्याल तथा उससे

---

[1] "तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केसरी।"

(तब तक ही दूसरे शास्त्र जगलमें स्यारकी तरह गर्जते है, जब तक कि महाबली वेदान्त-सिह नही गर्जता।)

जीवकी कल्पना गलत है। दर्पणखडमे मुख या चन्द्रमाका प्रतिबिब दिख-लाई पडता है, किन्तु सभी जानते है, कि वहाँ मुख या चन्द्रमा नही है, वह भ्रम मात्र है, इसी तरह चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्ममे 'अह' या ज्ञाताका ख्याल सिर्फ भ्रम, अविद्या है। वस्तुत ब्रह्ममे ज्ञाता—जीव—के ख्यालकी जननी यही अविद्या है—ब्रह्मपर पडा अविद्याका पर्दा जीवको उत्पन्न करता है।

सवाल हो सकते है—ब्रह्मके अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्वको न स्वीकार करनेवाले अद्वैती वेदान्तियोके यहाँ अविद्या कहाँसे आ गई ? अविद्या अज्ञान-स्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप, दोनो प्रकाश और अन्धकारकी भाँति एक दूसरेके अत्यन्त विरोधी एव एक दूसरेके साथ न रह सकनेवाले है, फिर ब्रह्मपर अविद्याका पर्दा डालना वैसे ही हुआ, जैसे प्रकाशपर अधकारका पर्दा डाला जाय। वस्तुजगत्के सर्वथा अपलापसे इन और ऐसे हजारो प्रश्नोका उत्तर अद्वैती सिर्फ यही दे सकते है, कि सत्य वही है, जिसे कि उपनिषद् बतलाते है। इसपर धर्मकीर्त्तिकी आँखोके दो बुल-बुलेवाली वात याद आ जाती है।

(४) जगत् मिथ्या—प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होता है कि दृश्य जगत् है, किन्तु वर्तमानमे ही। उसकी परिव-र्तनशीलता बतलाती है, कि वह पहिले न था, न आगे रहेगा। इस तरह उसका अस्तित्व सब कालमे है, यह तो स्वय गलत हो जाता है—"आदौ अन्ते च यत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।" वस्तुत जगत् तीनो कालमे नही है। "जगत् है" मे जगत्की कल्पना भ्रान्तिमूलक है, और "है" (=सत्) ब्रह्मका अपना स्वरूप है। "है" (=सत्) न होता, जो जगत्का भान न होता, इसलिए जगत्की भ्रान्तिका अधिष्ठान (=भ्रम-स्थान) ब्रह्म है, उसी तरह जैसे साँपकी भ्रान्तिका अधिष्ठान रस्सी, चाँदीकी भ्रान्तिका अधिष्ठान सीप।

(५) माया—"आदि अन्तमे नदारद वर्तमानमे भी वैसा" के अनु-सार, यह जगत् वस्तुत है ही नही, फिर यह प्रतीत (=प्रत्यक्ष अनुमानसे

ज्ञात) क्यो हो रहा है ?—यही तो माया है। मदारी ढेर-के-ढेर रुपए बनाता है, किन्तु क्या वह वास्तविक रुपए है, यदि ऐसा होता तो उसे तमाशा दिखलाकर एक-एक पैसा माँगनेकी जरूरत न पडती। वह रुपए क्या है ?—माया, मायाके अलावा कुछ नही। जगत् भी माया है। माँ भी माया, बाप भी माया, पत्नी भी माया, पति भी माया, उपकार भी माया, अपकार भी माया, गरीबकी कामसे पिसती भूखसे तिलमिलाती अँतडियाँ भी माया, निकम्मे अमीरकी फूली तोद और ऐंठी मूछे भी माया, कोडोसे लो -लोहान तडफता दास भी माया और बेकसूरपर कोडे चलानेवाला जालिम मालिक भी माया, चोर भी माया साहु भी माया, गुलाम हिन्दुस्तान भी माया, स्वतत्र भारत भी माया, हिटलरकी हिसा भी माया, गाँधीकी अहिसा भी माया, स्वर्ग भी माया, नर्क भी माया, धर्म भी माया, अधर्म भी माया, बधन भी माया, मुक्ति भी माया, । जगत् जादू है, माया है और कुछ नही।

यह है शकरका मायावाद, जो कि समाजकी हर विषमता हर अत्याचारको अक्षुण्ण, अछूता रखनेके लिए जबर्दस्त हथियार है।

माया ब्रह्ममे कैसे लिपटती है ?—शकर इस प्रश्नहीको गलत बतलाते है। लिपटना वस्तुत है ही नही, कूटस्थ एक-रस ब्रह्मपर जब उसका कोई असर हो, तब तो उसे लिपटना कहेगे। मायामे कोई वास्तविकता नही, यह तो अविद्याके सिवाय और कुछ नही, और जैसे ही सत्य (=अद्वैत-ब्रह्म)का साक्षात्कार होता है वैसे ही वह विलीन हो जाती है। माया क्या है ?—इसका उत्तर सिर्फ यह दे सकते है कि वह अनिर्वचनीय (=अ-कथ) है। वस्तु न होनेसे उसे सत् नही कह सकते, जगत् जीव, आदिके भेदोकी प्रतीति होती है, इससे उसे बिलकुल असत् भी नही कह सकते, इस तरह उसे सत् और असत् दोनोसे अ-निर्वचनीय (=अ-कथनीय) कह सकते है।

(६) मुक्ति—परमार्थत पूछनेपर शकर बधन और मुक्तिके अस्तित्वमे इन्कार करते है, किन्तु उस कालके तान्त्रिकोंके [illegible]

सदाचारकी भाँति वह अपने दर्शनके डबल सिद्धान्तको बहुत सफलतासे इस्तेमाल कर सकते थे, इसीलिए व्यवहार-सत्यके रूपमे उन्हे बधन और मुक्तिको माननेसे इन्कार नही। अविद्या ही बंधन है, जिसके ही कारण जीवको भ्रम होता है, यह पहिले कह आए है। "निर्विशेष नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, ब्रह्म ही मै हूँ" जब यह ज्ञान हो जाता है, तो अविद्या दूर हो जाती है, और बद्ध होनेका भ्रम हट जाता है, जिसे ही मुक्ति कहते है। ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या, जीव ब्रह्म ही है दूसरा नही"[1]—यही ज्ञान है, जिससे अपनेको बद्ध समझनेवाला जीव मुक्त हो जाता है, आखिर बद्ध समझना एक भ्रमात्मक ज्ञान था, जो कि वास्तविक ज्ञानके होनेपर नही रह सकता। "मै ब्रह्म हूँ" उपनिषद्का यह महावाक्य ही सबसे महान् सत्य है।

व्यवहारमे जब बधनको मान लिया, तो उससे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले (=मुमुक्ष)को साधन भी बतलाने पडेगे। शकरने यहाँ एक सच्चे द्वैतवादीके तौरपर बतलाया, कि वह साधन चार है—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओमे फर्क करना (=नित्यानित्य-वस्तुविवेक), (२) इस लोक परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) मनका शमन, इन्द्रियोका दमन, त्याग-भावना, कष्ट-सहिष्णुता, श्रद्धा, चित्तकी एकाग्रता (शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधि); और (४) मुक्ति पानेकी बेताबी (=मुमुक्षुत्व)।

(७) **"प्रच्छन्न बौद्ध"**—शकरके दर्शनको सरसरी नजरसे देखनेपर मालूम होगा, कि वह ब्रह्मवादको मानता है, और उपनिषद्के अध्यात्म-ज्ञानको सबसे अधिक प्रधानता देता है, किन्तु, जब उसके भीतर घुसते है, तो वह नागार्जुनके शून्यवादका मायावादके नामसे नामान्तर मात्र है। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है, कि उसकी आधार-शिला रखनेवाले गौडपाद सीधे तौरसे बुद्ध और नागार्जुनके दर्शनके अनुयायी थे, और शकरके अनुयायियोमे सबमे बडे अनुयायी श्रीहर्षका "खडनखडखाद्य" सिर्फ मीना-

---

[1] "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर."।

रामके मगलाचरण तथा दो-चार मामूली वातोके ही कारण शुद्ध माध्यमिक दर्शन (=शून्यवाद)का ग्रथ कहे जानेसे बचाया जा सकता है। इसी लिए कोई ताज्जुब नही, यदि पराकुशदास "व्यास"ने कहा—

"वेदोऽनृतो वुद्धकृतागमोऽनृत,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो वुद्धिफले तथाऽनृते,
यूय च बौद्धाश्च समानससद ॥"[1]

"(शकरानुयायियो! तुम्हारे लिए) वेद (परमार्थत) अनृत (=असत्) है, (वैसे ही शून्यवादी बौद्धोके लिए) वुद्धके दिए उपदेश अनृत है, (तुम्हारे लिए) इस (=वेद)का और (उनके लिए) उस (=वुद्ध-आगम) का प्रमाण होना गलत है। (तुम दोनोके लिए) वोद्धा (=ज्ञाता, जीव) अनृत है, (उसी तरह) बुद्धि (=ज्ञान) और (उसका) फल (=मुक्ति) भी अनृत है; इस प्रकार तुम और वौद्ध एक ही भाई-विरादर हो।"

इसीलिए शकर "प्रच्छन्न बौद्ध" कहे जाते है।

---

[1] रामानुजके वेदान्त-भाष्यकी टीका "श्रुतप्रकाशिका"

परिशिष्ट

१—ग्रंथ-सूची

Dasgupta (S N)	History of Indian Philosophy, 2 Vols
Radhakrishnan (S.)	Indian Philosophy, 2 Vols
Vidyabhushana (S. C.)	History of Indian Logic.
Stcherbatsky (T. H.)	Buddhist Logic, 2 Vols
Winternitz	History of Indian Literature, Vol. II
Lewis (G. E)	History of Philosophy
Lewis (John)	Introduction to Philosophy, 1937
De Boer (T J.)	Philosophy in Islam.
Thilly	History of Philosophy
Macdougell	Modern Materialism and Emergent Evolutions 1929
Stapledon	Philosophy and Living, 1939
Feuerbach (L)	Atheism.
	Essence of Christianity
Engels (F)	Feuerbach (Anti-Duhring)
Marx (Karl)	Capital
	Communist Manifesto
	Thesis on Feuerbach
Marx and Engels	German Ideology

(इस्लामिक दर्शन)

गजाली	अह्याउ'ल्-उलूम
	तोहाफतु'ल्-फिलासफा
इब्न-रोश्द	तोहाफतु'त्-तोहाफतु'ल्-फिलासफा
इब्न-खल्दून	मुकद्दमये-तवारीख
शिब्ली नेमानी	अल-गजाली
	अल्-कलाम
मुहम्मद यूनस् अन्सारी	इब्न-रोश्द

(भारतीय दर्शन)

	ऋग्वेद
	शतपथ-ब्राह्मण
	उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंड, माण्डूक्य ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्री)
	महाभारत
	भगवद्गीता
	परमसंहिता (पंचरात्र)
गौतम	गौतम-धर्मसूत्र
बुद्ध (गौतम)	सुत्त-पिटक (दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, उदान)
	विनयपिटक (पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग)
	लंकावतार-सूत्र
नागसेन	मिलिन्दप्रश्न
नागार्जुन	विग्रह-व्यावर्त्तनी
	माध्यमिक-कारिका
वसुबंधु	विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि (त्रिंशिका)
दिग्नाग	प्रमाणसमुच्चय

धर्मकीर्त्ति	न्यायविन्दु
	प्रमाणवार्त्तिक
	वादन्याय
अक्षपाद (गौतम)	न्याय-सूत्र
कणाद	वैशेषिक-सूत्र
पतंजलि	योग-सूत्र
वादरायण	वेदान्त-सूत्र
जैमिनि	मीमासा-सूत्र
ईश्वरकृष्ण	साख्य-कारिका
प्रशस्तपाद	वैशेषिक-भाष्य
उद्योतकर	न्यायवार्त्तिक
जयत भट्ट	न्यायमजरी
गौडपाद	माडूक्य-कारिका
शकर	वेदान्त-भाष्य
रामानुज	,,
पराकुशदास (व्यास)	,, टीका (श्रुतप्रकाशिका)
श्रीहर्ष	खण्डन-खण्ड-खाद्य
	नैषधीयचरित
माधवाचार्य	सर्वदर्शनसग्रह
वाण	हर्षचरित
भर्तृहरि	वैराग्यशतक
वराहमिहिर	बृहत्सहिता
राहुल साकृत्यायन	वुद्धचर्या
	विश्वकी रूपरेखा
	मानव-समाज
	वैज्ञानिक-भौतिकवाद
	ईरान
	कुरानसार
	पुरातत्त्व-निवधावली

२—पारिभाषिक-शब्द-सूची

अकल—Nous (विज्ञान)
अखवानुस्सफा—पवित्र-संघ
अज्ञेयवाद—Agnosticism
अतिभौतिकशास्त्र—Metaphysics
अतिमानुष आत्माएं—अजराम्-अलूइया
अद्वैत—तौहीद
अद्वैतवाद—Monism
अध्यात्मदर्शन—Metaphysics
अनीश्वरवाद—Atheism
अनुभयवाद—Neutrism
अन्तर्व्यापन—Interpenetration
अन्तर्हित शक्ति—इस्तेदादे-कूवत्
अफलातूनीवाद। नवीन—neo Platonism
अभावप्राप्त—Negated
अरूपवाद—Nominalism
अर्पचीना—Eregena
अवयवी—Whole
अश्वीलिया—Seville
आकृति—Form (सूरत)
आचारशास्त्र—Ethics
आत्मकण—Monad
आत्मकणवाद—Monadism.
आत्मसम्मोहन—Self-hypnotisation.
आत्मा—Self, soul, spirit, (नफ्स)
आत्मा। नातिक—, रूहे-अक्ली
आत्मानुभूति—Intuition
आत्मिक जीवन—Spiritual life
आधार। कार्य—, इन्फआल्
आसमानोंकी दुनिया—आलम्-अफलाक्।
ईश्वरमें समाना—हुलूल्
ईसाई जहाद—Crusade
उटोपिया—Utopia
उपलब्धि—Perception
एकीकरण—Concentration
कर्त्तबा—Cardova(in Spain)
कर्त्ता विज्ञान—Creative spirit
कल्पनामय—Abstract
कारण—Cause
कार्य—Effect
कार्यकारणवाद—Causality
कार्यकारण-नियम—Causality

कार्यक्षमता—आदत
काव्यशास्त्र—Poetics
किरणप्रसरण—Radiation.
क्वन्तम् सिद्धान्त—Quantum.
खगोलीय यंत्रशास्त्र—Celestial mechanics.
गरनाता—Granada (in Spain).
गुण—Quality.
गुणात्मक परिवर्तन—Qualitative change.
घटना—Event.
चिन्तन—Contemplation
चेतनावाद—Idealism
जगजीवन—नफ़्स-आलम्
जालीनूस्—Galen.
जीव—Soul, रूह्, फलक, अव्वल
जीवन—Life.
ज्ञाता—मुद्रिक्
ज्ञानकी प्रामाणिकता—Validity of knowledge.
तत्त्व—Element.
तर्कशास्त्र—Logic
तलेतला—Tolado (in Spain).
तुफैल। इब्न—, Abubacer
तृष्णा—Will.
दर्शन—Philosophy.
दिव्य चमत्कार—मोजेजा
दिशा—Space.
देव—अफलाक्
देवजगत्—आलमे-अफलाक्
देवता—अफलाक्, आस्मान्, फरिश्ता
देवलोक—आलम्-अफलाक्
देवात्मा—अज्राम्-अफलाक्, जरम्-अफलाक्
देश—Space.
द्रव्य—Substance
द्वन्द्ववाद—Dialectics.
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—Dialectical materialism.
द्वन्द्वात्मक विकास—Dialectical evolution.
द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद—Dialectical idealism.
द्वैतवाद—Dualism
धर्ममीमांसा—फिका
धातुत्रय—मवालीद-सलासा (= धातु, वनस्पति, प्राणी)
नफस—nous, अकल, आत्मा, ब्रह्म, विज्ञान
नातिक बुद्धि—Nautic nous.
नातिक विज्ञान—Nautic nous
नाम—Mind

नामवाद—Nominalism
नास्तिकवाद—Atheism
निमित्तकारण—Efficient Cause
नियतिवाद—Determinism.
निराकार—Abstract.
परम—Absolute
परमतत्त्व—Absolute
परमशरीर—जिस्मे-मुत्लक्
परमाणुवाद—Atomism
परमात्मतत्त्व—Absolute, Absolute self
परिचय—अद्राक्
परिचय। होशके साथ—, अद्राक्-शऊरा
परिचय। होशके विना—, अद्राक्-ला-शऊरा
परिमाण—Quantity
परिवर्तन—Change
पवित्रसघ—अखवानुस्सफा
पहिचान—अद्राक्
प्रकृति—Hyla, nature, भूत, माद्दा, हेवला
प्रतिषेधका प्रतिषेध—Negation of negation.
प्रतिवाद—Antithesis.
प्रतीयमान जगत्—Phenomena
प्रत्यक्ष—Perception
प्रत्यक्षीकरण। सम्मिलित—, हिस्स-मुश्तरक्
प्रभाववाद—Pragmatism
प्रमेय—Category
प्रयोग—Practice.
प्रयोगवाद—Empiricism
प्रयोजनवाद—Teleology
प्रवाह—Continuity
प्राकृतिक—हेवलानी, तवई
प्राकृतिक पिड—जिस्म-तवई
प्रामाण्य—Validity of knowledge
पैगवर-वाक्य—हदीस्
फरिश्ता—फलक, देवता
फलक-अव्वल—जीव
वाजा। इब्न—, Avempace
वाह्यजगत्—Phenomenon
वुद्धिपूर्वक—Rational
वुद्धिवाद—Rationalism
व्रह्म—अक्ल, नफ्स
व्रह्मलय—हलूल्
व्रह्मलीनता—फनाफिल्लाह
व्रह्मवाद। सर्व—, Pantheism
भाग्यवाद—Determinism
भाषणशास्त्र—Rhetorics
भूत—माद्दा, Matter

भोगवाद—Hedonism.
भौतिकतत्त्व—Matter (माद्दा)
भौतिक पिंड—जिस्म-तबई
भौतिकवाद—Materialism.
भौतिकवाद। यान्त्रिक—, Mechanical materialism.
भौतिकवाद। वैज्ञानिक—, Scientific materialism.
भौतिकशास्त्र—Physics.
मन—Mind
मनुष्यमापवाद—Pragmatism.
मनोमय—Rational.
मात्रा—Quantity.
माद्दा—प्रकृति, Hyla, matter.
मानवजीव—नफ्स-इन्फआल्
मानवता—नफ्स-आलम्
मूलतत्त्व—Element.
मूल स्वरूप—Arche-type.
यथार्थवाद—Realism.
योगिप्रत्यक्ष—Intuition.
रहस्यवाद—Mysticism
रूप—Matter.
रोश्द। इब्न—, Averroe
वरुण—Uranus
वस्तु-अपने-भीतर—Thing-in-itself.
वस्तुवाद—Realism.
वस्तुसार—Objective reality, Nomena, thing-in-itself
वस्तुसारवाद—Noumenalism
वाद—Theory, Thesis, कलाम
वादशास्त्र—इल्म-कलाम
वादशास्त्री—मुत्कल्लमीन्
विकास—Evolution.
विकास। सृजनात्मक—, Creative evolution
विचार—Idea.
विच्छिन्न प्रवाह—Discontinuous continuity.
विच्छिन्न सन्तति—Discontinuous continuity.
विच्छेदयुक्त प्रवाह—Discontinuous continuity
विज्ञान—Idea, intelligence, mind, nous (नफस), science.
विज्ञान। अधिकरण—, अक्ल-इन्फआल्, नफ्स-इन्फआल्
विज्ञान। अभ्यस्त—, अक्ल-मुस्तफाद
विज्ञान। एक—, वहदत्-अकल्
विज्ञान। कर्त्ता—, अक्ल-फआल,

नफ्स-फआल
विज्ञान। क्रिया—, नफ्से-फेअली
विज्ञान। जगदात्मा,—अक्ल-अव्वल्
विज्ञान। ज्ञाता—,अक्ल-मुद्रिक
विज्ञान। देव—,अक्ल-सानी
विज्ञान। देवात्मा—,अक्लसानी
विज्ञान। नातिक्—, Nautic nous, नफ्स-नातिक्
विज्ञान। परम—,अक्ल-मुत्लक
विज्ञान। प्राकृतिक—,अक्लमाद्दी, अक्ल-हेवलानी
विज्ञान। मानव-, नफ्स-इन्सानी
विज्ञानकण—Monad
विज्ञानवाद—Idealism
विज्ञानीय शक्ति—अक्ली कूवत
विभाजन—Differentiation
विरस्—Virus
विरोधि समागम—Unity of opposites
विशेष—Particular.
विश्लेषण—Analysis
विश्वात्मा—Logo
वेदना—Sensation.
वैज्ञानिक भौतिकवाद—Scientific materialism, Dialectical materialism.
व्यक्ति—Particular.
शक्ति। अन्तर्हित,—इस्तेदाद-कूवत
शारीरक (ब्रह्म)वाद—Organism, pantheism.
शिवता—सआदत
शेविली—Seville (in Spain)
संक्षेप—तल्खीस्
सन्तति—Continuity
सन्तान—Continuity.
सन्देहवाद—Scepticism.
सपूर्ण—Whole, अवयवी
समन्वय—Harmony
सलेबीजग—Crusade.
सवाद—Synthesis
साइस—Science
साकार—Objective, concrete
सापेक्ष—Relative.
सापेक्षतावाद—Relativity
सामर्थ्य—सलाहियत्
सामान्य—Universal, जाति
सिद्धान्त—Theory.
सिद्धि—मोजजा
सीमापारी—Transcendental
सूरत—आकृति
सोफी—Sophist
सोफीवाद—Sophism

स्कोलास्तिक आचार्य—Scholastic doctor.
स्तनधारी—Mammal
स्थिति—Duration
स्पर्श—Impression.
स्मृति—हदीस्, हिफ्ज
स्मृति। उच्च परिचयोकी—, हिफ्ज़-मआनी
स्मृति। सामूहिक—, हिफ्ज-मज्मुई
स्वत. उत्पन्न—*A priori.*
स्वत सिद्ध—*A priori*, innate.
स्वभाव—Character.
स्वयंभू—*A priori*, innate
स्वरूप—Character.
स्वलक्षण—Character.
हलूल—ईश्वरमे समाना, ब्रह्मलय
हेतु—Cause.
हेतुता—Causality.
हेतुवाद—Causality.
हेवला—Hyla, प्रकृति
हेवलानी—प्राकृतिक, माद्दी

३—दार्शनिकोंका कालक्रम

पश्चिमी	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
यूनानी—			
		१०००	वामदेव
		७००	प्रवाहण जैवलि
		,,	उद्दालक आरुणि
		६५०	याज्ञवल्क्य
		६००	चार्वाक
थेल्	६४०-५५०		
अनक्सिमन्दर	६१०-५४५	६००	कृश साकृत्य
अनक्सिमन	५९०-५५०	५००	वर्धमान महावीर
पिथागोर	५७०-५००	,	पूर्ण काश्यप

पश्चिमी	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
क्सेनोफन	५७०-४८०	५६३-४८३	बुद्ध
परमेनिद	५४०-४८३	५००	अजित[1] केशकम्बल
		,,	सजय
		,,	गोशाल
हेराक्लितु[1]	५३५-४२५		
एम्पेदोकल	४९०-३०		
सुक्रात	४६९-३९९	४००	कपिल
देमोक्रितु[1]	४६०-३७०		
अफलातूँ	४२७-३४७	,,	पाणिनि
देवजेन	४१२-३२२		
अरस्तू	३८४-३२२		
(सिकन्दर)	३५६-३२३	(३२१-२९७	चद्रगुप्त मौर्य)
		(२६९	अशोक मौर्य)
पिर्हो	३६५-२७०		
एपीकुरु[1]	३४१-२७०		
जेनो	३३६-२४६		
थ्योफ्रास्तु	२८७		
नेलुस्	१३३	१५०	नागसेन
		(१५०	पतजलि वैयाकरण)
अन्द्रानिकुस्	८६		

सन् ईसवी

(नव-अफलातूनी दर्शन)—

फिलो यूदियो	२५-५०		
अन्तियोक्	६८	१००	(विज्ञानवाद)

---

[1] भौतिकवादी ।

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
		१००	(वैभाषिक)
		१५०	कणाद
अगस्तिन्	१६६	१७५	नागार्जुन
प्लोतिन्	२०५-७१	२५०	अक्षपाद
	२४	२५०	पतजलि (योग)
पोर्फिरी	२३३		
मानी (ईरान)	२४५		
		३००	वादरायण
		,,	जैमिनि
		,,	सौत्रान्तिक
		(३४०-७५	समुद्रगुप्त, राजा)
		(३८०-४१५	चद्रगुप्त विक्रमा-दित्य)
अगस्तिन, सन्त––	३५३-४३०		
		४००	बौधायन
		४००	उपवर्ष
		४००	वात्स्यायन
		३५०	असग
		४००	वसुवधु
		४००	शबर
		४००	प्रशस्तवाद
हिपाशिया (वध)	४१५	४००	कालिदास
		४२५	दिग्नाग
		(४७६	आर्यभट्ट ज्योतिषी)
मज्दक (ईरान)	४८०-५३१	५००	उद्योतकर
(ईसाइयोद्वारा	५००		गौडपाद
दर्शन पढना निषिद्ध)	५२९	५५०	कुमारिल

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
देमासियुस्	५४९	(६००	हर्षवर्धन, राजा)
इस्लामिक—			
(मुहम्मद पैगंबर)	५९०-६२२	६००	धर्मकीर्त्ति
		६००	सिद्धसेन (जैन)
(म्वाविया, खलीफा दमश्क)	६६१-८०		
		७००	प्रज्ञाकर-गुप्त
		७२५	धर्मोत्तर
		७२५	ज्ञानश्री
(अब्दुल अब्बास, खलीफा, बगदाद)	७४९-५४		
(मसूर-खलीफा बगदाद)	७५४-७५		
		७५०	अकलंकदेव (जैन)
		८००	गोविंदपाद
मुकफ्फा	७५४		
(हारून, खलीफा बगदाद)	७८६-८०९	८००	वसुगुप्त (कश्मीर-शैव)
		७४०-८४०	शान्तरक्षित
(मामून, खलीफा बगदाद)	८११-३३	७८८-८२०	शंकराचार्य
अल्लाफ	८३०		
हिम्सी	८३५	८४१	वाचस्पति मिश्र
नज्जाम	८४५		
इब्न-मैमून	८५०		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
एरिगेना	८१०-७७		
जहीज	८६९		
"अख़वानुस्सफा"	९००		
अश्अरी	८७३-९३५		
किन्दी	८७०		
राज़ी	९२३		
फाराबी	८७०-९५०		
(फिर्दोसी कवि)	८४०-१०२०	९८४	उदयनाचार्य
मस्कविया	१०३०	१०००	जितारि
(अल्-बेरूनी)	९७३-१०४८	१०००	रत्नकीर्त्ति
सीना	९८०-१०३७	१०००	जयन्त भट्ट
जिब्रोल	१०२१-७०	१०२५	रत्नाकरशान्ति
गज़ाली	१०५९-११११		
वाजा	११३८		
(तोमरत)	११४७		
तुफैल	-११८५	१०८८-११७२	हेमचन्द्र सूरि
रोश्द	११२६-११९८,	(११९४	जयचद राजा)
		११९०	श्रीहर्ष
इब्न-मैमून	११३५-१२०८	१२००	गगेश
यूरोपीय दार्शनिक—		११२७-१२२५	शाक्यश्रीभद्र
[मध्यकाल—			
राजर बैकन	१२१४-९२		
तामस् अक्विना	१२२५-७४		
(फ्रेडरिक, राजा	१२४०)		
रेमोद लिली	१२२४-१३१५		
पिदारक	१३०४-७४		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
(इब्न-खल्दून)	१३३२-१४०६		
(ल्युनार्दो-द-विन्ची)	१४५२-१५१९		
(कस्तुन्तुनिया तुर्कोंके हाथमें)	१४५३		
आधुनिक काल--			
बेकन	१५६१-१६२६		
हॉब्स	१५८८-१६७९		
द-कार्त	१५९६-१६५०		
(क्राम्वेल्)	१५९९-१६५८	(१६२७-१६५८	शाहजहाँ)
स्पिनोजा	१६३२-७७	(१६२७-८०	शिवाजी)
लॉक	१६३२-१७०४	(१६५८-१७०७	औरंगजेब)
लाइप्निट्ज	१६४६-१७१६		
(चार्ल्सका-शिरच्छेद)	१६४९		
टोलैंड	१६७०-१७२१		
बर्कले	१६८५-१७५३		
वोल्तेर	१६९४-१७७८	(१७५७-६०	क्लाइव)
हार्टली	१७०४-५७		
ला मेत्री*	१७०९-५१		
ह्यूम*	१७११-७६		
रूसो	१७१२-७८		
हेलवेशियो*	१७१५-७१	(१७७२-८५	वार्न हेस्टिंग्स)
		(१७८६-९३	कार्नवालिस्)
(नेपोलियन)			
कान्ट	१७२४-१८०४		
(जेनर, चेचक टीका)	१७४९-१८२३		
दो'ल्वाख़*	१७८९		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
कन्दानिम्*	१७५७-१८०८		
फिख़्टे	१७६२-१८१४		
हेगेल्	१७७०-१८३१	(१७७४-१८२६	राममोहन राय)
शेलिङ	१७७५-१८८४		
शोपनहार	१७८८-१८६०		
फ्वेरबाख़	१८०४-७२		
मार्क्स .	१८१८-८३	(१८२४-८३	दयानद)
स्पेन्सर (हर्वर्ट)	१८२०-१९०३		
एन्गेल्स	१८२१-९५		
(मेंडेल)	१८२२-८४		
(पास्तोर)	१८२२-९७		
वुख़्नेर*	१८२४-९९		
माख़्	जन्म १८३८		
जेम्स, (विलियम)	१८४२-१९१०		
निट्ज्शे	१८४४-१९००		
ब्राडले	जन्म १८४६		
डेवी	जन्म १८५९		
वेर्गसा	१८५९-१९४१		
ह्वाइटहेड	जन्म १८६१		
लेनिन*	१८७०-१९२४		
रसल (वर्टरड)	जन्म १८७२		

———

परिशिष्ट

४—नाम-सूची

परिशिष्ट

५—शब्द-सूची